समालोचक

हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक पत्र

सौन्दर्य-शास्त्र

विशेषाङ्क

वर्ष १

सम्पादक
डा. रामविलास शर्मा

अङ्क १

अपने विद्यालय तथा पुस्तकालय के लिए
हिन्दी साहित्य की उत्तमोत्तम पुस्तकें
हमारे यहाँ से सुविधा के साथ प्राप्त
कीजिये

सूचीपत्र के लिए आज ही लिखिए :-

विनोद पुस्तक मन्दिर

[हिन्दी पुस्तकों के विक्रेता]

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

विनोद पुस्तक मंदिर आगरा द्वारा प्रकाशित

आलोचनामत्क साहित्य

—卐—

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	डा० रामविलास शर्मा	५)
२—भारतेन्दु युग	,, ,,	३)
३—काव्य कला और शास्त्र	डा० राँगेयराघव	३)
४—काव्य और यथार्थ प्रगति	,,	३)
५—समीक्षा और आदर्श	,,	३)
६—त्रमहाकाव्य विवेचन	,,	३)
७—भारतेन्दु साहित्य	रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०	६।।।)
८—हिन्दी साहित्य की प्रवृतियाँ	जयकिशनप्रसाद एम० ए०	६)
९—हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल	,, ,,	३।।।)
१०—महादेवी का वेदना भाव	,, ,,	३।।)
११—चिन्तामणि दर्शन	डा० हरिहरनाथ टंडन	३)
१२—हिन्दी साहित्य चिन्तन	इन्द्रपालसिंह एम० ए०	६)
१३—जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त	डा० शम्भूनाथ पाण्डेय	२।।)
१४—जयशंकर प्रसाद और ध्रुवस्वामिनी	फूलचन्द एम० ए०	१।।)
१५—सुमित्रानन्दन पन्त और उत्तरा	तारकनाथ बाली एम० ए०	३)
१६—जयशंकरप्रसाद और अजातशत्रु	,,	२)
१७—सुमित्रानन्दन पन्त और आधुनिक कवि	,,	२।।)
१८—महादेवी वर्मा और आधुनिक कवि	,,	२।।)
१९—दिनकर और कुरुक्षेत्र	,,	≈)
२०—आचार्य शुक्ल और त्रिवेणी	राजनाथ शर्मा एम० ए०	२)
२१—प्रेमचन्द और गोदान	रामवाशिष्ठ एम० ए०	२।।)
२२—प्रेमचन्द और कर्मभूमि	,,	२।।)
२३—प्रेमचन्द और ग़बन	राजनाथ शर्मा एम० ए०	१।)
२४—महाकवि घनानन्द	रामवशिष्ठ एम० ए०	३।।)
२५—गीतकार विद्यापति	,,	२।।)
२६—विनयपत्रिका दर्शन	तपेशकुमार चतुर्वेदी एम० ए०	२।।)
२७—युगद्रष्टा कबीर	तारकनाथ बाली एम० ए०	२।।)
२८—महादेवी वर्मा	,,	२।।)
२९—सुमित्रानन्दन पन्त	,,	१।।)

३०—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद	राजनाथ शर्मा एम० ए०	२॥)
३१—हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास	,,	१॥)
३२—हमारे प्रमुख साहित्यकार	रामनरायन मिश्र एम० ए०	१॥)
३३—हिन्दी और उसके कलाकार	फूलचन्द जैन एम० ए०	६)
३४—शैलियाँ	,,	१॥)
३५—काव्य-शास्त्र	डा० शम्भूनाथ पाण्डेय	३)
३६—रस अलंकार पिंगल	,,	२॥)
३७—भाषा विज्ञान तत्व	प्रभूनारायण शर्मा एम० ए०	१॥)
३८—साहित्यालोचन सिद्धान्त	,,	१॥)
३९—हिन्दी आलोचना के भिन्न भिन्न स्त्रोत और उनके विकास का इतिहास	,,	१)
४०—चित्रलेखा : परिचय	राजनाथ शर्मा एम० ए०	।।।)
४१—जीवन यज्ञ : परिचय	,,	१)

निबन्ध

४२—लोक जीवन और साहित्य	डा० रामविलास शर्मा	३॥)
४३—प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं	,,	३॥)
४४—विराम चिह्न	,,	६)
४५—साहित्यिक निबन्ध	राजनाथ शर्मा एम० ए०	७॥)
४६—सार संचयन	,,	६)
४७—साहित्य समीक्षांजलि	डा० सुधीन्द्र	५)
४८—साहित्य के पृष्ठ	गजानन शर्मा एम० ए०	५)
४९—हिन्दी निबन्ध	रामजीलाल बधौतिया एम० ए०	३॥)
५०—आदर्श निबन्ध	विद्याराम एम० ए०	२)

सभी पुस्तकें सफेद प्रिंटिंग कागज पर प्रकाशित की गई हैं। सुन्दर छपाई, कलात्मक आवरण पृष्ठ एक विशेषता होगी।

हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मंदिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
के पच्चीस उपयोगी प्रकाशन

साहित्यक-आलोचनात्मक

हिन्दी काव्य में छायावाद—श्री दीनानाथ 'शरण' ५)
मोरी धरती मैया—प्रो० श्रीचन्द जैन २)५०
सुखी मानव—डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी २)
मेरे निबंध (जीवन और जगत्)—डा० गुलाबराय ५)
अंग्रेजी साहित्य-परिचय—दयाशङ्कर शर्मा, एम. ए. ४)
उर्दू साहित्य-परिचय—पं० हरिशङ्कर शर्मा ६)
"......तो स्वराज्य हो गया !—नर्मदा प्रसाद खरे १)५०
हिंदी साहित्य की रूप-रेखा-डा० प्रेमनारायण टंडन २)५०
हिन्दी साहित्य में निबंध—प्रो० ब्रह्मदत्त शर्मा २)५०
हिन्दी का मान मन्दिर—डा० सत्येन्द्र २)

कोष-साहित्य

अभिनव हिन्दी-कोष—पं० हरिशंकर शर्मा ८)
अभिनव अंग्रेजी हिन्दी-कोष-श्री केदारनाथ भट्ट ७)२५
हिन्दुस्तानी कोष—पं० हरिशंकर शर्मा ६)

शिक्षण-साहित्य

(बी० टी०, एल० टी० तथा समकक्ष कक्षाओं के लिये)
कक्षाध्यापन एवं पाठ-सूत्र निर्माण ५)
—प्रो० वंशीधर सिंह एम. ए.
—प्रो० भूदेव शास्त्री एम. ए.
भारतीय शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास ४)५०
—(उपर्युक्त)
बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त—मिलापचन्द्र दुबे ५)
समवायी शिक्षण—मिलापचन्द्र दुबे ३)

काव्य-साहित्य

शंकर सर्वस्व—पं० हरिशंकर शर्मा १२)
संक्षिप्त रामचन्द्रिका—पं० जगन्नाथ तिवारी २)५०
स्वप्न और सत्य—भगवन्तशरण जौहरी ३)
मुक्तिका—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्दि' २)५०

भौगोलिक-साहित्य

आर्थिक और वाणिज्य भूगोल-सी. बी. मामोरिया १५)
भारत की नदियाँ—ब्रजरत्नदास २)

उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त हमारे अन्य प्रकाशनों की आवश्यकता हो, तो लिखें। भारत के सभी अच्छे प्रकाशकों की पुस्तकें हमसे मिल सकती हैं।

गयाप्रसाद एण्ड सन्स

आगरा ❖ कानपुर ❖ जयपुर ❖ गवालियर

कृपया पधारिए

हर प्रकार की घड़ियों
और
चश्मों के लिए—

रोडा ब्रदर्स

घड़ियों, चश्मों के निर्माता और

व्यापारी

घड़ियों की मरम्मत हमारी विशेषता है। हमारे यहाँ अनुभवी विशेषज्ञों द्वारा चश्मे तैयार कराए जाते हैं।

रोडा ब्रदर्स,

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

साहित्य भवन : प्राइवेट : लिमिटेड, इलाहाबाद के महत्वपूर्ण प्रकाशन

कला एवं संस्कृति

संस्कृति-संगम	आचार्य क्षितिमोहन सेन	३—००
भारतवर्ष में जाति-भेद	आचार्य क्षितिमोहन सेन	२—००
शिल्प-कथा	आचार्य नन्दलाल वसु	१—२५
कला और संस्कृति	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल	५—००
प्राचीन लोकोत्सव	श्री मन्मथ राय	२—५०
देश-विदेश में मनोरंजन	श्री मन्मथ राय	४—००
सौन्दर्य शास्त्र	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	३—००

निबन्ध संग्रह

ऋतम्भरा	डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	३—५०
विचारधारा	डा० धीरेन्द्र वर्मा	३—५०
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं	श्री परशुराम चतुर्वेदी	४—००
मध्यकालीन प्रेम साधना	श्री परशुराम चतुर्वेदी	३—५०
मध्यकालीन धर्म-साधना	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी	४—००
विचार और वितर्क	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी	३—००
साहित्यावलोकन	डा० विनयमोहन शर्मा	३—००
गद्य-पथ	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	३—००
दिल की बात	श्री गुरुदयाल मल्लिक	३—००
मेरी कालिज डायरी	डा० धीरेन्द्र वर्मा	१—५०

आलोचना और इतिहास

कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा	३—५०
हिन्दी कहानियों में शिल्प विधि का विकास	डा० लक्ष्मीनारायण लाल	१०—००
आधुनिक हिन्दी कथा और मनोविज्ञान	डा० देवराज उपाध्याय	१०—००
प्रकृति और काव्य : संस्कृत	डा० रघुवंश	६—५०
संत कबीर दर्शन	श्री राजेन्द्र सिंह गौड़	२—००
मीरां दर्शन	प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव	२—५०
तुलसी-रसायन	डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र	२—५०
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	५—००
महाकवि भूषण	श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित	२—५०
पद्माकर कवि	श्री शुकदेव दुबे	२—५०
कवि निराला और उनका काव्य	श्री गिरीशचन्द्र तिवारी	३—००
हिन्दी नाटक	डा० बच्चनसिंह	४—००
नयी कविता	श्री विश्वम्भर मानव	४—००
लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या	श्री श्रीकृष्णदास	४—००
नाटक की परख	डा० एस० पी० खत्री	४—००
लोक साहित्य की भूमिका	डा० कृष्णदेव उपाध्याय	७—५०

फ्रान्स की लक्ष्मीबाई—"देवीजोन"

—)?:?(—

संसार में दो ही वीरांगनायें हुई हैं जिन्होंने अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सन्मुख युद्ध क्षेत्र में लड़कर अपना बलिदान किया है। इनमें एक तो भारतीय वीरांगना लक्ष्मीबाई थी दूसरी फ्रांस की देवीजोन। दोनों के ही शत्रु अंगरेज थे। इस पुस्तक में देवीजोन के अद्भुत चमत्कार, रणकौशल और शत्रुओं से लड़ते लड़ते घायल होकर गिरफ्तार हो जाना और अन्त में प्राणदण्ड का अभियोग लगाकर नंगी करके खुलेआम अंगरेजों द्वारा जिन्दा जला देने का अत्यंत मार्मिक वर्णन आपको देखने को मिलेगा। **बढ़िया कागज, सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३)**

अभागे का भाग्य

फ्रान्स के महान कलाकार स्वर्गीय 'विक्टरह्यूगो' के प्रसिद्ध उपन्यास 'ला मिजरेबिल्स' का हिन्दी अनुवाद है। बढ़िया कागज, ७०० पृष्ठ, सजिल्द पुस्तक का मूल्य ८)

विश्व के महान आश्चर्य

अनेक विद्वानों द्वारा प्रसंसित संसार के अद्भुत और आश्चर्यजनक चीजों का अत्यन्त रोचक और ऐतिहासिक वर्णन आपको इस पुस्तक में मिलेगा। सचित्र और सजिल्द पुस्तक का मूल्य ३)

सन् ५७ का विप्लव

इस बात का दावा है कि सन् सत्तावन की महान क्रान्ति पर इससे बढ़कर सच्ची और प्रामाणिक पुस्तक अब तक दूसरी नहीं छपी है। बढ़िया कागज, ४०० पृष्ठ मूल्य ५)

भारत की प्रसिद्ध लड़ाइयाँ

भारतीय इतिहास के तीनों काल की प्रसिद्ध लड़ाइयों का सच्चा और सिलसिलेवार वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। ५०० पृष्ठ, बढ़िया कागज सजिल्द पुस्तक का मूल्य ६)

जहाँनारा की आत्म कथा

सम्राट शाहजहाँ की लड़की जहाँनारा ने अपनी आत्मकथा में उस समय की अनेक गुप्त और रहस्यमय बातों का जो वर्णन किया है वह पढ़ने योग्य है। बढ़िया कागज, सजिल्द पुस्तक का मूल्य ३।)

पलासी का युद्ध

भारत में आकर अंग्रेजों ने जिस छल कपट और कूटनीति द्वारा पलासी के युद्ध में विजयी होकर राज्य स्थापित किया है, उसका सही वर्णन इस पुस्तक में मिलेगा। मूल्य ५)

हमारी प्रकाशित अन्य पुस्तकें

भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष	१०)	दिलारा	२)
नेताजी सुभाष बोस	२।।)	स्वावलम्बन	२।।)
विधवा की आत्मकथा	२।।)	नाग कन्या	२।।)
अबला की आत्मकथा	२)	रजनीगन्धा	२)
देवदासी	२)	अभागी बहनों की आत्म कहानी	२।।)

पुस्तकें मिलने का

पता—आदर्श हिन्दी पुस्तकालय

४१६ अहियापुर, इलाहाबाद।

अश्क साहित्य

* प्रसाद और प्रेमचन्द के बाद हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में किसी एक लेखक ने इतना ठोस और महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया, जितना हिन्दी साहित्य के अथक साधक **श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने**
* क्या उपन्यास, क्या नाटक, क्या कविता, क्या कहानी, क्या आलोचना, संस्मरण और निबन्ध, प्रत्येक क्षेत्र में अश्क जी ने एक सरीखी गति से हिन्दी साहित्य के उद्यान को सींचा है।
* **अश्क साहित्य** जगह-जगह बिखरा होने के कारण एक साथ उपलब्ध न था। अब **नीलाभ प्रकाशन** ने अश्क जी की समस्त पुस्तकें एक जगह से छापकर उसे सबके लिए सुलभ बना दिया है।
* हिन्दी का कोई भी व्यक्तिगत, सरकारी, अर्ध-सरकारी अथवा सार्वजनिक पुस्तकालय **अश्क साहित्य** के बिना पूर्ण नहीं कहला सकता। **अश्क साहित्य** बिहार, यू० पी०, राजस्थान, मध्य भारत, दिल्ली, पंजाब, सौराष्ट्र के स्कूल-कालेजों और सरकारी पुस्तकालयों तथा **प्रौढ़ शिक्षा तथा पंचायत विभागों** के लिए स्वीकृत है। अश्क साहित्य के पाठकों को विशेष सुविधा दी जाती है। सूची निम्नलिखित है :—

संकेत

(शताधिक हिन्दी साहित्यकारों की रचनाओं का अभूतपूर्व संकलन)

सम्पादक : उपेन्द्रनाथ अश्क—मूल्य १५)

उपन्यास—

गिरती दीवारें	रु० १०
गर्म राख	रु० ८
चेतन	रु० ६.७५
चेतन (संक्षिप्त)	रु० ३.५०
पत्थर अल-पत्थर	रु० ४.२५
बड़ी-बड़ी आँखें	रु० ३.७५
सितारों के खेल	रु० ३.५०
ये आदमी ये चूहे	रु० ३

कहानियाँ—

छींटे	रु० ५
जुदाई की शाम का गीत	रु० ३.७५
काले साहब	रु० ३.२५
बैंगन का पौधा	रु० ३.२५
पिंजरा	रु० ३
दो धारा	रु० ३.२५
कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल	रु० ३.५०

संस्मरण—

मंटो : मेरा दुश्मन	रु० ५
रेखाएं और चित्र	रु० ४

आलोचना—

उर्दू काव्य की एक नयी धारा	रु० २.५०

नाटक—

पैंतरे	रु० ३.२५
कैद और उड़ान	रु० २.७५
अंजो दीदी	रु० २.७५
अलग-अलग रास्ते	रु० २.५०
छठा बेटा	रु० २.२५
स्वर्ग की झलक	रु० १.७५

एकांकी—

पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ	रु० ३.७५
पक्का गाना	रु० ३
देवताओं की छाया में	रु० २.७५
अंधी गली	रु० ३
चरवाहे	रु० ४

संकलन—

प्रतिनिधि एकांकी	रु० ३
नए रंग-एकांकी	रु० ३.२५

काव्य—

दीप जलेगा	रु० ३.५०
चाँदनी रात और अजगर	रु० ३.२५
बरगद की बेटी	रु० ३

नीलाभ प्रकाशन

५ खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद १

हिन्दी का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

लखनऊ वि० वि० द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० थीसिस

सूर की भाषा

(ले०—डा० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०)

१५ नवम्बर को प्रकाशित हो गयी । पृष्ठ संख्या सवा छह सौ । रायल अठपेजी साइज ।

मूल्य—बीस रुपए । डाक व्यय ढाई रुपया अतिरिक्त ।

विषय-सूची

१—ब्रजभाषा और सूर की भाषा के अध्ययन का इतिहास ।

२—ब्रजभाषा—उसका विकास और सूर का भाषा-ज्ञान ।

३—सूर की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन ।

४—सूर की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन ।

५—सूर की भाषा का व्यावहारिक और शास्त्रीय अध्ययन ।

६—सांस्कृतिक दृष्टि से सूर की भाषा का महत्व ।

७—उपसंहार—समकालीन और परवर्ती ब्रजभाषा कवियों से सूर की भाषा की तुलना एवं अध्ययन का सारांश ।

परिशिष्ट—

१—सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या ।

२—सूर-साहित्य और उसकी संपादन-समस्या ।

३—नामानुक्रमणिका ।

उपर्युक्त विषय-सूची से इस श्रेष्ठ ग्रन्थ की महत्ता स्पष्ट हो जाती है और अधिक परिचय के लिए आठ पृष्ठों में प्रकाशित विस्तृत विषय-सूची मंगाकर देखिए ।

पता—हिंदी साहित्य भण्डार,

गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ ।

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

सौन्दर्य-शास्त्र विशेषाङ्क

(AESTHETICS)

प्रधान सम्पादक

डा० रामविलास शर्मा

सम्पादक

श्री राजनाथ शर्मा ☆ श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा।

वार्षिक मूल्य ५)]   वसन्त पंचमी सं० २०१४   [इस विशेषांक का मूल्य २)

सौन्दर्य

सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है-- योरपीय कला-समीक्षा की यह बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

विषय-सूची

क्रम		पृष्ठ
१. सम्पादकीय	—डा० रामविलास शर्मा	१
२. सौन्दर्यानुभूति	—डा० बाबू गुलाबराय	५
३. प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया	—डा० रामअवध द्विवेदी	६
४. काव्यानुभूति का दार्शनिक आधार	—डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री	१२
५. कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि	—डा० व्रजगोपाल तिवारी	१६
६. सौन्दर्य और भाषा का सौन्दर्य	—पं० किशोरीदास वाजपेयी	२४
७. सन्त-साहित्य में सौन्दर्य बोध	—श्री परशुराम चतुर्वेदी	२७
८. "कला-कला के लिए" एक ऐतिहासिक विवेचन	—डा० सोमनाथ गुप्त	३५
९. कला और सौन्दर्य	—श्री रामानन्द तिवारी	३९
१०. वैष्णव कवियों की सौन्दर्योपासना	—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी	५१
११. सौन्दर्य शास्त्र और रस-निष्पत्ति	—डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'	५६
१२. आधुनिक अंग्रेज़ी समालोचना में सौन्दर्य चिन्तन	—श्री अमरनाथ जौहरी	६०
१३. पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य-सिद्धान्त को देन	—श्री प्रेमस्वरूप गुप्त	६६
१४. सौन्दर्य और रस	—डा० द्वारिकाप्रसाद	७०
१५. शैव-दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र	—श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	७५

क्रम			पृष्ठ
१६.	साहित्य में सौन्दर्य-तत्व	—डा० हरद्वारीलाल शर्मा	८३
१७.	संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य की कल्पनाएं	—डा० रा० ग० हर्षे	९४
१८.	मराठी भाषा में सौन्दर्य-शास्त्र का विकास	—डा० बारलिंगे	९९
१९.	सौन्दर्य-शास्त्र और शब्द-विज्ञान	—डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित	१०४
२०.	सौन्दर्य-शास्त्र तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान	—प्रो० नरेन्द्रसिंह चौहान	१०८
२१.	आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव की काव्य-शास्त्रीय मान्यताएं	—डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश"	११२
२२.	रीति-परम्परा के कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि	—प्रो० रमाशंकर तिवारी	११६
२३.	सौन्दर्य और रूप-तत्व	—प्रो० माखनलाल शर्मा	१२२
२४.	आलोचना की मूल दृष्टि : सौन्दर्य-दृष्टि	—प्रो० तारकनाथ बाली	१३१
२५.	हिन्दी कथा साहित्य : मर्यादा और मान्यताएं	—श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी	१३६
२६.	सौन्दर्य और साहित्यिक समीक्षा	—डा० दि० के० बेडेकर	१४४
२७.	सौन्दर्य-चेतना और नीति	—डा० रामरतन भटनागर	१५२
२८.	भारतीय साहित्य-शास्त्र में सौन्दर्य-तत्व	—डा० भगवतस्वरूप मिश्र	१५६
२९.	कलाओं का वर्गीकरण	—श्री राजनाथ शर्मा	१६१
३०.	सूफी कवियों की सौन्दर्यानुभूति	—श्री उदयशङ्कर शास्त्री	१६८
३१.	सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास	—डा० रामविलास शर्मा	१७५
	अगर मैं आलोचक होता !	—श्री अमृतलाल नागर	१८४

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

प्रथम वर्ष आगरा, फरवरी १९५८ प्रथम अंक

सम्पादकीय

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद पिछले दस वर्षों में हिन्दी आलोचना-साहित्य ने उल्लेखनीय प्रगति की है। दिल्ली से "आलोचना" नाम की पत्रिका का प्रकाशन साहित्य के इस अंग के विकास और उसकी लोकप्रियता का सूचक है। विश्व-विद्यालयों में अनुसन्धान-कार्य का अभूतपूर्व प्रसार हुआ है। साहित्य के अनेक युगों के बारे में नयी सामग्री प्रकाश में आयी है; अनेक साहित्य-कारों का नया मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रगति की कुछ विशेषताएं सहज ही अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं।

हिन्दी के विद्वानों ने पहले की अपेक्षा भाषा-शास्त्र और भाषा-संबन्धी समस्याओं की ओर अधिक ध्यान दिया है। डॉ. उदयनारायण तिवारी की "भोजपुरी भाषा और साहित्य", डॉ. प्रेमनारायण टंडन की "सूर की भाषा", डॉ. शितिकंठ मिश्र की "खड़ी बोली का आन्दोलन", डॉ. कपिलदेवसिंह की "व्रजभाषा बनाम खड़ी बोली" आदि पुस्तकें भाषा-संबंधी समस्याओं के प्रति हिन्दी के विद्वानों की रुचि और इस क्षेत्र में उनके अध्ययन और अनुसन्धान का प्रमाण हैं। भारत जैसे बहुजातीय देश में भाषा-शास्त्र का एक व्यावहारिक पक्ष है। अनेक भाषा-संबन्धी समस्याएं उलझी हुई हैं और उत्तर-दक्षिण के भाषा-परिवारों के बारे में अनेक

भ्रम फैले हुए हैं। देश की एकता और विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों में सौहार्द दृढ़ करने के लिये यह आवश्यक है कि उनका विस्तृत और वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय और उनकी समानताओं के साथ उनकी विभिन्नताओं से भी साधारण पाठकों को परिचित कराया जाय।

समीक्षा-सिद्धान्तों पर इधर अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। डा. भोलाशंकर व्यास की "ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त", डा. गोविन्द त्रिगुणायत की "शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त" आदि पुस्तकें आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को समृद्ध करने का प्रयास हैं। संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के अध्ययन से भी समीक्षा-सिद्धान्तों को पुष्ट और विकसित करना संभव है। शास्त्रकारों के लिये हिन्दी साहित्य की उपलब्धियां नगण्य नहीं हैं और इनके आधार पर साहित्य-शास्त्र को और भी परिवर्द्धित किया जासकता है।

मध्यकालीन साहित्य का अध्ययन करते हुए संत कवियों तथा रीतिकालीन कवियों दोनों पर ही अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। किसी समय रीतिकालीन कवियों पर आलोचकों की दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती थी; इस समय संतों और सूफी कवियों पर अधिक ग्रंथों की रचना हमारे वर्तमान सांस्कृतिक विकास के लिये उनके विशेष महत्व की स्वीकृति है। सन्त-साहित्य में विभिन्न जातियों की मिली-जुली संस्कृति के दर्शन होते हैं। संस्कृत से भिन्न बोलचाल की भाषाओं की भूमि पर भारतीय संतों ने लोकप्रिय संस्कृति रची थी। इस संस्कृति द्वारा विभिन्न प्रदेशों की जनता एक दूसरे के निकट आयी और उसके सहयोग से ही इस संस्कृति का निर्माण हुआ। हिन्दी के माध्यम से अन्य भारतीय भाषाओं के संत-साहित्य से जनता को परिचित कराने का दायित्वपूर्ण कार्य अभी शेष है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल पर अपेक्षाकृत कम कार्य हुआ है। डॉ. राजेन्द्र शर्मा द्वारा बालकृष्ण भट्ट के साहित्य का अध्ययन और डॉ. नत्थन-सिंह द्वारा बालमुकुन्द गुप्त पर शोध-कार्य इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास हैं। कवियों में प्रसाद जी पर अनेक सुन्दर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं; पंत जी पर पुस्तकें काफी लिखी गई हैं किन्तु उनमें उल्लेखनीय दो-एक ही हैं। निराला जी के साहित्य का अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है। हिन्दी नाटकों की ओर जितना ध्यान आलोचक दे रहे हैं, उतना शायद स्वयं नाटककार नहीं। डॉ. दशरथ ओझा की "हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास", श्री श्रीकृष्णदास की हमारी नाट्य परम्परा" आदि पुस्तकों में काफी खोजपूर्ण सामग्री एकत्र की गई है। अनेक लेखकों ने लोक-संस्कृति, लोकगीतों आदि का अध्ययन किया है और सांस्कृतिक नव-निर्माण के लिये लोक-संस्कृति के आवश्यक आधार की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

हिन्दी के आलोचकों, विद्वानों और भाषाशास्त्रियों के इस कार्य से जहां हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है, वहां उससे समाज के सांस्कृतिक विकास में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। "कला कला के लिए" की तरह यह आलोचना केवल आलोचना के लिये नहीं है। हिन्दी आलोचना की मुख्य दिशा अपनी संस्कृति को समृद्ध करके जनता को परम्परा से परिचित कराने, लोक कल्याण के लिये साहित्य की मानवतावादी भूमिका को स्पष्ट करने की ओर है। कुल मिलाकर पिछले दस वर्षों की समालोचना ने साहित्य के स्वस्थ तत्वों को प्रोत्साहन दिया है और देश तथा जन-संस्कृति के लिये घातक तत्वों का विरोध किया है। इस कार्य को देखकर कोई भी जागरूक पाठक आलोचना की उपयोगिता को अस्वीकार न करेगा। हिन्दी आलोचना का अध्ययन किये बिना जो उसके कल्पित निम्न स्तर पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, जो उसे संस्कृत या अंग्रेजी की नकल कह कर टाल देते हैं या जो दंभ से घोषित करते हैं कि पिछले दस वर्षों में हिन्दी आलोचकों ने जो कुछ लिखा, उसे न भी लिखते तो कोई हानि न थी, वे हिन्दी साहित्य के प्रति अन्याय करने के अतिरिक्त अपने अज्ञान का परिचय भी देते हैं।

यह सही है कि हिन्दी में आलोचना की पुस्तकें एक ही उच्च स्तर की नहीं हैं। उपन्यास, कहानी, नाटक और कविता की पुस्तकें भी एक से स्तर की नहीं हैं। न हिन्दी में, न अन्य किसी देशी, विदेशी भाषा में साहित्य के किसी भी अंग की पुस्तकें सदा एक से

स्तर की होती हैं। हम इतना ही कहेंगे कि अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी का आलोचना-साहित्य नगण्य नहीं है।

आलोचना आवश्यक है, उपयोगी है, हिन्दी के आलोचना-साहित्य के विकास की अनेक संभावनाएं विद्यमान हैं, इसलिये इस कार्य में विनम्र सहयोग के रूप में "समालोचक" का यह प्रकाशन है। हमारा ध्येय हिन्दी आलोचना के उपर्युक्त विकास में योग देना है, उसमें आमूल परिवर्तन करना अथवा युगान्तर उपस्थित करना नहीं। जैसा कि इस अंक से ही प्रकट होगा, हम विभिन्न विचारधाराओं और मतों के लेखकों की रचनाएं प्रकाशित करके परस्पर विचार-विनिमय द्वारा आलोचना-साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का प्रयत्न करेंगे। व्यवस्थित ढंग से समीक्षा-सिद्धान्तों की चर्चा चलाना, देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्य से परिचय बढ़ाना, विदेश के उल्लेखनीय साहित्यकारों और साहित्यिक धाराओं की जानकारी प्राप्त करना, हिन्दी की नयी साहित्यिक गति-विधि का विवेचन करना, साहित्य की परंपरा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, संक्षेप में ये हमारे उद्देश्य हैं। पहले ही अंक में विद्वानों से हमें जो सहृदयतापूर्ण सहयोग मिला है, उससे विश्वास होता है कि हम अपने उद्देश्यों में सफल होंगे।

हिन्दी में समीक्षा-सिद्धान्तों की चर्चा अधिक हो, इस विचार से "समालोचक" का पहला अंक सौन्दर्य-शास्त्र-विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशित हो रहा है। सौन्दर्य-शास्त्र—यह शब्द हिन्दी के लिये नया नहीं है। इस विषय पर डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा की एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। फिर भी यहां दो समस्याओं का समाधान आवश्यक है। पहली यह कि काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के रहते हुए सौन्दर्य-शास्त्र की आवश्यकता क्या है। आवश्यकता यह है कि साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के परस्पर संबन्ध को हम समझें, उनकी समानताओं को पहचानें, ललित कलाओं की सामान्य भूमि पर साहित्य के सौन्दर्य का विवेचन करें, प्रकृति, मानव-जीवन, साहित्य तथा अन्य कलाओं के सौन्दर्य की विशेषताओं—उनकी विविधता और समानता—का ज्ञान प्राप्त करें। इसलिये साहित्य-शास्त्र से अधिक व्यापक यह सौन्दर्य-शास्त्र आवश्यक है।

दूसरी समस्या है सौदर्न्य-शास्त्र नाम की। साहित्य अथवा कला सुन्दर के अतिरिक्त असुन्दर तत्वों को भी अपने अन्दर समेट लेती है। फिर सौन्दर्य-शास्त्र में कला के सभी तत्वों का विवेचन कैसे हो सकता है? संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी रस-संबन्धी चर्चा में सुन्दर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ।

इस संबन्ध में पहले प्राचीन काव्यों को देखें। आदि कवि वाल्मीकि के मुख से जब प्रथम श्लोक निकला, तब उनके शिष्य प्रसन्न होकर बारबार उसे गाने लगे:

मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः।

उन्हें प्रसन्नता थी, साथ ही विस्मय भी था। इस तरह की प्रसन्नता उन्हें पहले प्राप्त न हुई थी। उन्हें यह भी मालूम था कि कवि के शोक ने ही श्लोक का रूप ले लिया है: शोकः श्लोकत्वमागतः। आदि कवि साहित्य में विरोधी तत्वों के समन्वय से विचलित न हुए थे। शोक की व्यंजना करनेवाला छन्द प्रसन्नता का कारण हो सकता है, वह जानते थे। इस छन्द में उन्होंने रामायण की रचना की। उसे ऋषियों के समाज में लव-कुश ने गाया और सुनकर श्रोताओं की आँखों में आंसू आ गये:

तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे वाष्पपर्याकुलेक्षणाः।

उनकी आंखों में आंसू थे किन्तु प्रशंसा में वे कहते जाते थे:

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।

वे माधुर्य पर मुग्ध थे। उनके रस-विह्वल हृदय से हठात् ये शब्द निकले थे—अहो गीतस्य माधुर्यम्। उन्होंने—अथवा कवि वाल्मीकि ने—माधुर्य शब्द का प्रयोग किया, रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि के विवेचन द्वारा अपनी भावना प्रकट नहीं की। शोक व्यंजित करनेवाले छन्द से शिष्यों का प्रसन्न होना, आंखों में आंसू भरे हुए ऋषियों का गीत के, विशेष कर श्लोकों के माधुर्य की प्रशंसा करना—सौन्दर्य-शास्त्र की मूल समस्या रामायण महाकाव्य के आरंभ में प्रस्तुत कर दी गई है।

माधुर्य से मिलता-जुलता शब्द रमणीयता है।

काव्य की एक प्रसिद्ध व्याख्या है: रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्। रमणीयता का लक्षण बतलाया गया है:

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:।

साहित्य शास्त्र में रमणीयता की चर्चा हो सकती है तो सौन्दर्य की भी हो सकती है। बाबू गुलाबराय ने उपर्युक्त व्याख्या को "सौन्दर्य या रमणीयता" की परिभाषा के रूप में उद्धृत किया है (सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ९९)। संस्कृत के शास्त्रकार "सौन्दर्य या रमणीयता" से अपरिचित नहीं थे और यूरोप में "ईस्थेटिक्स" का जन्म होने से बहुत पहले उन्होंने उसका विवेचन किया था।

गोस्वामी तुलसीदास ने भवसागर से पार उतरने के लिये रामायण की रचना की—करउँ कथा भव सरिता तरनी। इस कथा को उन्होंने यथाशक्ति "मनोहर" बनाने का प्रयत्न किया—करइ मनोहर मति अनुसारी। माधुर्य और रमणीयता की तरह मनोहरता का गुण, काव्य की विशेषता के रूप में, उनके सामने विद्यमान था। जो मनोहर हो, वह मंगलकारी भी हो सकता था। उनके लिये सौन्दर्य और उपयोगिता के बीच में न पाटी जा सकने वाली खाईं न थी। उनके सन्त जिस राम-सुयश की वर्षा करते हैं, वह "मधुर मनोहर मङ्गलकारी" है। रामचरित मानस के घाट "मनोहर" हैं, इस मानस की उपमाओं का बीचि-बिलास "मनोरम" है। पुरइन के समान चौपाइयाँ "चारु" हैं। कवि की युक्तियाँ "मंजु" हैं। और छन्द-सौन्दर्य:

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा।
सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा।
सोइ पराग मकरंद सुबासा॥

कवि ने दोहा-सोरठा आदि छन्दों की मात्राएं न गिना कर उन्हें सुन्दर कहा है; उनकी तुलना विविध रंग के कमलों से की है। किस सौन्दर्य-प्रेमी कवि ने छन्दों के सौन्दर्य का वर्णन इससे अधिक सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से किया है? छन्दों का अर्थ फूलों के पराग, मकरंद और सुगन्ध के समान श्रोताओं को आनन्द-विभोर करने वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि साहित्य में जो गुण मधुर, मनोहर, मनोरम, सुन्दर आदि विशेषणों से अभिहित है, उसकी चर्चा भारतीय काव्य-परम्परा के विरुद्ध नहीं है।

हिन्दी के सौन्दर्य-शास्त्र की मूलभूत मान्यताएं स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं में मिलती हैं। कवि और सौन्दर्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूप रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में।" शुक्ल जी ने काव्य के सौन्दर्य को प्रकृति और मानव-जीवन के सौन्दर्य के सन्दर्भ में ही परखा है। यहाँ उनकी मान्यताओं पर विस्तार से कुछ लिखना आवश्यक नहीं है। इतना ही संकेत करना यथेष्ट है कि शुक्ल जी के लिये कवि की दृष्टि सौन्दर्य की ओर जाती है और वे कविता के विवेचन में सौन्दर्य और उसकी अनुभूति की व्याख्या करना आवश्यक समझते हैं। इससे हम आशा करते हैं कि हिन्दी के विद्वान् आलोचना के क्षेत्र में सौन्दर्य-शास्त्र की चर्चा को अनावश्यक कार्य न समझेंगे।

इस अङ्क में प्रकाशित सामग्री से पाठकों को इस विषय में भारत और यूरोप के विद्वानों के विचारों का परिचय मिलेगा, साथ ही उन्हें मौलिक चिन्तन की सामग्री भी प्राप्त होगी और वे देखेंगे कि हिन्दी के माध्यम से किस कोटि की अध्ययन-सामग्री दी जा सकती है। हमें विश्वास है कि इस अङ्क में प्रकाशित लेखों से समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को विकसित करने में सहायता मिलेगी। इसके लिए हम अपने विद्वान् लेखकों के प्रति आभार प्रकट करते हैं; जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, फिर भी जिन्होंने हिन्दी में अपनी रचनाएं भेजकर हमारी अमूल्य सहायता की है और हमारा उत्साह बढ़ाया है, उनके प्रति हम विशेष रूप से अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हम प्रयत्न करेंगे कि "समालोचक" को अधिकाधिक विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो और उनकी रचनाओं द्वारा वह निरन्तर हिन्दी साहित्य की प्रगति में सहायक हो।

———

सौन्दर्यानुभूति

बाबू गुलाबराय एम० ए०, डी० लिट्०

"सौन्दर्य" क्या है, इसका उत्तर देना कठिन है। सुन्दर वस्तुओं के सामान्य धर्म को ही 'सौन्दर्य' कहा जाता है। किन्तु विषयगत (Objective) सौन्दर्य के विषय में ही "सामान्यधर्मता" का सिद्धान्त ठीक बैठता है। विषयगत सौन्दर्य पर पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र में अधिक विचार हुआ है। यूनानी मूर्तिकला में सौन्दर्य का विकास अपनी चरमसीमा पर दिखाई पड़ता है, इस वाह्य सौन्दर्य-सृष्टि की नाप-तोल भी योरोप में बहुत हुई है। "ज्यॉमित" के नियमों का प्रयोग करके वस्तु के आकार में सामञ्जस्य, संतुलन, संश्लिष्टता और एकान्विति की प्रतिष्ठा से वाह्य-सौन्दर्य की सृष्टि सम्भव बताई गई है।

विषयगत सौन्दर्य-चर्चा में "सुन्दर" और "उदात्त" (Sublime) का भी भेद किया गया है। धार्मिकभाव-मिश्रित भय (awe) उत्पन्न करने वाली विराट और विस्तृत वस्तुओं को "उदात्त" कहा गया है, "सुन्दर" नहीं। उत्तुंग शृङ्गमय पर्वत, महासागर, विस्तृत कांतार, भयंकर विस्फोट और विराट भवन "उदात्त" के उदाहरण हैं, इन्हें देखकर धार्मिक भावपूर्ण भय मन में उत्पन्न होता है और साथ ही इनके आकार और विस्तार को देख करके मन में "आत्मलघुता" की भावना भी उत्पन्न होती है। वृन्त पर खिला हुआ पुष्प, शरद-निशा में मुस्कराता हुआ चन्द्रमा और कामिनी का मुख आदि "सुन्दर" कहे जाते हैं। "सुन्दर" में "प्रियता" का भाव अधिक है। इसीलिए हमारे यहाँ "माधुर्य" गुण को सुन्दर कलाओं की सृष्टि में अधिक महत्व दिया गया है। "सुन्दर" वस्तु वह है जिसमें "रमणीयता" के साथ-साथ "माधुर्य" भी हो। 'रमणीयता' का अर्थ है क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली नवीनता, [1]माधुर्य का अर्थ चित्त को द्रवित करने वाला आह्लाद है।[2] 'रमणीय, वस्तुओं में "उदात्त" को भी सम्मिलित किया जा सकता है; परन्तु 'माधुर्य' और "नवता" के संयोग से "सुन्दर" की सृष्टि होती है।

किन्तु वाह्य सौन्दर्य के सम्बन्ध में इतना मतभेद है कि "विषयीगत" सौन्दर्य को ही कुछ लोग अधिक महत्व देना चाहते हैं। देश, काल और पात्र के भेद के कारण विषयीगत सौन्दर्य की सत्ता माननी पड़ती है। 'सौन्दर्य' एक मानसिक अनुभूति या प्रतीति-मात्र है, जिसे हम किसी विशेष परिस्थिति में अनुभव करते हैं। इसलिए किसी क्षण में कोई वस्तु और किसी क्षण में कोई अन्य वस्तु सुन्दर लगती है। कविवर बिहारीलाल ने लिखा है—

> समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
> मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥

अंगरेजी कवि 'कॉलरिज' ने भी विषयीगत सौन्दर्य का समर्थन किया है :—"रमणी, हम तुझ में वही पाते हैं जो हम तुझे देते हैं"

> O lady ! We receive but what we give.

विषयीगत सौन्दर्य में द्रष्टा की मानसिक दशा मुख्य है, इसलिए विषयीगत सौन्दर्य की दृष्टि से असुन्दर वस्तुओं में भी द्रष्टा सौन्दर्य के दर्शन कर सकता है। किन्तु उसकी भी कुछ सीमा रहती है।

कुछ वैज्ञानिक 'वस्तु' को स्पन्दनमात्र मानते हैं और उसके रंग, रूप का श्रेय द्रष्टा की मानसिक सृष्टि को देते हैं। अध्यात्मवादी—प्रत्ययवादी भी वस्तु की सत्ता द्रष्टा की चेतना में ही मानते हैं। इस प्रकार घोर

---

(१) क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैतितदेव रूपं रमणीयतायाः—माघ

(२) चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते—सा० दर्पण

भौतिकवादी और घोर अध्यात्मवादी दोनों आत्यन्तिक छोर (two extremes meet के न्याय से) मिल जाते हैं। वस्तुत: इस विषयीगतता और विषयगतता का नितान्त विरोध भी नहीं है, क्योंकि बहुत से लोगों का विषयीगत 'सौन्दर्य' (और सत्य) विषयगत बन जाता है। गुलाब की लालिमा चाहे मानसिक भ्रम या आभास हो, किन्तु वह सबका भ्रम है। सब की प्रातिभासिक सत्ता व्यावहारिक वास्तविकता बन जाती है, इसलिए विषयीगतता और विषयगतता में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। कविवर बिहारी ने लिखा है, "रूप रिझावन हारु वह, ये नैना रिझवार"। 'प्रसाद' जी ने कामायनी का सौन्दर्य वर्णन करते हुए दोनों प्रकार के सौन्दर्य का समन्वय किया है। बाह्य विषयगत सौन्दर्य के साथ साथ उसमें कवि के मन की साध भी मिली हुई है :—

आह, वह पश्चिम के व्योम,
बीच जब घिरते हों घनश्याम।
अरुण रविमण्डल उनको बेध,
दिखाई देता हो छविधाम॥
कुसुम कानन अंचल में मन्द,
पवन प्रेरित सौरभ-साकार।
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार—
और पड़ती हो उस पर शुभ्र,
नवल मधु राका मन की साध॥

सौन्दर्य और सात्विकता :—'कुमारसम्भव' में कहा गया है कि सौन्दर्य पापवृत्ति की ओर नहीं ले जाता, यह वचन अव्यभिचारी है अर्थात् सत्य है।१ रवीन्द्र बाबू ने कहा है कि जल में उछलने वाली मछली का सौन्दर्य निरपेक्ष द्रष्टा ही देख सकता है। किन्तु कुमारसम्भव में श्मशानवासी, भगवान भूतनाथ भी पर्वती को नितान्त निरपेक्ष दृष्टि से नहीं देख सके, तब साधारण मनुष्यों की बात कौन कहे ? किन्तु नितान्त निरपेक्ष दृष्टि न रहने पर भी वासना में सात्विकता हो सकती है। कला लौकिक वासना में इसी प्रकार की सात्विकता उत्पन्न कर देती है।

सौन्दर्य सात्विक इसलिए होता है कि दृष्टा वस्तु के साथ कुछ समय के लिए तन्मय हो जाता है और यह तन्मयता उसके चित्त का विस्तार करती है। आचार्य शुक्ल ने भी "वस्तु को देखकर अंत: सत्ता की तदाकार परिणति" को ही सौन्दर्य की अनुभूति कहा है। चित्त की यह परिणति स्वयं द्रष्टा की एक उच्च मानसिक अवस्था है, क्योंकि इसमें द्रष्टा का सात्विक आत्म-त्याग आजाता है। इसीलिए कलाओं का विकास सांस्कृतिक विकास माना जाता है। वासना और स्वार्थ से अभिभूत चित्त तन्मय नहीं हो पाता। दूसरी ओर प्रकृति की वस्तुओं को देखकर उपयोगितावादी दृष्टि सर्वथा अपने उपयोग की दृष्टि से वस्तु को देखती है। (और उपयोग की दृष्टि स्वार्थ-परक होती है।) इंजीनियर और कवि में यही अन्तर है। प्रथम 'पर्वत' को इसलिए देखता है कि उसका जनता के भौतिक जीवन की उन्नति के लिए क्या उपयोग हो सकता है, "कवि" पर्वत को देखकर 'मुग्ध' होना सिखाता है, कवि-दृष्टि हमें उच्च भावभूमि में ले जाती है, अत: मानसिक विकास के लिए 'कला' का उपयोग स्वीकृत है। 'कला' में इंजीनियर की दृष्टि-गत उपयोगिता की खोज करना गलत है, स्वयं "सौन्दर्य" हृदय को परिष्कृत, पवित्र, कोमल और व्यापक बनाता है, यही उसकी उपयोगिता है। 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है कि भावुक जन ही महान कार्यों को करने के योग्य बनते हैं।२

सौन्दर्य, शिव और सत्य—"सत्य" के साथ सौंदर्य का सम्बन्ध प्राय: लोग मानते हैं; परन्तु 'सत्य' की व्याख्याएं अनेक हैं। हमारे यहाँ 'सत्य' केवल 'ब्रह्म' को माना गया है, जगत् को मिथ्या कहा गया है, परन्तु कुछ दार्शनिक ब्रह्म व जगत दोनों को सत्य मानते हैं। ऐसे दार्शनिकों ने जगत के सौन्दर्य के आनन्द में ही 'सच्चिदानन्द' की खोज की है और ब्रह्म को भी सुन्दर रूप देकर धरती पर उतारा है। मनुष्य सबसे

१ यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये, न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः

२ भावुक जन से ही महत् कार्य होते हैं—साकेत

अधिक "सत्य" को ही प्यार करता है अतः ब्रह्म को भावना का विषय बनाकर अद्भुत छवियों का अङ्कन किया गया है। भक्ति-साहित्य में सत्य व सौन्दर्य अभिन्न हैं। 'शिवत्व' तो सत्य में ही निहित है। जो सत्य है, वह हितकर अवश्य होगा अतः तीनों का समन्वय हमारे साहित्य व कला में मिलता है।

किन्तु "सत्य" का अर्थ प्रगतिवादी विचारक ऐतिहासिक सत्य से लेते हैं, सत्य मूर्त्त है कोई सूक्ष्म और निरपेक्ष सत्य है, इसका प्रमाण नहीं है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया को समझकर ही हम 'सत्य' का निर्णय कर सकते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था का नाश कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना ही आज का 'सत्य' है। इस "सत्य" को कथा, काव्य, मूर्ति, संगीत आदि विधाओं द्वारा व्यंजित करना ही सच्चे सौन्दर्य की सृष्टि है, क्योंकि असामाजिक भावनाओं की व्यंजना सुन्दर हो सकती है, उसमें 'सत्य' भी हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः सच्चे सौन्दर्य की सर्जना के लिए "सत्य" की पहचान आवश्यक है। सुन्दर की सृष्टि "शिव" तभी होगी जब सुन्दर को 'सत्य' के साथ सम्बद्ध किया जाय। बलात्कार व हत्या के चित्र, काव्य व कथाएं सुन्दर हो सकती हैं; परन्तु वे सत्य व शिवत्व से रहित हैं—अतः प्रगतिवादी सौन्दर्यशास्त्री भी इन तीनों का समन्वय आवश्यक मानता है; परन्तु 'सत्य' शब्द की विशेष व्याख्या करता है। किन्तु दृष्टिकोण-भेद से सत्य शब्द की परिभाषाएं अनेक हैं, शिव और सौन्दर्य के साथ जिस सत्य का समन्वय हो सकता है, उसी सत्य को सत्य माना जाएगा। व्यवहारवाद (Pregmaticism) की दृष्टि से भी "सत्य" हित का ही रूप है किंतु हित में ही सीमित नहीं है। 'हित' के भी कई रूप हो सकते हैं। हित शब्द का शाब्दिक अर्थ है—'विद्धाति इति हितम्', जो बनाता है, वह हित है, बनाने के भी कई आदर्श हैं। 'प्रगतिवाद' वर्गभेद करके एक को न्यायी और एक को अन्यायी ठहराता है। अन्यायी को अपदस्थ कर न्यायी और शोषित को पदस्थ करना उसका ध्येय है। लेखक का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह अन्यायी को भी "राम का जीव" मानता है, अन्यायी का हृदय परिवर्तन करके ही उसका सुधार चाहता है। उन्नत और विकसित समाज वह उसे समझता है कि जिसमें विकास का यह आदर्श स्वीकृत हो—"अधिक से अधिक विशेषीकरण (Specialisation) के साथ एकीकरण (integration) भी हो।" जैसा कि मनुष्य-शरीर में मिलता है, सब इन्द्रियाँ अपना अपना अलग-अलग कार्य करती हैं और साथ ही एक दूसरे की सहायक और पूरक होती हैं। (केंचुआ जैसे अविकसित जीव में एक ही स्पर्श-इन्द्रिय सब इन्द्रियों का काम करती है।)

सामाजिक संघर्षों और समस्याओं के चित्रण में ही प्रगतिवादी 'सत्य' की रक्षा कलाकार कर सकता है परन्तु प्रकृति व प्रेम के क्षेत्र में प्रगतिवादी 'सत्य' की रक्षा कठिन है, क्योंकि पर्वत, पुष्प, नदी, निर्झर आदि सामन्तवाद में भी सुन्दर लगते थे और अब भी सुन्दर लगते हैं। मनुष्य के ऐतिहासिक संघर्षों से प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में थोड़ा बहुत अन्तर आने पर भी कोई मौलिक अन्तर नहीं आया—अतः "रूप के आकर्षण" को शाश्वत माना जा सकता है।

कला में 'सत्य' की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो, इस पर मतभेद है। 'प्रकृतवादी' नग्न सत्य को यथातथ्य रूप में चित्रित करने को पसन्द करते हैं। उनके अनुसार अनावृत सत्य की प्रतिष्ठा स्वयं अपने में 'सुन्दर' है। "समाजवादी-यथार्थवाद" (प्रगतिवाद) 'सत्य' में कुछ काट-छाँट करके, उसको इस प्रकार व्यंजित करना अच्छा समझता है, कि उसके प्रति हमारी भावात्मक प्रवृति हो। उनके अनुसार यदि 'सत्य' को अनावृत्त रूप में रखने की आवश्यकता हो तो ऐसा भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्रगतिवादी सत्य-चित्रण में शालीनता का अभाव आ जाता है। शालीनता लेखक के लिए आवश्यक है। हमारे यहाँ कला-पद्धति की दृष्टि से 'सत्य' की काटछाँट आवश्यक मानी गई है। 'दुष्यन्त' की गौरवकथा के लिए दुर्वासा के श्राप की कल्पना कर लेने से ही प्रेम के आदर्श की रचना करने में कालिदास की प्रशंसा ही की जाती है। इसे "उपचार-वक्रता" कहा

गया है। भारतीय संस्कृति किसी न किसी आदर्श को 'कला' के लिए आवश्यक मानती है; परंतु उसमें यथार्थ की अवहेलना भी नहीं हुई है, अत: भारतीय कला में सत्य, शिव व सौंदर्य का समन्वय मिलता है। सत्य के मूर्त रूप की भारतीय कला में भले ही अवहेलना हो जाय उसके "हार्द" (Spirit) की रक्षा होती है।

सौंदर्य-सृजन के लिए सत्य के साथ शिव का भी विचार आवश्यक है। शिव का प्रश्न मूल्यों (Values) के साथ सम्बिन्धित है। यों रूपों का अङ्कन अपने में ही "शिव" भी है; परन्तु फिर भी सामाजिक घटनाओं और समस्याओं में शिव का ध्यान रखना पड़ता है। किंतु 'शिवत्व' के विषय में भी मतभेद हैं। कुछ भौतिक हित को और कुछ आध्यात्मिक हित को अधिक महत्त्व देते हैं। भारतीय कला व साहित्य में दोनों की उन्नति को लक्ष्य बनाया गया है। भगवान रामचन्द्रजी ने भरत को धर्म, अर्थ, काम—तीनों के अविरोध सेवन का उपदेश दिया है।

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुन:।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे।
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतांवर:।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे।

—वाल्मीकि रामायण

अर्थात् क्या तुम अर्थ से धर्म में और धर्म से अर्थ में तथा प्रीति, लोभ और काम से धर्म और अर्थ में तो बाधा नहीं डालते ? और क्या तुम अपना समय बाँट कर धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हो ?

इस दृष्टि से "सुन्दर" के साथ सत्य व शिव का समन्वय सम्भव है। इन तीनों के समन्वय से "वाणी का तप" सिद्ध होता है। गीता में सत्य, प्रिय व हित का समन्वय अनिवार्य माना गया है।[१] तुलसीदास ने भी सुन्दर के साथ हित को आवश्यक माना है।[२] कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने भी प्रज्ञा, प्रणय व लोक-सेवा के समन्वय का समर्थन किया है।[३]

मैथलीशरण गुप्त ने कहा है कि यद्यपि कुशल अभिव्यक्ति ही कला है तथापि केवल सत्य और शिव की अभिव्यक्ति कुरूप भी हो सकती है और केवल कल्पनाओं का प्रयोग मनोरंजक होने पर भी श्रेष्ठ सौंदर्य को जन्म नहीं देता—

सत्य सदा शिव होने पर भी, विरूपाक्ष भी होता है।
और कल्पना का मन केवल, सुन्दरार्थ ही होता है—

—साकेत

इसलिए सौन्दर्य, सत्य और शिव एक और अभिन्न हैं।

—*:०:*—

१—अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
—गीता

२—कीरति भणिति भूतिभल सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।

३—वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार
—पंत

प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया

डा० रामअवध द्विवेदी एम० ए०, डी० लिट्०

सौन्दर्य-शास्त्र तथा साहित्यिक आलोचना का निकटतम सम्बन्ध है। दोनों का क्षेत्र कम से कम आंशिक रूप में एक हैं। दोनों में भेद केवल इतना है कि सौन्दर्यशास्त्र दर्शन और सिद्धान्त पर विशेष बल देता है और साहित्य-शास्त्र व्यवहार पक्ष पर। तब भी कुछ ऐसी मूल समस्याएं हैं जिनका सम्बन्ध दोनों से है और जिनके समाधान की खोज में दार्शनिक और आलोचक अनेक शताब्दियों से लगे हुये हैं। इस प्रकार की समस्याओं में एक प्रमुख प्रश्न प्रभाव तथा उपभोग का है।

कला में निबद्ध तथ्य अथवा यथार्थ दैनिक जीवन के प्रतिमान से प्राय: अवास्तविक प्रतीत होता है। कभी-कभी उपन्यास या नाटक में होने वाली घटनाएं दैनिक जीवन से सम्बन्धित नहीं होतीं अर्थात् उस प्रकार की घटनाएं नित्य-प्रति नहीं घटित होतीं। वैसे भी दिग् और काल में घटनाओं का जो क्रम और विस्तार दैनिक जीवन में मिलता है, कलात्मक निरूपण में वह क्रम बदल जाता है और फलत: कला में जीवन का एक बदला हुआ रूप दिखाई देता है। यथार्थवाद के प्रतिपादकों ने बराबर इस बात की कोशिश की है कि यथार्थ तथ्यों तथा घटनाओं का अपरिवर्तित रूप कला में प्रस्तुत किया जाय; किन्तु अभी तक वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाये हैं। उनके मार्ग में दो प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहली कठिनाई का सम्बन्ध कला के उद्देश्य से है। यदि कला केवल यथार्थ को ही चित्रित करने का काम करती है तो वह इस कार्य में प्रकृति से होड़ नहीं ले सकती और इस भाँति वह निरर्थक और निरुद्देश्य सिद्ध होती है। दूसरी कठिनाई निर्माण-पद्धति से सम्बन्धित है। कला यदि जीवन का सुव्यवस्थित रूप प्रस्तुत करना चाहती है तो वाध्य होकर उसे यथार्थ में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य करना पड़ेगा। इसीलिये यह मान लिया गया है कि कला का सत्य जीवन के सत्य से किसी न किसी अंश में अवश्य भिन्न है। अतएव साधारण जीवन के यथार्थ ज्ञान के लिये कला एक विश्वसनीय साधन नहीं है। पुराने यूनानी आचार्यों से लेकर आज तक अनेक विचारकों ने यह इंगित किया है कि कला का सीधा सम्बन्ध सत्य से नहीं वरन् प्रभाव से है। अत: एक सीमा के उपरान्त कला के ऊपर यथार्थ का आग्रह अनुचित मालूम पड़ता है।

किन्तु यह जानने पर भी कि कला और वास्तविकता का निरन्तर सम्बन्ध नहीं मिलता है, हम कला की ओर आकृष्ट होते हैं। स्पष्टत: इस आकर्षण का कारण यह नहीं है कि कला द्वारा हमारी तर्क-बुद्धि तृप्त होती है अथवा उसके द्वारा हमारी जानकारी बढ़ती है। यह सच है कि कुछ लोग समाजशास्त्र और मनोविज्ञान समझने के लिये उपन्यास और नाटक में मिलने वाले तथ्यों का संकलन, अध्ययन और विश्लेषण करते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो प्राचीन वास्तु-कला के अवशेषों के निरीक्षण द्वारा प्राचीन धार्मिक और सामाजिक विश्वासों के बारे में निष्कर्ष निकालते हैं; किन्तु इस प्रकार का ज्ञानवर्द्धन कला का केवल गौण प्रयोजन हो सकता है और इस भाँति प्राप्त किये हुए निष्कर्षों की उपादेयता भी सीमित है। कला-सम्बन्धी सामान्य अनुभव तो यह है कि हम कला का उपभोग यथार्थ के आग्रह को छोड़कर या कम से कम भुला कर करते हैं। आनन्दानुभूति के समय तर्क सो जाता है या कह सकते हैं कि तार्किक प्रक्रिया के स्थगित होने पर ही कलात्मक आनन्द का अनुभव होता है। यहाँ तर्क और ज्ञान, "रीजन और कांशेन्स" में भेद करना आवश्यक है।

जब हम कहते हैं कि तर्क सो जाता है, तब यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ज्ञान की क्षमता विलुप्त हो जाती है। परिस्थिति और परिवेश का ज्ञान तो बना रहता है, किंतु सत्य और असत्य, वास्तविक और अवास्तविक के भेद की शक्ति कुछ समय के लिये मिट जाती है।

प्रश्न यह उठता है कि हम इस अवस्था तक किस भाँति पहुँचते हैं। सर्वप्रथम जब हम कला के निरीक्षण, ग्रहण और तज्जनित आनन्दानुभूति की अपेक्षा करते हैं, तब स्वत: इस प्रकार की मानसिक अवस्था का आह्वान करते हैं, जिसमें तर्क-बुद्धि मानों सुला दी जाती है और इस भाँति उपभोग की क्षमता तीव्र हो उठती है। जब हम कविता सुनने, नाटक देखने, अथवा उपन्यास पढ़ने के लिये तत्पर होते हैं, तब हम यह मान लेते हैं कि तर्कपूर्ण ऊहापोह के लिये गुंजाइश नहीं है। इसके अतिरिक्त कला में ही कुछ ऐसी विशेषता है जो अविश्वास और तर्क को सुला देने में हमारी सहायता करती है। नाटकीय भ्रान्ति का सिद्धान्त इस बात का प्रमुख साक्षी है। जिस समय हम प्रेक्षा-गृह में प्रविष्ट होते हैं, उस समय हमारी तर्कबुद्धि अक्षुण्ण रहती है और हम बिना प्रयास के ही सम्भव और असम्भव, उचित और अनुचित पर विचार कर सकते हैं; किन्तु थोड़ी ही देर बाद जब संगीत और कृत्रिम प्रकाश से रंगशाला भर जाती है और कुशल अभिनेता अपने अङ्ग-परिचालन तथा कथनोपकथन द्वारा एक विशेष परिस्थिति और कार्य का रूप सामने खड़ा कर देते हैं, तब इन सभी उपकरणों का संकलित प्रभाव यह होता है कि विश्वास और अविश्वास का प्रश्न ही कुछ समय के लिये स्थगित हो जाता है। प्रतीत यह होता है कि रंगमंच का दुष्यन्त वास्तविक दुष्यन्त और रंगमंच की शकुन्तला वास्तविक शकुन्तला है। नाटकों के पढ़ने पर जो विरोध हमको दिखाई पड़ते हैं, उनमें अधिकाँश अभिनय के विशिष्ट वातावरण में स्वत: मिट जाते हैं। काव्य में छन्दों की उपादेयता पर विचार करते हुए कतिपय आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने लिखा है कि छन्द का लय और संगीत हमारे मन में भर जाता है और तदुपरान्त पहले की अनेक अस्पष्ट बातें साफ हो जाती हैं और बहुत-सी बातों की संगति आप से आप बैठ जाती है। यह भी कलात्मक रसास्वादन के संदर्भ में अविश्वास के विलीन हो जाने का ही एक प्रमाण है।

सामान्य रीति से कह सकते हैं कि कला में आकृति या रूप की जो विशेषता अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है, उसका ही प्रभाव श्रोता अथवा द्रष्टा के मन पर पड़ता है और उसीके फलस्वरूप वह मानसिक अवस्था उपस्थित होती है, जिसके अभाव में कला का रसास्वादन सम्भव ही नहीं। जब तक हम किसी प्रासाद, किसी चित्र, किसी मूर्ति के रूप-सौष्ठव को नहीं पहचानते, तब तक हम उससे आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। उस समय तक तो हम केवल उस महल की लम्बाई-चौड़ाई नापते रहेंगे, उस चित्र के रंग किस प्रकार तैयार किये जाते हैं, इस बात की छानबीन करेंगे और इसी तरह इस बात का पता लगायेंगे कि उस मूर्ति का प्रस्तर कहाँ से लिया गया है। रूप का सम्यक् दर्शन होने पर यह सभी बातें अनावश्यक मालूम पड़ेंगी और हमारा मन द्रवित होकर कला के प्रभाव को अनायास ग्रहण करेगा। जब तक कविता में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति पर ही हमारा ध्यान स्थिर रहेगा तब तक कविता का रसास्वादन नहीं हो सकता। जब हम प्रेरणा के स्पर्श से अनुप्राणित शब्दों को छन्द और लय के प्रवाह में बहते हुए पायेंगे और उनसे प्रभावित होंगे, उस समय उन शब्दों का व्यवधान हमारे लिये मिट जायगा और हमारे मन तथा शब्दों के प्रभाव से उद्भूत आनन्द के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। इस प्रक्रिया में तर्क का कोई काम नहीं है। यह तो केवल प्रभाव-ग्रहण और आत्म-समर्पण की ही बात है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कला के समुचित रसास्वादन के लिये रूप-विधान का सहज अथवा प्रबुद्ध ज्ञान अनिवार्य है। अशिक्षित लोग भी संगीत अथवा कला से प्रभावित होते हैं किन्तु यह तभी सम्भव है जब उनमें रूप-बोध की नैसर्गिक क्षमता रहती

है। अधिकाँश लोगों के लिये कला के सिद्धान्तों और रूप-विधानों के ज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित होती है, जिससे वे विशिष्ट आकृति की पहचान कर सकें। जब तक शास्त्रीय संगीत का परिचय नहीं होता तब तक वह नीरस मालूम पड़ता है। किन्तु स्वर-विधान के विभिन्न ढाँचों का ज्ञान हो जाने पर उससे अनुपम आनन्द मिलता है। इससे यह पता लगता है कि कला में रूप केवल उसके सौष्ठव का कारण ही नहीं है किन्तु वह आनन्द प्राप्ति का एक अनिवार्य साधन भी है। जब कभी कला की आकृति में वैषम्य होता है उस समय हमारी आस्था को ठेस लगती है और हमारा सोया हुआ अविश्वास जाग उठता है। यदि किसी उपन्यास का पूर्वार्द्ध निरूपण की एक पद्धति प्रयोग में लाता है और उत्तरार्द्ध दूसरी, तब निश्चित है कि वह कला-कृति असुन्दर और अग्राह्य हो जायेगी। यह आवश्यक नहीं है कि कला में प्रयुक्त प्रत्येक तथ्य यथार्थ जीवन की कसौटी पर खरा उतरे, परन्तु यह अनिवार्य रूप से वांछनीय है कि कला का आन्तरिक तारतम्य और सागंजस्य नष्ट न होने पाये।

प्राचीन काल से यह धारणा चली आई है कि कला का प्रयोजन यथार्थ से नहीं अपितु उसके आभास-मात्र से है। अरस्तू ने इस मत का प्रतिपादन किया था और तब से आज तक अनेक विचारकों ने इस मत को मान्यता प्रदान की है। सत्याभास से अभिप्राय यह है कि जिन तथ्यों एवं घटनाओं का निरूपण हुआ है उनको हम केवल सम्भाव्य मान लें और उनकी छानबीन तर्क द्वारा एक सीमा के बाद न करें। सम्भावित सत्य की इस कल्पना में वास्तविकता और अवास्तविकता, विश्वास और तर्क का इतना सूक्ष्म सम्मिश्रण रहता है कि हम उसे ऐतिहासिक, दार्शनिक अथवा न्याय-बुद्धि द्वारा प्राप्य सत्य की कोटि में स्थान नहीं दे सकते। इसके मानने के लिये किसी न किसी अंश में हमें अपने अविश्वास और तर्क को दबाना ही पड़ेगा। यथार्थ के स्थान पर कला-विवेचकों द्वारा इस आपातसत्य के सिद्धान्त की स्वीकृति इस बात को सिद्ध करती है कि कलात्मक रसास्वादन के निमित्त सहृदय के लिये न्यूनाधिक परिमाण में अपनी तर्क-बुद्धि का परित्याग नितान्त आवश्यक है। रसास्वादन के क्षणों में सहृदय और कला-वस्तु का सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग के आधार पर स्थापित होता है। सहृदय अविश्वास को छोड़कर कला की ओर उन्मुख होता है और इस भाँति आनन्द प्राप्त करता है। दूसरी ओर कला से आनन्द प्राप्ति के साथ ही साथ वह अधिकाधिक आत्मविभोर होता है और इस प्रकार उसके निरीक्षण और उपभोग के लिये तथ्यों और घटनाओं का जो क्रमिक और व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया जाता है, उसमें वह अपने को लीन करने के लिये प्रेरणा प्राप्त करता है।

यदि कलाकार की आस्था उसकी कृति में व्यक्त होती है तो उसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। कला प्रकाशन का एक माध्यम है, यह सिद्धान्त किसी न किसी रूप में मानना ही पड़ेगा और यदि सम्यक् आत्म-प्रकाशन होगा तो कलाकार के व्यक्तित्व के अन्य उपकरणों के साथ उसके निश्चित विश्वासों की अभिव्यक्ति अवश्य होगी। किन्तु जब कलाकार का आग्रह अपने विश्वासों पर अत्यधिक हो जाता है, जब वह उन विश्वासों की घोषणा अथवा विज्ञप्ति करता है और यह चाहता है कि अन्य लोग उसे मान लें तब सहृदय के तर्क को चुनौती मिलती है और वह तर्क उत्तेजित होकर अपना कार्य करने लगता है। कला में किसी पक्ष की बलपूर्वक स्थापना होते ही श्रोता और द्रष्टा के मन में प्रतिपक्ष का उठ खड़ा होना अत्यन्त सम्भावित है। ऐसी अवस्था में अविश्वास के विलीन होने और कलात्मक रसास्वादन की बात ही नहीं उठती। इस दृष्टि से कला में मतों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन केवल अत्यन्त आंशिक रूप में हो सकता है। ऐसा प्रतिपादन कला का न तो अन्तिम ध्येय है और न उससे आनन्द के उपभोग में सहायता ही मिलती है।

ऊपर जिस मत की व्याख्या की गई है उसके सम्बन्ध में आपत्ति हो सकती है कि उसकी परिधि के

(शेष पृष्ठ ३४ पर)

काव्यानुभूति का दार्शनिक आधार

डा० नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री एम० ए०, पीएच० डी०

काव्यगत आनन्द की अनुभूति की सर्वाभिभाविता का सभी सहृदयों ने समवेत स्वर से समर्थन किया है। यह आनन्द व्यावहारिक अर्थ में लौकिक सुख और आध्यात्मिक अर्थ में वह अलौकिक चेतना है जिसके उन्मेष में सभी अनुभूतियों का तिरोधान हो जाता है। वस्तुत: सम्पूर्ण जड़ चेतन प्रपंच इस दृष्टि से दो भागों में विभक्त हैं, एक दु:ख-सम्पृक्त आनन्द और दूसरा केवल आनन्द। यह दूसरा आनन्द आत्मा या ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है जो कहीं बाहर से न आकर अन्तस् में स्वत: समुद्भासित होता है। आनन्द और आत्मा या मोक्ष और आत्मा सब एक ही वस्तु या वास्तविकता के रूप हैं। अतएव आध्यात्मिक पक्ष में आत्मा का स्वरूपत: उद्भासित होना ही आनन्द है। सांसारिक अवस्था में आत्मा सोपाधिक जीव के रूप में अपने पञ्चकोशों से आवृत हो कर ही रहता है और जब कोई अनुभूति अपनी तीव्रता से इन कोशावरणों को बेध कर आनन्दमय आत्मा का अनावरण कर देता है तभी हम आनन्द की अनुभूति का प्रयोग करते हैं। आनन्द के उत्कृष्ट उल्लास विलासों में हमारी सांसारिक दु:ख क्लेशमय अनुभूतियों का स्वत: तिरोधान हो जाता है। इसीलिए आध्यात्मिक गुरुओं ने इसे भूमा के नाम से अभिहित किया है। छान्दोग्योपनिषद् में इस भूमा का वर्णन करते हुए लिखा है 'यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। भूमा वै-सुखम्। नाल्पे सुखमस्तीति।

जिस अवस्था में मनुष्य और कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, न कुछ और जानता ही है वह भूमा है। भूमा ही वास्तव में सुख है। अल्प (दु:ख संपृक्त लौकिक आनन्द) में सुख नहीं है।

काव्य शास्त्रियों ने इसे साक्षात् भूमा या ब्रह्मानन्द कहने में संकोच किया है। वे इसे ब्रह्मानन्द सहोदर मानते आए हैं। इसका कारण यह है कि काव्यगत विभावानुभावादि जो आत्मा के कृत्रिम आवरणों को बेध कर उसके स्वाभाविक स्वरूप का उद्घाटन करने वाले साधन हैं वे लौकिक हैं और ब्रह्मानन्द के उद्घाटन करने वाले साधन आध्यात्मिक।

यदि मनन करके देखा जाय तो आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का अनावरण दोनों अवस्थाओं में समान है केवल प्रक्रिया और साधनों का अन्तर है। आध्यात्मिक साधनों से अनावरण होने को ब्रह्मानन्द या भूमा कहा गया और लौकिक साधन विभावानुभावादिकों द्वारा अनावरण होने पर रस कह कर उसे ब्रह्मानन्द सहोदर का स्थान दिया गया। ऐसी अवस्था में इस भेद को हमें भारतीय साहित्य शास्त्रियों का शिष्टाचार ही कहना चाहिए। वस्तुत: वह आनन्द एक ही है और वह आत्मा के स्वरूप का आभास मात्र ही है।

सांसारिक रंगमंच पर विविध भूमिकाओं के प्रदर्शन के लिए जब यह अनादि शैलूष आत्मा अवतीर्ण हुआ तब उसने अपने आपको पाँच कोशों में परिवेष्टित किया। इनमें प्रथम कोश आनन्दमय कोश था। सच्चिदानन्द आत्मा अपनी अस्पष्टोपाधि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिधान से परिवेष्टित होकर जब सुषुप्ति की चेतनाहीन दशा में अवतीर्ण हुआ था तब भी आनन्दानुभूति उसके साथ विद्यमान थी। दार्शनिक आचार्यों ने इसे आनन्दप्रचुरा अवस्था के नाम से पुकारा है। यह आनन्दानुभूति इतनी गहरी थी कि जिसका स्मरण उसकी जाग्रदावस्था में सजीव रहा, और सच तो यह है उसी के लिए वह आज भी तड़फड़ाता रहता है। सारांश यह है कि आत्मा ने उपाधि के आवरण से अपने आपको अन्तर्हित कर के जब जीव नाम से पुकारा था तब भी उसके पास अनुभूति थी और सबसे बड़ी बात यह कि वह आनन्दानुभूति थी।

ज्ञान आत्मा का स्वरूप होते हुए भी लुप्त था, उसका उदय जीव विकास की द्वितीय श्रेणी अर्थात् विज्ञानमय कोश के आविर्भाव के समय हुआ। इस वेदान्त की कोश प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि अनुभूति जीव की प्रथम सहचरी है और ज्ञान या विज्ञान उसे आगे चलकर उपलब्ध हुए। हमारे पुराने सहचर बालसखा, कुटुम्ब और ग्राम के लोग और उनके उपकरण हमारे लिए सहज ही आकर्षक और अन्तरङ्ग होते हैं। इसलिए अनुभूति ज्ञान की अपेक्षा मनुष्य के लिए अधिक आकर्षक है। उसके द्वारा हमारे कृत्रिम आवरणों का विच्छेद अधिक सुगम होता जो ज्ञान और विज्ञान के द्वारा संभव नहीं।

इसलिए मनुष्य के लिए अनुभूति-प्रधान काव्यों की प्रभविष्णुता ज्ञान और विज्ञान की गुरुता से कहीं अधिक होती है। ज्ञान की विशेषता को पुस्तकों में और विज्ञान के विश्लेषणों को प्रयोगशालाओं में ही बन्द करके मानव जब अपने चिरन्तन शुद्ध मानव के रूप में आता है तब वह उन काव्यगत अनुभूतियों को सहज ही में आत्मसात् कर लेने में समर्थ हो जाता है जो कभी चित्रकूट के आश्रम में यक्ष के मन में आविर्भूत हुई थीं। उसका जड़चेतन विज्ञान उस अनुभूति को दबाने में असमर्थ हो जाता है और वह जड़ में चेतन और चेतन में जड़ के अध्यास की सत्यता का समर्थन करता है। यदि वह अपने प्रियजन के विरह से पीड़ित है तो वह जल के वाष्परूप में संपिण्डित पयोद से कही हुई निम्नलिखित घनानन्द की उक्ति का समर्थन करेगा। वह भी कवि के साथ उसे उपालम्भ देते हुए कहेगा—

परकारज देह को धारे फिरौ,
परजन्य यथारथ ह्वै दरसौ।
निधिनीर सुधा के समान धरौ,
सब ही विधि सुन्दरता सरसौ॥
घन आनँद जीवन दायक हौ, कबौं,
मेरियौ पीर हिये सरसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन,
मो अँसुवान कौं लै बरसौ॥

इस प्रकार प्रमाता के हृदय में उदित भाव अनुभूतियों की प्रभविष्णुता का आधार आत्मा का चिरन्तन आनन्दमय कोश ही है जिससे मानव ने सर्व प्रथम अनुभूति की संपदा प्राप्त की थी। यह आधार वेदान्त दर्शन की देन है।

अब प्रमेयगत विशेषताओं का विवेचन भी यहाँ प्रसंगानुकूल होगा क्योंकि प्रमेय गत विशेषताएं ही सहृदय की अनुभूतियों को जागृत करने में सशक्त होती हैं। साहित्यशास्त्रियों के अनुसन्धान के अनुसार काव्यगत प्रमेय की विशेषता सर्वाङ्गरमणीयता है जिसके साक्षात्कार से सहृदय प्रमाता के हृदय में इस प्रकार की अनुभूतियों का उद्रेक होता है जिनका वर्णन आचार्य अभिनव गुप्त ने, 'हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वं तिरोदधत्' कह कर किया है। यह सत्य है परन्तु काव्य की सर्वाभिभाविनी रमणीयता का कारण क्या है इसकी व्याख्या करने का संभवतः कहीं प्रयास नहीं किया गया। आधुनिक आलोचकों ने इस दिशा में कुछ मनन किया है, प्राच्य और प्रतीच्य शास्त्रों का मंथन कर के यह निष्कर्ष नवनीत प्रस्तुत किया है कि—"काव्य जगत् में आकर प्रत्येक शब्द हमारे उन भावों को जागरित करता है जो वासना रूप में हम में निहित रहते हैं। हमारी कल्पना, स्मृति आदि शक्तियाँ इस कार्य में योग देती हैं और हम एक साधारण रूप में काव्य का अर्थ ग्रहण करते हैं। जैसे चित्र की रेखाएं रेखा मात्र नहीं हैं—उनका अर्थ वही नहीं है जो एक त्रिकोण क्षेत्र या चतुर्भुज क्षेत्र की रेखाओं का होता है, उसी प्रकार काव्य के वाक्य पद आदि असाधारण अर्थ में एक संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है जिसे संस्कृत के साहित्य शास्त्री अलौकिक आनन्द कहते हैं।" (डा० श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन पृष्ठ ६८) उक्त गद्य प्रपञ्च का निष्कर्ष यह है कि काव्यगत रमणीयता का आधार उसके पद वाक्य आदि का असाधारण अर्थ और उधर अर्थों की असाधारण सामर्थ्य है जिससे वे संश्लिष्ट अर्थ को ध्वनित करते हैं। इस विवेचन से यह तो अवश्य स्पष्ट है कि काव्यगत रमणीयता का साक्षात् कारण,

'संश्लिष्ट अर्थ' है जिसका कारण काव्यगत वाक्य और पद ही है। परन्तु साधारण वाक्य और पदों में असाधारणता के आधान का मूल कारण क्या है, संश्लिष्ट अर्थ क्या है और उसको ध्वनित करने में वाक्य और पद कैसे सशक्त होते हैं इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण इस लेख से भी नहीं हो पाता। वस्तुत: बात यह है कि जिस प्रकार प्रमातृगत अनुभूतियों की सत्यता और प्रभविष्णुता का आधार हमें दर्शनों में मिलता है ठीक उसी प्रकार प्रमेय गत विशेषताओं और उनकी आकर्षक रमणीयता का रहस्य भी दर्शनों के आधार पर ही समझा जा सकता है।

चिरन्तन अभ्यास प्रमाता पक्ष में तो भावना और वासनाओं की उस गम्भीरता और गाढ़ता का आधान करता है जिसके कारण आत्मा अपनी सांसारिक अवस्था में अनुभूति से स्पन्दित हो उठता है और प्रमेय पक्ष में रमणीयता का उन्मेष करता है जो अनुभूतियों को जागृत करने में सर्वथा समर्थ होती है। अनादि काल से असंख्य जन्म-जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया गया है वह कैसे हटाया जा सकता है। संश्लिष्ट अर्थ का ग्रहण जीव के चिरन्तर अभ्यास से ही होता है। न्यायनय के अनुसार संसार का प्रत्येक पदार्थ दो रूपों में हमारे सन्मुख आता है एक अपने अवयव रूप में और दूसरे अवयवी रूप में। अवयव से अवयवी को सर्वथा भिन्न माना गया है और केवल अवयव सङ्कलन मात्र को अवयवी मानने में न्याय ने बहुत सी आपत्तियाँ खड़ी की हैं। अकाट्य प्रमाणों के आधार पर अवयवी की पृथक् प्रतिष्ठा कर के सांसारिक मनुष्य के चिन्तन में अवयवी की प्रधानता एवं अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। तत्वजिज्ञासुओं के लिए अवयव चिन्तन के अभ्यास का उपदेश देकर यह स्पष्टार्थ प्रमाणित किया है कि अवयवी चिन्तन संसारगत रमणीयता और निस्सारता का बोध कराके संसार से विरति या जुगुप्सा को अनुप्राणित करता है। वस्तुत: यही अवयवी चिन्तन और विश्वास सांसारिक मानव के समान कवि के हृदय में भी बद्धमूल हुआ है। वह तत्त्वज्ञानी या मुमुक्षु नहीं जो अवयवों का विश्लेषण कर के संसार के प्रति विरति का उन्मेष करने में सफल हो। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ज्ञानी (दार्शनिक) और विज्ञानी की चिन्तनपद्धति अवयवचिन्तन से अनुप्राणित है अतएव उसमें संसार के प्रति रमणीयता क्षीण हो जाती है परन्तु कवि की कल्पना अवयवि-चिन्तन पर आधारित है जो संसार के प्रति रमणीयता को पीन एवं पुष्ट करती है। इसीलिए कविता को आलोचकों ने शेष सृष्टि के साथ रागात्मिका वृत्ति की प्रतिष्ठा का साधन बताया है। दार्शनिक और वैज्ञानिकों की अवयव-चिन्तन प्रधान पद्धति को विश्लेषणात्मक पद्धति कहते हैं और काव्य के अवयवि-प्रधान चिन्तन पद्धति पर अवलम्बित रचना 'संश्लेषणात्मक' या संश्लिष्ट कहलाती है। यह अवयवि-चिन्तन जीव का सदातन का अभ्यास है। जब साल दो साल के अभ्यासों का त्याग असंभव सा हो जाता है तब जन्मजन्मान्तर में अभ्यस्त अवयवी-चिन्तन की टेव हमारी कैसे छूट सकती है। यही अवयवी चिन्तन हमारे काव्य प्रमेय में सर्वाङ्गीण रमणीयता का आधान इतनी सफलता से करता है कि उसका प्रभाव हमारे हृदय पर सदा अक्षुण्ण रहता है। स्वभावत: हम पर रूखे उपदेशों का और रहस्यपूर्ण पौराणिक प्रवचनों का प्रभाव नहीं जम पाता। दार्शनिकों के सूखे सत्य और वैज्ञानिकों के गवेषणा भरे हुए विश्लेषण हमें आकर्षित करने में असमर्थ होते हैं और कवि अपनी अटपटी अबोध परन्तु सरस रचनाओं से हमें ऐसा प्रभावित करता है कि हम किसी की सुनने को तैयार नहीं होते। इसीलिए कवियों की लेखनी में वह आकर्षण होता है जिससे लाखों उसके अनुयायी हो जाते हैं। शेक्सपियर और मिल्टन पर फिदा होने वाले सहस्रों सहृदय मिल जायेंगे और शायद न्यूटन और गैलेलियो को कोई भी न मिले। गौतम और व्यास के विश्लेषणों या अवयवचिन्तनों ने मनुष्य सामान्य को इतना प्रभावित नहीं किया जितना कालिदास और तुलसीदास की अवयवीचिन्तन पर प्रतिष्ठित पीयूष वर्षिणी प्रतिभा ने। इस प्रकार कवि की कल्पना से अनुप्राणित पद और अर्थ अवयवी की ओर संकेत, अवयवी को लक्षित और अवयवी को ही ध्वनित करते हैं। इस प्रकार काव्य की सर्वाङ्गीण रमणीयता का आधार

भी दार्शनिक अवयवीचिन्तन है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह सुतरां स्पष्ट है कि काव्यगत अनुभूति के मूलाधार सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तनों की दृढ़ भूमि पर सुव्यवस्थित हैं। श्रव्य काव्यों के सम्बन्ध में तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि दार्शनिक सिद्धान्तों का सहारा बिना लिए उन तत्वों का स्पष्टीकरण असाध्य हैं। अब रही दृश्यकाव्य की बात। उसमें समाविष्ट काव्य के अंगों के लिए भी उपर्युक्त विवेचन सत्य ही है। हाँ, दृश्य काव्य को अनुप्राणित करने वाले अनुकरण की व्याख्या दार्शनिक आधार पर अभी शेष है। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर उसका दार्शनिक आधार भी स्पष्ट हो सकता है।

दृश्य काव्य का प्राण अनुकरण हैं। उससे प्रेरित होकर जब शैलूष अनुकार्य की भूमिका में रंगशीर्ष पर खड़ा होता है और अपने आहार्य, वाचिक, आङ्गिक और सात्विक अभिनयों के आधार पर दर्शक की दृष्टि का केन्द्र विन्दु और मानसिक भावनाओं का अवलंब बनता है तो दर्शक का विश्वास उसे सोलहो आना अनुकार्य ही स्वीकार करता है। साधारण से साधारण सड़क पर घूमने वाले लड़के को भी जब रासलीला में राम का रूप दिया जाता है तो असंख्य दर्शक भक्त उसके चरणों में नत होते आरती उतारते और नैवेद्य समर्पित करते हैं। इसी समारोप के कारण दृश्य काव्यों का नाम रूपक पड़ा हैं। दृश्य काव्य की रंगशाला के अनुरूप वातावरण में अनुकार्य की सौष्ठवमयी भूमिका में खड़ा हुआ शैलूष दर्शकों की दृष्टि में साक्षात् अनुकार्य राम आदि ही है। उसका वास्तविक शैलूष रूप दर्शक के भावनाभिभूत हृदय में अस्त हो जाता हैं। रंगशाला में आसीन दर्शकों की यह भ्रान्त धारणा निश्चित प्रतीति के रूप में अंकुरित होती है। आचार्य श्री शंकुक ने इस प्रतीति को 'राम एवायम्' 'अयमेव रामः' कहकर अभिव्यक्त किया है। रंगशाला से उठने के पश्चात् उसे भले ही यह ध्यान आता हो कि 'नरामोऽयम्' अर्थात् यह राम नहीं है जिससे उसकी पूर्वकालिक भ्रान्ति शिथिल हो जाती है। इस प्रकार भ्रान्त प्रतीति दर्शक के रसास्वाद का कारण बन जाती है।

यह भ्रान्ति क्या वस्तु है? अतस्मिन् तद् अर्थात् (वास्तविक में अवास्तविक का ज्ञान) ही भ्रान्ति है। **न्याय के अनुसार यह सूक्ति** में रजत की भ्रान्ति के समान ही मिथ्या प्रतीति होने के कारण असत्ख्याति ही कही जायगी और असत् अभावात्मक या अयथार्थ वस्तु में सत्-भावात्मक या यथार्थ वस्तु के समान वास्तविक अनुभूति को जाग्रत करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती। अद्वैतवादी इसे अध्यारोप के नाम से पुकारते हैं और माया के समान अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। इनके अनुसार संसार के अन्य पदार्थों की प्रतीति समान ही रंगशाला में स्थित दर्शक के मन की अनुकार्य विषयक प्रतीति भी अनिर्वचनीय ख्याति ही हैं। उनके सिद्धान्त से हमारी रंगशाला की प्रतीति अन्य सांसारिक प्रतीतियों के समान ही न सत् हैं और न असत् ही हैं। यदि संसार विषयक अन्य प्रतीतियां सत् हैं तो यह प्रतीति भी उन्हीं के समकक्ष अथवा सत् हैं। इस प्रकार रंगशाला में यदि हमारे मन में अनुकर्त्ता के विषय में अनुकार्य का विश्वास जमता है तो वह उतना ही सत्य या असत्य है जितनी कि संसार की अन्य वस्तुओं की सत्ता। जितने अंश में संसार असत्य है उतने में वह भी हुआ करे तो क्या हानि है। हमारे लिए यह भी पर्याप्त है। हमारा यह दावा तो है नहीं कि संसार असत्य और काव्यगत प्रतीति या अनुभूति सत्य है। क्योंकि काव्य भी संसार में ही अंकुरित हुआ और उसी का अंग है। और फिर संसार को असत् मानना भी तो विवादास्पद हैं। संसार सत्य है तो यह प्रतीति भी सत्य है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य ने संसार को भी सत् और इस प्रकार की भ्रान्तियों को सत् ख्याति (वाद) माना है। उस सत् ख्यातिवाद के आधार पर हम अपने संसार और रंगशाला दोनों की प्रतीति की सत्यता का समर्थन कर सकते हैं। वस्तुतः दर्शक जो शैलूष के अभिनय व्यापार में अनुकार्य के कार्य व्यापार का विश्वास करके आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है उसका आधार श्री रामानुजाचार्य का सत्य ख्यातिवाद ही है।

कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि

डा० ब्रजगोपाल तिवारी एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०

"सौन्दर्य-शास्त्र" एक भ्रामक नाम है । इस संज्ञा का प्रयोग, एक प्रकार से, "कला" के स्वरूप और महत्व पर पर्दा डाल देता है। यूनानी भाषा में "सुन्दर" (Kalon) का अर्थ है "भोग के लिये उपयुक्त", "स्तुत्य", तथा "श्रेष्ठ"; किन्तु इन विशेषणों का "कला" से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है और न कला की विषय-वस्तु उपयुक्त, स्तुत्य तथा श्रेष्ठ विषयों तक ही सीमित है; उसका विषय-क्षेत्र, इन विषयों की अपेक्षा, बहुत विशाल एवं व्यापक है। अत: "कला-विज्ञान" को "सौन्दर्य-शास्त्र" की संज्ञा देना उचित नहीं है। भारतीय परम्परा में तो इस नाम का कोई शास्त्र है ही नहीं; पिंगल एवं अलङ्कार शास्त्रों में "रस" की अनुभूति के लिये "सुन्दर" शब्द का उपयोग नहीं हुआ है। पाश्चात्य दर्शन में भी, मुख्यत: १६ वीं शताब्दी में ही, कुछ विचारक "सौन्दर्य-शास्त्र" को "ईस्थेटिक्स" (Aesthetics)[१] का पर्याय-वाची नाम मानने लगे; किन्तु इन विचारकों का कला तथा कलाकारों से बहुत कम सम्पर्क था। शायद इन्हीं विचारकों की भूल को अपनाकर, आधुनिक भारतीय विद्वान भी "सौन्दर्य-शास्त्र" नाम का उपयोग करने लगे।

डा० मुल्कराज आनन्द ने कुलियों की गन्दी कोठरियों का वर्णन किया है; क्या वे गन्दी कोठरियाँ सुन्दर थीं ? क्या उन्हें देखकर डा० आनन्द के मन में आनन्द अथवा सौंदर्य की अनुभूति हुई ? क्या वीभत्स-रस की अनुभूति में सौंदर्य हुआ करता है ? तब तो "सुन्दर" शब्द का प्रचलित अर्थ ही बदलना पड़ेगा। हाँ, कलाकार को अपनी वेदना की अभिव्यक्ति के पश्चात् शायद वैसी ही राहत मिलती है जैसी कि गर्भवती स्त्री को प्रसव के पश्चात् या दुखी के पैर से काँटा निकल जाने के बाद; किन्तु इस "राहत" की अनुभूति को भी "सुन्दर" नहीं कहा जा सकता। कान्ट महोदय "सुन्दर को "आकर्षक" से भिन्न बतलाते हैं; और कालिंगवुड सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को कला का स्वरूप-लक्षण नहीं मानते हैं। इनके अतिरिक्त, जो विचारक, कला का कार्य "चित्रण" अथवा किसी विषय-वस्तु का प्रतिरूप (नकल) करना नहीं मानते हैं, वे भी सौंदर्य-शास्त्र की अपेक्षा "कला-विज्ञान" ही को उपयुक्त संज्ञा समझते हैं।

कला-विज्ञान क्या है ? कला एक प्रकार की क्रिया है, जिसके भलेपन या बुरेपन के बाबत निर्णयात्मक वाक्य (judgements) बनते हैं; इन वाक्यों के समन्वित समूह को "विज्ञान" कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, समालोचक (Critics) किसी कला-कृति को भला या बुरा, सुन्दर या असुन्दर कहते हैं; किन्तु कला-विज्ञान में हम उनकी समालोचना के भी औचित्य या अनौचित्य पर विचार करते हैं। इस प्रकार कला-विज्ञान **समालोचना की समालोचना है ।**

कला का कल्पना से सम्बन्ध

कला क्या है ? कवि शैले के शब्दों में, **"कला कल्पना की अभिव्यक्ति है"**[२] तब प्रश्न उठता है कि **"कल्पना"** क्या है। कल्पना के विषय में कई प्रकार के

१--**यूनानी भाषा में "ईस्थानोमाई"** (Aisthanomai) **शब्द का अर्थ है चक्षु-इन्द्रिय-द्वारा-प्रत्यक्षीकरण अथवा देखना; इसी क्रिया से "ईस्थैटीकॉस"** (Aisthetikos) **संज्ञा निकली है; इस प्रकार, "ईस्थैटिक्स" शास्त्र का सम्बन्ध "संवेदना"** (Sensation) **से रहा है । संवेदना का विषय "सुन्दर" तक ही सीमित नहीं है ।**

२--**डीविट ऐच पार्कर, "बीसवीं शताब्दी का दर्शन" (सम्पादक--डी० डी० रून्स--पृष्ठ--४७)**

भ्रामक मत प्रचलित हैं; कुछ उसे एक प्रकार का खयाली पुलाव समझते हैं, तो कुछ उसे एक प्रकार की दिव्य-दृष्टि बतलाते हैं। दार्शनिक दृष्टि से, "कल्पना" वही है जिसे प्राचीन बौद्ध विचारक, दिङ्नाग व धर्मकीर्ति "मानस-प्रत्यक्ष" संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। बौद्धों के अनुसार, प्रत्यक्षीकरण **चार प्रकार** का होता है : (१) इन्द्रिय-निमित्तम् अर्थात् वह "**संवेदना**", जो किसी बाह्य उत्तेजना के (किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा निर्मित) प्रतिफल के रूप में होती है, जैसे वायु में तेज की उर्मियों के एक विशिष्ट प्रकार के प्रकम्पन से चक्षु-इन्द्रिय को लाल रंग की निर्विकल्प प्रतीति (Bare Sensation)। न्याय एवं मीमांसा के अनुसार, निर्विकल्प प्रतीति धुंधली तथा अनिश्चित होने के कारण सविकल्प संवेदना (Determinate Perception) की अपेक्षा निम्न-श्रेणी की होती है किन्तु सौत्रान्तिक बौद्ध "**निर्विकल्प संवेदना**" ही को यथार्थ एवं सत्य प्रतीति मानते हैं।[1] उनके अनुसार, जब इस प्रतीति पर हमारा मानस विकल्प(Thought-Construction) अर्थात् नाम, जाति, सामान्य, द्रव्य, गुण, कर्म आदि प्रत्यय लाद देता है, तब, यथार्थ में, इस मानसिक क्रिया द्वारा सच्चे प्रत्यक्षीकरण से दूर हटकर, हम बौद्धिक (Conception) अथवा "अनुमान" की प्रक्रिया में पड़ जाते हैं; "अनुमान" भ्रामक हो सकता है; पर "निर्विकल्प संवेदना" द्वारा हमें सदा सत्य अथवा वास्तविकता की ही प्रतीति मिलती है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी, जब शुद्ध संवेदना में पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष-ज्ञान (Apperception) का अर्थात् पुराने अनुभव द्वारा प्राप्त अर्थ (Meaning) का सम्मिश्रण होता है, तब ही (सविकल्प) प्रत्यक्षीकरण होता है।

यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है। यदि हम प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में से पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान का अंश निकाल दें, तो फिर शुद्ध संवेदना (Pure Sensation) शेष रह तो अवश्य जाती है; पर शुद्ध संवेदना की किसी को अनुभूति नहीं होती है; वह अन्तर्दृष्टि (Self-introspection) द्वारा प्राप्त नहीं है; वह केवल बौद्धिक विश्लेषण द्वारा ही मान ली जाती है। शुद्ध संवेदना का विषय (Sensum) कौंधने वाली बिजली के समान, क्षणिक, गतिशील एवं अस्पष्ट होता है। तब उसके द्वारा, विकल्प (Thought-construction) रहित, प्रत्यक्षीकरण की सामग्री कैसे मिल सकती है ? इस कठिनाई का निवारण "मानस-प्रत्यक्ष" को मान लेने से होता है और दिङ्नाग, धर्मकीर्ति तथा कान्ट ने ऐसा ही किया है। उनके अनुसार, शीघ्रगामी संवेदनाओं के हमारे मनस से पूर्ण रीति से ओझल हो जाने के पूर्व ही, हमारा चैतन्य उनमें से, जन्म-जात रुचियों के अनुसार, कुछ को पकड़ कर ध्यान (Attention) के प्रकाश में ले आता है और उन संवेदनाओं के शेष भाग एवं उनके बिम्ब या प्रतिमा (Image) का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस प्रकार मानस-प्रत्यक्ष (Imagination) का स्थान हमारे मानसिक जीवन में, संवेदना (Sensation) और विचार (Thought) के बीच में है; अतः वह इन दोनों से भिन्न है और दोनों के बीच में मध्यस्थ का काम करता है।[1] साराँश यह है कि जिस "अनुभव" के नाम पर अनुभववादी ही विज्ञान और कला की इमारत खड़ी करते हैं, **उस इन्द्रिय-जन्य अनुभव—यहाँ तक कि प्रत्यक्षीकरण (Perception) की क्रिया की नींव "मानस-प्रत्यक्ष" अथवा "कल्पना" पर अवलम्बित है; किन्तु यह कल्पना भी "संवेदना"** (Sen-

१—दिङ्नाग का प्रमाण-समुच्चय, भाग १ (ऐच० आर० ऐच० आइन्गार द्वारा संस्कृत में पुनः स्थापित), पृष्ठ ८; तथा स्चेयर बैटसकाय कृत "बौद्ध तर्क-शास्त्र," जिल्द १, पृष्ठ २१७।

१—धर्मकीर्ति कृत प्रमाण वार्तिक (मनोरथ नन्दिनी सहित), बिहार ओ० सो० पटना का जर्नल। "प्रत्यक्ष" के अन्य दो भेद (३) स्व-संवेदन अथवा सुख दुःख आदि आन्तरिक दशाओं की प्रतीति (४) योगि-प्रत्यक्ष अथवा सन्तों की भावना (ध्यान) द्वारा इन्द्रिय-रहित, बौद्धिक प्रतीति हैं।

sation) **पर अवलम्बित है; कल्पना खयाली पुलाव नहीं है।**

पाश्चात्य दर्शन ने प्राचीन भारतीय बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के **"मानस-प्रत्यक्ष"** सम्बन्धी निर्णय को स्वतन्त्र ढंग से ढूंढ़ निकाला; पर इस अनुसंधान में कई पीढ़ियाँ बीत गईं। प्रश्न यह था कि सच्ची संवेदना (Sensum or Sense-datum) जैसे लाल रंग की मौलिक प्रतीति में और भ्रामक प्रतीति (Illusion) में तथा कल्पित प्रतीति (Imaginary Seusum) में भेद है या नहीं; और उनमें यदि अन्तर है, तो किस बात में अन्तर है। बुद्धिवादी विचारक अर्थात् देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनीत्श आदि गणित के, बुद्धि द्वारा प्राप्त, निर्णयों को सत्य और इन्द्रिय-जन्य अनुभव को भ्रामक मानते थे; जड़वादी हॉब्स का भी यही मत था। अत: ये लोग समस्त इन्द्रिय-जन्य अनुभव को भ्रामक बतलाकर, आधुनिक भौतिक विज्ञान की प्रगति के मार्ग में दार्शनिक बाधा डाल रहे थे। फिर जॉन लॉक महोदय आए; उनका मत था कि समस्त संवेदनाओं (Sensations) की प्रतीति सच्ची हुआ करती है। पर वे यह न बतला सके कि तब **"भ्रम"** क्या है और कैसे होता है। इनके बाद बर्कले महोदय ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि कल्पित अथवा भ्रामक प्रतीतियों में तो हमारा मनस उतना ही सक्रिय रहता है जितना कि वह ऐच्छिक संकल्पों के निर्माण में रहता है; किन्तु सच्ची संवेदनाओं की क्रिया में, मनस बाहर से आने वाली उत्तेजना को विवश होकर, निष्क्रिय ढङ्ग से, ग्रहण करने के लिये बाध्य होता है। अत: ज्ञानेन्द्रियों की वास्तविक प्रतीतियाँ (या संवेदनाएं) भ्रामक प्रतीतियों की अपेक्षा, अधिक स्पष्ट और जोरदार होती हैं। किन्तु इस मत के अनुसार, किसी प्रतीति के जोरदार या कमजोर होने का निर्णय किसी व्यक्ति के निजी आत्म-निरीक्षण पर ही निर्भर होगा; दूसरे व्यक्ति उसकी प्रतीति की जाँच न कर पायेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ विभ्रम (Hallucinations) भी ऐसे होते हैं; जिनमें किसी व्यक्ति-विशेष को विवश होकर किसी रूप या ध्वनि को ग्रहण करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

इस कठिनाई को देखकर, बर्कले एक दूसरा सुझाव रखते हैं; वे कहते हैं कि सच्ची प्रतीति (संवेदना) प्रकृति के नियमों के अनुकूल होती है; और कल्पित या भ्रामक संवेदना प्रकृति के नियमों के विपरीत (Wild) होती है।[1] किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है; भ्रम विभ्रम आदि में भी प्रकृति के भौतिक नहीं तो मनोवैज्ञानिक नियमों का अवश्य पालन होता है। ह्यूम (Hume) भी यही मानते हैं कि वास्तविक प्रत्यक्षीकरण में हमारा मनस बाह्य संवेदना से दब जाता है; किन्तु भ्रामक संवेदना में हमारा मन सक्रिय होकर मनमोदक बनाने लगता है; पर निद्रावस्था, ज्वर, पागलपन तथा उद्भ्रान्त दशाओं में हमारा मनस उतना ही दबा रहता है जितना कि वास्तविक बाह्य संवेदना ग्रहण करते समय। पर—इन अपवादों में—ऐसा क्यों होता है, ह्यूम समझा नहीं पाते।[2] कान्ट महोदय इस समस्या को एक नये ढङ्ग से सुलझाते हैं। उनके मतानुसार, संवेदनाएं या प्रतीतियाँ (Sense-impressions) तो सब की सब एक ही प्रकार की अर्थात् वास्तविक हुआ करतीं हैं, किन्तु उनमें अन्तर हमारे मनस द्वारा अर्थीकरण (Interpretation) के कारण पड़ जाता है; जब हमारा मनस ज्ञानेन्द्रिय द्वारा गृहीत संवेदना का ठीक ठीक अर्थ लगा लेता है, तब हमें वास्तविक संवेदना (Real sensum) प्राप्त होती है; पर जब मनस किसी संवेदना का गलत अर्थ लगाता है, तब हमें भ्रम (Illusory sensum) का अनुभव होता है; और जब हमारा मनस किसी संवेदना का

१—आधुनिक दार्शनिकों—ब्रॉड तथा प्राईस का भी यही मत है।

२—समस्त भारतीय दर्शनों में भ्रामक प्रतीति (ख्याति) और सत्य प्रतीति के भेद का गम्भीर अध्ययन मिलता है; किन्तु कल्पित प्रतीति और भ्रामक प्रतीति के भेद का अध्ययन बौद्ध दार्शनिकों को छोड़ कर, अन्य दार्शनिकों की कृतियों में कम मिलता है।

कोई भी अर्थ नहीं लगाता अर्थात् उसकी सत्यता, असत्यता आदि के बाबत कुछ भी विकल्प (Thought-construction) संवेदना पर नहीं लादता, तब हमें कल्पित संवेदना (Imaginary sensum) मिलती है। इस प्रकार कान्ट की "कल्पना" की व्याख्या दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की "मानस-प्रत्यक्ष" की व्याख्या से मिलती जुलती है।[1]

हम ऊपर कह चुके हैं कि पूर्व-स्थित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष संवेदना अथवा प्रतीति (Sensum) पर हमारा चैतन्य कब्जा कर लेता है, उसे अपना लेता है और उस पर "ध्यान" (Attention) देकर, उसकी क्षणिकता को दूर करके, उस संवेदना को स्थायी तथा दृढ़ बना लेता है। इस प्रकार, चेतना के प्रकाश में मूल संवेदना का स्वरूप बदल जाता है; उदाहरणार्थ, आरम्भिक प्रतीति द्वारा, एक व्यक्ति तिलमिला उठता है या किसी से क्रुद्ध हो जाता है या एक क्षणिक लालिमा को देखता है; किन्तु **"चेतना"** के प्रकाश में, वह जान लेता है कि मैं तिलमिला रहा हूँ या "मुझे क्रोध या बेचैनी हो रही है", "यह लालिमा है", आदि। इस चेतना से क्रोध का रूप बदल जाता है; उसकी बर्बरता, उजड्डपन व तीव्रता निकल जाती है; और उसका स्तर ऊंचा हो जाता है। इस "चेतना" को "मानस-प्रत्यक्ष" या "कल्पना" कहा जाता है। किन्तु यह "चेतना" "बुद्धि", "विचार" या "प्रज्ञा" से भिन्न अथवा निम्न है। जब, आगे चलकर, किसी प्रत्यक्ष प्रतीति का अन्य प्रतीतियों से सम्बन्ध (Relation) स्थापित होने लगता है; एक प्रतीति की दूसरी प्रतीतियों से तुलना होने लगती है और समानता और भेद स्थापित होने लगता है, वर्गीकरण होने लगता है अथवा कान्ट की बतलाई हुई संज्ञा, प्रत्यय (categories) द्वारा, प्रत्यक्ष प्रतीति (percept) प्रत्यय (concept) का रूप लेने लगती है, तब "विचार" अथवा "बुद्धि" की क्रिया दृष्टिगोचर होने लगती है। पर "कल्पना" का स्तर "बुद्धि" के स्तर से पूर्व व निम्न है; "कल्पना" "बुद्धि" से भिन्न है। सारांश यह है कि "**कल्पना (मानस–प्रत्यक्ष) बुद्धि अथवा योजना, निर्माण**, इच्छा, **संकल्प आदि के पूर्व और उनसे स्वतन्त्र हैं; कल्पना ही से बुद्धि और संकल्प को विषय-सामग्री मिलती है। इसके अतिरिक्त, कल्पना एक प्रकार का प्रत्यक्षीकरण है; कल्पना न तो कोई** अलौकिक दिव्य-दृष्टि है, **जिसके द्वारा** जहाँ **रवि नहीं पहुँच सकता, वहाँ भी** कवि पहुँच जाता है और **न ही** वह एक **प्रकार का मन-गढ़न्त खेल,** खयाली पुलाव या स्वप्न या फरेब है; कवि और कलाकार को लबार या फरेबी या एक पवित्र झूठ का निर्माता समझना भूल है।

कल्पना का संवेग (Emotion) से सम्बन्ध।

प्रत्येक मानसिक क्रिया के साथ सदा किसी न किसी प्रकार की भावना (Feeling) रहा करती है; एक नन्हें से बच्चे के, किसी विदेशी पुरुष को देखकर, चौंककर झिझक जाने से लेकर, गाँधी जी के "भारत छोड़ो" के नारे तक, हम क्रिया-क्षेत्र एवं विचार-क्षेत्र सम्बन्धी समस्त चेतनाओं में **संवेग** का अस्तित्व भी पायेंगे। अतः **कल्पना का संवेग से घनिष्ट** सम्बन्ध है,—यहाँ तक कि हम ऐसा भी कह सकते हैं कि **कल्पना संवेग से ओतप्रोत है अथवा कल्पना ही संवेग** है। कालिंगवुड महोदय, भिन्न-भिन्न ज्ञानात्मक क्रियाओं के साथ में आने वाले संवेगों के निम्नलिखित स्तर बतलाते हैं—

(१) मूल (इन्द्रिय-जन्य) संवेदना (Sensum) के साथ में आरम्भिक भावना (Psychic feeling) होती है—यथा, बड़े जोर की ध्वनि सुनकर बच्चा भयभीत होकर रो पड़ता है।

(२) इससे ऊँचे स्तर पर, कल्पना या मानस-प्रत्यक्ष के साथ में उसी के अनुरूप **संवेग** भी हुआ करता है—यथा, तिलमिला जाने पर यह **आत्म-प्रतीति** कि मैं तिलमिला गया हूँ। कल्पना आत्मा या चेतना ही की

१—कल्पना का प्राचीन साहित्य में, एक और भी पर्यायवाची शब्द 'प्रतिभान' मिलता है; देखिये हिरियाना कृत कलात्मक अनुभूति।

प्रतीति है; और यह प्रतीति आरम्भिक उष्ण, तीव्र और आवेशपूर्ण भावनाओं को बदलकर, उन्हें ऊँची उठा देती है।

(३) विचार प्रत्ययों (Concepts) के साथ आने वाले सँवेग यथा नेहरू जी के मन में "युद्ध" प्रत्यय के विचार के साथ ही एक प्रकार की ग्लानि का उत्पन्न होना।

(४) बौद्धिक स्तर पर किसी सम्पूर्ण प्रणाली के बोध से उत्पन्न होने वाले संवेग—यथा, महात्मा बुद्ध के मानव-जीवन की क्षण-भंगुरता के सम्बन्ध में उद्वेग।

प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक हिरियाना महोदय,[1] कविता के दो स्तरों की व्याख्या करते समय, लिखते हैं कि कविता के ये स्तर **संवेग** पर अवलम्बित होते हैं अर्थात् निम्न-श्रेणी की कविता में संवेग फीका (Marginal) हुआ करता है; किन्तु उच्च श्रेणी की कविता अथवा शुद्ध रस की प्रतीति में संवेग गम्भीर व स्थायी होता है। किन्तु यथार्थ में सभी संवेग गर्म, उग्र और जोरदार हुआ करते हैं। अतः कविता के उपर्युक्त भेद संवेगों की गहराई या उनके उथलेपन पर अवलम्बित नहीं हैं; वरन् कविता तथा संवेगों के भेद उपर्युक्त ज्ञानात्मक स्तरों पर अवलम्बित हैं। हम १८ वीं शताब्दी के समालोचकों के इस मत को नहीं मानते कि कविता में बौद्धिक विचारों ही की अभिव्यक्ति हुआ करती है; इसके विपरीत यही कहना उचित है कि कविता में भावनाओं, संवेगों, उद्वेगों ही का प्रकाशन होता है। पर, साथ ही साथ, हम १९ वीं शताब्दी के संवेग-वादियों के इस मत को भी भ्रामक मानते हैं कि कविता और कला में केवल संवेग ही संवेग हुआ करता है। ये बुद्धि-विरोधी आन्दोलन-कर्त्ता यह भूल जाते हैं कि संवेग कोरी हवा में नहीं टँगे रहते हैं; संवेगों का बुद्धि तथा विचारों से भी घनिष्ट सम्बन्ध हुआ करता है; दार्शनिक चाहे भले ही महान् कवि न हो; पर महाकवि अवश्य ही दार्शनिक हुआ करता है; लेकिन वह दार्शनिकता को पचाकर, उससे सम्बन्ध रखने वाले संवेगों और उद्वेगों की अभिव्यक्ति करता है। संवेगों और विचारों का समन्वय करते हुए, तुलसीदास जी कहते हैं—

> हृदय सिन्धु मति सीप समाना।
> स्वाती शारद कहँहि सुजाना॥
> जो बर्षहि बर-बारि विचारू।
> होंहि कवित्त मुक्ता मणि चारू॥

अर्थात् हृदय (संवेदना-भावना) के महासागर में मति (चेतना) सीप के समान है; जब, किसी सुन्दर घड़ी (प्रसंग) में, शारदा (कल्पना) कृपा करती है और विचारों की वर्षा होती है, तब सुन्दर कवि-कृतियों का जन्म होता है।

इस प्रसंग में, एक और भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। अभी तक हमने दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, कान्ट और कालिंगवुड की विचारावली के प्रकाश में, कल्पना अथवा मानस-प्रत्यक्ष का स्थान संवेदना (Sensation) और बुद्धि (Thought & Reason) के बीच में बतलाया है; किन्तु यह कल्पना का केवल आरम्भिक स्तर है। ऊपर बतलाए हुए, ज्ञानात्मक क्रियाओं के स्तरों के अनुरूप कल्पना के भी स्तर होते हैं; जिस प्रकार प्रत्येक स्तर के अनुरूप संवेग होते हैं, वैसे ही कल्पना भी होती है। तर्कशास्त्र में आगमन (Induction) की क्रियाओं तथा वैज्ञानिक पद्धतियों और अन्वेषणों की व्याख्याओं में कल्पना (Hypothesis) को बहुत उच्च स्थान दिया जाता है और कवि एवं कलाकार भी सूझ-बूझ और प्रकाश (Illumination) के उन क्षणों का उल्लेख करते हैं, जिनमें उनकी चेतना में विचारों और संवेगों का एक नया रूप साकार या मूर्तिमान हुआ है। अतः विचार और बुद्धि के स्तरों में, "कल्पना" वह मानसिक क्रिया है, जिसके द्वारा हमें किसी सम्पूर्ण परिस्थिति का प्रथम बोध, एक ही साथ, एक साकार अथवा मूर्तमान (Concrete) रूप में हो जाता है और ऐसा होते ही उसी के अनुरूप संवेग (Emotion) भी खड़ा हो जाता है।

१—हिरियाना "कलात्मक अनुभूति" डा० ऐस० राधाकृष्णन की षष्टि-पूर्ति के अवसर पर समर्पित अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १७६–१८८।

कल्पना-संवेग (Imagination—Emotion) और अभिव्यक्ति (Expression)

अभिव्यक्ति (Expression) सूचना-दान (Communication) से भिन्न है; **उसका कार्य समझाना नहीं है, वरन् समझना ही है।**

प्रत्येक स्तर पर, प्रत्येक संवेग के साथ ही साथ, उसकी अभिव्यक्ति भी हो जाया करती है। उदाहरणार्थ, बच्चा भय अथवा क्रोध के कारण रो पड़ता है अथवा किसी तेज प्रकाश से चकाचौंध होने पर, उसकी आँखें मिंच जाती हैं; इन क्रियाओं में रुदन तथा आँखें मिचना अभिव्यक्ति के ही रूप हैं। ऊँचे ज्ञानात्मक स्तरों पर, अभिव्यक्ति का रूप बदल जाता है; उदाहरणार्थ—

एक ७--८ वर्ष का बालक किसी गद्दे पर बैठा है; गद्दा चुभ रहा है और इस कारण, बच्चे को एक मन्द-मन्द वेदना की अनुभूति हो रही है; कुछ देर में, इस वेदना के तीव्र हो जाने पर, वह कुछ उठकर या खिसक कर देखता है कि नीचे कोई कील या कँकड़ी थी; तब उस वेदना की उसे प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार किसी कवि या उसके समाज के मन में कोई अज्ञान बेचैनी, बेकरारी, असंतोष अथवा वेदना है; कवि उस पर ध्यान (कल्पना) का प्रकाश डालकर, उस वेदना को समझ लेता है; इसी समझने का दूसरा नाम **अभिव्यक्ति या प्रकाशन** है। इसी अभिव्यक्ति का नाम "**कला**" है। इस प्रकार कला एक ऐसी (मानसिक) क्रिया है जिसके बिना व्यक्ति या समाज अपने को समझ नहीं पाता है; और जब तक वह अपने को समझ नहीं सकता, तब तक वह अपने को सुधार भी नहीं सकता है। इससे स्पष्ट है कि कलाकार समाज का गुरु या चिकित्सक है।

किसी-किसी समाज में विधि-निषेध ऐसे होते हैं अथवा किसी व्यक्ति में दुर्बलता ऐसी होती है, जिसके कारण व्यक्ति अपनी आन्तरिक बेचैनी, भय, क्रोध अथवा कामेच्छा को अपने ही से छिपाने लगता है; और इस प्रकार वह अपने ही को धोखा देने लगता है। इस प्रकार की क्रिया से उस व्यक्ति और समाज की मूल चेतना ही बिगड़ जाती है और उसका मानसिक विकास समाप्त हो जाता है। मानव की अभिव्यक्ति या प्रकाशन का आरम्भिक रूप सम्भवत: नृत्य रहा होगा; अब भी लोग खुशी में नाचने लगते हैं। हाथ, पाँव, आँखों या चेहरे की मुद्राएँ व इशारे (Gestures)—मुँह बनाना, नाक, भौं सिकोड़ना आदि—भी अभिव्यक्ति ही के रूप हैं। पर ये रूप पशुओं में भी मिलते हैं; मनुष्य ने अपनी कल्पनाओं-संवेगों की अभिव्यक्ति का एक नया माध्यम पा लिया है; वह है भाषा। इस प्रकार, कई विचारक "भाषा" ही को कला का पर्यायवाची शब्द मानते हैं।

भाषा के भी कई स्तर होते हैं; उच्चतम स्तर है बौद्धिक भाषा (Intellectualized language)। कोई-कोई समझते हैं कि बुद्धि के धरातल पर **संवेग** खत्म हो जाता है; पर यह भूल है; बुद्धि के स्तर पर, नवीन नवीन कल्पनाओं और संवेगों का जन्म होता है और उन संवेगों की अभिव्यक्ति नवीन-नवीन शब्दों द्वारा होती है।

कुछ निष्कर्ष

कल्पना, संवेग और अभिव्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि हम क्यों कवि शैले के मत "कला कल्पना की अभिव्यक्ति है" को समीचीन मानते हैं। अब इस व्याख्या से निकलने वाले कुछ निर्णयों पर विचार करना आवश्यक है :—

(१) कला न तो किसी विषय-वस्तु के प्रतिरूप का निर्माण (Representation) अथवा उक्त वस्तु की नकल (Imitation) उतारना या चित्रण करना ही है और न शुद्ध सृजन (Creation) ही। असल की नकल करने में शिल्पकार के सामने कुछ उद्देश्य रहता है; शिल्पकार किसी साध्य की पूर्ति के लिए साधन जुटाता या एकत्रित करता है; किन्तु कवि और कलाकार केवल आत्माभिव्यक्ति करता है; उसके सामने कोई बाह्य उद्देश्य नहीं रहता है, जिसकी उसे पूर्ति या गुलामी करनी पड़े। फिर कलाकार कल्पना से काम लेता

है, न कि अनुकरण से; उदाहरणार्थ, सामने वाली मेज की यथार्थ फोटो में मेज का एक भाग या अंश ही चित्रित होगा; पर कल्पना द्वारा कलाकार मेज के उस भाग का भी प्रत्यक्षीकरण करता है जिस पर कि इस समय उसकी नजर नहीं पड़ रही है। अतः इस अर्थ में कला शिल्प या फितरत या कारीगरी से भिन्न है।

(२) साथ ही साथ, यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि कला को कोरा सृजन भी नहीं कहा जा सकता है; "सृजन" शब्द से, बहुतों के मन में यह भ्रम हो जाता कि कला-कृति एक प्रकार के दिवा-स्वप्न, मनतरङ्ग, मनगढ़न्त, खयाली पुलाव या स्वप्न-सृष्टि के समान हैं; पर हम ऊपर देख चुके हैं कि यह मत भ्रामक है।

(३) उपर्युक्त व्याख्या से दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि कला का कार्य आमोद-प्रमोद या तफ़रीह (Entertainment) या—आजकल की शब्दावली में—"रसास्वादन" की सामग्री प्रस्तुत करना नहीं है। आमोद-प्रमोद का जीवन में एक आवश्यक स्थान है; पर उसका प्रबन्ध करना "शिल्प" (Craft) का कार्य है, कला (Art) का नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर प्राचीन यूनानी दार्शनिक अफलातून (Plato) आमोद-प्रमोद प्रदान करने वाले कवियों और कलाकारों को अपने मनोवांछित प्रजातंत्र से निकाल देना चाहता था। पर आधुनिक कवि-सम्मेलनों, मुशायरों, पत्रिकाओं आदि में प्रायः इसी प्रकार की शिल्पकारी को कविता की संज्ञा दी जाती है।

(४) पर, साथ ही साथ, कला का उद्देश्य जनता में ऊँची भावनाएँ भरना, लोगों के स्तर को ऊँचा उठाना, शिक्षण अथवा उपदेश प्रदान करना अथवा व्यावहारिक जीवन के योग्य बनाने के लिये श्रोताओं व पाठकों के हृदयों में उत्तम भावनाएँ, संवेग, उद्वेग, विचार, आदर्श, मूल्य आदि का सँचार करना भी नहीं है। उपर्युक्त उद्देश्य बुरा नहीं है; आधुनिक जीवन में तो इस कार्य की बड़ी आवश्यकता है। पर इस उद्देश्य की पूर्ति भी "शिल्प" का कार्य है, "कला" का नहीं।[1]

शिल्प में आत्माभिव्यक्ति नहीं होती; उसमें तो किसी उद्देश्य की पूर्ति या किसी संवेग का किसी व्यावहारिक, जीवनोपयोगी क्रिया में संवलन (Discharge) होता है। प्राचीन जादूगर, ताँत्रिक आदि अपने शिष्यों में, एक उत्तम प्रकार के शिल्प द्वारा, ऊँचे संवेग या विचार भर देते थे। मध्य-काल के भक्त-कवि तथा आधुनिक प्रगतिशील लेखक भी लोगों में श्रेष्ठ एवं जीवनोपयोगी संवेग और विचार उत्पन्न, विकसित अथवा जागृत करना चाहते हैं; किन्तु यह कार्य "शिल्प" का है; "कला" "शिल्प" से पूर्णतया भिन्न है; "कला" आत्माभिव्यक्ति ही का दूसरा नाम है; आत्माभिव्यक्ति अथवा अपने दिल की बेचैनी का स्पष्टीकरण एक स्वस्थ व साधारण मानसिक आवश्यकता है; वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये नहीं की जाती; आत्माभिव्यक्ति द्वारा तो कलाकार अपनी मानसिक वेदना (या तनाव से) छुटकारा (निजात) पाता है।

हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी कलाकार की आत्माभिव्यक्ति के फल-स्वरूप लोगों को आमोद-प्रमोद अथवा आत्मोत्थान की सामग्री प्राप्त हो; किन्तु ये प्रतिक्रियाएँ या प्रतिफल "कला" नहीं हैं, वरन् कला के फल या उपयोग हैं। इस प्रकार तो किसी कलाकार की आत्माभिव्यक्ति से किसी विज्ञापन के छापने वाले या प्रकाशक को भी सामग्री मिल सकती है।

(५) तो क्या दृढ़ विश्वासों, स्थायी भावों, गँभीर संवेगों, उत्तम वादों का "कला" में कोई स्थान नहीं? हमारा तो यह मत है कि बिना दृढ़ विश्वासों और गम्भीर संवेगों के स्वस्थ कला हो ही नहीं सकती है। हम उन लोगों से सहमत नहीं हैं जो "कला कला ही के

१—कुछ कलाकारों की रचनाओं या कृतियों में आमोद-प्रमोद की अथवा आत्मोद्धार की अथवा विज्ञापन (Advertisement) की सामग्री मिल सकती है; किन्तु यह कला नहीं; वरन् कला का उपयोग (Application) है।

लिये है" का नारा लगाते हैं। कला शून्य में नहीं टँगी रहती है। कलाकार का जीवन से, समाज व जनता से सम्पर्क रखना परमावश्यक है। विषय-वस्तु की अव-हेलना करते हुए, शैली (Style) की एकांगी पूजा करना भूल है। आत्माभिव्यक्ति या आत्म-प्रकाशन खोखले मस्तिष्क और उथले हृदय की पाशविक क्रिया का नाम नहीं है। कलाकार को वादों का अध्य-यन करना चाहिये, लिखना सीखना चाहिये तथा समाज के जीवन से सम्पर्क रखना ही नहीं, वरन् समाज को अपनी रचनाओं का साझीदार भी,—लोगों से मिलने-जुलने और उनसे परामर्श द्वारा—बनाना चाहिये। अतः समाज से, घनिष्ट सम्पर्क रखने पर ही कलाकार को कल्पनाओं-संवेगों की प्रतीति होती है।

किन्तु, साथ ही साथ, यह भी न भूलना चाहिये कि वादों, विचारों और विश्वासों का हमारे मानसिक जीवन में वही स्थान है, जो अन्न, फल आदि का हमारे शारीरिक जीवन में है। अन्न, साग, फल आदि के बिना रक्त नहीं बन सकता है; किन्तु अन्न, साग-फल आदि खून नहीं हैं; उनके रक्त में परिणत होने के लिये शरीर को पाचन-क्रिया करनी पड़ती है। इसी प्रकार, विचारों, विश्वासों, आदर्शों आदि को पचाकर व्यक्तित्व का अङ्ग बनाना आवश्यक है। इस क्रिया की जटिलता को भूलकर, कुछ विचारक इसका अत्यधिक सरलीकरण (Over-simplification) कर डालते हैं।

(६) इससे भी अधिक महत्व की बात, जो बहुत से प्रगतिशील विचारक भूल जाते हैं, यह है कि कल्पना की क्रिया इच्छा से पूर्व होती है और इच्छा से स्वतन्त्र होती है। कल्पना की अवस्था सत्य अथवा असत्य के निर्णय (बौद्धिक विचार द्वारा) के पूर्व होती है; इसी प्रकार कल्पना इच्छा-अनिच्छा, राग-द्वेष आदि के प्रति भी उदासीन रहती है। इस मानसिक तथ्य को मान लेने से यह निष्कर्ष निकलता है कि आप या कोई भी ताना-शाह—चाहे वह व्यक्ति हो या समुदाय—किसी कलाकार को यह आदेश नहीं दे सकते हैं कि "भाई, अमुक विषय पर अमुक प्रकार की कल्पना करो।"

जिस प्रकार आप किसी पुरुष और स्त्री को ऐसा वातावरण भले ही प्रदान करें जिसमें उनमें एक दूसरे से प्रेम हो जाना सम्भव हो सके; किन्तु आप निश्चित और अनिवार्य रूपसे यह नहीं कह सकते हैं कि उनमें प्रेम हो ही जायगा, क्योंकि प्रेम आपके नियन्त्रण से बाहर है, उसी प्रकार आप, बटन दबाकर, कवि की कल्पना को प्रेरित नहीं कर सकते हैं। वे लोग जो कलाकरों से कहा करते हैं कि "यह कर" अथवा "यह न कर" इस बात को भूल जाते हैं।

(७) अन्त में फिर इस बात पर बल देना आव-श्यक है कि (क) कला आत्माभिव्यक्ति है;[1] (ख) आत्माभिव्यक्ति से व्यक्ति और समाज को आत्म-ज्ञान (Self-discovery) होता है; और (ग) आत्म-ज्ञान से आत्म-निर्माण (Self-making) होता है। इस अर्थ में कला व्यक्ति और समाज के लिये एक उत्तम क्रिया है; और कलाकार समाज का द्रष्टा, ऋषि, गुरु या चिकित्सक है।[2]

:———:

१—कल्पना द्वारा प्रस्तुत आत्म-अभिव्यक्ति के सार पर पहुँचने पर वृत्तियों उदाहरणार्थ काम-वृत्तियों, क्रोध-वृत्तियों आदि का रूप बदल जाता है और कभी-कभी वे शान्त भी हो जाया करतीं हैं। किन्तु ऐसा न होने पर लड़के, लड़कियाँ और प्रौढ़ व्यक्ति भी दिवा-स्वप्नों (Fantasies) के रौरव नरक में अपनी इच्छाएं मन-मोदकों द्वारा, पूरी करने लगते हैं, उनकी मूल-चेतना ही, जो विज्ञान और कला की जननी है, बिगड़ जाती हैं; और अन्त में कुछ ऐसे व्यक्ति पागल भी हो जाते हैं। आधुनिक कला-कृतियों में से कुछ ऐसी हैं, जिनमें हत्या (Murder) एवं अमानवीय व्यवहारों का आकर्षक चित्रण पाया जाता है; वे ही कुत्सित चेतना अथवा इच्छा-प्रेरित कल्पना के फल हैं।

२—आर. जी. कालिंगवुड—"कला के सिद्धान्त" (अंग्रेजी,)।

सौन्दर्य और भाषा का सौन्दर्य

पं० किशोरीदास वाजपेयी

सौन्दर्य-भावना मनुष्य-मात्र की चीज है। 'मात्र' शब्द यहाँ व्यापकता और व्यवच्छेद, दोनों अर्थों में है। प्रत्येक मनुष्य में सौन्दर्य-भावना है; वह चाहे फिर किसी भी देश या समाज का क्यों न हो! जंगली लोगों में भी सौन्दर्य-भावना है और वे सौंदर्य-साधन के रूप में पक्षियों के पंखों का उपयोग करते हैं, वन्य पशुओं की हड्डियों का और सींगों का उपयोग करते हैं; मुण्डों की माला पहनते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं। उनकी साज-सज्जा देखकर आप हँसेंगे और कहेंगे कि यह कैसी सजावट? यह सब शोभा बढ़ाने की सामग्री है, या और भद्दा बनाने की! परन्तु उन्हें वह सब सामग्री कैसी जँचती है, वे ही जानते हैं। बहुत संभव है, हम लोगों के सौन्दर्य-साधन देख कर वे भी हँसते हों और हम लोगों की प्रवृत्ति पर आश्चर्य करते हों! परन्तु सौंदर्य-अनुभव का सुख सभी करते हैं। 'मनुष्य-मात्र' का अर्थ यह भी है कि मनुष्य में ही सौंदर्य-भावना है; पशु-पक्षियों में नहीं। वे केवल उपयोगिता जानते हैं। पशुओं में 'नर' या 'मादा' अपने साथी के शरीर की बनावट पर ध्यान नहीं देते। रंग कैसा है, सींग टूटा है या बेडौल है, आँख कानी है, या कैसी है; ये सब बातें उनके सामने कुछ भी नहीं!

मनुष्य-मात्र में सौन्दर्य-भावना है; परन्तु उसमें भी बड़े भेद हैं! कहीं-कहीं काला रंग ही सुन्दर समझा जाता है और गोरा भद्दा समझा जाता है! कहीं नाक चपटी सुन्दर मानी जाती है। हम लोग जैसी नाक पसंद करते हैं, वैसी वहाँ कुरूपता की निशानी समझी जाएगी!

कहने का मतलब यह कि मनुष्य में सौंदर्य-भावना है और वह अपनी मान्यता के अनुसार सबकुछ सुन्दर देखना चाहता है।

भाषा भी एक प्रकृति-प्रदत्त चीज है। मनुष्य ने प्राकृतिक 'शब्द' में उपयोगिता पैदा की। विभिन्न अर्थों में विभिन्न शब्दों का संकेत कर के भाषा बनाली। फिर उस भाषा को सजाने-सँवारने की प्रवृत्ति उद्भूत हुई। भाषा को सजाने-सँवारने पर ग्रन्थ लिखे गए—अलङ्कार-शास्त्र बना। बड़ी बारीकी से शब्द पर विचार हुआ। हिन्दी में अभी तक अलङ्कार-शास्त्र पर कोई अच्छी पुस्तक नहीं प्रकाशित हुई है; यह चिन्तनीय है। 'अलंकार' नाम सुनकर लोग उसी तरह विरक्ति प्रकट करते हैं, जैसे पहले 'व्याकरण' नाम सुनकर घबराते थे। स्वाभाविक भी है। कलाकन्द के नाम से कोई साबुन आपके मुँह में रख दे, तो आप उसके स्वाद को क्या कहेंगे? नाम और, चीज और! भाषा सँवारने के लिए अलङ्कार हैं, बिगाड़ने के लिए नहीं। प्रचलित अलङ्कार-ग्रन्थों से भाषा सँवारने में क्या मदद मिलती है? इसी-लिए विरक्ति!

भाषा को ही सुन्दर बनाने के लिए 'छन्द' की सृष्टि हुई। लय और तुक भाषा का सौन्दर्य बढ़ा देते हैं। **'खट्टी और मीठी** चीजें' की जगह **'अम्ल** और **मीठी** चीजें' कैसा रहेगा? **'अम्ल** और **मधुर** पदार्थ ठीक होगा। **'खट्टी** और **मधुर** चीजें' भी ठीक न लगेगा। क्या कारण? मेल चाहिये—**खट्टा-मीठा, अम्ल-मधुर, खट्टी-मीठी** आदि। यह शब्दों का स्वर-साम्य है। वाक्य में शब्दों की नाप-तोल काँटे की हो, तो सौंदर्य आ जाएगा। यह छन्दशास्त्र का विषय है। कविता में छन्द, या छन्द में कविता ऐसी समझिए, जैसे सोने में सुगन्ध। यदि वाक्य में काव्यत्व कम भी हो, तो छन्द-सौन्दर्य से काम चल जाता है। सहृदय तो अन्तरङ्ग पर पहुँचते हैं; पर साधारण जन बाहरी रूप-रंग में ही अटक जाते हैं। अर्थ-सौन्दर्य तक न जाकर शब्द-सौन्दर्य

में ही लोग अटक जाते हैं। कामिनी के अन्त: सौन्दर्य पर, उसकी शालीनता, विनयशीलता और भावुकता आदि पर आगे ध्यान जाएगा और सो भी सब का नहीं। परन्तु उसके ऊपरी रंग-रूप पर सब का तुरन्त ध्यान जाएगा। यहाँ यदि फूहड़पन प्रकट होगया, तो उसका अन्त:सौन्दर्य भी धरा ही रह जाएगा। छन्द भाषा का ऐसा सुन्दर परिधान है कि लोग वहीं रम जाते हैं। असली चीज (काव्यत्व) की कमी छिप जाती है। उधर लोगों का ध्यान ही नहीं जाता। परन्तु गद्य-काव्य में यह बात नहीं। वहाँ छन्द की छटा नहीं; बाहरी आकर्षण वैसा नहीं। यहाँ यदि काव्यत्व ऊंचे दर्जे का न होगा, तो कौड़ी न उठेगी। यहीं कवि की परख होती है; क्योंकि छन्द के परिधान से वह दूर है। इसीलिए कहा है—

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'

गद्य-काव्य ही कवि की कसौटी है। गद्य में कवि की पहचान हो जाती है।

शब्दों का चयन और संस्कार

भाषा-सौंदर्य के लिए शब्दों का चयन ही महत्त्व की चीज है। ब्रज में अनेक शब्दों के 'ह' का लोप हो जाता है—'जात ऐं' में 'ऐं' देखिए। यहाँ 'ह' का लोप है। परन्तु ब्रजभाषा-काव्य में 'ऐं' क्रिया का ग्रहण नहीं। सुनने में अच्छा नहीं लगता। ब्रजभाषा काव्य में 'है' 'हैं' शब्द गृहीत हैं। यह कवि का शब्द-चयन है। 'है' 'हैं' उधर कन्नौजी कानपुरी के रूप हैं, जिसकी सीमा ब्रज से मिलती है। मेरठी क्षेत्र में 'है' की जगह 'ह' को ही कुछ भारी करके बोलते हैं। ब्रजभाषा काव्य में यह नहीं लिया गया। परन्तु 'ऐसोई कछु सपनो आयो' में 'ऐसोई' देखिए। यहाँ कविता ने 'ह' उड़ा दिया है। 'ऐसो ही' उतना मीठा नहीं, जितना 'ऐसोई'। क्या कारण ? कारण यह कि 'स' महाप्राण है और उसके आगे दूसरा महाप्राण ('ह') कटुता पैदा करता है। 'ओ' के अनन्तर 'ई' का उच्चारण सुन्दर लगता है।

इसी तरह मेरठी (कौरवी) बोली का परिष्कार साहित्य में हुआ और तब सम्पूर्ण देश ने उसे राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण किया। मेरठी क्षेत्र में बोलते हैं— धोत्ती, रोट्टी, पोत्थी आदि। साहित्य ने शब्द-परिष्कार किया, कर्णकटुता हटा दी और रूप कर लिए— धोती, रोटी, पोथी। राष्ट्रभाषा में 'ये' ही सुन्दर-सुडौल शब्द हैं। खान से निकले बेडौल हीरे खराश-तराश कर मोहक सुडौल कर लिए गए। यह भाषा के गठन और संस्कार की बात है।

कविता की भाषा

कविता की भाषा में तो बहुत बारीकियाँ देखी जाती हैं। उचित ही है। शब्द-शिल्प में और देखा भी क्या जाएगा ? परन्तु वहाँ भी सर्वत्र मधुर शब्द देना भूल है। कोई अधकचरे कवि किसी 'केवल वैय्याकरण' के साथ कहीं जा रहे थे। वैय्याकरण ने आगे देख कर कहा— 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'। कवि जी ने नाक-भौं चढ़ाई— 'आपको बोलना नहीं आता ! यों कहना चाहिए—

'नीरसतरुरिह विलसत्यग्रे'

वैय्याकरण प्रभावित हुआ और उसने वह बात गाँठ बाँध ली।

परन्तु यहाँ कवि जी का बतलाया प्रयोग ठीक नहीं। आगे सूखा वृक्ष (ठूंठ) खड़ा है, तो यही कहना ठीक है कि 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'। इन शब्दों से उसकी नीरसता प्रकट है। 'शुष्क वृक्ष' 'विलास' के साथ क्या जमता है ? 'विलास' तो सरसता की चीज है—

विलसति सरसपादप: पुरत:

यहाँ 'विलसति' ठीक रहेगा। 'शुष्क' की जगह 'नीरस' भी ठीक नहीं। 'शुष्क' में जो रूखापन है, वह 'नीरस' में कहाँ ? हाँ, यहाँ 'नीरस' अवश्य ठीक रहेगा—

'नीरस सेमर छोड़ गए शुक'

सारांश यह कि सभी शब्द काम के हैं, जहाँ जो अच्छे लगें। चटनी में खटाई अच्छी; पर खीर में ? बढ़िया हलवा बनाने के लिए सूजी चाहिए; पर कढ़ी बनानी हो, तो ? क्या यहाँ भी सूजी काम में लाई जाएगी ? कढ़ी बेसन की अच्छी; पर हलवे में बेसन का क्या उपयोग ?

कविजन कभी-कभी भाषान्तर का भी प्रयोग कर देते हैं। तुलसी ने 'कौसिक छोटो सो ढोटो है काको' में 'ढोटो' शब्द दिया है। कविता व्रजभाषा की है, उसमें यह 'ढोटा' शब्द राजस्थानी-पद्धति का है। खड़ी बोली में जो आकारान्त जातिवाचक पुल्लिङ्ग शब्द हैं, व्रज-भाषा में भी वे आकारान्त ही चलते हैं। हिन्दी में भाषा-विज्ञान पर जो ग्रन्थ निकले हैं, उन सब में यही लिखा है कि खड़ी बोली में 'घोड़ा' और व्रज में 'घोड़ो' चलता है। यह गलत बात है। व्रज में 'छोरा गयो' बोला जाता है, न कि 'छोरो गयो' 'बकरो देख्यो', 'मेढ़ो आयो' आदि। व्रजभाषा-काव्य में भी 'पपीहा आजु मचावत सोर' होता है, 'पपीहो आजु मचावत सोर' नहीं। 'कागा काको लेत है, सुग्गा काको देत' होता है, 'कागो--सुग्गो' नहीं। हाँ, जहाँ राजस्थानी की छाया पड़ गई है, वहाँ ओकारान्त रूप हैं।

भाषा विज्ञान का संशोधन

निश्चय ही भाषा-विज्ञान का संशोधन होना चाहिए। भाषा पर गहराई से अभी विचार हुआ ही नहीं है! व्रज (खड़ी बोली और राजस्थानी के) बीच में पड़ता है और इसीलिए व्रजभाषा उपर्युक्त दोनों बहनों से प्रभावित है। राजस्थानी और खड़ी बोली की धाराएँ स्पष्टत: पृथक-पृथक् हैं। व्रजभाषा में दोनों का मधुर मिश्रण है। प्राकृत के रूप राजस्थानी में देखे जाते हैं। प्रथमा एक वचन में अकारान्त पु० शब्दों के विसर्ग प्राकृतों में 'ओ' हो गए हैं और यही 'ओ' यहीं (पु० एक वचन में) राजस्थानी में भी है—

संस्कृत	प्राकृत	राजस्थानी
पुत्र: आगत:	पुत्रो आगदो	लड़को आयो

बहुवचन में प्राकृतों ने विसर्ग हटा दिए और तब शब्द-रूप राजस्थानी के समान हैं—

संस्कृत	प्राकृत	राजस्थानी
पुत्रा: आगता:	पुत्ता आगदा	लड़का आया

यानी 'राजस्थानी' में 'लड़का आया' बहुवचन है। राष्ट्रभाषा में 'लड़के आए' बहुवचन है। जिस प्राकृत अपभ्रंश से राष्ट्रभाषा (खड़ी बोली) का विकास है, उसका पता नहीं! प्राप्त प्राकृतों में किसी का भी रूप ऐसा नहीं कि उसे खड़ी बोली का उद्गम माना जा सके। **जिस प्राकृत में पु० अकारान्त शब्दों के एकवचन के विसर्ग 'आ' रूप में विकसित हुए होंगे, उसी से खड़ी बोली का निकास है।** वहाँ ऐसे प्रयोग होते होंगे—

	संस्कृत	प्राकृत (संभावित)	खड़ी बोली
(एक वचन)	**पुत्रः आगतः**	**पुत्ता आगदा**	**लड़का आया**
(बहु वचन)	पुत्रा: आगता:	पुत्ते आगदे	लड़के आये

यानी जो राजस्थानी में तथा उसकी मूल भाषा में बहुवचन का रूप है, खड़ी बोली में और इसकी मूल भाषा में वह एक वचन है! कितना अन्तर है।

मधुर व्रजभाषा

व्रजभाषा में मिश्रण-माधुर्य है, मिसरी का सा। यहाँ राजस्थानी के से रूप ओकारान्त हैं—भाववाचक संज्ञाओं के, विशेषणों के, क्रियाओं के। आनो-जानो, मीठो-खट्टो, आयो-गयो। परन्तु जातिवाचक आकारान्त पुं० संज्ञाएँ खड़ी बोली की तरह हैं— छोरा, पपीहा, सुग्गा आदि। परन्तु इनके विशेषण ओकारान्त—'ऐसो छोरा न देख्यो'। विशेषण और क्रिया ओकारान्त, राजस्थानी चाल पर और 'छोरा' खड़ी बोली के 'लड़का' आदि के ढंग पर। बहुवचन भी खड़ी बोली के अनुसार 'छोरे आये' (या, 'आए')। राजस्थानी के अनुसार 'छोरा आया' बहुवचन नहीं। 'छोरा' तो यहाँ (व्रज में) एक वचन है न!

बहुत विवेचन करना है। यहाँ प्रसंगत: इतना कि हिन्दी-परिवार में एक दूसरी भाषा के शब्द लिए-दिए जाते हैं। कविजन अपनी चीज तैयार करने के लिए कहीं से कोई चीज ले लेते हैं। परन्तु भाषा-विज्ञान में तो भाषाओं का विश्लेषण होता है। 'कामरूप केहि कारन आया' में 'आया' देखकर यदि कोई भाषा-विज्ञानी लिख दे कि अवधी में 'आया' 'गया' 'लाया' जैसे क्रिया-रूप होते हैं, तो आप क्या कहेंगे?

हम लोग प्रयोग करते हैं— 'निखट्टू आदमी'! 'खटना' क्रिया पंजाबी की है। उसका कृदन्त रूप यहाँ चलता है। 'गाड़ी यहाँ खड़ी नहीं होती' बोलते हैं।

(शेष पृष्ठ ५५ पर)

संत-साहित्य में सौन्दर्यबोध

श्री परशुराम चतुर्वेदी

सौंदर्य की परिभाषा चाहे जो भी दी जाय इतना स्वीकार कर लेने में कदाचित् किसी को भी आपत्ति न होगी कि उस गुण से सम्पन्न वस्तु में कतिपय निजी विशेषताएं पायी जाती हैं जो हमें, सहसा आकृष्टकर, प्राय: अभिभूत सा कर डालती है। किसी भी सुन्दर पदार्थ का प्रत्यक्षीकरण हमें अननुभूत वा अपरिचित नहीं जान पड़ता; उसके साथ हमारा कभी का कोई सम्पर्क तक रहा प्रतीत होता है। लगता है जैसे अब तक हम उसके किसी अभाव का कुछ न कुछ अनुभव भी करते आ रहे थे, जो, उसके इस प्रकार उपलब्ध होने पर ही, दूर हो सका। उसके द्वारा हमारी किसी गूढ़ अभिलाषा की पूर्ति होती दीख पड़ी और हम किसी विचित्र प्रकार के आह्लाद का अनुभव भी करने लग गए। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस गुण का प्रभाव हमारे ऊपर कभी कम होता वा मंद पड़ता भी नहीं प्रतीत होता और न हम उसके आस्वादन से तृप्त होते हैं। यदि वह अपनी दृष्टि के माध्यम से पड़ता हो तो हम उसके आश्रित वस्तु को निरंतर देखते रहना चाहते हैं, यदि वह श्रवणेन्द्रिय का विषय है तो उसे सुनते रहना चाहते हैं और इसी प्रकार यदि वह किसी अन्य ज्ञानेंद्रिय द्वारा भी प्रत्यक्ष हो रहा हो तो भी वैसा ही किया करते हैं। उसमें लग जाने वाली इंद्रिय अपना अन्यत्र विचरण करना भूल जाती है, उसमें पहले की चंचलता नहीं रह जाती और वह वहीं जम तक जाना चाहती है। तदनुसार कोई भी सुन्दर वस्तु हमारे लिए बहुधा अपने जीवन का साथी तक बन जाया करती है और हम उसके साथ प्रेम भी करने लग जाते हैं।

इस प्रकार इतना और भी स्पष्ट है कि सौंदर्य का बोध स्वभावत: केवल उन्हीं विषयों में हो पाता है जो इन्द्रियगम्य हों, हमारे बाहर और हमसे पृथक स्थित हों, तथा जिन्हें, इसी कारण, हम अपने उक्त अनुभवों के माध्यम द्वारा आत्मसात् भी कर लेना चाहें। इसके सिवाय साधारणत: किसी वस्तु को हम केवल उस समय 'सुन्दर' कहा करते हैं जब उसका कोई विशिष्ट 'रूप' हुआ करता है तथा, इस प्रकार, जब वह अपने नेत्रों के अनुभव में किसी न किसी ढंग से, आने योग्य भी रहा करती है। जो वस्तु अप्रत्यक्ष और अनिर्वचनीय हो अथवा जिसे 'अलख' 'अरूप', तथा 'अगम' और 'अगोचर' जैसे विशेषण दिये जाते हों और जिसकी अनुभूति का होना केवल अपने भीतर ही संभव समझा जाता हो तो उसके 'सुन्दर' या 'असुन्दर' होने का कोई प्रश्न ही उठाना आश्चर्य की बात होगी। जिस वस्तु के विषय में कबीर साहब का कहना है, "मैं 'राम' को कैसे जान पाऊँ जिसे मैंने कभी अपनी आंखों नहीं देखा ?"[1] अथवा जिसकी चर्चा करते समय, दादू दयाल कहते हैं, "मुझे अपने जीवन वा मरण की कुछ भी चिंता नहीं, यदि मुझे पछतावा है तो केवल इसी बात का कि मैं अपने उस 'पीव' को अपनी आंखों में नहीं रख पाया,"[2] उसके किसी वैसे सौंदर्य द्वारा समन्वित होने की बात स्वभावत: कुछ अनोखी ही कही जा सकती है और, इसीलिए, इन संतों के सौंदर्य बोध का स्वरूप भी कम विलक्षण नहीं हो सकता।

संतों ने अपने परमतत्त्व-संबंधी अनुभवों का वर्णन करते समय, स्वयं ही ऐसे शब्दों के प्रयोग किये हैं जो

१—"मैंका जाणूं रामकूं, नैनूं कबहूं न दीठ ॥"
—'कबीर-ग्रन्थावली' (ब-१)।

२—दादू जीवन मरण का, मुझ पछितावा नांहि।
मुझ पछितावा पीव का, रह्या न नैनहुं मांहि ॥
—'दादूदयाल की बानी' (१६-४१)

उनके सौंदर्य बोध के परिचायक हैं। कबीर साहब कहते हैं, "उस 'पार ब्रह्म' के तेज का पता क्या दिया जाय ? उसकी 'सोभा' बतलाने की नहीं, केवल देखते ही बनती है।"[1] दादूदयाल का कहना है "उस 'अविनासी' का तेजोमय अंग क्या ही अनुपम था। मैंने उसे अपनी आंखों भर देखा और उसका स्वरूप 'सहज सुन्दर' पाया।[2]" इसी प्रकार बाबा धरनीदास भी 'पिय' को 'सुन्दर' ही बतलाते हैं और कहते हैं कि, इसी कारण, "उसके साथ मेरा 'सहज सनेह' 'बन गया'।" [3]गुलाल उस 'प्रभु' की 'सोभा' को 'रसाल' तक बनगई ठहराते हैं[4] और जगजीवन साहब भी कहते हैं, "उसके 'अनूप रूप' का वर्णन कहां तक करूं, मैं उस पर सभी कुछ वार देता हूँ। जिस किसी ने उसे उपलब्ध किया उसके लिए उसकी 'छवि' की समानता अनेक सूर्य एवं चन्द्रमा तक भी नहीं कर सकते।" [5]इस प्रकार ऐसा लगता है जैसे संतों की उस अनुभूत वस्तु में कोई विचित्र अपूर्वता है जिससे उन्हें उसे असीम शोभा से युक्त कहना पड़ जाता है। वे उसका अनुभव करके चकित से रह जाते हैं और वे अपनी उस दशा का भी यथावत् वर्णन नहीं कर पाते। दादूदयाल का कहना है, "जैसा ब्रह्म है वैसा ही अपने अनुभव का भी स्वरूप बन जाता है और, इसी कारण, जैसा वह है वैसा उसका वर्णन कोई विरला ही कर सकता है।[1]" किन्तु फिर भी वे लोग उसकी ओर आपसे आप आकृष्ट हो जाते हैं और उसे अपनाने तक लग जाते हैं।

संतों के उपर्युक्त अनुभूति परक उद्गारों से हमें अधिकतर ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुभव का माध्यम उनकी आंखें ही रही होंगी। कबीर साहब का यह कहना कि "उस 'अनंत' का तेज अनेक प्रकाशमान सूर्य जैसा दीख पड़ा" [2]अथवा यह कि "उसका मैंने केवल एक ही अंग देखा, किन्तु उस तेज 'पुंज' की महिमा अकथनीय समझ पड़ी और वह मेरे नेत्रों में प्रवेश कर गया," [3]इसी बात को सूचित करता है। इसी प्रकार पलटू साहब का भी यह विवरण देना कि "मुझे, जागने के ही समय में, एक स्वप्न दीख पड़ा और मैंने देखा कि कोई गहरी नदी है जिसकी तीन धाराओं के बीच एक 'बिलौरी' (श्वेत) नगर है जिसके अंधेरे महल में 'गैब' की बत्ती जल रही है और वहां पर एक पुरुष बैठा है। उस पुरुष की 'छवि' देखते ही मैं विभोर हो गया और उसकी अलाप को सुनते ही उसकी तान में प्रवेश कर गया"[4] यही सिद्ध करता है। एक स्थल पर तो इन्होंने यहां तक बतलाया है कि "उस 'जोगिया' की आंखें लाल लाल थीं जैसे कमल के फूल हों···उसने गगन में 'सिंगिया' बजा दी और मेरी ओर दृष्टि भी डाल दी जिसका प्रभाव यह पड़ा कि

१—पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्याही परवांन ॥
—'क० ग्रं०' (५-३)।

२—अविनासी अंग तेज का, अैसा तत्त अनूप।
सो हम देख्या नैनभरि, सुन्दर सहज सरूप ॥
—'दादूदयाल की बानी' (४-६३)

३—पिय बड़ सुन्दर सखि, बनि गैला सहज सनेह ॥
—'धरनीदास की बानी' (पद ३ पृ० २७)

४—प्रभु की सोभा बनी है रसाल ॥
—'गुलाल साहब की बानी' (पद ६, पृ० १३२)

५—रूप अनूप कहांलगि बरनौं, डारौं सबकछु वारी।
रवि ससि गन तेहि छवि सम नाहीं,
जिन केहु गहा विचारी ॥
—जगजीवन साहब की बानी, भा० २ (शब्द २७, पृ ११)

१—दादू जैसा ब्रह्म है, तैसी अनभै उपजी होइ।
जैसा है तैसा कहै, दादू बिरला कोइ ॥
—दा० द० की बानी (२८-२०)

२—कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि ॥
—क० ग्रं० (५-१)

३—कबीर देख्या एक अंग महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणी, नैनूं रह्या समाइ ॥
—क० ग्रं० (५-३८)।

४—जागत में एक सूपना, मोहि पडा है देखि·······
सुनत तान में गई समाइ ॥
—पलटू साहब की बानी भा०१ (पृ० ७९-८०)

उसकी 'चितवन' द्वारा ही मेरा मन चुरा लिया गया।" [1]इसके सिवाय जगजीवन साहब भी कहते हैं कि "मैं उस 'निर्गुन' को अपने नैनों से देखता हूँ और उसमें समाया तक जाता हूँ" [2]तथा यारी साहब भी बतलाते हैं, "मैंने सम्पूर्ण सोलहों कलाएं देखीं, सूर्य एवं चन्द्रमा को एकत्रित पाया और दृष्टि के पड़ते ही मुझे रूप की 'ठगौरी' लग गई।"[3]

परन्तु फिर भी संतों का अनुभव केवल उनकी आंखों के ही माध्यम से पूरा होता नहीं जान पड़ता। वे कोई मधुर स्वर भी सुना करते हैं। पलटू साहब का कहना है, "मेरे तन एवं मन में 'पिय की मीठी बोल' प्रवेश कर गई। मैं उसे सुनते ही दीवानी बन गई। भंवर गुफा के मध्य 'सोंह' की वानी उठ रही थी जहां मैंने उस पिय का रूप देखा और मैं उसमें समा गई।....पुरानी प्रीति के कारण पहचानते देर न लगी और उसके शब्द को सुनते ही मैंने अपना घूंघट हटा लिया।" [4]इसी प्रकार भीखा साहब भी कहते हैं कि "शब्द का कोई विचित्र 'मनोरवा' (एक प्रकार की मधुर तान) सुन पड़ा और 'अनहद' की ध्वनि घहराने लगी। उसे सुनते ही मेरा चित्त उसमें लग गया और जब से लगा तब से उसमें अपनी रुचि बराबर अधिक से अधिक होती ही जा रही है।" [1]गुलाल साहब को तो यह शब्द कभी-कभी उस 'सहज सरूप' का कोई अनुपम 'सेहरा' सा प्रतीत होता है और वे कहते हैं कि "गगन मंडल में वह 'वानी' हर दम नई नई सी ही लगा करती है।" [2]दादू दयाल ने इसी 'बानी' को एक स्थल पर 'राम कथा' का भी नाम दिया है और कहा है कि "जैसे दो कान हैं वैसे उनकी संख्या कहीं अपरिमित हो जाती तो 'राम कथा' का रस बारंबार पिया जाता और फिर भी तृप्ति नहीं हो पाती।"[3] अनाहत नाद का शब्द इन संतों को इतना मधुर और आकर्षक जान पड़ता है कि ये उसे प्रायः परमतत्त्व का प्रतीक मान उस पर सर्वथा मुग्ध हो जाया करते हैं।

इसी प्रकार कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है जैसे संत लोग अपने उस प्रियतम के सौन्दर्य का अनुभव अपनी रसनेंद्रिय द्वारा भी करते हैं। दादू दयाल ने उसे बहुत स्पष्ट शब्दों में किसी उस अनूठे फल तक की संज्ञा दी है जो साधारण फलों से नितांत भिन्न कहा जा सकता है। उन्होंने कहा है, "वह एक ऐसा अनुपम फल है जिसमें न तो कोई बीज है और न कोई छिलका ही दीख पड़ता है; किन्तु वह मीठा है, सदा निर्मल एवं एकरस बना रहता है और अपनी आंखों से ओझल नहीं होता।"[4] और फिर अन्यत्र उनका यह भी कहना है, "उस 'रामरस' को हम जितना भी पीते जांय कभी

१—जोगिया के लालि लालि अखियां हो, जेस कंवल के फूल....गगन के सिंगिया बजाइन्हि, ।। इत्यादि
—'पलटू साहब की बानी' (भा० ३, पृ० २२)।

२—तकत नैनन निरखि, निर्गुण, रहत ताहि समान ।।
—जग० सा० की बानी (भा० २, पृ० ९४)

३—सोरह कला सँपूरन देखौं, रवि ससि इक ठौरी ।।
जबतें दृष्टि पड़ी अविनासी, लागी रूप ठगौरी ।।
—रत्नावली (शब्द २)

४—मेरे तन मन लग गई पिय की मीठी बोल ।।
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दिवानी।
भँवर गुफा के बीच उठत है सोहं बानी ।।
............घूंघट डारा खोल ।।
—पलटू साहब की कुंडलिया (५९)।

१—सब्द कै उठल मनोरवा हो, अनहद धुनि घहराइ।
सुनत सुनत चित लागल हो, दिन दिन रुचि अधिकाइ
—बानी (शब्द १६)

२—सहज सरूप सब्द को सेहरा, सो मोहि आन भई।
गगन मंडल में बाजि उठतु हो, हरदम नाम नई ।।
—बानी (शब्द २८)

५—दादू जैसे श्रवनां दोइ हैं, ऐसे हूहि अपार।
राम कथा रस पीजिये, दादू बारंबार ।।
—बानी (४-३२०)

४—अैसा एक अनूप फल, बीज बाकुला नांहि।
मीठा निर्मल एकरस, दादू नैनहूं मांहि ।।
—बानी (४-९६)

अपनी प्यास नहीं बुझ पाती, ऐसा कोई विरला ही होगा जिसे इसका पूरा अनुभव हो सका हो।"[1] कबीर साहब ने तो इस 'रामरस' का वर्णन किसी विचित्र मद के रूप में भी किया है और उसके तयार होने की विधि की भी चर्चा कर दी है। वे कहते हैं, " 'रामरस' को आत्मा ने छककर पी लिया और वह उसे पीते-पीते गूढ़ विचारों में लीन है। इसके लिए बहुत मोल तोल करके महंगा गुड़ लिया था। जिसका रस चुवाते समय कसाव भी दूर करना पड़ा। तब शरीर के नगर में उसका बिक्री के लिए प्रदर्शन किया गया जिससे आत्मा ने उसे बार-बार मांगकर पिया और उसे खुमारी लग गई।"[2] इसका वास्तविक आशय यह हो सकता है कि ज्ञान द्वारा स्वरूप चिन्तन करते-करते काम क्रोधादि के मनोविकार नष्ट हो गए और अपने भीतर उस अनुपम तत्त्व की अनुभूति जागृत हो उठी। उनका यह भी कहना है कि "इस 'रामरस' के पीते ही अन्य सभी प्रकार के रस सर्वथा विस्मृत हो जाते हैं।"[3] उन्होंने इसी के विषय में एक स्थल पर यह भी कहा है "यह उज्वल, निर्मल नीर है जिसे अपने 'कायाकमंडल' में भर लिया और तन मन से जीवन भर पीता रहा, किंतु उसकी प्यास नहीं गई।"[4]

कबीर साहब उसके अनुभव का वर्णन करते समय इस प्रकार भी कहते हैं जैसे वह मधुर संगीतमय भी हो। वे बतलाते हैं, "अपने भीतर प्रेम-भाव जागृत हो उठा और उजाला सा हो गया जिस कारण मुख में कस्तूरी की महक प्रवेश कर गई और वाणी से गंध फूट पड़ी।"[1] वैसे ही यारी साहब का भी कहना है, "जहाँ न तो मूल है, न शाखा है और न कहीं पत्तियाँ ही हैं वहाँ विना किसी प्रकार के सींचने पर भी, वह बाग सहज भाव से ही पुष्पित हो उठा, बिना किसी डंठल के भी कोई फूल उग आया तथा उस बिना गंध वाले की गंध में भ्रमर विभोर हो गया।"[2] गुलाल साहब ने भी इसी बात को इस प्रकार कहा है— "यदि ध्यान की दशा में सुरति एवं निरति का मेल हो जाय तथा अजपाजाप चलने लगे और ज्ञान के घोड़े पर सवार हो कोई शून्य में दौड़ लगादे तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे आकाश किसी शुभ्र प्रकाश द्वारा व्याप्त है और वह प्रस्फुटित भी हो उठा है जहाँ अपना चित्त भ्रमर बनकर उस पर मंडराने लगा है।"[3] इतना ही नहीं कबीर साहब तो अपनी अनुभूति का परिचय देते समय, यहाँ तक कह डालते हैं कि मैंने अपने उस प्रियतम से, भरपूर गले मिलकर, भेंट की। वे कहते हैं, "मैंने उससे पूरी अङ्कवार भर भेंट की और तब भी धैर्य न बंधा, जब तक हमें दो शरीरों का भान रहे तब तक हम उससे

१—ज्यौं ज्यौं पीवै रामरस, त्यौं त्यौं बढै पियास।
अैसा कोई एक है, बिरला दादू दास॥
—दा० दा० की वानी (४-३२४)।

२—छाकि परचो आतम मतिवारा,
पीवत रामरस करत विचारा, इत्यादि
(क० ग्रं० पद ७३)

३—रामरस पाइया रे, तामैं बिसरि गये रस और॥
—वही, पद ७५।

४—कायाकमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जीवन भरि पिया, प्यास न मिटी कबीर॥
वही आ०(७-१)।

१—प्यंजर प्रेम प्रकाशिया, अंतर भया उजास।
मुखि कसतूरी महमहीं, वांणी फूटी बास॥
—क० ग्रं० (५-१४)

२—जहाँ मूल न डारिन पात हैरे,
बिन सींचे बाग सहज फूला।
बिन डांडी का फूल है रे,
निर्वास के बास भंवर भूला॥
—रत्नावली (झूलना, ६)

३—सुरति सो निरति मिलि ध्यान अजपा जपै,
ज्ञान का घोड़ लै सुन्न धावै।
सेत परकास आकास में फूलि रहो,
चित्त ह्वै भंवर तब जाय पावै॥
—'गु० सा० बानी' (रेखता, ३)।

मिल ही कैसे सकते हैं ?"[1] अतएव, इन सन्तों के कथन पर विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि उनका आकर्षण रूप, स्वर, रस, गंध एवं स्पर्श इन पाँचों के भी प्रति हैं।

इसके सिवाय इन संतों की वानियों द्वारा हमें यह भी स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इनकी एक से अधिक इन्द्रियाँ एक साथ काम करती हैं और इसी कारण इन्हें अपने प्रियतम की उपलब्धि का सुख और भी अधिक मात्रा में अनुभूत हुआ करता है। उदाहरण के लिए कबीर साहब के समक्ष उस समय "निर्मल सूर्य प्रकाशमान हो जाता है जिससे अन्धेरा मिट जाता है, कमल प्रस्फुटित हो उठता है जिससे उसकी सुगन्धि का मिलना सम्भव हो जाता है और अनाहत की तुरही भी बजने लगती है जो श्रवणेंद्रिय का विषय है।"[2] दादू दयाल का अनुभव बतलाता है, "जब मेरे प्राणों ने उसे उपलब्ध कर लिया और उसके साथ इनका 'अरस परस' हो गया तो वे प्रफुल्लित हो होकर उसके दर्शन करने लगे, उसके रस पान द्वारा पुलकायमान हो उठे और उसमें अपने को मग्न करने में मस्त हो गए।"[3] भीखा साहब कहते हैं, "उस शब्दमय प्रकाश के सुनते और देखते ही मेरी विषयासक्त बुद्धि जो केवल कच्ची सी ही

१—अंक भरे भरि भेंटिया, मन में नांही धीर।
कहे कबीर ते क्यूं मिलैं, जबलग दोइ सरीर॥
—क० ग्रं० (५–६५)

(यहाँ पर तुलना के लिए 'श्रीमद्भगवद्गीता' (६–२८) भी देखिए जहाँ पर ब्रह्म के संस्पर्श जनित सुख की ओर संकेत किया गया है, जैसे 'सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते)।

२—कबीर कंवल प्रकाशिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिट गई, वागे अनहद तूर॥
—क० ग्रं० (५–४३)।

३—दादू बिगसि२ दरसन करे,पुलकि पुलकि रसपान।
मगन गलित माता रहै, अरस परस मिलि प्रांन॥
—दा० द० की बानी (४–१४६)।

थी बदल गई।"[1] तथा इसी प्रकार संत रज्जवजी का कहना है, "मैंने उसका अनुभव अपने श्रवण, नेत्र, नासिका, अधर, दंत एवं कर चरणों तक से किया और उस अनुपम छवि को उपलब्ध करते ही मैं पूर्णत: मुग्ध बनकर उसमें मिल गया।"[2] ये अपनी आत्मा के 'राम' मय हो जाने का वर्णन ऐसा कहते हुए भी करते हैं "जैसे समुद्र की कोई बूंद कहाँ और किधर को सरके, वह तो सारे समुद्र का अभिन्न अङ्ग बन गई।"[3] जिससे प्रकट होता है कि उस दशा में किसी साधक की कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य पृथक् रूप में करती हुई नहीं प्रतीत होती।

वास्तव में, इन संतों की वैसी विचित्र अनुभूति के कतिपय वर्णनों से ही, हमें ऐसा भी जान पड़ता है कि उस दशा में उपर्युक्त कोई भी इन्द्रिय अपना विशिष्ट कार्य नहीं कर पाती, प्रत्युत वह एक दूसरी के साथ कदाचित्, साझी भी बन जाती है। दादू दयाल ऐसे एक प्रसंग में बतलाते हैं, "जगत् में मस्त रहा करने वाले भगवत्प्रेमी के लिए उसका भोजन अपने प्रियतम के दर्शन ही हुआ करते हैं।"[4] तथा ये ही फिर अन्यत्र भी कहते हैं, "हरि से प्रेम हो जाने पर तन मन में मंगल होने लगता है और तब सुरति के साथ नेत्रों द्वारा रसपान किया जाता है।"[5] इसी प्रकार बाबा धरनीदास

१—सब्द परकास के सुनत अरु देखते,
छूटि गइ विषै बुधि वास कांची।
—भी० सा० की बानी (रेखता, ६)

२—श्रवण नैन सुनाशिका, अधर दंत कर पाय।
रज्जव निरखत नौ जुगल, मोह्या मतै मिलाय॥
—रज्जव जी की वाणी (मेलगअंग, २)

३—रज्जव बूंद समंद की कित सरकै कहं जाय।
साझा सकल समंद सों, त्यूं आतम राम समाय॥
—वही, (ज्ञान परचै का अंग, २६)

४—आशिका मस्तान आलम बुरदनी दीदार।
—दा० द० की बानी (५-१४७)

५—नैनहुं सौं रस पीजिये दादू सुरति सहेत।
तन मन मंगल होत है, हरि सौं लागा हेत॥
—वही (५३-३७)

का भी कहना है, "प्रियतम की झलक इतनी सुन्दर है कि कभी अपनी पलकें नहीं गिरतीं, उस रस को बार बार पीते हैं। फिर भी प्यास नहीं जाती।"[१] पलटू साहब अपनी आँखों द्वारा उस ज्योति को देखते हैं किंतु उस चिराग से ही निकलने वाली किसी आवाज का अनुभव अपने कानों द्वारा भी करते हैं।"[२] बावरीपंथी संत केसोदास तो "सत्य पुरुष की 'धुनि' को 'अति उजियारी" बतलाते हैं और कहते हैं कि वह करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान है तथा उसकी शोभा पर मैं बार-बार न्योछावर जाता हूँ।"[३] जिसका समर्थन संत गरीबदास के इस कथन से भी होता है, "नाद श्वेत है और तुरही भी श्वेत ही है तथा श्वेत सिंहासन के ही निकट मानो अनेक प्रकार की अप्सराएं नृत्य करती सी जान पड़ती हैं।"[४] अतएव, सम्भव है कि, इन संतों को अपनी इस विचित्र अनुभूति के समय, इस बात का भी स्पष्ट भान न हो पाता हो कि मैं इसके लिए किस इन्द्रिय विशेष का प्रयोग कर रहा हूँ। इन्हें, कदाचित्, यह भी पता नहीं कि ये किसी का प्रयोग करते भी हैं या नहीं, क्योंकि कभी-कभी तो ये इसे अस्वीकार भी कर देते हैं। दादू दयाल ने अपने ऐसे अनुभव को 'सहज' की संज्ञा देते हुए, स्पष्ट शब्दों में कहा है, "सहज वह है जिसमें बिना नेत्रों के ही देखा जाय, बिना किसी अङ्ग वाली वस्तु का ही अवलोकन किया जाय, बिना जीभ के ही ब्रह्म से बोला जाय, बिना कानों के ही सुना जाय, बिना चरणों के चला

१—धरनी पलक परै नहीं, पिय की झलक सोहाय।
पुनि पुनि पीवत परमरस, कबहूँ प्यास न जाय ॥
—ध० दा० की बानी (सा० १६)।

२—निकसै एक अवाज चिराग की ज्योतिहि मांही ॥
—पलटू साहब की बानी (कुंडलिया, १६९)।

३—सत्य पुरुष धुनि अति उजियारी,
कोटि भानु ससि छबि पर बारी ॥
—केसोदास की 'अमीघूंट' (सब्द ३)।

४—सेतें नाद सेत ही तूरा। सेत सिंहासन नाचै हूरा ॥
—गरीबदास की बानी (रमैनी, २)।

जाय तथा बिना चित्त के ही चिंतन भी किया जाय।"[१] और इस बात को अन्य अनेक संत भी अपने-अपने ढंग से व्यक्त करते हैं। कबीर साहब कहते हैं, "मैंने उस अविगत, अकल और अनूप को देखा, किंतु वह अनुभव मेरे कथन में नहीं आ सकता, यह वैसा ही है जैसे कोई गूंगा मनुष्य मीठे पदार्थ को खाकर मन ही मन प्रसन्न होता हो और उसकी अभिव्यक्ति के लिए केवल संकेत मात्र करके रह जाता हो। फूल के बिना ही एक वृक्ष फल उठा था, बिना हाथों के ही तुरही बजने लगी थी, बिना नारी के ही घट में पानी भर आया था और यही सहज रूप में उसे पाना था।"[२] बाबा धरनीदास का कहना है, "वहाँ पर बिना पैरों के ही नृत्य करना है, बिना हाथों के ताली बजाना है, बिना नेत्रों के ही 'छवि' देखना है और बिना कानों के ही झंकार का सुनना है।"[३] और पलटू साहब भी कहते हैं, "उस समय बिना हाथों के ही ताली बजने लगती है, बिना जिह्वा के भी गान किया जाने लगता है तथा वहाँ पर जलते हुए 'महादीप' में जाकर लीन भी हो जाते हैं।"[४]

१—दादू नैन बिन देषिया, अंग बिन पेषिया,
रसन बिन बोलिया ब्रह्म सेती।
श्रवण बिन सुणिवा, चरण बिन चालिवा,
चित्त बिन चित्यंबा, सहज एती ॥
—दा० द० की बानी (४-१९४)

२—अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई ॥
पहुप बिना एक तरवर फलिया, बिनकर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूपसो पाया ॥
—क० ग्रं० (पद ६)।

३—बिनु पगु निरत करो तहां, बिनु कर दैदै तारि।
बिनु नैनन छबि देखना, बिनु सरवन झनकारि ॥
—ध० की बानी (सा० २५)

४—बिनु कर बाजै तार नाद बिनु रसना गावै।
महादीप इक बरै दीप में जाय समावै ॥
—पलटू साहब की कुंडलिया, १७१।

सारांश यह कि संतों की रहस्यानुभूति स्वयं भी अतीव रहस्यमयी है और इसी कारण, वह वर्णनातीत भी है। वहाँ केवल एक ही कोई इंद्रिय अकेली काम करती नहीं जान पड़ती और न, इसलिए यह कहा भी जा सकता है कि वह अकेली अपने लक्ष्य की ओर आकृष्ट हो गई। वास्तव में हम जिन्हें अपने नेत्र, कर्ण, नाक, रसनेंद्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के नाम देते हैं वे बाह्येन्द्रिय होने के कारण, कभी वहाँ हमारे उपयोग में ही नहीं आते। वहाँ तो ऐसा लगता है जैसे इन सारी ज्ञानेंद्रियों की कोई एक मूलशक्ति काम कर रही हो और वह स्वयं ही विचित्र ढंग से प्रभावित हो। यदि मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहा जाय तो कह सकते हैं कि इन संतों के उस विलक्षण अनुभव की दशा में, इनकी सम्पूर्ण चेतना (Consciousness) का कार्य क्षेत्र ही सीमित एवं संकुचित हो जाता है और इनका सारा का सारा स्व (Self) किसी ऐसे बिंदु पर केन्द्रित हो जाता है जिसके सर्वथा अनुपम होने के कारण इन्हें उसका कोई निश्चित परिज्ञान नहीं हो पाता। उस अनुभव में जितनी ही गहराई आती जाती है, क्रमशः उतनी ही तीव्रता के साथ उसमें इनकी गति होने लग जाती है, ये उसमें प्रवेश करते चले जाते हैं, उसके साथ तादात्म्य की स्थिति में आने लगते हैं और इस प्रकार ये वस्तुतः आत्मविभोर तक बन जाते हैं। इनकी ऐसी दशा को हम कोरे ध्यान का नाम नहीं दे सकते, प्रत्युत उसे कोई वैसी समाधि कह सकते हैं जिसमें हमारी सारी मानसिक शक्तियाँ न केवल एकत्र केन्द्रित हो जाती हों, अपितु जहाँ पर वे एक में बँटकर स्थिरता तक प्राप्त करने लग जाती हों। वहाँ पर किसी भी इन्द्रिय विशेष की गति प्रत्यक्ष रूप में नहीं हो सकती, किंतु फिर भी उनकी समवेत शक्ति का वहाँ लगा रहना प्रतीत होता है और यही उसके रहस्य बन जाने का कारण है जिससे इन संतों को अपनी अनुभूति के विषय में उक्त प्रकार से कहना पड़ जाता है। एवलिन अंडरहिल ने इस अनुभव को किसी ऐसा संश्लेषणात्मक दृष्टि (Synthetic vision) का नाम दिया है जिसमें परमतत्त्व (Reality) का अनुभव हमें किसी साधारण प्रकार के निरीक्षण द्वारा नहीं होता, प्रत्युत उसके साथ तादात्म्य लाभ करने के रूप में हुआ करता है।[1] कबीर आदि साधकों ने किसी ऐसी ही दृष्टि के बल पर आध्यात्मिक सहज ज्ञान (Intuitive vision) की उपलब्धि की थी और अपने को उसमें लीन कर दिया था।[2]

संतों ने किसी बाहरी अनुभव में आने वाले सौंदर्य का वर्णन बहुत कम किया है। बाबा धरनीदास अथवा गुलाल साहब जैसे कुछ संतों की बानियों में कभी-कभी प्राकृतिक सौंदर्य के एकाध परिचय मिल जाते हैं और बिहारी दरिया साहब के 'ज्ञानरत्न' में आने वाला सीता के सौंदर्य का वर्णन तथा दुखहरण की प्रेमगाथा 'पुहुपावती' में दीख पड़ने वाला नायिका के मनमोहक रूप का चित्रण भी इस सम्बन्ध में उदाहरण स्वरूप दिये जा सकते हैं, किंतु ये वैसे उल्लेखनीय नहीं कहे जा सकते। ऐसे स्थलों पर इन संत कवियों ने अधिकतर प्रचलित परम्पराओं का ही अनुसरण किया है। वहाँ पर इनकी अभिव्यक्ति में कोई विशेषता नहीं दीख पड़ती और न वैसे प्रसंगों को हम साधारणतः संत साहित्य का प्रमुख विषय ही ठहरा सकते हैं। इनके सौंदर्य बोध परक उत्कृष्ट उद्गार केवल वहीं उपलब्ध होते हैं जहाँ इन्होंने अपने को किसी 'अलख' तथा 'अगम' और 'अगोचर' कही जाने वाली अप्रत्यक्ष वस्तु का, अपने भीतर प्रत्यक्षीकरण करने वाला ठहराया है तथा जहाँ पर इन्होंने उस 'रहस्य' का वर्णन भी अपनी रहस्यमयी भाषा में किया है। सौंदर्य बोध का माध्यम यदि केवल चक्षुरिंद्रिय मानी जाय अथवा, सुन्दर स्वर, सुन्दर गंध जैसे कथनों के आधार पर उसके लिए श्रवणेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय जैसे बाह्य साधनों का भी उपयुक्त होना स्वीकार कर उसे केवल बाह्यानुभूति मात्र तक सीमित कर दिया जाय उस दशा में उसके विशिष्ट उदाहरणों

1. Evelyn Underhill : Mysticism (P. 332)

2. Evelyn : One Hundred poems of Kabir (Introduction P. xxiii)

का संत साहित्य के अंतर्गत पा लेना हमारे लिए कदाचित् कठिन हो सकता है परंतु यदि सुन्दर स्वभाव, सुन्दर कल्पना जैसी उक्तियों के सहारे, उनके क्षेत्र को और भी अधिक विस्तार दिया जाय तथा उसकी संभावना का अनुमान वहाँ भी कर लिया जाय जो साधारण अनुभव द्वारा गम्य नहीं तो, यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि संत साहित्य के भीतर उसके अच्छे से अच्छे उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल जायंगे। संतों द्वारा अनुभूत सौंदर्य नितांत अनुपम है। वह उनकी सम्पूर्ण चेतना का विषय है और उन्हें सर्वतोभावेन प्रभावित करता है। ये उसके प्रति अनन्य भाव से आकृष्ट होते हैं और सर्वथा वही तक बन जाते हैं। इनकी सारी वृत्तियों अथवा इनके 'स्व' तक के उसमें रमने लगने तथा इसके परिणाम स्वरूप उसके स्वयं भी इनमें रमने में ही उसके नाम 'राम' की भी पूरी सार्थकता है।

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

अन्तर्गत सभी कलाओं का समावेश नहीं किया जा सकता और प्रभाव ग्रहण की जिस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है वह केवल ऐसी कलाओं के लिये लागू हैं जिनमें जीवन के किसी अनुभव की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् जिनका सीधा सम्बन्ध मन की रागात्मक अवस्थाओं से है। सौन्दर्य-शास्त्र के पण्डितों ने दो प्रकार की भावनाओं में विभेद किया है। पहली वे जो रसात्मक होती हैं और दूसरी वे जिनका सम्बन्ध जीवन के व्यापक अनुभव से है। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि इस लेख की स्थापना केवल प्रथम कोटि की भावनाओं और उनसे सीधा सम्बन्ध रखने वाली संगीत आदि कलाओं से है; किन्तु ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीवन की वास्तविक अनुभूतियों का ग्रहण भी कला में एक विशिष्ट प्रकार से होता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त हैं; जिनमें कुछ कल्पना, कुछ अनुमान और कुछ अन्य उपकरणों को अधिक महत्व देते हैं। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि जीवन का यथार्थ अनुभव कला में छन कर बहुत-कुछ परिवर्तित हो जाता है और उसका बोध बहुत-कुछ प्रभाव रूप में ही होता है। इस दृष्टि से प्रभाव-ग्रहण की जिस पद्धति की ओर हमने ध्यान आकृष्ट किया है, उसकी व्यापकता के बारे में अधिक शंका नहीं होनी चाहिये।

"कला कला के लिए" एक ऐतिहासिक विवेचन

डा० सोमनाथ गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०

जीवन अनुभवों की प्रयोगशाला है। इसमें निरन्तर धारणायें बनती हैं, परिष्कृत होती हैं और बिगड़ती भी हैं। मानव का सदैव यह प्रयत्न रहा है कि अपने मानसिक उद्वेलनों और नित्य अथवा अनित्य विचारों को, यथाशक्ति, लिपि-बद्ध कर सके—चाहे ये सब व्यक्ति से सम्बन्धित हों अथवा समाज या राष्ट्र से। प्रत्येक विचार-धारा का प्रभाव उसके विस्तार की पृष्ठभूमि पर निर्भर रहता है।

इस प्रकार के विचारों को क्रमबद्ध करने के लिये प्राय: 'सूत्रों' अथवा 'नारों (Slogans) का आश्रय लिया जाता है और कालान्तर में यह नारे ही विचार-धारा का स्थान ग्रहण कर उसके प्रतीक बनते हैं। धर्म-सूत्रों और दर्शन-सूत्रों की तरह सौंदर्य-बोध-सूत्रों का भी विकास होता है। 'कला कला के लिए' एक ऐसा ही नारा है, जिसका सीधा सम्बन्ध सौंदर्य-भावना, रुचि-विकास और कल्पना-शक्ति से है। अतएव समस्त कलात्मक सृष्टि इस नारे की पृष्ठभूमि है और तत्संबंधी विचारधाराओं का विकास ही इसके महत्व, उपयोगिता और उद्गम् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक सामग्री है।

'कला कला के लिए' हिन्दी अथवा संस्कृत की विचारधाराओं से उद्भूत सिद्धान्त नहीं है। वास्तव में, यह अंगरेज़ी के शब्द-समूह 'Art for Art's sake' का अनुवाद है और स्वयं अङ्गरेजी की शब्दावली फ्रेंच भाषा के "L' Art pour L' Art" का रूपान्तर है। अतएव इसके वास्तविक अर्थ के इतिहास के लिए फ्रांस की विचार-पद्धति और उसके साहित्य को टटोलने की आवश्यकता है।

" यह निर्विवाद है कि पश्चिम की दार्शनिक विचार-पद्धति का मूल-स्रोत यूनान था, जहाँ से सभ्यता का केन्द्र इटली या रोम की ओर गया। रोम से वह जर्मनी पहुँचा और वहाँ से फ्रांस होता हुआ इङ्गलैंड में प्रविष्ट हुआ। इङ्गलैंड से भारत का सम्पर्क होने पर कुछ विचार वहां से भारतवर्ष आए और 'कला कला के लिए' का नारा भारत के साहित्य में विदेश की भेंट-स्वरूप ग्रहण कर लिया गया।

इस प्रकार अँगरेज़ी से हिन्दी में 'कला कला के लिए' वाली बात किस प्रकार आई, नितान्त स्पष्ट है। अँगरेज़ी वालों ने इसे फ्रांस से अपनाया जैसा कि फ्राँसीसी भाषा के रूपान्तर से स्पष्ट है। इङ्गलैंड में यह सिद्धान्त किसी मूल सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया गया। कला-विषयक अन्य नारों की तरह यह भी एक नारा था।

वास्तव में 'कला कला के लिए' ने सिद्धान्त रूप में सबसे अधिक जड़ फ्रांस में जमाई परन्तु इसके विकासकाल में प्रवेश करने से पहले इसके जर्मनीय उद्गम पर विचार करना आवश्यक है।

'कला कला के लिए' का सम्बन्ध जर्मनी की उस सौन्दर्य-परक विचारधारा से है, जो प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (सन् १७२४-१८०४ ई०) के विचारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होकर, हीगल (सन् १७७०-१८३१ ई०) तक जर्मनी में पलती और पोषित होती रही।

काण्ट ने अनुभव किया कि जीवन-साहित्य में एक ऐसे शब्द की आवश्यकता है जो प्रतिभा-सम्पन्नता, रुचि-वैचित्र्य और सुन्दरता-विषयक धारणाओं को एक सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्त कर सके। काण्ट के पूर्वज ए. जी. बॉमगार्टन (Baumgarten) (सन् १७१४-६२ ई०) ने सौंदर्य-दर्शन के अनुसन्धान में इसी विषय की पूर्ति के निमित्त 'Aesthetic' (सौंदर्यपूर्ण)

शब्द का प्रयोग किया था ।[1] प्रारम्भ में काण्ट इस शब्द से संतुष्ट नहीं थे, परन्तु अन्त में उन्होंने स्वयं इस शब्द का अनेकों बार प्रयोग किया और उन्हीं से यह शब्द समस्त योरुप में फैला । अपनी प्रसिद्ध रचना Critique of Judgement (रचना-काल सन् १७६०) में सौंदर्य-बोध की चर्चा करते हुए उन्होंने जो विचार प्रगट किए हैं वे इस प्रकार हैं—

"अपनी इन्द्रियों द्वारा हम अपने 'प्रिय' अथवा 'रुचिपूर्ण' पदार्थों की पहचान करते हैं, परन्तु 'सुन्दर' की खोज के लिए हमें सौन्दर्य-परक-निर्णय (Aesthetic Judgement) की आवश्यकता होती है । यह **निर्णय एक प्रकार का आनन्द है, जो कलात्मक अनुभूतियों के रूपों को देखकर प्राप्त होता है । इन रूपों का सृजक कोई प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही होता है, जो अपनी स्वतन्त्र कल्पना तथा अलिप्तता से उत्पन्न क्रिया द्वारा इनकी व्यवस्था करता है ।"**

काण्ट के इन विचारों में कला, उसके महत्व और उसकी उपयोगिता तथा कलाकार की अवस्था पर पर्याप्त संकेत हैं । इनसे स्पष्ट है कि कला का लक्ष्य आनन्द की उत्पत्ति करना है **और कलाकार का कर्त्तव्य निर्लिप्त रह कर अपनी प्रतिभा से सुन्दर रूपों का** निर्माण करना है । कला की सृष्टि जब अलिप्तता के कारण होती है तभी उसे काण्ट के शब्दों में 'उद्देश्यहीन लक्ष्य' (Purposiveness without purpose) कहा जाता है । काण्ट के युग की यह मान्यता थी कि लक्ष्य-सिद्ध होने से कला अर्थहीन हो जाती है, वह अपने स्तर से गिर जाती है और इस प्रकार अपने उदात्त संदेश से विमुख पड़ जाती है । इसके विपरीत प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार अस्त-व्यस्त सामग्री को भी ऐसा व्यवस्थित कर देता है कि अमूर्त्त भी मूर्त्त रूप धारण कर लेता है । इसी मूर्त्त एवं अमूर्त्त के आधार पर काण्ट ने कला का वर्गीकरण 'ललित' एवं 'उपयोगी' नाम से किया है ।

सौंदर्य के विषय में काण्ट का कहना है कि **शुद्ध सौन्दर्य से न तो सत्य का काम चलता है और न आचार अथवा नैतिकता का । सौन्दर्य न तो संवेग (Emotion) है और न रुचि-परक संवेदन** (Sensation) । वह सौन्दर्य-बोध निर्णय की एक स्वतन्त्र क्रिया है—इससे न कुछ अधिक है और न कुछ कम । शुद्ध सौन्दर्य केवल शिष्टाचारगत् (formal) है । पदार्थ स्वयं न सुन्दर होता है और न असुन्दर । इन्द्रियाँ सौंदर्य का आरोपण करती हैं और इस आरोपण का आधार व्यक्ति या समष्टि की सौन्दर्य-भावना रहती है ।

काण्ट ने कला के केवल आनन्द गुण को ही स्वीकार किया है, उसे उपदेशात्मक मानने के लिए वह प्रस्तुत नहीं है । उसका मत है कि जो सुन्दर है वह उदार और उदात्त है और जो उदात्त है उसका उद्भव नैतिकता को स्वयं जन्म देगा, परन्तु यदि कला का लक्ष्य उपदेशात्मक होने लगेगा तो उसके द्वारा उत्पन्न आघात चिन्ह (Impressions) **स्वतः ही नष्ट हो जायँगे,** क्योंकि जब कलाकार का ध्यान उसके एक निश्चित उद्देश्य पर केन्द्रित हो जायगा तो कल्पना में गतिरोध उत्पन्न होगा और कला अपनी लक्ष्य-सिद्धि से गिर जायगी । मनुष्य की आत्मा में केवल अनुकृति ही नहीं है । उसमें कुछ ऐसी आन्तरिक भावनाएं भी हैं जो वास्तविक पदार्थों के दर्शन से तृप्त नहीं हो पातीं । कलाकार इन्हीं भावनाओं को, अपनी कल्पना द्वारा, अमूर्त्त से मूर्त्त बनाता है । उसकी तृप्ति भी इसी सृजन से होती है । काण्ट के इस विवेचन से सिद्ध होता है कि वह कला को सौन्दर्य-बोध का परिणाम मानता था और उसका उद्देश्य कोई नैतिक उपदेश न मानकर आनन्द प्रदान करना समझता था ।

ऐसा प्रतीत होता है कि रोम के कैथलिक गिरजाघरों (Catholic churches) **से जो ईसाईयत का प्रचार हुआ, उसके कारण कला को धर्म के प्रचार-हेतु ही स्वीकार किया गया ।** यूनान के कलाकारों ने अपनी

1—Shipley, Dictionary of world Literature. Page 8

मूर्तियों को जिस रूप में ढाला, वे अधिकांश में आदर्श-स्वस्थ मानव की प्रतिमूर्ति के प्रतीक हैं। रोम के कलाकारों ने गिरजाघरों अथवा अन्य स्थानों पर जो मूर्ति-कला के सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाए, उनमें महात्मा ईसा, कुमारी मैरी और ईसा के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं के ही चित्र हैं। माइकेल एंजोलो, राफ़ल आदि की कला इसी ओर अग्रसर हुई। **सम्भवतः धर्म के प्रचार में जो कला का इतना उपयोग हुआ उसी की प्रतिक्रिया के रूप में 'कला धर्म के लिए' न होकर 'कला कला के लिए' हो गई।** कला का उद्देश्य आनन्द मान लेने के कारण कांट के विचारों ने इस भाव को अधिक प्रश्रय दिया और यद्यपि कांट ने स्वयं इस शब्द-समूह का प्रयोग नहीं किया; परन्तु नारे के अभाव में भी उसका अर्थ यही स्वीकार हुआ।

कांट और हीगल की सौंदर्य-विषयक विचारधारा का प्रभाव सन् १८१४ तक चलता रहा। उसके पश्चात् कला और सौन्दर्य के सम्बन्ध में नई धारणाओं का भी प्रवेश हुआ। **फ्रांस के विक्टर कोज़ीन** (Victor Cousin) इन नए विचारों के प्रवर्तक थे। उनके विचार में—

"**सौन्दर्य एक पूर्ण अस्तित्व** (An absolute idea) **है। वह अपूर्ण प्रकृति का न अनुकरण है और न अंश है। जो कुछ रुचिकर है वह व्यक्तिगत संवेदना का परिणाम है, परन्तु 'सुन्दर' सर्वजनीन निर्णय है।** अतएव कला के दो पक्ष हैं—**इन्द्रियों को आनन्द देना और आदर्श की आवश्यकता की पूर्ति करना।** जहाँ तक संवेदना और निर्णय दोनों का सम्बन्ध है, ये दोनों सौंदर्य के तत्त्व हैं। **सौन्दर्य की भावना एक नितान्त उदासीनता की भावना है।** सौन्दर्य स्वयं कोई उपयोगी पदार्थ नहीं और सच्चा कलाकार दर्शक की सौन्दर्य-विषयक शुद्ध भावना को उत्तेजित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। किसी वस्तु में वास्तविकता का भ्रम हो जाना सौन्दर्य की भावना नहीं है। कला धर्म अथवा आचार के लिए सीमित नहीं है, वह रुचिकर और उपयोगी होने के लिए भी उसी प्रकार सीमित नहीं है क्योंकि कला कोई साधन नहीं है, वह स्वयं साध्य है।[1]

"इन्द्रियाघातों के समय स्वतः विकसित होने वाले तर्क तथा शुद्ध प्रेम के लिए कलाकार अपनी कल्पना का प्रयोग करता है। तात्विक सौन्दर्य (Metaphysical beauty) सत्य और शुभ को, यद्यपि वे पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं, एक सूत्र में बाँधता है। सत्य जब मानवी कृत्यों के रूप में प्रकट होता है तब शुभ बनता है और जब इन्द्रियजनित रूपों में प्रकट होता है तो सौन्दर्य होता है।" (अतएव शुभ और सुन्दर सत्य की ही दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।) आगे चलकर कोज़ीन पुनः कहता है—

"जीवन में विभिन्नता का कारण इन्द्रियानुभूति है—तर्क द्वारा एकत्व को ग्रहण करने में कल्पना सहायता प्रदान करती है और तभी मानवी विवेक शान्ति एवं एकता का अनुभव करता है। परमात्मा के तीन रूप हैं—सत्य, सुन्दर और शुभ। और ये तीनों मानव द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं।"

"रुचि और प्रतिभा में एक अन्तर है—रुचि प्राकृतिक सौन्दर्य (स्वाभाविक) की सराहना है और प्रतिभावान आदर्श-सौन्दर्य का सृजक। रुचि निष्क्रिय शक्ति है और प्रतिभा सक्रिय व स्वतन्त्र शक्ति है। कलायें भिन्न लक्ष्यगामी नहीं, केवल उनके साधनों में अन्तर है। सभी कलाओं में आँख और कान का प्रयोग अवश्यम्भावी है यद्यपि प्रत्येक की अभिव्यक्ति के प्रतीक पृथक्-पृथक् हैं।"

इस प्रकार कला, सौन्दर्य और रुचि की मूल धारणाओं में कुछ अन्तर आया। काण्ट और कोज़ीन के युग का भेद ऊपर के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है। परन्तु अभी तक का 'कला कला के लिए' वाला नारा अधिक प्रयोग में नहीं आया। सन् १८२६ में जाफ़्रे (Jouffroy) ने इस शब्द-समूह को कलाओं में लागू

---

1. Il faut de la religion pour la religion, de la morale pour la morale comme de l' art pour l' art.

किया और सन् १८३२ में इसका प्रयोग गातियेर (Gautier) एवं फ़ोरटोल (Fortoul) की रचनाओं में अधिकता से मिलने लगा।

१९ वीं शताब्दी के इस भाग में फ्रांस की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा के कारण जीवन और उसकी व्यवस्था विषयक अनेक नए शब्दों का प्रयोग साहित्य में होने लग गया था। Bohemianism और Romanticism ऐसी ही विचारधारायें थीं। और 'कला कला के लिए' का गठबन्धन इन्हीं दोनों विचारधाराओं के साथ हुआ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि शुद्ध कला की सामाजिक उपयोगिता क्या है ? समाज में कुछ विचारक यह कहने लगे कि यदि सृजन का लक्ष्य केवल सृजन है तो यह भयानक अहङ्कार है। यह प्रतिक्रिया उसके विरोध में थी जो मानते थे कि कविता स्वयं पूर्ण और स्वतन्त्र है, उसका इसके अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य नहीं ; उसका क़ानून उसके द्वारा प्रदत्त आनन्द है और उसका एकमात्र लक्ष्य कल्पना को जीवन में साकार देखना है। गस्ताव प्लांशे (Gustave Planche) ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

"'कला के लिए कला' वाले सूत्र में केवल भ्रूणता है, अनुत्पादकता और क्लीवत्व है ; कला का वास्तविक मूल्य तभी है जब वह भावना का परिष्कार करती है और मानव की नैतिकता को उच्च बनाती है।"[1]

अतएव 'कला कला के लिए' का अभिप्राय 'रूप, रूप के लिए' नहीं है वरन् 'रूप, सौन्दर्य के लिए' है। इसके अतिरिक्त इसके सभी अभिप्राय: मूल भावना के विपरीत हैं।

उपसंहार

सन् १८०४ में 'कला कला के लिए' का प्रयोग निर्लिप्तता की सौन्दर्यपरक धारणा के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जाता था, जिसका अभिप्राय काण्ट के शब्दों में, 'लक्ष्यहीन लक्ष्य' (Purposiveness without purpose) था। सन् १८१५ में बोर्बान (Bourbon) वंशी राजाओं के पुनरागमन पर काण्ट की सौन्दर्यपरक विचारधारायें पेरिस में आईं। नए-नए नारों (Rubrics) के द्वारा ये विचार पेरिस में नए सौन्दर्य-सिद्धान्तों के रूप में विकसित हुए और 'कला कला के लिए' एक नारा भी बना तथा एक आन्दोलन का केन्द्रीभूत सिद्धान्त भी। सन् १८२०—३० तक दो पत्र 'Globe' और 'Revue de Paris' इस आंदोलन के मुख्य साधन रहे। सन् १८३३-३४ में सेंत ब्यूव (Sainte-Beuve) तथा उनके कुछ मित्रों ने यह विचार प्रकट किए कि 'ग्लोब' और उसके अधिकारी सभी 'कला कला के लिए' सम्प्रदाय के अनुयायी थे। फिर यह विचारधारा Bohemianism तथा Romanticism में भी मिल गई, यद्यपि इसका अस्तित्व पृथक् रहा।

१९ वीं शताब्दी के मध्य में यह सिद्धान्त अपने पूर्णत्व को पहुँचा और अनेकों सृजक कलाकारों का बुनियादी सौन्दर्य-बोध-जन्य सिद्धान्त बना रहा। परन्तु जिस काण्टीय विचारधारा से इसका श्रीगणेश हुआ था वह इससे पृथक् हो गई और गातियेर (Gautier) एवं बाउदेलेयेर (Baudelaire) के विचारों से ओत-प्रोत होकर यह चलती रही। काण्ट एक प्रकार से बिचौलिए रह गए।

अपना यह इतिहास लेकर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त अङ्गरेज़ी साहित्य में आया और अपने साथ यहाँ आकर इसने अनेकों नारों को जन्म दिया। उदाहरणार्थ—

'Art for Life's sake'

(कला, जीवन के लिए)

(शेष पृष्ठ ५० पर)

---

1. "In the formula of L' art pour L' art which some artists have tried to make prevail, there is only miscarriage, sterility and impotence; works of art have real value only when they appeal to the feeling, that is to say, to the moral part of man."

कला और सौन्दर्य

श्री रामानन्द तिवारी

भारतीय काव्य-शास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र दोनों में कला और काव्य के सौन्दर्य और आनन्द का विवेचन व्यक्ति को उनका आश्रय मानकर किया गया है। दोनों की दृष्टि में कला और काव्य व्यक्तिगत अध्यवसाय हैं तथा व्यक्ति के आश्रय में ही उनके सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति होती है। हमारे मत में समात्मभाव मानवीय और सांस्कृतिक जीवन की मौलिक स्थिति है। समात्मभाव व्यक्तित्व के अनिश्चित बिन्दुओं का आत्मीयता और परस्पर भावसम्प्रेषण का चिन्मय भाव है। दम्पति और सुहृदों के सम्बन्ध में यह भाव हमारे व्यवहार में चरितार्थ होता है। अन्य सामाजिक सम्बन्धों में भी इसका विस्तार सम्भव है। समात्मभाव वेदान्त के निर्विकल्प कैवल्य तथा मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद दोनों से भिन्न है। यह वेदान्त की जीवन मुक्ति के अधिक निकट है जिसमें कैवल्य और व्यक्तिवाद दोनों का सामंजस्य है। कैवल्य अनुभव की एक असाधारण और अनिर्वचनीय स्थिति है। वह समात्मभाव का तात्विक आधार हो सकती है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद भी जीवन और व्यवहार का यथार्थ है। हमारा अनुरोध केवल इतना ही है कि व्यक्तित्व के एकान्त की स्थिति में कलात्मक सौन्दर्य और आनन्द का उदय नहीं होता। व्यक्तित्वों की अनेकता में समात्मभाव उत्पन्न होने पर ही सौन्दर्य और आनन्द का स्फोट होता है। यदि वेदान्त के अनन्त ब्रह्म को इस आनन्द का मूल स्रोत माना जाय तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। भेद और अभेद की कठिनाइयाँ हमारी दृष्टि में बुद्धि की समस्यायें हैं। वास्तविक जीवन में भेद और अभेद दोनों का सहज सामंजस्य है। जहां इनमें विषमता है वहां सौन्दर्य और आनन्द का उदय सम्भव नहीं है। समात्मभाव की स्थिति में अभेद का अनुभव सौन्दर्य और आनन्द को सम्भव बनाता है तथा भेद की यथार्थता उसे समृद्ध बनाती है।

यह समात्मभाव जीवन की कोई असाधारण स्थिति नहीं है। इसकी पूर्णता चाहे दुर्लभ हो किन्तु इसका आंशिक भाव जीवन में अत्यन्त साधारण और सुलभ है। इस अंश के अनुरूप ही जीवन का सौन्दर्य और आनन्द होता है। इस दृष्टि से कला और काव्य जीवन की असाधारण स्थितियों की अभिव्यक्ति नहीं है, जैसा कि प्रायः माना जाता है। क्रोचे ने कला को आदिम वृत्ति के रूप में साधारण बनाया किन्तु दूसरी ओर एक असाधारण और आत्मगत अनुभूति में उसकी पूर्णता मानकर उसे असाधारण और व्यक्तिगत बना दिया। क्रोचे की कलात्मक अनुभूति व्यक्तिगत और निर्विकल्प है। व्याघात के अतिरिक्त इस मत के अनुसार जगत के बाह्य पदार्थ और कला की बाह्य अभिव्यक्तियों का कोई महत्व नहीं है। हमारे मत में समात्मभाव जीवन की एक साधारण स्थिति ही नहीं है वरन् बाह्य निमित्तों की स्थिति तथा बाह्य माध्यमों में अभिव्यक्ति के साथ पूर्णतः संगत है। संगत ही नहीं ये निमित्त और माध्यम उसे अधिक सम्पन्न बनाते हैं तथा इन्हीं के द्वारा जीवन और कला का सौन्दर्य व्यवहार में साकार होता है। कलाकृतियों का महत्व प्रमाणित करने के साथ-साथ समात्मभाव का सिद्धान्त काव्य-शास्त्र की अनेक जटिल समस्याओं का अधिक संगत समाधान प्रस्तुत करता है। भारतीय लोक-संस्कृति की अवस्था में कलात्मक सौन्दर्य के साथ जीवन का जो समीकरण मिलता है वह समात्मभाव के ही अनुरूप है। प्रतिभा की कला कृतियां लोक-संस्कृति के सौन्दर्य

सागर में समात्मभाव की पूर्णिमा में उठने वाले आनन्द के ज्वार हैं।

चेतनाओं के सामंजस्य और परस्पर सम्प्रेषण के जिस भाव को हमने कला और काव्य का मूल स्रोत माना है उसे अनुभूति, सहानुभूति, समानुभूति आदि के प्रसिद्ध सिद्धान्तों से भेद करने के लिये हमने समात्मभाव को संभूति कहा है। यह समात्मभाव जीवन का एक व्यापक भाव है। यह सौन्दर्य का आदि स्रोत ही नहीं शिवम् का भी मूल है और इसे हम जीवन का सांस्कृतिक सत्य भी कह सकते हैं। सत्य के इस व्यापक रूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। किन्तु व्यवहार और साहित्य में हम उन्हें पृथक भी मानते हैं। ऐसी स्थिति में इनके विभक्त रूपों का निरूपण अपेक्षित है। वाह्य सत्ता, प्राकृतिक नियमों और बौद्धिक सिद्धान्तों के अर्थ में सत्य एक स्वतंत्र और उदासीन तत्त्व है। सत्य की अवगति चेतना में उसका उदासीन ग्रहण है। यह उदासीन भाव-दर्शन और विज्ञान का तटस्थ दृष्टिकोण है। उस उदासीन अवगति में भी ज्ञान का आलोक हमारी आत्मा में प्रकाशित होता है। वस्तुगत सत्यों के अनुसन्धान में यह उदासीनता सम्भव है और वांछनीय भी है। किन्तु जीवन के तत्त्वों के अनुसन्धान में अवगति का आलोक अभिव्यक्ति का आह्लाद बन जाता है। हम अपनी भाव-सम्पत्ति में भाग लेने के लिये दूसरों का आमंत्रण करते हैं। इसी आमंत्रण में सौन्दर्य का उदय होता है। सौन्दर्य व्यक्ति की एकांत अनुभूति में उदय नहीं होता। एकांत में भी हम वस्तुओं, जीवों और अनुपस्थित व्यक्तियों के साथ बन्धुभाव की स्थापना करते हैं। काव्य में यह भावना ओतप्रोत है। इस समात्मभाव में ही जीवन की आकूतियों की व्यंजना होती है, जिसे सामान्यतः अभिव्यक्ति कह सकते हैं। विज्ञान और दर्शन में अवगति का अर्थ-तत्त्व अभिव्यक्ति के समान होता है। अर्थ और अभिप्राय की सममेयता अभिधा का क्षेत्र है। आकूति अर्थ का अनिर्वचनीय अतिशय है, जिसकी अभिव्यक्ति समात्मभाव की स्थिति में होती है। समात्मभाव की स्थिति में आकूति की व्यंजना कला और काव्य के सौन्दर्य का मूल स्रोत है।

इस दृष्टि से समात्मभाव का सिद्धान्त भारतीय रस-सिद्धान्त से भी पूर्णतः सहमत नहीं है। समात्मभाव के अनुसार रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि की विषमता मूलक स्थितियों में सौन्दर्य और रस की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि वास्तविक मनोविकार हैं किन्तु विषमता-मूलक होने के कारण वे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल नहीं हैं। काव्य साहित्य में इन रसों के वर्णन की अल्पता इस धारणा का समर्थन करती है कि ये सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल नहीं हैं। जिस समात्मभाव की स्थिति में सौन्दर्य का उदय होता है उसमें यह भाव विलीन हो जाते हैं। समात्मभाव के अनुरूप हम दूसरों के भाव में भाग लेते हैं। अतः समात्मभाव का सिद्धान्त साधारणीकरण आदि की पहेलियों से भी बच जाता है। वस्तुतः समात्मभाव ही मानवीय जीवन और संस्कृति का मौलिक सत्य है। जीवन का अर्थ न व्यक्तित्व की कठोर सीमा में निहित है और न किसी निरपेक्ष भाव में। व्यक्तित्व के विलय में जीवन अकल्पनीय है। किन्तु कठोर इकाई के रूप में व्यक्तित्व केवल एक प्राकृतिक तथ्य और बौद्धिक प्रत्याहार है। समात्मभाव के सुन्दरम् और शिवम् के द्वारा ही व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है। तथा समात्मभाव में ही व्यक्तित्व की समृद्धि और उसकी सफलता है। यह समात्मभाव दर्शन का कोई गूढ़ सिद्धान्त नहीं, जीवन का एक सरल सत्य है। हम एक दूसरे के भावों में भाग लेते हैं यह जीवन का एक सरल किन्तु सुन्दर और शिव सत्य है। इसी सत्य को साकार बनाकर भारतीय संस्कृति के उत्सव और पर्व श्रेय और सौन्दर्य के तीर्थ बनते हैं।

सौन्दर्य का प्रयोग अनेक स्थितियों और धरातलों में होता है। सम्भवतः सौन्दर्य का कोई सामान्य रूप हो किन्तु इन स्थितियों में और धरातलों में अभिव्यक्त होने होने वाले सौन्दर्य के रूपों में जो भेद किया जाता है

उसका आधार क्या है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। हम प्रकृति के दृश्यों को देखते हैं और उनमें सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। यह सौन्दर्य के अनुभव का एक धरातल है। यदि प्रकृति का यह सौन्दर्य-दर्शन एकान्त में सम्भव हो जैसा कि कुछ लोगों का मत है, तो जब हम प्रकृति के सौंदर्य से प्रभावित होकर दूसरों को अपने इस अनुभव में भाग लेने के लिए आमंत्रित करते हैं, यह सौंदर्य की दूसरी स्थिति है जो पहली स्थिति से भिन्न है। ये दोनों स्थितियाँ सौंदर्य के दर्शन से सम्बन्ध रखती हैं। एक तीसरी स्थिति सौंदर्य का सृजन है, जिसमें कुछ लोग अनुकृति का तथा दूसरे कृति का गौरव देखते हैं। सौन्दर्य के सृजन में कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय है और वह सौंदर्य के उन रूपों की रचना करती है जिनके दर्शन में पहिले उस सौंदर्य का अनुभव हुआ था। सौन्दर्य का सृजन पूर्णत: दर्शन पर आश्रित नहीं है। सृजन के कुछ मौलिक रूप भी हैं जिनमें दर्शन का आधार अल्प अथवा नगण्य है और कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय होती है। सौंदर्य का यह सृजनात्मक रूप प्राय: कला कहलाता है। प्राकृतिक सौंदर्य के दर्शन की भाँति कला के सौंदर्य का दर्शन और अनुभावन सौंदर्य की एक भिन्न स्थिति है। प्राकृतिक सौंदर्य में भाग लेने के आमन्त्रण की भांति कलात्मक सौंदर्य के अनुभावन में भाग लेने के लिए भी हम प्राय: दूसरों को आमंत्रित करते हैं। सौन्दर्य के एकान्त और सामूहिक अनुभावन भिन्न होंगे, यदि इन दोनों स्थितियों में कोई मौलिक और मनोवैज्ञानिक भेद है। सौन्दर्य के इस दर्शन, सृजन और विभाजन के अतिरिक्त उसका एक रूप प्रदर्शन भी है। यह प्रदर्शन एक का प्रदर्शन और दूसरे का दर्शन है। किन्तु प्रदर्शन और दर्शन की स्थिति एक दूसरे से भिन्न है। दर्शन का कर्ता सौंदर्य को केवल एक अनुभावन की वस्तु मानता है, वह उसके प्रति किसी अधिकार का अनुभव नहीं करता। प्रदर्शन का कर्त्ता सौन्दर्य को अपना अधिकार और अपनी विभूति मानता है। सुन्दरी स्त्रियों के रूप-दर्प और उनकी शृङ्गार-सज्जा में यह प्रदर्शन का सौंदर्य प्राय: देखा जाता है। इस प्रदर्शन के सौंदर्य में कला की सृजनात्मक वृत्ति भी अन्तर्निहित है। संगीत, नृत्य और नाटक में सृजन का प्रदर्शन के साथ संयोग अधिक स्पष्ट है। ये तीनों ही कला के रूप हैं। इनमें सृजन का सौंदर्य स्पष्ट है। कोई आत्मलीन कलाकार एकान्त में भी नर्तन और गायन करते हैं, किन्तु प्रदर्शन इन कलाओं का एक महत्वपूर्ण अङ्ग बन गया है। इन कलाओं में सृजन और प्रदर्शन की क्रिया एक साथ होती है अत: प्रदर्शन इनके स्वरूप का अङ्ग प्रतीत होता है। चित्र और मूर्ति कला में भी प्रदर्शन होता है। आधुनिक कलाकारों की कृतियाँ की प्रदर्शनियाँ होती हैं किन्तु इन कलाओं का सृजन और प्रदर्शन पृथक् पृथक् क्रियायें हैं जो भिन्न-भिन्न कालों में होती हैं। सौंदर्य के सृजन, प्रदर्शन और अनुभावन की ये स्थितियाँ जीवन और अनुभव की कुछ असाधारण अवस्थायें हैं जिनमें हम अपने सामान्य जीवन और व्यवहार की तुलना में कुछ विशेषता और नवीनता का अनुभव करते हैं। इन असाधारण स्थितियों के अतिरिक्त लघुतर और उपयोगी कलाओं का सौंदर्य के रूप में विशेष योग है। निकटता और निरन्तर परिचय के कारण सौंदर्य के इस रूप में हमें नवीनता का अनुभव कम होता है। इसका अभिप्राय यही है कि इस सौंदर्य का भाव हमारे जीवन और व्यवहार में मिलकर उनके साथ एक हो जाता है, अत: वह जीवन और व्यवहार के समान ही साधारण बन जाता है। सौन्दर्य के इस रूप में दर्शन, सृजन और प्रदर्शन पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं, किन्तु सामान्यत: इसमें इन तीनों का संगम रहता है। इसका कारण हमारे जीवन और व्यवहार की सामाजिक स्थिति है। इस सामाजिक स्थिति में दर्शन कलाकार के चिंतन के समान एकाकी नहीं होता। इसके सृजन में भी सहयोग रहता है और प्रदर्शन तो स्वरूप से ही सौंदर्य की सामाजिक स्थिति है। इस सामाजिक स्थिति में सौन्दर्य एकांत अनुभव अथवा सृजन की वस्तु नहीं है—वरन् वह सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति, सहयोग की कृति और साहचर्य का आनंद है।

सौंदर्य की इन सभी स्थितियों में हम किसी न किसी रूप में सौंदर्य का अनुभव और प्रयोग करते हैं। प्रश्न

यह है कि क्या सौंदर्य का कोई ऐसा सामान्य स्वरूप है जो इन सब स्थितियों और रूपों में व्याप्त हो। सौंदर्य के इस सामान्य स्वरूप की इन विशेष रूपों के साथ क्या संगति है, यह भी विचारणीय है। प्रायः इन प्रश्नों के समाधान में इन अनेक स्थितियों की रूपगत विशेषताओं की अवहेलना की जाती है। सौंदर्य की असाधारण स्थिति को जीवन और व्यवहार के सामान्य भाव के साथ संगति इन समाधानों में दुर्लभ ही है। ग्रीक युग में कुछ विचारक सौंदर्य को बाह्य और वास्तविक मानकर उसके वस्तुगत गुणों का अन्वेषण करते रहे। आधुनिक युग में फैकनर ने सौंदर्य के इसी वस्तुगत रूप के निर्धारण का अभिनव प्रयत्न किया है। किन्तु आधुनिक युग में सौंदर्य के आत्मगत रूप की धारणा अधिक प्रबल रही है। योरुप के आधुनिक दर्शन के आरम्भ से ही उदय होकर यह धारणा क्रोचे के अनुभूतिवाद में (जिसे अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है) पर्यवसित हुई है। सौंदर्य की अर्वाचीन धारणाओं को क्रोचे ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। क्रोचे का कार्य सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास में एक क्रांति समझा जाता है। जिस प्रकार हीगल के आध्यात्मवाद से प्रभावित अभिनव आध्यात्मवाद इङ्गलैंड का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक आंदोलन था उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद से प्रभावित सौंदर्य-शास्त्र की मान्यता भी वहाँ पल्लवित हुई। हीगल के आध्यात्मवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालों में ब्रेडले और बीसानक्वेट का नाम उल्लेखनीय है, उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालों में कालिंगवुड कैरिट अग्रगण्य हैं।

वस्तुवादी और अनुभूतिवादी दोनों ही धारायें एकांगी प्रतीत होती हैं। एक सौंदर्य को वस्तुओं का गुण मानकर उसके अनुभावन और सृजन में चेतना की सक्रियता और सृजनात्मकता के मूल्य का तिरस्कार करती है। वस्तुगत सौंदर्य केवल ग्रहण का सौंदर्य है। मनुष्य की चेतना केवल उसकी दृष्टा है, सौंदर्य के निर्माण में कोई सक्रिय सहयोग नहीं है। सौंदर्य की वस्तुवादी धारणा में कठिनाई यह है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुंदर और असुंदर अथवा कम सुन्दर प्रतीत होती है। सौंदर्य की धारणा में जो परिवर्तन होता है उसकी व्याख्या क्या हो सकती है, यदि वस्तु के रूप और गुण यथावत रहते हों। जो वस्तु कुछ लोगों को असुन्दर प्रतीत होती है वह दूसरों को कैसे सुन्दर लगती है? यदि सौंदर्य पूर्णतः पराधीन और विशेषता का भाव है तो हमें उसमें स्वतंत्रता के आनंद का अनुभव कैसे होता है? दूसरी ओर अनुभूतिवादी व्याख्याओं की कठिनाई यह है कि जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है अनुभूति प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य का अनुभावन सम्भव बना देती है। इस प्रकार सुन्दर और असुन्दर अथवा कम और अधिक सुन्दर का भेद भी मिट जाता है। ये भेद हमारे साधारण अनुभव की वास्तविकतायें हैं अतः इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचे के अनुभूतिवाद में आन्तरिक अभिव्यक्ति में ही सौंदर्य का स्वरूप पूर्ण हो जाता है। अतः बाह्य माध्यमों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक गौण उपचार हो जाती है। इतना ही नहीं यह बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति के साथ संगत भी नहीं है। आत्मगत अनुभूति का अनुवाद बाह्य उपकरणों में सम्भव नहीं है अतः ये बाह्य अभिव्यक्तियाँ सौंदर्य की आन्तरिक भावना को व्यक्त करने के स्थान पर उसे खण्डित करती हैं। बाह्य अभिव्यक्तियों के समान ही साधारण जीवन में सौंदर्य का व्यवहार भ सङ्गत हो जाता है। इस प्रकार सौंदर्य एक असाधारण आत्मगत अनुभूति है जो कला की बाह्य अभिव्यक्तियों और जीवन के सौंदर्य-व्यवहार की व्याख्या नहीं करतीं।

अतः यह विचारणीय है कि सौन्दर्य की विभिन्न स्थितियों में सौंदर्य का रूप क्या है तथा सौंदर्य का ऐसा सामान्य स्वरूप क्या है जो सौंदर्य की सभी स्थितियों और उसके सभी व्यवहारों की सन्तोषजनक व्याख्या कर सके। यदि सौंदर्य की वस्तुवादी और अनुभूतिवादी दोनों ही व्याख्यायें संतोषजनक नहीं हैं तो यह सम्भव है कि इन दोनों धारणाओं का समन्वय सौंदर्य की कोई सन्तोषजनक व्याख्या बन सके। यह समन्वय कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं है। इसका कारण यह

है कि सम्भवत: यह समन्वय ही हमारे जीवन की स्थिति और उसके व्यवहार का आधार है। इस समन्वय का सूत्र हमारे जीवन की सामाजिक स्थिति में है। यह स्पष्ट है कि इस समन्वय का रूप व्यापक होगा। इसके स्वरूप को सामंजस्य कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि इसकी व्यापकता में आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति से लेकर सौंदर्य की वाह्य अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक व्यवहार तक का समाहार करना होगा। इस समाहार में संगति और सामंजस्य का सूत्र उक्त समन्वय का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग होगा। इस समन्वय की धारणा को हमने समात्मभाव की सम्भूति कहा है। इस समन्वय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि सौंदर्य की अन्य व्याख्यायें एकाँगी हैं और वे सौंदर्य की समस्त स्थितियों की व्याख्या नहीं करतीं। वस्तुवादी व्याख्याओं में चेतना की सक्रिय और सृजनात्मक वृत्ति का पर्याप्त महत्व नहीं है। वे इसका समाधान नहीं करतीं कि सामान्यत: जो वस्तुयें असुन्दर प्रतीत होती हैं वे किसी भाव-स्थिति में सुन्दर कैसे प्रतीत होने लगती हैं? अनुभूतिवादी व्याख्यायें सौंदर्य की बाह्य अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक स्थितियों को पर्याप्त महत्व नहीं देतीं। बाह्य अभिव्यक्ति कितनी महत्वपूर्ण है यह इसी से स्पष्ट है कि सभी कलाकारों ने अपनी अनुभूति को बाह्य आकार दिया। दूसरे यह बाह्य अभिव्यक्ति ही सौंदर्य के सामाजिक महत्व का माध्यम है। व्यक्तिगत अनुभूति होते हुये भी सौंदर्य केवल व्यक्तिगत नहीं है। जीवन की सामाजिक स्थितियों में सौंदर्य का अनुष्ठान सदा महत्वपूर्ण रहा है। व्यक्तिनिष्ठता सौंदर्य का स्वभाव है, किंतु स्वरूप नहीं। व्यक्ति के केन्द्र में उदय होकर सामाजिक समात्मभाव के क्षितिजों पर उसका विस्तार होता है। इसी समात्मवाद में उसकी आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्तियाँ स्पष्ट तथा साकार होती हैं। अनुभूति की समात्मभाव में संगति होने पर ही सौंदर्य के संगम की अन्य संगतियाँ सम्भव हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त उक्त दोनों एकाँगी मतों में सौंदर्य को एक असाधारण स्थिति माना जाता है। एक मत में इस असाधारणता के आधार वस्तुओं के गुण हैं, दूसरे मत में इसका आधार एक दुर्लभ आत्मगत स्थिति है। अनुभूतिवादी मत सिद्धांतत: सौंदर्य की भावना को सर्वदा और सर्वत्र सम्भव मानता है। इस दृष्टि से उसकी सौंदर्य-भावना व्यापक है। वस्तुवादी मत में इस प्रकार की व्यापकता सम्भव नहीं है। वस्तुनिष्ठ सौंदर्य वस्तुगत गुणों पर आश्रित होने के कारण परतंत्र है। अत: वह जीवन की सभी स्थितियों में सम्भव नहीं हो सकता। सुन्दर और असुन्दर का भेद वस्तुवादी मत में अनिवार्य और कठोर है। इस भेद की कठोरता सामान्य जीवन में सौंदर्य के उदार और व्यापक व्यवहार के साथ संगत नहीं है। अनुभूतिवादी मत में सौंदर्य वस्तु-निरपेक्ष होने के कारण सर्वदा और सर्वत्र सम्भव है किंतु अनुभूति का जो स्वरूप उसे सम्भव बनाता है वह अत्यंत दुर्लभ है। न्याय दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की भाँति क्रोचे कलात्मक अनुभूति के निर्विकल्पक रूप को समस्त अनुभवों में साधारण और व्याप्त मानते हैं। किंतु ऐसी निर्विकल्पक अनुभूति का साक्षात्कार कठिन है। अनुमान पर अनुभूति को आश्रित करना न्याय की प्रमाण विधि के विपरीत है। यदि यह निर्विकल्पक अनुभूति सम्भव भी हो तो यह नि:संदेह अल्पस्थायी है। सम्भवत: कलाकारों को यह स्थिति अधिक काल के लिये प्राप्त होती हो। कालविधि के अतिरिक्त एक दूसरा प्रश्न अभिव्यक्ति के बाह्य माध्यमों और बाह्य व्यवहार की अनेकरूपता के साथ इसकी संगति का प्रश्न है। अनुभूतिवादी इस संगति को नहीं मानते। इसीलिये कलाकृतियों की बाह्य अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि में गौण है। प्रश्न यह है कि यदि यह संगति सम्भव नहीं है तो कलाकार इतनी तत्परता के साथ अपनी सौंदर्यानुभूति को बाह्य माध्यम में अभिव्यक्त करने की साधना क्यों करता है? सत्य यह है कि सामाजिक समात्मभाव में ही सौंदर्य की कल्पना पूर्ण होती है। वस्तुत: उसी में उसका आरम्भिक उदय भी होता है। कलाकार की आन्तरिक सौंदर्यानुभूति भी काल्पनिक समात्मभाव के रूप में होती है।

निर्विकल्पक अनुभूति के विपरीत यह समात्मभाव वाह्यता और अनेकता के अंतर्गत ही सम्भव होता है। अत: वाह्य माध्यमों में इसकी अभिव्यक्ति तथा सामाजिक जीवन में इसका व्यवहार इसके स्वरूप के साथ पूर्णत: संगत है।

कलाकार को कुछ विशेषता का गौरव देते हुए भी यह नहीं माना जा सकता कि कलाकार की सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य के लोक-सुलभ व्यवहार में कोई मौलिक भेद है। स्वयं क्रोचे ने कला और सौंदर्य के समस्त भेदों का निराकरण किया है। किंतु दूसरी ओर जिस अनुभूति को उन्होंने सौंदर्य का साधारण स्वरूप माना है वह स्वयं दुर्लभ और असाधारण है। सत्य यह है कि वाह्यता और अनेकता के साथ संगत समात्मभाव में ही सौंदर्य की अनुभूति उदय होती है तथा इसी संगति की स्थिति में कलाकार वाह्य उपकरणों और माध्यमों में सौंदर्य की अभिव्यक्ति करता है। साधारण जन भी वाह्यता तथा अनेकता के साथ संगति की स्थिति में ही सौंदर्य का व्यवहार करते हैं। यह सौंदर्य की साधारण स्थिति है जो कला की वाह्य अभिव्यक्ति और जीवन में सौंदर्य के व्यवहार के साथ संगत है। सौंदर्य की वही धारणा सत्य है जो सौंदर्य को चेतना की एक साधारण वृत्ति मानकर उसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के समस्त रूपों के साथ संगत होती है। सौंदर्य का यह रूप सामान्य होते हुये भी उसके विभिन्न रूपों में विशेषताओं को स्वीकार करना पड़ेगा। ये विशेषतायें सौंदर्य के अनुभव, उसकी अभिव्यक्ति और उसके व्यवहार के अन्य उपकरणों पर निर्भर होंगी। किंतु इन सभी विशेषरूपों में सौंदर्य की उपस्थिति मानने पर इन उपकरणों को सौंदर्य के सामान्य रूप के साथ संगत मानना होगा। सौंदर्य का ऐसा सामान्य लक्षण जो इनके साथ संगत नहीं है सौंदर्य की संतोषजनक व्याख्या नहीं है। साधारण जीवन और अनुभव में इनके साथ संगति की स्थिति में ही सौंदर्य की अभिव्यक्ति और उसका व्यवहार होता है। सौंदर्य एक साधारण स्वरूप अवश्य है, किंतु उसके रूपों के भेद भी सत्य हैं। ये भेद जिन उपकरणों पर निर्भर हैं उन्हें बताना होगा। किंतु साथ ही सौंदर्य के सामान्य स्वरूप के साथ इन उपकरणों को संगत मानना होगा। अन्यथा सौंदर्य की भावना उक्त एकांगी मतों की भाँति ही संकुचित और सीमित हो जायगी। जीवन के व्यवहार में सौंदर्य एक अत्यंत व्यापक भावना है अत: यह संकोच सौंदर्य का स्वरूप नहीं है वरन् एकांगी मतों का आग्रह है।

सौंदर्य के सम्बंध में सबसे प्रथम और प्रमुख भेद कला और सौंदर्य का भेद है। सौंदर्य का प्रयोग सामान्यत: एक स्वतंत्र और वास्तविक सत्ता के लिये किया जाता है। सौंदर्य उस सत्ता का स्वरूप है। सौंदर्य की सत्ता के सम्बंध में मनुष्य का कृतित्व आवश्यक नहीं। निसर्ग प्रकृति और मनुष्य की कृतियाँ दोनों में सामान्य रूप से सौंदर्य की स्थिति है। किंतु कला का सौंदर्य मनुष्य की सृष्टि है। कला मनुष्य की कृति का सौंदर्य है। इसके विपरीत प्रकृति का सौंदर्य उसके कृतित्व से स्वतंत्र है। सौंदर्य का दर्शन एक ग्रहणात्मक व्यापार है, उसका सृजन एक रचनात्मक क्रिया है। सृजन में सौंदर्य की चेतना अधिक सक्रिय होती है। किंतु इन दोनों स्थितियों में सौंदर्य का स्वरूप यदि समान है तो उनके भेदों का आधार क्या है ? वस्तुवादियों के अनुसार प्राकृतिक सौंदर्य वस्तुओं के गुणों पर निर्भर हैं, मनुष्य उसका निष्क्रिय ग्राहक है। किंतु सौंदर्य के सृजनात्मक रूपों में सर्वत्र वस्तुगत गुणों का आधार ढूंढ़ना कठिन है। चित्रकला और संगीत में प्राकृतिक गुणों का कुछ आधार अवश्य है किंतु वह इनके सौंदर्य का सर्वस्व नहीं। काव्य में यह आधार सबसे कम है। भाव का सौंदर्य प्रकृति का गुण नहीं, चेतना की स्वतंत्र सृष्टि है। कविता में यह भाव का सौंदर्य ही प्रधान है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक आधार की अंतिम सीमा है। यद्यपि अधिकाँश काव्य और अधिकाँश कला इसी सीमा के अंतर्गत हैं फिर भी कला का, विशेषत: काव्य का, मौलिक सौंदर्य इस सीमा को पार करके ही अपने स्वरूप में खिलता है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर भी जब इन

व्यापक क्षितिजों के रंजित मेघों की छाया पड़ती है तभी प्रवृत्तियों के जीवन में सौंदर्य के संस्कार उदित होते हैं।

जहाँ वस्तुवादी कला के सृजनात्मक सौंदर्य में भी प्रकृति के वस्तुगत आधार खोजते हैं वहाँ अनुभूतिवादी प्राकृतिक सौंदर्य में भी कला के सृजनात्मक धर्म का आरोपण करते हैं। क्रोचे के अनुयायी कालिंगवुड का मत है कि सृजनात्मक कल्पना की दृष्टि से अनुभावन करने पर प्रत्येक वस्तु सुन्दर हो जाती है। यह कल्पना सत्य और असत्य के भेद से ऊपर है। बाह्यता और यथार्थता का अनुषंग इसमें नहीं रहता। सुन्दर पदार्थ स्वतंत्र कल्पना की दृष्टि बन जाता है। प्राकृतिक सौंदर्य की यह व्याख्या हमारे सामान्य अनुभव के साथ संगत नहीं है। हम प्रकृति के पदार्थों को अपनी सृष्टि नहीं मानते, फिर भी उसमें सौंदर्य का दर्शन होता है। स्वयं कालिंगवुड ने प्राकृतिक सौंदर्य की व्याख्या एक दूसरे प्रकार से की है। उसकी दृष्टि में प्रकृति का सौंदर्य कृति के विपरीत अकृति का सौंदर्य है। अकृति होने के कारण ही हमें पर्वत, नदी, आकाश आदि सुन्दर प्रतीत होते हैं। यह विचारणीय है कि उनकी यह व्याख्या कलात्मक सौंदर्य की सृजनात्मक व्याख्या के विपरीत है। इस आधार पर कला और प्रकृति के सौंदर्य को स्वरूपतः भिन्न मानना होगा। किन्तु यदि हम कला और प्रकृति दोनों में सौंदर्य की भावना करते हैं तो सौंदर्य की दोनों कल्पनाओं में एक सामान्य लक्षण होना समीचीन है। कलात्मक सौंदर्य और प्राकृतिक सौंदर्य की विरोधी व्याख्याओं में क्रोचे के मत की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। दोनों में ग्रहण और सृजन का भेद तो किसी सीमा तक मान्य है, फिर भी सौंदर्य के एक सामान्य लक्षण की व्याप्ति आवश्यक है। क्रोचे की अनुभूति अथवा कालिंगवुड की कल्पना प्राकृतिक सौंदर्य की समीचीन व्याख्या नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक सौंदर्य में बाह्यता का अनुषंग हमारे अनुभव का साधारण सत्य है। वस्तुवादी मत कला के सृजनात्मक सौंदर्य की समुचित व्याख्या नहीं करते, अनुभूतिवादी उसे पूर्णतः आत्मगत बना देते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य न पूर्णतः वस्तुनिष्ठ है और न पूर्णतः हमारी चेतना की आत्मगत सृष्टि है। वह वस्तु के गुण, इन्द्रियों के धर्म और चेतना की क्रिया का संयुक्त फल है। वहाँ, रूप आदि की वैज्ञानिक व्याख्यायें इस सामंजस्य में सौंदर्य के उदय का समर्थन करती हैं। वस्तुवादी व्याख्या में चेतना की क्रिया के लिये और अनुभूतिवादी व्याख्या में वस्तु की बाह्यता के लिये स्थान नहीं है। समात्मभाव एक ओर चेतना का भाव है। उसमें ग्रहण और सृजन दोनों की सम्भावनायें हैं। दूसरी ओर बाह्य और अनेकता से उसकी सहज संगति है। प्रकृति के एकान्त निरीक्षण में हम प्रकृति के साथ ही समात्मभाव अनुष्ठित करते हैं। अधिकांश काव्य में प्रकृति का मानवीयकरण इसका प्रमाण है। प्रकृति का सौंदर्य हमें विभोर भी करता है किन्तु साथ ही हम उसके दर्शन में आत्मीयों के साहचर्य और सहयोग के लिए उत्कंठित हो उठते हैं। प्रकृति-दर्शन का यह लोकप्रिय रूप इस मत का समर्थन करता है कि समात्मभाव की स्थिति ही सौंदर्य का मूल स्रोत है।

प्रकृति के दर्शन का सौंदर्य पूर्णतः आन्तरिक सौंदर्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें बाह्य प्रकृति का अनुषंग स्पष्टतः रहता है। जो वस्तुएं सहज रूप में सुन्दर प्रतीत नहीं होतीं, उनमें सौंदर्य के अनुभावन में आत्मगत कल्पना का सक्रिय योग अधिक रहता है। इन वस्तुओं में सौन्दर्य की भावना सबके लिये समान रूप में नहीं होगी। किन्तु प्रकृति की अनेक वस्तुएं सबको ही सुन्दर प्रतीत होती हैं। इनकी सौंदर्य भावना में चेतना के साथ-साथ वस्तुओं के गुणों का भी योग रहता है। यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वस्तुओं के गुणों का प्रभाव इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियों को जो सम्वेदनाएं प्रिय लगती हैं उन्हें मन सुन्दर कहता है। प्रकृति के एकाकी दर्शन में सुख और शान्ति का अनुभव अधिक होता है। एकाकी मनुष्य प्रकृति के निरीक्षण की अपेक्षा प्रकृति में विश्राम अधिक करता है। जो प्रकृति के दर्शन में सौंदर्य देखता है, वह प्रायः प्रकृति के साथ साहचर्य और समात्वभाव का अनुभव करता है।

अधिकांश कवि और कलाकार प्रकृति के साथ बन्धु-भाव का अनुभव करते हैं। अंग्रेजी का प्रसिद्ध प्रकृति-कवि वर्ड्सवर्थ डैफोडिल के फूलों के साथ नाचता है। सुमित्रानन्दन पंत वसन्त की हरियाली में किसी को क्रीड़ा कौतूहल करते देखते हैं। उन्हें पेड़ की छाया में सोती हुई दमयन्ती और ग्रीष्म की गंगा में लेटी हुई तन्वंगी तरुणी दिखाई देती है। चन्द्रमा और कमल में तो प्रेयसी का मुख कवि युगों से देखते आये हैं। काव्य में प्रकृति का मानवीकरण यही संकेत करता है कि प्रकृति में साहचर्य और समात्मभाव के साथ ही कवि सौंदर्य का अनुभव करता है। मानवीकरण के बिना भी साहचर्य और समात्मभाव सम्भव है, किंतु प्रकृति में सौंदर्य की भावना साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में ही होती है। इसके बिना प्रकृति में जिसे हम सुन्दर कहते हैं वह केवल संवेदना की प्रियता है। जब दो आत्मीय समात्मभाव के साथ प्रकृति का दर्शन करते हैं तो उस प्रियता में सौंदर्य का उदय होता है। समात्मभाव की चिन्मय स्थिति में सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति आकूति की व्यंजना है। यह आकूति प्रकृति के परिमेय गुणों के अतिरिक्त अनभिधेय अंतर्भाव है। प्रकृति का अर्थ उसके परिमेय गुणों का यथार्थ है जो प्रियता की सम्वेदना उत्पन्न करता है। इस अर्थ में आकूति का आधान दर्शक अथवा दर्शकों की चेतना करती है और उस आकूति की चिन्मय अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का उदय होता है। एकाकी के प्रकृति के साथ समात्मभाव में भी सौन्दर्य है किन्तु एक से अधिक दर्शकों के साहचर्य और समात्मभाव में सौन्दर्य की समृद्धि होती है। हम एक दूसरे के सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में भाग लेकर उसे समृद्ध बनाते हैं।

इस प्रकार विदित होता है कि प्रकृति के अनुकूल उपादानों में भी सौन्दर्य मनुष्य की सृजनात्मक चेतना का विधान है। सौन्दर्य की यह सृष्टि वस्तुओं की बाह्यता, यथार्थता और सगुणता का निराकरण करके कल्पना के आत्मलोक में उनका उन्नयन नहीं है वरन् उनकी बाह्यता, स्वतन्त्रता और सगुणता को स्वीकार करते हुए साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में उनकी प्रियता में सौन्दर्य का विधान है। प्रकृति का यह सौन्दर्य न पूर्णतः वस्तुगत है और न एकान्ततः आत्मगत। वस्तुतः यह प्रकृति की वस्तुगत और प्रिय सत्ता में अन्तर्निहित आकूति की समात्मभाव की स्थिति में भावमयी व्यञ्जना है। प्राकृतिक सौन्दर्य की इस व्याख्या में प्रकृति के अकृत होने का प्रसंग नहीं आता जैसा कि कालिंगवुड की व्याख्या में आता है। वस्तुतः अकृतत्व सौन्दर्य का आवश्यक अंग नहीं है। प्रकृति में जिसे उदात्त कहा जाता है (जैसे पर्वत, समुद्र आदि) उसमें अकृतत्व अथवा अपने कृतित्व के अभाव का भाव अवश्य रहता है। यह अभाव भेद उत्पन्न करके उदात्त का उद्घाटन करता है। यह उदात्त सुन्दर नहीं है। इसमें भेद और भय है तथा हमारी तुच्छता है। अधिक परिचय और सम्पर्क के बाद जब इस उदात्त के साथ हमारा समात्मभाव स्थापित हो जाता है तो यही सुन्दर बन जाता है। इसी समात्मभाव के आधार पर ब्रज-वासियों के लिये कालिन्दी के फूल, कदम्ब के वृक्ष, करील के निकुञ्ज और वृन्दावन की वीथियाँ सुन्दर थे। अंग्रेजी की यह कहावत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि अधिक परिचय से घृणा उत्पन्न होती है। अधिक परिचय घृणा का कारण नहीं है किन्तु निकटता में उद्घाटित होने वाले भेद इसके कारण हैं। प्रेम और सौन्दर्य का आधार समात्मभाव है। वह परिचय और घनिष्ठता से ही स्थापित होता है।

प्राकृतिक सौन्दर्य की यह व्याख्या कलात्मक सौन्दर्य के पूर्णतः अनुरूप है। यद्यपि कलात्मक सौंदर्य चेतना की स्वतन्त्र सृष्टि है फिर भी यह सृष्टि निराधार नहीं होती। प्राकृतिक और सामाजिक जीवन के उपकरणों से ही कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन में वस्तुनिष्ठता अधिक स्पष्ट होती है तथा चयन का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। बाह्य उपादान की संवेदना बाध्यकारी न होने के कारण कला में ग्रहण की अपेक्षा सृजन की सम्भावना अधिक होती है। सृजनात्मक वृति

की प्रधानता ही प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से कलात्मक सौन्दर्य की मुख्य भेदक है। किन्तु ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ग्रहण प्रकृति के गुणों की सम्वेदना की प्रियता तक ही सीमित है। उसमें सौन्दर्य का उदय समात्मभाव की स्थिति में आकृति के अन्तर्भाव की व्यञ्जना ही के द्वारा ही होता है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यञ्जना कलात्मक सौन्दर्य का भी मूल है। इतना अवश्य है कि कला में चेतना आकृति की व्यञ्जना में अधिक स्वतन्त्र और सक्रिय होती है। किन्तु जिस प्रकार प्रकृति में सौन्दर्य का दर्शन पूर्णत: वस्तुनिष्ठ और ग्रहणात्मक नहीं है उसी प्रकार कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि भी पूर्णत: वस्तुगत आधार से रहित केवल आत्मगत सृष्टि नहीं है। बाह्य प्रकृति और जीवन के उपादानों से ही तत्व चयन कर समात्मभाव की स्थिति में जीवन की आकृति की व्यञ्जना कलात्मक सौन्दर्य को आकार देती है। कलात्मक सौन्दर्य की यही व्याख्या सामान्य जीवन में सौन्दर्य के प्रयोग, कला की बाह्य अभिव्यक्ति, कला के सहकारी रूपों, लघुतर कलाओं और कला के उपयोगी तथा व्यापारिक रूपों का समाधान करती है। कला की यह व्याख्या कला के रूप को व्यापक और साधारण मानकर उसके सौन्दर्य का मर्म उद्घाटित करती है। वह क्रोचे की अनुभूति अथवा कालिंगवुड की कल्पना के समान भावना की किसी असाधारण स्थिति पर निर्भर नहीं है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यञ्जना मानवीय जीवन के सम्बन्धों में उतनी ही व्यापक और साधारण है जितना कि कला का सौन्दर्य है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन और कलात्मक सौन्दर्य के सृजन के अतिरिक्त सौन्दर्य की एक और स्थिति है जिसे हम प्रदर्शन कह सकते हैं। प्रदर्शन कलात्मक सौन्दर्य की वाह्य अभिव्यक्ति है किन्तु इस अभिव्यक्ति में दर्शकों, श्रोताओं आदि की उपस्थिति का भाव रहता है। प्रदर्शन कला की सामाजिक अभिव्यक्ति है। विशेष रूपों में बाह्य अभिव्यक्ति एकांत भी हो सकती है। किन्तु, प्रदर्शन के लिये सामाजिक वातावरण अपेक्षित है। कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में समात्मभाव काल्पनिक भी हो सकता है। कलाकृति की रचना के समय तो प्राय: वह काल्पनिक होता है। प्राय: कलाकार रचनाएं एकांत में करते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि वे एकांत भाव में रचनाएं नहीं करते। व्यावहारिक यथार्थ की दृष्टि से अकेले होते हुए भी वे मन के भाव से अकेले नहीं होते। किन्तु कला के प्रदर्शन की स्थिति में दर्शकों की उपस्थिति काल्पनिक नहीं, वास्तविक होती है। नाटक, संगीत, नृत्य आदि कला के प्रदर्शन के परिचित रूप हैं। चित्रकला आदि की भी प्रदर्शनियाँ होती हैं। कवि-सम्मेलनों में कविता का भी प्रदर्शन होता है। प्रदर्शन का अभिप्राय केवल कलात्मक सौन्दर्य का सृजन नहीं है। सृजन के अतिरिक्त उपस्थितजनों के प्रति सौन्दर्य के सम्प्रेषण का भाव भी प्रदर्शन का मुख्य अंग है। कलात्मक सौन्दर्य का सृजन भी प्रदर्शन के समान बाह्य अभिव्यक्ति है किन्तु दर्शकों की उपस्थिति की कल्पना उसमें आवश्यक नहीं है। प्रदर्शन में वह उपस्थिति कल्पना नहीं वरन् वास्तविकता है। दूसरी ओर प्रदर्शन में कला का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है। दर्शक सौन्दर्य का अनुभावन किस रूप में करते हैं? यद्यपि प्रदर्शन की स्थिति में सामान्यत: यह समझा जाता है कि कलाकार कला के सृजन में ही तन्मय रहता है। यह तन्मयता सफल प्रदर्शन की वास्तविक स्थिति है किन्तु यह इतनी पूर्ण नहीं होती कि दर्शकों की उपस्थिति की चेतना के लिये उसमें स्थान न हो और न इस सामाजिक चेतना का कला की सफल सृष्टि से कोई मौलिक विरोध है। स्वयम् कलाकार और दर्शक इस बात की साक्षी देते हैं कि सामाजिक उपस्थिति के वातावरण में कला की जैसी अद्‌भुत सृष्टियाँ देखी गई हैं वैसी अन्यथा देखने में नहीं आती। चित्रकला का तो कुछ रूप ही ऐसा है कि उसका सृजन और प्रदर्शन दोनों एक साथ सम्भव नहीं हो सकते। किन्तु नृत्य, संगीत आदि के साथ सृजन और प्रदर्शन का यौगपथ अधिक स्वाभाविक है। शिक्षण और सहयोग (तबला) की आवश्यकता के कारण इनके अभ्यास में भी एकान्त नहीं

होता और एक दृष्टि से अभ्यास भी प्रदर्शन ही होता है। विशेष अवसरों और समारोहों के अवसर पर प्रदर्शन की सामाजिक भूमिका विशाल हो जाती है। प्राय: देखा गया है कि इस विशाल भूमिका में कला की ऐसी अद्‌भुत सृष्टियाँ होती हैं जो कदाचित ही एकान्त में सम्भव हों।

इससे यही प्रगट होता है कि सामाजिक समात्मभाव कला की सृष्टि का प्रेरक और उसकी आवश्यक भूमिका है। इस भूमिका में जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना कलात्मक सौंदर्य का स्वरूप है। यह भ्रम है कि कलात्मक सौंदर्य की सृष्टि एकान्त, व्यक्तिगत, आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति में होती है तथा दूसरों की उपस्थिति कलाकार की तन्मयता को भंग करती है और सौन्दर्य के उत्कर्ष में बाधक होती है। समात्मभाव के द्वारा ही सामाजिक उपस्थिति सौन्दर्य के उत्कर्ष की साधक होती है। लोक-संगीत और लोकनृत्य की सामूहिक प्रक्रिया में यह समात्मभाव सक्रिय और पूर्ण होता है। अन्य स्थितियों में यह इतना सक्रिय नहीं होता किन्तु आन्तरिक योग और अनुराग के रूप में आत्मिक भाव की दृष्टि में पूर्ण हो सकता है। पूर्ण रूप में समात्मभाव एक आत्मिक भाव ही है। बाह्य क्रिया से उसका विरोध नहीं है और सामान्यत: बाह्य क्रिया उसमें सहायक है किन्तु आवश्यक नहीं। आन्तरिक समात्मभाव को भी भाव की दृष्टि से सक्रिय कह सकते हैं। इस समात्मभाव की पूर्णता ही कला की श्रेष्ठ सृष्टियों की भूमिका है। जहां इस समात्मभाव में अपूर्णता रहती है अर्थात् जहां सामाजिक उपस्थिति भेद और विक्षेप का कारण होती है वहां समात्मभाव को खंडित करने के कारण वह कला के श्रेष्ठ सृजन में बाधक होती है। प्राय: इसी दृष्टि से सामाजिक उपस्थिति को कलात्मक सौन्दर्य का बाधक माना जाता है। वस्तुत: समात्मभाव की भूमिका में ही जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना के द्वारा कलात्मक सौंदर्य की सृष्टि होती है। नाटक की तो सामाजिक उपस्थिति के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। एक विशाल सामाजिक भूमिका में ही नाटक के अभिनय का आयोजन होता है। रंगमंच शब्द में अभिनय के मंच की तुलना में रंग (सामाजिक उपस्थिति) को प्राथमिकता दी गई है। यद्यपि रंगमंच शब्द हिन्दी के आधुनिक प्रयोग में अंग्रेजी के स्टेज का समानार्थक हो गया है, किन्तु वस्तुत: वह उसका समानार्थक नहीं। स्टेज का समानार्थक केवल मंच है। रंग का अर्थ दर्शकों की सामाजिक उपस्थिति है। यौगिक होते हुये भी रंगमंच शब्द रूढ़ प्रतीत होता है। योगरूढ़ तो वह निश्चित रूप से है। इसका कारण भी भारतीय नाट्य शास्त्र में अभिनेताओं के साथ दर्शकों के सहयोग और समात्मभाव की आधारभूत कल्पना है। इस समात्मभाव में विक्षेप अथवा बाधा होने पर अभिनेताओं और दर्शकों दोनों का रस भंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में कला का सृजन और प्रदर्शन सफल और श्रेष्ठ नहीं होता। **संस्कृत नाटकों में नान्दी नाटक के आरम्भ में ही इसी समात्मभाव की स्थापना का सूत्र है।** नाटक में जीवन के कलात्मक सौन्दर्य की सजीव सक्रिय और साक्षात रूप में सृष्टि होती है। उसमें समात्मभाव की सम्भावना अधिक होती है, चाहे वह लोक-संगीत और लोक-नृत्य के समान पूर्ण न हो। इसीलिये नाटक कला का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है। लोकप्रियता की दृष्टि से नृत्य और लोक-संगीत के बाद नाटक की ही गणना है। सभी देशों के साहित्य में नाटक अत्यन्त प्राचीन है और नाटककार ही महान साहित्यकार माने गये हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में कला और काव्य का विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र से ही प्रारम्भ होता है। वाल्मीकि की रामायण काव्य कृति की दृष्टि से आदि-काव्य हो सकती है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नाटकों की परम्परा वाल्मीकि और भरत दोनों से अधिक प्राचीन है। मध्यकाल में भी नौटंकी, स्वांग, रास, रामलीला आदि कला के नाटकीय रूप ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। नाटक के स्वरूप में ही कई पात्रों के समन्वित अभिनय के कारण संगीत अथवा नृत्य के

प्रदर्शन की अपेक्षा समात्मभाव अधिक रहता है। इस समात्मभाव की अधिकता तथा नाटक के सौन्दर्य की सजीवता और सक्रियता के कारण भी दर्शकों के समात्मभाव की सम्भावना नाटक में नृत्य अथवा संगीत के प्रदर्शन की अपेक्षा अधिक रहती है। कलाओं के साहित्यिक रूपों में नाटक में यह सम्भावना सबसे अधिक रहने के कारण नाटक साहित्य का अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय रूप है। भरत के नाट्य शास्त्र से आरम्भ होकर भारतीय शास्त्र में रस का समस्त विवेचन नाटकीय स्थिति पर ही आश्रित है। कालिदास और प्रसाद प्राचीन संस्कृत और आधुनिक हिन्दी के दो महान कवि हैं, किन्तु दोनों की प्रतिभा नाटकों में ही सर्वोत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुई है और नाटकों से ही उनकी प्रतिष्ठा है। अंग्रेजी का महान कवि शेक्सपीयर भी नाटककार है। इतना अवश्य है कि समात्मभाव की पूर्ण स्थिति सामूहिक नृत्य अथवा संगीत में ही होती है, इसीलिये शिव पार्वती का लास्य और श्रीकृष्ण तथा गोप गोपियों का रास कलात्मक सौंदर्य के सर्वोत्तम रूप हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य के समस्त रूपों में नाटक इसके सबसे अधिक निकट है। इस निकटता के कारण ही नर्तन की वाचक नट् धातु से नाटक शब्द की उत्पत्ति हुई है। यह शब्द की उत्पत्ति इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन लोकनृत्यों से ही नाटक का विकास हुआ है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में इसका बहुत विवेचन किया गया है कि अभिनेता और दर्शक में किस रूप में कलात्मक सौन्दर्य अथवा रस का उद्भव होता है। रस के मूल आश्रय तो नाटक के मूल पात्र थे। अभिनेता और दर्शक उस रस का अनुभव किस रूप में करते हैं? रस को मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिगत मानकर भारतीय आचार्य अनेक कठिनाइयों में पड़ गये। पात्रों के साथ एकात्मभाव में उत्पन्न होने वाले पातक से बचने के लिये साधारणीकरण का सिद्धान्त बना। डा० राकेश गुप्त ने बड़ी विदग्धता के साथ यह प्रमाणित किया है कि नाटक का आनन्द साधारणीकरण पर नहीं वरन् विशेषीकरण पर निर्भर करता है। साधारणीकरण की कल्पना मुख्यत: दर्शक के सम्बन्ध में ही की गई है किन्तु अभिनेता के पातक का समाधान क्या है? अभिनेता में साधारणीकरण का प्रयोग करने पर नाटक का आधार ही खंडित हो जायगा। नाटक का रूप ही पात्रों के रूप और चरित्र की विशेषता पर निर्भर है। साधारणीकरण में ये विशेषतायें विलय हो जायेंगी और नाटक का रूप नष्ट हो जायेगा। ग्रीक विचारकों ने नाटक के सम्बन्ध में अनुसरण का सिद्धान्त उपस्थित किया। नाटक में अनुसरण होता है, यह सत्य है। इस अनुसरण से एकात्मभाव की स्थापना भी होती है, यदि हम इसका अर्थ व्यक्तित्व का विलय न समझें। वस्तुत: जीवन और कला की सारी कठिनाइयाँ व्यक्तित्व को एक कठोर इकाई मान लेने से आरम्भ होती हैं। इस मान्यता में एकात्मता के लिये तनिक भी अवकाश नहीं है। व्यक्तित्वों का एकीकरण एक मनोवैज्ञानिक असंभावना है। अनुसरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अधिक जटिल है। व्यक्तित्वों के कठोर पार्थक्य और पूर्ण एकीकरण दोनों ही स्थितियों में अनुकरण सम्भव नहीं है। व्यक्तित्वों का सापेक्ष भेद उसमें रहता है। अभिनेता अपने व्यक्तित्व को भी नहीं भूलता और न वह इस तथ्य को भूलता है कि मैं अभिनय कर रहा हूँ। दर्शक भी अभिनय को अभिनय ही समझते हैं। अत: अभिनेता के अनुकरण और दर्शक के एकात्मभाव दोनों को समात्मभाव के रूप में समझने से नाटक के सौन्दर्य और रस की व्याख्या अधिक सन्तोषजनक रूप में हो सकती है। समस्त कठिनाइयों का मूल मनुष्य की चेतना को प्रकृति के नियमों के अनुसार समझने का प्रयत्न है। व्यक्ति की कठोर इकाई की कल्पना इसी प्रयत्न का परिणाम है। प्रकृति में इकाइयों का पार्थक्य कठोर है अत: उनका एकात्मभाव सम्भव नहीं है। सचेतन एकात्मभाव की कल्पना भी हम एक नवीन किन्तु कठोर इकाई की स्थापना के रूप में करते हैं। यह चेतना के

क्षेत्र में प्रकृति के नियमों का प्रयोग है। वस्तुत: चेतना एक स्वतंत्र और व्यापक तत्त्व अथवा वृत्ति है। उसकी इकाई अथवा एकात्मता प्रकृति की भाँति कठोर नहीं है। अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ समात्मभाव में ही उसका स्वरूप साकार और साक्षात् होता है। नाटक के अनुकरण (अभिनय) और दर्शन (प्रेक्षण) में यही समात्मभाव सौन्दर्य और रस का हेतु बनता है। वस्तुत: नाटक अनुकृति होने के साथ साथ एक कृति भी है। समात्मभाव की भूमिका में कलाकार जीवन की आकृतियों की व्यंजना करते हैं। यह व्यंजना ही सौन्दर्य और रस की सृष्टि है। कुछ विद्वानों का मत है कि कला का दर्शक इस मौलिक सौन्दर्य की आत्मगत सृष्टि करता है। वह स्वयं कलाकार बन जाता है, इसी भाव से वह सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा रस लाभ करता है। इस मत में भी व्यक्तित्व की कठोर कल्पना और उनके एकीकरण की विरोधात्मक भूल है। सत्य यह है कि जिस प्रकार अभिनेता का मूल पात्रों के साथ एकीकरण न संभव है और न आवश्यक, उसी प्रकार कलाकार के साथ भी दर्शक अथवा पाठक का एकीकरण न संभव है न आवश्यक है। मनुष्य की चेतना का यही स्वरूप है कि अपने प्राकृतिक व्यक्तित्व के आधार में रहते हुये भी अन्य चेतनाओं के साथ समात्मभाव में सौन्दर्य की सृष्टि और उसका अनुभव करती है। चेतना की समृद्धि का यही रूप है। यह समात्मभाव जीवन और कला की सभी स्थितियों और सभी रूपों में होता है। इसीलिये कला की भिन्न भिन्न स्थितियों और उसके भिन्न भिन्न रूपों में सौन्दर्य के रूप और रस के अनुभव का प्रकार भिन्न होता है। यह विविधता ही चेतना और कला की समृद्धि विभूति का रहस्य है। जीवन में इस समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना सौन्दर्य और रस की सृष्टि करती है। अभिनय और दर्शन में इस समात्मभाव की स्थिति में क्रमश: एक एक विभा (dimension) और बढ़ जाती है। जीवन और कला में सौन्दर्य का मूल स्वरूप समात्मभाव ही है। किन्तु विभिन्न स्थितियों में उसकी विभाओं के भेद से आकृति की व्यंजना और उसके अनुभावन का प्रकार भिन्न हो जाता है। यही जीवन और कला दोनों में सौंदर्य के सृजन, अनुभावन, प्रदर्शन, दर्शन आदि में सौंदर्य और रस के प्रकार में भेद तथा जीवन, कला, सौन्दय और रस की सम्पन्नता का रहस्य है।

—:?❀?:—

(पृष्ठ ३८ का शेषांश)

'Art as an escape from life'
(कला, जीवन से पलायन)
'Art as an escape into life'
(कला, जीवन में पलायन)
आदि, ।

(नोट—इस लेख को लिखने में मैंने Journal of Aesthetics and Art criticism की पुरानी फाइलों तथा १९५३ के जून मास में प्रकाशित जान विलकाक्स के लेख से सहायता ली है। अतएव श्री विलकाक्स के लेख के लिए अनुगृहीत हूँ।)

—:o!!o:—

वैष्णव कवियों की सौन्दर्योपासना

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

जिस किसी वस्तु अथवा भाव में चित्तवृत्ति टिक कर रम जाय उसे "सुन्दर" कहते हैं और उसकी अनुभूति को "सौन्दर्य" की संज्ञा प्रदान करते हैं। सौन्दर्य की ललक मनुष्य में जन्मना है जो वय:वृद्धि के साथ-साथ विकसित होकर भावना तथा अनुभूति के माध्यम से दार्शनिक चेतना तक का रूप धारण कर लेती है। रंग, रूप, ध्वनि और स्पर्श का आकर्षण स्थूल से सूक्ष्मतर होता हुआ मनुष्य को तद्वत् बना देता है। भोले शिशु की सहजानुभूति, किशोर की स्वप्निल कल्पना बन युवक के माँसल प्रदेश में रमण करती हुई वृद्ध के चिन्तन का विषय बन जाती है। वास्तव में, सौन्दर्य ज्ञान का नहीं, व्यवस्थित अनुभूति का आश्रित है। यह अनुभूति वस्तु के गुण की अपेक्षा रखती है, कभी प्रत्यक्ष रूप में तो कभी सादृश्य के बल। सौन्दर्य की उपलब्धि आनन्द है। वैज्ञानिक की विश्लेषणात्मक दृष्टि तक में भी किसी वस्तु का व्यापक, विराट् और द्रवणशील होना ही उसके सौंदर्य का बोधक है। इस प्रकार सौंदर्य अन्ततोगत्वा, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में वस्तु का आलम्बन लेकर भी चिंतन का विषय बन जाता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वस्तु-सौन्दर्य की परिणति भाव-सौंदर्य में और भाव-सौन्दर्य की सार्थकता उसे मूर्त्त रूप देने में है।

फिर भी, सौन्दर्यानुभूति-मात्र व्यक्तिगत न होकर समाज-सापेक्ष भी है। प्रत्येक युग विकास-क्रम से भावना-विशेष से प्रभावित होता है और उस युग की प्रत्येक अभिव्यक्ति में उक्त भावना की प्रेरणा रहती है। यही भावना युगआदर्श का रूप ग्रहण कर लेती है और यह क्रम युग-परिवर्तन के पूर्व तक सजीव रूप में चला करता है। परन्तु प्रत्येक युग-परिवर्तन के साथ नयी चेतना और नयी दृष्टि का प्रवेश होता है जबकि पूर्ववर्ती आदर्श शिथिल पड़कर रूढ़ि की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। नवीन युग सदा नयी सौन्दर्य-चेतना को जन्म देता है, जिसके आलोक में मनुष्य सौंदर्य के नये-नये उपादानों के दर्शन कर पाता है। फिर भी तात्विक दृष्टि से सौन्दर्य के ऐसे कुछ लक्षण शेष रह जाते हैं, जिन पर युग-प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही पड़ा करता है और इसका रहस्य उसके अधिकाधिक व्यापक, विराट और द्रवणशील होने में है।

सृष्टि के उषा-काल में मनुष्य ने जब तिमिराच्छन्न कुहासे को चीर कर प्रकाश की प्रथम किरण के अभिनव सौंदर्य का दर्शन किया होगा तो उसका मानस-पटल अविकच कलिका की भाँति मुसकरा उठा होगा। यह सौंदर्यानुभूति काल-क्रम से तीव्रतर होती हुई गहरी हो उठी होगी जिसके लावण्य की प्रभा से अभिभूत होकर मानव ने उसे ही जीवनाधार तक स्वीकार कर लिया होगा। वास्तव में, वहीं से उसके क्रियाशील होने की प्रेरणा मिली होगी। अन्ततोगत्वा, उसने उसी दिव्य सौन्दर्य के रूप में सादृश्यमूलक विश्वात्मा तक का तीव्र भाव से अनुभव किया—

> दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
> यदि भा: सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन:
> —गीता ११।१२॥

अर्थात् आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न प्रकाश भी कदाचित् ही विश्वात्मा के प्रकाश के सदृश हो।

परन्तु इस भावना को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अन्तर्दृष्टि भी अपेक्षित थी। इसीलिए यह भी कहा गया कि—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम्।
—गीता ७।२५ ॥

अर्थात् अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। इसलिए अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्म-रहित अविनाशी परमात्मा को तत्त्व से नहीं जानता अर्थात् मुझे जन्म-मरण वाला समझता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य के चतुर्दश ब्राह्मण में भी मण्डलस्थ पुरुष को ही सारे लोक को प्रकाशित करने वाला बतलाया गया है। फिर भी यह प्रकाश सूफियों के उस "नूर" से भिन्न प्रतीत होता है जो उन्हें लोकोत्तर सौंदर्य का वर्णन करने की प्रेरणा देता है। किन्तु सन्त-साधकों को पूर्वोक्त सौन्दर्य ही लुभाये रहता है।[1]

मानव सभ्यता के आदि काल में वर्ग-भेद अथवा स्तर-भेद का अभाव-सा था। जीवन-संघर्ष की क्लान्ति और अबाध जीवन की शान्ति के बीच मानव-जीवन स्वाभाविक के अधिक निकट था। फिर भी, प्राकृतिक उथल-पुथल का आतङ्क बना रहता था। जटिल जीवन का मार्ग ऊबड़-खाबड़ तथा रपटीला था। पग-पग पर जीवन के लिए खतरा था। ऐसी परिस्थिति में, जीवन और जीविका के लिए उसे कठोर संघर्ष करना पड़ता था। फलस्वरूप, उसकी भावना में कठोरता की रेखा थी। प्राचीन युग के अवशिष्ट भित्ति-चित्रों में संघर्षशील मानव-जीवन की हिंस्रवृत्ति की सुन्दर अभिव्यक्ति पायी जाती है। शक्ति रूपा आदि भवानी की भयमूलक विकराल आकृति में भी इसी कारण, सौन्दर्यानुभूति संभव हो सकी। कालान्तर में भौतिक विकासक्रम की प्रेरणा से कोमल वृत्तियों के साथ-साथ शिव की अनुभूति का भी निदर्शन हुआ।

धर्म-भावना की प्रेरणा सौंदर्य मूलक है। वैदिक युग में, धर्म और सौंदर्य की परस्पर पृथक् सत्ता न थी। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" का संकेत महत्वपूर्ण है। धर्म के आग्रह से ही सौंदर्य में आध्यात्मिकता का समावेश हुआ। अनादि और अनन्त की अनुभूति में "नेति-नेति" की जो व्यंजना है, वह आनन्द का स्रोत है। समष्टिगत ब्रह्म में व्यक्ति जीव की धारणा आनन्द-मूलक है। विभिन्न जातियों की विविध संस्कृतियों एवम् सभ्यताओं के बीच सामंजस्य तथा सम्मिश्रण की भावना अपेक्षित थी। विराट् की कल्पना ने मानव-जाति को विनाश के गर्त्त में पड़ने से बचा लिया था। इसकी अनुभूति के लिए चर्म-चक्षु-मात्र पर्याप्त न थे, अन्तर्दृष्टि भी अपेक्षित थी। यहीं से "परापर दृष्टि" का सूत्रपात सम्भव हुआ होगा।

परन्तु बुद्ध के आविर्भाव के बाद भारतीय चिन्ता-धारा में एक महत्वपूर्ण नया मोड़ आया। दुःखवाद ने सौन्दर्यानुभूति तक की दिशा बदल दी। अब वह आनंद-मूलक न होकर करुणामूलक वैराग्यशीला हो चली। यह अनन्त वेदनामूलक सौंदर्य अब "सुन्दर" की अपेक्षा "उदात्त" हो चला। सौदर्यानुभूति का स्थान सौन्दर्य-बोध लेने लगा। आदि कवि वाल्मिकि ने उदात्त भावना से ही प्रेरणा प्राप्त की थी।

पौराणिक युग तक आते-आते दोनों धाराएं पृथक्-पृथक् न रह सकीं। उनके संगम से रस-सिक्त धारा बह चली। अब मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति प्रकृति से दिव्य और दिव्य से मानव की ओर उन्मुख हो गई।* धर्म-भावना आकाश से उतर कर धरती पर विचरने लगी। परन्तु उसने अपने को चिन्मुखी ही बनाये रखा। इधर उसके धरती पर उतरने का एक परिणाम यह भी हुआ कि अब आनन्द का आलम्बन भी धरती पर ढूंढ़ा जाने लगा। अवतारवाद ने इस भावना को प्रश्रय दिया। इस प्रकार, लौकिक एवम् अलौकिक सौन्दर्यानुभूति के दो पृथक्-पृथक् क्षेत्र खुल गए और इनकी अभिव्यक्ति तत्कालीन धार्मिक कला एवं ललित कला के रूप में आज भी उपलब्ध है।

वैष्णव कवियों की सौन्दर्योपासना के मूलाधार

१—कबीर साहित्य की परख, पृ० १२८—३७

* सौन्दर्यशास्त्र पृ० २५

भगवान विष्णु और उनके अवतार हैं। वैदिक युग से ही श्रद्धामूलक भक्ति-भावना पूरित उद्‌गार बीज रूप में लक्षित होने लगते हैं, किन्तु उनका वास्तविक विकास भागवतधर्म में ही दिखायी देता है। यह विकास-क्रम परवर्ती काल तक चलता रहा है। चतुःसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा अपने-अपने ढङ्ग पर वेदान्त की भक्ति-मूलक व्याख्या की गई। परन्तु वैष्णवी भक्ति-शाखाएं इन्हीं तक सीमित न रह सकीं, कुछेक का स्वतन्त्र विकास भी हुआ। परम पुरुषार्थ सिद्धि के लिए वैदिक युग में जहाँ ज्ञान, कर्म और उपासना की चर्चा की जाती थी, वहाँ भगवत्कृपा प्राप्ति पर बल दिया जाने लगा। मध्य-काल तक आते-आते भक्ति-सूत्रों और भागवत के आधार पर प्रेम-लक्षणा भक्ति पल्लवित हुई। प्रपत्तिवाद ने विभूतिवाद को स्थानापन्न किया। प्रेमाभक्ति वालों के लिए प्रेम ही कार्य-कारण भाव से सबकुछ था। नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार वह "परम प्रेम रूपा", 'अमृत स्वरूपा' और "मूकास्वादनवत्" है।[1]

इस प्रकार, दिव्य सौन्दर्य-भावना से प्रेरित दृष्टि भी भावलोक में भटकती-भटकती अन्ततोगत्वा, वस्तु-जगत् से समझौता करने को बाध्य हुई। लीला और नित्य बिहार की कल्पना द्वारा भक्तों ने अनुभवैकगम्य भगवान से भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सम्बन्ध स्थापित कर लिया—

"तोहि मोहिं नाते अनेक, मानिये जो भावे"—(तुलसी) और ये नाते भक्तों द्वारा निम्नलिखित नव श्रेणियों में प्रतिफलित हुए हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोःध्यानं पाद सेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनं॥

इन्हें नवधा भक्ति के नाम से विहित किया जाता है।

ब्रह्माण्ड पुराण और श्रीमद्‌भागवत में लीला के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है—

स्वलीला कीर्ति विस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥

इसी प्रकार श्रीमद्‌भागवत में भी बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ायाः श्रुत्वातत्परो भवेत्॥

निज लीला के विस्तार और भक्तों पर अनुग्रह करने के हेतु भगवान लीलावतार धारण करते हैं। यह लीला अलौकिक होकर भी लौकिक है और लौकिक होकर भी अलौकिक। लीला प्रकृत अवस्था नहीं है, अपितु लीलामात्र है। लीला-भूमि भगवद्धाम है जो उपनिषद्-कालीन ब्रह्मपुर से कदाचित् अभिन्न है। यह अन्तराकाशवर्ती है जिसे चिदाकाश अथवा हृदयाकाश कहा गया है—

चिदाकाशो महानास्ते लीलाधिष्ठानमद्‌भुतम।[1]

अवतार को मोटे तौर पर निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जाता है—

१—प्रकाश—रासलीला में प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण रूप में, २—विलास—रूपगत वैभिन्य के बावजूद तत्त्वगत एकात्मकता, ३—लीलावतार—विविध अङ्गों अथवा कलाओं में रूप-धारण, ४—पुरुषावतार—सृष्टि के कारण स्वरूप, ५—गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव रूप में, ६—मन्वंतर—स्वयंभू आदि पर नियंता रूप में, ७—युगावतार—हंसादि रूप में, ८—शक्त्या-वेश—नारदादि रूप में।

भक्तों की दृष्टि में लीला, वास्तव में, साक्षात्कार से भी बढ़कर है, क्योंकि वैसी अवस्था में भक्त भगवान के नाना रूपों का सहज उपभोग, प्रेम-स्वरूप भगवान को, विषय रूप में, आलम्बन मान कर होता है, आश्रय रूप में नहीं।[2] भक्त के हृत्प्रदेश में यदि एकबार भगवान का प्रवेश हो जाता है तो उसकी दृष्टि बदल जाती है और यह निरन्तर भगवान को ही सर्वत्र अनुरंजित रूप में देखने लग जाता है—

१ मध्यकालीन प्रेम-साधना, द्वितीय संस्करण, पृ० १६

१—पुराण संहिता, ३२।१२

२—मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १४४

प्रेमांजनच्छुरित भक्ति विलोचनेन
संत: सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति ।

लीला की भाँति नित्य-विहार का भी अपना अलग महत्व है। यहाँ पर भगवान अवतार नहीं अवतारी हैं, परन्तु एक प्रकार के सभी सम्प्रदायों में नित्य-विहार की ठीक एक ही अर्थ में, व्याख्या नहीं की गई है। इस कारण, इनकी परस्पर संगति बैठाना सब समय संभव नहीं हो पाता। वास्तव में, यह रसिक भक्तों की चिंतन-प्रणाली का प्रतिफल है। ब्रज-रस एवं निकुंज-लीला की स्थिति सूर के लीला-वर्णन से भिन्न कोटि की है। राधा और सखियों के बीच कृष्ण का स्थान और शृङ्गार-भावना की अभिव्यक्ति दोनों में ही किंचित् भेद है। नित्य-विहार के कारण एक अपेक्षाकृत अधिक उदात्त है, क्योंकि वैसी स्थिति में अवतार की नहीं, रस-ब्रह्म की लीला चरितार्थ होती है। इन कृष्ण-भक्तों की दृष्टि में राधा-कृष्ण अनादि और अनन्त हैं। वास्तव में, ये लोग भगवान को भाव-रूप में न लेकर रस-रूप में लेते हैं, जिस कारण इनका एक स्वतन्त्र काव्यशास्त्र ही बन गया है।[1]

परन्तु उपर्युक्त रस-साधना कृष्ण-भक्ति तक ही सीमित नहीं है। राम-भक्तों तक में यह समादृत है। आठवीं शताब्दी के बाद से ही यह आलवार भक्तों की रचनाओं में स्पष्टत: लक्षित होने लगती है। रामानन्द की रचनाओं में भी इसके मूलतत्त्व विद्यमान हैं, फिर भी अग्रदास को ही इसका प्रवर्तक स्वीकार किया जाता है। यह धारा परवर्ती होने पर भी प्रबल है[2] और इसकी साधना राग-मूलक है, वैराग्य-मूलक नहीं। इसके प्रभाव से तुलसी जैसा सजग भक्त कवि भी अपने को बचा न सका, जिसके आराध्य देव मर्यादा-पुरुषोत्तम राम थे।

१—देखिये उज्वल नीलमणि हरिभक्ति रसामृत सिन्धु आदि

२—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, भूमिका, पृ० ५

वैष्णव कवियों ने "युगल जोड़ी" का चित्रण नायक-नायिका रूप में भी किया है। इस प्रसंग में निम्नलिखित उद्धरण द्वारा इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है—

"आलवारों के तमिल "प्रवन्धों" द्वारा सूचित होने वाले श्रीवैष्णव धर्म में एक विशिष्ट प्रकार के प्रेम का वर्णन है जो आत्मा एवं परमात्मा के बीच उत्पन्न होता है। यह लगभग उसी प्रकार का है, जैसा उत्तरी भारत के चैतन्यदेव ने भी प्रतिपादित किया था, अन्तर केवल इतना ही है कि यह विशिष्टाद्वैती ढंग का था। प्रसिद्ध वेदांतदेशिक ने इस बात की चर्चा अपनी "गोदा स्तुति" में की है। उसका कहना है कि गोदा के ये गुरु अर्थात् आलवार भक्त भगवान की उपासना करते समय अपनी भक्ति को यौन-सम्बन्धी प्रेम का रूप दे देते थे। उसके विरह विषयक प्रेम-कथाओं द्वारा अपने हृदय को सान्त्वना भी दिया करते थे, जिस बात की ओर "द्राविड़ोपनिषत् संगति" ने भी संकेत किया है। भगवान के प्रति दाम्पत्य प्रेम के रूप में प्रदर्शित इस भाव का सबसे सुन्दर विवरण सर्वश्रेष्ठ आलवार सरीशठकोपा की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि शठकोपा भगवान के प्रति क्रमश: भरत, लक्ष्मण एवं सीता द्वारा राम के प्रति एवं गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित विभिन्न भावों को अपनाया करते थे तथा समझते थे कि पुरुष का रूप केवल भगवान के ही उपयुक्त है और उनके समक्ष सम्पूर्ण विश्व स्त्रीवत् है। इस कारण भगवान के प्रति गंभीर प्रेम के भाव में आकर शठारि स्वयं भी स्त्री का रूप धारण कर लिया करते थे। तमिल वैष्णवों के इस "नायक-नायिका भाव" से श्री शंकराचार्य भी भलीभाँति परिचित थे, जैसा उनके "श्री मद्भगवत्गीता भाष्य" के एक प्रसंग से जान पड़ता है।"[1]

जयदेव तथा इस धारा के परवर्ती कवियों की

१—मध्यकालीन प्रेम-साधना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८-२९ पर उद्धृत

रचनाओं में वैष्णवोपासना का जो रूप मिलता है उसके मूल में उत्कलीय वैष्णव साधना का प्रभाव ढूंढ़ा जा सकता है। श्री गोपीनाथ जी कविराज के शब्दों में बौद्ध वज्रयान साधना में महासुख का जो उच्च स्थान है, वही महत्व सहजयान तथा परवर्ती साम्प्रदायिक सहजिया तथा बाउल साम्प्रदाय में रसतत्त्व को प्राप्त है''[१]।

यही कारण है कि राधा, कृष्ण की जीवन-सहचरी रूप में न होकर उनकी प्रेमिका रूप में चित्रित की जाने लगी। यह स्वकीया न होकर परकीया बनी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रेयसी से मिलने की जो तीव्र व्यग्रता एवं उत्सुकता रहती है, वह स्वकीया पत्नी से नहीं। गौड़ीय सम्प्रदाय में भी ''परकीया भावे अति रसेर उल्लास''[२] स्वीकार किया गया है।

भगवान की उपासना बाल, किशोर एवं वयस्क तीनों ही रूपों में की गई है। इन सभी रूपों पर भक्त-हृदय मुग्ध है, अन्तर केवल इतना है कि किसी ने किसी रूप को अधिक महत्व दिया है तो किसी ने किसी दूसरे को। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें एक से अधिक रूपों का समावेश हो गया है। सूर ने जिस बाल-लीला का वर्णन किया है, उसका उत्स विष्णु पुराण के पंचम अंश में पाया जा सकता है। चैतन्य सम्प्रदाय में ''नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्त-कान्तक'' द्वारा किशोर रूप में दर्शाया गया है, जो त्रिपुर सुन्दरी के महत्व से साम्य रखता है। इसी प्रकार, वयस्क रूप में दाम्पत्य अथवा सखी भाव से रसास्वादन किया गया है। ये सभी रूप सौन्दर्यानुभूति के आलंबन बन कर आये हैं।

दाम्पत्य भाव मीराबाई में अपने उत्कर्ष पर है। परन्तु यह सब पार्थिव न होकर आध्यात्मिक स्तर पर है। इसीलिए नित नूतन और चिर सुन्दर है, जिस कारण भक्त का रसिक मन आस्वादन करते-करते अघाता नहीं—

जनम अबधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल—(विद्यापति) वास्तव में, यह सौन्दर्यगत रूप-माधुरी नश्वर प्राणियों की कोटि से भिन्न है।

भौतिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान को प्राय: ऐश्वर्य के प्रतीक रूप में देखा गया है। परन्तु सच बात यह है कि ''लकुटी अरु कामरिया'' पर भी ''तिहूँपुर का राज'' न्यौछावर करने वालों का सर्वथा अभाव नहीं रहता आया है।

१—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, भूमिका, पृ० ८,

२—चैतन्य चरितामृत, आदिलीला,

(पृष्ठ २६ का शेषांश)

'खड़ा होना' एक क्रिया है। पंजाबी में 'गाड़ी खड़ती है'। हिन्दी में 'खड़ता है' 'खड़ती है' प्रयोग नहीं होते। कृदन्त रूप 'खड़ा' के आगे 'होना' सहायक क्रिया लगा कर काम चलाते हैं। पद्धति है। इसे भङ्ग करके कोई 'उठता है' की तरह 'खड़ता है' लिखे-बोले, तो अच्छा न लगेगा क्यों न अच्छा लगेगा? क्योंकि ऐसी चाल नहीं है। सो, भाषा का सौन्दर्य उसकी चाल से, शब्द-चयन से, शब्द-संस्कार से, उचित शब्द-प्रयोग से तथा प्रयोग-वैशिष्ट्य से बढ़ता है।

सौन्दर्यशास्त्र और रस-निष्पत्ति

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, पी-एच० डी०

काव्यशास्त्र, मनःशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र वास्तव में पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक दूसरे से पर्याप्त रूपेण सम्बन्धित हैं। काव्यशास्त्र का सम्बन्ध विशेषतः काव्य और कला से है, मनःशास्त्र मन की प्रक्रिया की विवेचना करता है और सौन्दर्यशास्त्र जीवन में मानव, पशु, कीट-पतंग, पुष्प, नदी-पर्वत, कला, कविता आदि सभी के प्रति सौन्दर्य-प्रवृत्ति की मीमांसा करता है। काव्य और कला के साथ-साथ मानव, पशु और प्रकृति का पर्यवेक्षण एवं विवेचन सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत है, किन्तु काव्यशास्त्र केवल काव्य और कला तक ही सीमित है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र से अधिक विस्तृत है। मनःशास्त्र का सम्बन्ध यदि मन से है तो सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध आत्मा से है। सौन्दर्यशास्त्र का प्रसिद्ध विद्वान् बोसाँके सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र की एक विशेष शाखा मानता है।[1] श्री बोसाँके महोदय 'हिस्ट्री ऑफ ऐसथैटिक' में कहते हैं कि जब वस्तु-धर्म कल्पना-समन्वित होकर प्रकाशित होता है तभी सुन्दर बनता है। कांट भी सौन्दर्य को एक चित्ता-वस्थामात्र ही मानता है। पंडितराज जगन्नाथ अलौकिक आनन्द की ज्ञानगोचरता को सौन्दर्य मानते हैं—"रम-णीयता लोकोत्तराह्लादात् ज्ञानगोचरता"—(पंडितराज जगन्नाथ)। जिस गुण के कारण सजीव या निर्जीव के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है, उसे कुछ लोग सौन्दर्य कहते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि सुन्दरता का अस्तित्व कहाँ है? किसी पुष्प को देखकर जब हम उसे सुन्दर कहने लगते हैं तब यह प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य उस पुष्प में है अथवा हमारे मन में। अर्थात् सौन्दर्य विषय-गत है अथवा विषयीगत। या विषय एवं विषयी—दोनों से सम्बन्धित। सौन्दर्यशास्त्र की यही प्रमुख मीमांसा है।

यूरोपीय विद्वान् प्रायः सौन्दर्य का अस्तित्व विषय-गत् मानते हैं। अरस्तू का दृष्टिकोण काव्य के प्रति वस्तु परक है।[2] उसका सिद्धान्त अनुकरण तथा विरेचन पर आधारित है। अतः हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के विवेचन में अरस्तू आकृतिवादी है। अफलातून अरस्तू से कुछ भिन्न अवश्य प्रतीत होता है। अफलातून विषयी की अवहेलना नहीं करता और विचार को अधिक महत्व देता है।

बर्कले काव्यकला की सौन्दर्य-विवेचना में आदर्श-वादी है। वह हृदय की भावनाओं को प्रधानता देता है। उसके मत से सौन्दर्य की स्थिति विषयी में है। भावना-वादियोंका कथन है कि कोई वस्तु हमको इसलिए अच्छी लगती है कि हम उसे चाहते हैं। लैला मजनूं को इस-लिए अच्छी लगती थी कि मजनूं को वह प्रिय थी। लोगों का कहना है कि लैला के शरीर में कोई सुन्दरता न थी। उसका रंग अमावस्या की रात्रि की तरह काला था। फिर भी मजनूं को वह सुन्दर लगती थी। लैला के उस काले-कलूटे शरीर में मजनूं ने क्या सुन्दरता देखी, इसे मजनूं के दिल से पूछिए।

कुछ सौन्दर्यशास्त्री समन्वयवादी हैं। उनके मत से विषय और विषयी के समन्वित सम्बन्ध में सौन्दर्य का अस्तित्व है। विषयी के गुणज्ञ होने पर ही विषय के गुण की परख हो सकती है। हीरे के गुणों की परख के लिए जौहरी की आँख चाहिए। स्वाँति की बूंद की मिठास पपीहा ही जानता है। चन्द्रमा की किरणों में

१—देखिए बोसाँके कृत—सौन्दर्य-शास्त्र पर तीन व्याख्यान (Three Lectures on Aesthetic Page, 10.)

१—ऐरिस्टोटिल—पोइटिक्स ५।८।४ और डा० नगेन्द्र सम्पादित 'अरस्तू का काव्यशास्त्र पृ० ६ से ११तक

क्या माधुर्य है, इसे चकोर से पूछना चाहिए। वीणा के नाद में जो सौन्दर्य है, उसे हरिण ही तो जानते हैं। कहीं बन्दर अदरक का स्वाद जानते हैं? काव्य और कला की परख सहृदय तथा सरस जन ही तो कर सकते हैं। रिझाने वाले रूप के लिए रीझने वाली आँखें चाहिए। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"रूप रिझावनहारु वै ये नैना रिझवार।"

संस्कृत के आचार्यों के अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि जितने सम्प्रदाय हुए वे सौन्दर्य की स्थिति विषय में अर्थात् काव्य में मानते हैं। केवल रससम्प्रदाय सौन्दर्य को विषयगत मानता है। आचार्य भरत मुनि के प्रसिद्ध सूत्र—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगद्रसनिष्पत्ति" व्याख्या करने के लिए चार आचार्य उटे—(१) लोल्लट, (२) शंकुक, (३) भट्टनायक, (४) अभिनवगुप्त।

रस (सौन्दर्य) की स्थिति कहाँ है? इसी को बताने वाली व्याख्याएँ उक्त आचार्यों ने प्रस्तुत की की हैं। प्रत्येक आचार्य का क्या मत है, यही यहाँ विवेच्य है।

व्याख्याकार आचार्यों ने अपनी व्याख्या में तीन प्रमुख बातों पर प्रकाश डाला है—(१) रस की स्थिति (२) संयोगात् का अर्थ (३) रस-निष्पत्ति का तात्पर्य।

आचार्य लोल्लट नायक में रस (सौन्दर्य) की स्थिति मानते हुए दर्शक में उसकी उत्पत्ति मानते हैं। लोल्लट के मतानुसार 'संयोगात्' का अर्थ 'सम्बन्ध' से है और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य है 'उत्पत्ति'। उनका मत 'उत्पत्तिवाद' कहलाता है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार विभावादि और रस में कारण-कार्य का सम्बन्ध है। आचार्य भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या यदि हम लोल्लट के दृष्टिकोण से बताना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं "विभावानुभावव्यभिचारिसम्बन्धात् रस-उत्पत्तिः।"

आचार्य शंकुक भी नायक में रस की स्थिति मानकर फिर दर्शक में रस की अनुमिति मानते हैं। शंकुक के मतानुसार 'संयोगात्' का अर्थ 'अनुमान से' है और निष्पत्ति का तात्पर्य है 'अनुमिति'। उनका मत 'अनुमितिवाद' कहलाता है। शंकुक के मतानुसार विभावादि और रस में अनुमापक-अनुमाप्य का सम्बन्ध है। भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या शंकुक के दृष्टिकोण से यह हो सकती है—"विभावानुभावव्यभिचारि अनुमानात् रस-अनुमितिः।"

उक्त दोनों व्याख्याकार आचार्यों के मतों को देखकर स्पष्ट होता है कि दोनों ही सौन्दर्य अर्थात् रस का अस्तित्व विषय में मानते हैं। उनके मत से सौन्दर्य वस्तुगत माना गया है।

भट्टनायक रस की स्थिति नायक में न मानकर दर्शक ही में मानते हैं। उनके अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ है 'साधारण भावित स्थिति से' और 'निष्पत्ति' से तात्पर्य है 'भुक्ति'। उनका मत 'भुक्तिवाद' कहलाता है। आचार्य भट्टनायक के मतानुसार विभावादि और रस में भोजक-भोज्य का सम्बन्ध है। भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या भट्टनायक के दृष्टिकोण से इस प्रकार की जा सकती है—

"विभावानुभावव्यभिचारिभोगात् रस-भुक्तिः।"

आचार्य अभिनवगुप्त भी रस का अस्तित्व विषयी में ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ है 'ध्वनन से' और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य है 'अभिव्यक्ति' अर्थात् 'आनन्दरूप अभिव्यक्ति'। उनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार दर्शक के हृदय का सुप्त स्थायी भाव जागरित होकर रस रूप में अभिव्यक्त होता है। अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण से सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

"विभावानुभावव्यभिचारि ध्वननात् रसाभिव्यक्तिः।"

आचार्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त रस अर्थात् सौन्दर्य की स्थिति विषयी में बताते हैं। भट्टनायक रसानुभूति में साधारणीकरण की अवस्था को मानते हैं। वे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नाम की शब्द-शक्तियों के स्थान पर अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व नाम देते हैं और कहते हैं कि दर्शक अभिधा शक्ति से नायक-

नायिका के सम्वादों का अर्थ ग्रहण करता है और फिर भावकत्व शक्ति से उसका भावन (मनन-चिन्तन पूर्वक आत्मरमण) होता है—अर्थात् जो भाव काव्यगत नायक नायिका में व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण होते हैं, वे काव्यपठन से अथवा नाटक देखने से सहृदय पाठक या दर्शक में साधारणीकृत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उनमें से ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है। वे भाव सभी पाठकों (दर्शकों) के लिए सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। सर्वसाधारण के ग्रहण योग्य भाव तभी बनते हैं जब उनमें भोजक वृत्ति काम करती है। भावकत्व और भोजकत्व के कारण दर्शक विशेषत्व से रहित होकर साधारणीकृत हो जाता है—अर्थात् शकुन्तला नाटक देखने वाले दर्शक का भाव शकुन्तला के प्रति ठीक वैसा ही न होगा, जैसा कि दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति था। दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति जो रति-भाव है, वह सहृदय दर्शक के लिए शुद्ध सात्विक रति-भाव बन जायगा जिसमें शकुन्तला केवल स्त्री होगी, पत्नी नहीं।

वास्तव में भट्ट नायक के 'भावकत्व' का अर्थ ही 'साधारणीकरण' है। काव्यप्रकाश की टीका में प्रदीपकार ने साधारणीकरण को इन शब्दों में समझाया है–

"भावकत्वं हि साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभादयः स्थायी च साधारणी क्रियन्ते।"

—का० प्र० टीका

आचार्य अभिनवगुप्त का मत मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है। जिस प्रकार पीली मिट्टी पर पानी पड़ते ही उसमें निहित गन्ध एक दम प्रकट होने लगती है, ठीक उसी प्रकार वासना रूप सुप्त स्थायी भाव विभावानुभाव-व्यभिचारियों द्वारा जागरित होकर अभिव्यक्त होने लगते हैं अर्थात् रस रूप में प्रकट होते हैं। बहुत-कुछ यही दशा सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में भी होती है।

आचार्य अभिनव रसरूप सौन्दर्य की स्थिति यद्यपि विषयी में मानते हैं परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो आप उन्हें सामंजस्य विधायकों में पायेंगे। वास्तव में सच्चा सौन्दर्य आन्तरिक और बाह्य का समन्वयात्मक स्वरूप है। वह विषयगत भी है और विषयीगत भी—अर्थात् सौन्दर्य वस्तुगत भी है और हृदयगत भी।

आदर्शवादी विद्वान् सौन्दर्य को प्रायः विषयगत मानते हैं और उसके अध्यात्म पक्ष पर अधिक जोर देते हैं। प्लेटो, बोसांके, काँट, पण्डितराज जगन्नाथ, जायसी आदि इसी मत के समर्थक माने जाते हैं।

कुछ रसिक विद्वान् सौन्दर्य के बाह्य पक्ष पर अधिक बल देते हैं और उसे पूर्णतया विषयीगत मानते हैं। अरस्तू, कीट्स, माघ, भारवि, बिहारी आदि इसी मत के समर्थक एवं पोषक कहे जा सकते हैं।

कुछ यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों के मत सौंदर्य के सम्बन्ध में यहाँ द्रष्टव्य हैं—

"Beauty is the spiritual making itself known sensuasly, "अर्थात् सौन्दर्य आध्यात्मिकता की भावात्मक अभिव्यंजना है—(प्लेटो)

"All beauty is the expression of what may be generally called emotion, "अर्थात् सौन्दर्य भाव की अभिव्यंजना है।

—(क्रोट)

"क्षण क्षण यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।" क्षण-क्षण में जो नवीनता धारण करता है वही सौन्दर्य है।—(माघ)

प्रसाद जी ने कामायनी में सौन्दर्य का अस्तित्व समरसता में माना है—

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था॥"—प्रसाद

सौन्दर्य को विषयीगत मानने वालों का कहना है कि सौन्दर्य व्यक्ति की अपनी निजी अनुभूति है, बाह्य जगत् से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। विषयगत मानने वाले संसार की वस्तुओं में ही सौन्दर्य मानते हैं। उनका मत है कि वस्तु की सुन्दरता ही मन को खींचा करती है।

सौन्दर्यानुभूति में व्यक्ति के संस्कार अवश्य काम करते हैं। जिस देश और काल में मनुष्य रहता है, उसीके अनुसार उस मनुष्य के सौन्दर्य का मानदण्ड बनता है। वही मानदण्ड किसी वस्तु की सुन्दरता और असुन्दरता पर अपना निर्णय दिया करता है। जिस प्रकार हमारे हृदयों में स्थायी भाव नित्य निवास करते हैं और कविनिबद्ध पात्रों के विभावादि से जागरित होकर रस रूप में हमें आनन्दानुभूति कराते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारी मनोभूमि पर हमारे संस्कार भी सौन्दर्य का एक परिनिष्ठित रूप चित्रित कर देते हैं, जो सदैव हृदयाँकित रहता है। आचार्य क्षेमेन्द्र के शब्दों में यही 'औचित्य' कहलाता है। वस्तुत: आचार्य भरत मुनि, क्षेमेन्द्र आदि का औचित्य रस—संचार का एक प्रमुख साधन है। देशकाल-जनित मानसिक औचित्य ही तो शास्त्रीय शब्दों में 'काव्य की आत्मा' कहलाता है। औचित्य ही सौन्दर्य है और अनौचित्य ही असौन्दर्य। क्षेमेन्द्र कहते हैं कि कण्ठ में मेखला और नितम्ब पर हार पहनने से हँसी उड़ती है—"कण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा।....... शौर्येण प्रणांते रिपौ करुणाया नायन्ति के हास्यताम्॥" जब हम कोई वस्तु देखते हैं तब परिनिष्ठित सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब हमारे मन-मुकुर में पड़ता है और हम तुरन्त उस प्रतिबिम्ब की तुलना अपने संस्कार-जन्य सौन्दर्य से करने लगते हैं। यदि वह प्रतिबिम्ब उस वस्तु के सौन्दर्य की तुलना में ऊँचा बैठता है तो हम उसे अति सुन्दर मान लेते हैं; यदि समान होता है तो 'सुन्दर' कहते हैं और यदि कम अर्थात् नीचा रह जाता है तो उसे 'असुन्दर' कह देते हैं। अतएव सुन्दरता के मूल्याँकन में व्यक्ति और वस्तु का समन्वयात्मक सम्बन्ध ही प्रमुख रहता है। आचार्य भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि रसवादी सामंजस्यात्मक सौन्दर्य-विधान के पक्ष में ही अपनी विचार-धारा व्यक्त करते हैं। औचित्य-सिद्धान्त में भी विषयी और विषय की समन्वयात्मक प्रक्रिया है, तभी रस या सौन्दर्य की अनुभूति होती है।

कोई कवि या कलाकार जब सौन्दर्य का स्वयं अनुभव करता है तब उसकी अनुभूति में बाह्य वस्तुओं का ही प्रभाव अधिक रहता है; किन्तु जब वह सौन्दर्य की अभिव्यंजना पुनर्विधान के रूप में करता है तब उसकी अपनी आत्मा भी उन्मुक्त भाव से बिखर पड़ती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में वस्तु और व्यक्ति दोनों ही प्रधान हैं। यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के मूल में प्रधानता व्यक्ति की ही है, वस्तु तो गौण है। अलङ्कार सिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त आदि काव्य के बाह्य पक्ष पर ही अधिक बल देते हैं। वे वस्तु ही में सौन्दर्य मानते हैं। विषयीगत अर्थात् सहृदय व्यक्ति में सौन्दर्य मानने वाला तो एक रससिद्धान्त ही है, जिसने अन्य सभी सिद्धान्तों पर विजय पा ली है। यह सिद्धान्त सौन्दर्य को विषयीगत मानते हुए भी वस्तु की अवहेलना नहीं करता। अत: निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप आन्तरिक तथा बाह्य और विषयी तथा विषय के सामंजस्य में ही निहित है। रीझने वाले नयनों के आगे रिझाने वाला रूप भी होना चाहिए। आचार्य भरतमुनि के 'रस-निष्पत्ति' सूत्र के मूल में यही विचारधारा निहित है।

भारतीय काव्य-शास्त्री काव्य में रसानुभूति और कलाओं (मूर्ति-चित्र आदि) में सौन्दर्यानुभूति मानते हैं। मेरी मान्यता है कि जहाँ रसानुभूति होती है वहाँ सौन्दर्यानुभूति भी पूर्व-पीठिका में अवश्य ही होती है। हाँ, केवल सौन्दर्य की स्थिति में रस का पाया जाना आवश्यक नहीं।

———

आधुनिक अंग्रेज़ी समालोचना में सौन्दर्य-चिन्तन

श्री अमरनाथ जौहरी एम० ए०

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पश्चिमी जगत में एक निराशाजनक अप्रकृतिस्थता, (Abnormality) मानसिक अस्वस्थता, आत्म-दया एवं पापिष्ठतावाद का वातावरण विद्यमान था। इसका समालोचना पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इंग्लैण्ड में शुद्ध सौन्दर्यवादी परंपरा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से चली आ रही थी। नये विचारक इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। टी० एस० इलियट ने इस दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यक्त किया—'आप सौन्दर्य-समीक्षा एवं नैतिक और सामाजिक समीक्षा के बीच रेखा नहीं खींच सकते। आप समीक्षा तथा दर्शन के बीच रेखा नहीं खींच सकते। आप सौन्दर्य-समीक्षा आरम्भ कीजिये, और आप कितने ही कट्टर सौन्दर्यवादी क्यों न हों, आप शीघ्र ही अथवा कुछ समय के उपरान्त उसकी सीमाओं का उल्लंघन कर जायेंगे और किसी अन्य क्षेत्र में पहुँच जायेंगे। आप के लिये उचित है कि आप इस स्थिति को स्वीकार करें एवं समझ लें कि आप में इतनी कुशलता भी होनी चाहिये कि आप तुरन्त उस क्षेत्र से अपने क्षेत्र में वापिस आ सकें।'[1] इस नये दृष्टिकोण के बावजूद बीसवीं शताब्दी में कलावाद एवं प्रभाववाद के सिद्धान्त भी सबल रूप में विद्यमान रहे।

(१) कलावाद

'कला कला के लिये'—इस सिद्धान्त का सूत्रपात फ्रांस में हुआ। इंग्लैण्ड में ह्विस्लर ने इसका प्रचार किया। पेटर की समीक्षा से इसको बल मिला एवं ऑस्कर वाइल्ड तथा 'यैलोबुक' नामक त्रैमासिक पत्रिका के सदस्यों ने इसका पोषण किया।[2] इसके मूल में रस्किन के नीति-परक सिद्धान्तों के प्रति प्रतिक्रिया की भावना थी एवं जर्मन सौन्दर्य-शास्त्र का चिन्तन था। क्लाइव-बैल ने कहा कि सौन्दर्य की अनुभूति एक विशिष्ट अनुभूति होती है, जो हमें कला-कृतियों द्वारा प्राप्त होती है।[1] डाक्टर ब्रैडले ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है[2] :—

१—सौन्दर्यानुभूति स्वयं साध्य है, और अपना विशिष्ट मूल्य रखती है। इसके अन्तर्वर्ती मूल्य के कारण ही इसकी प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

२—इसका एकमात्र अन्तर्वर्ती मूल्य ही इसका काव्यगत मूल्य है। काव्य साँस्कृतिक चेतना, धर्म अथवा धनोपार्जन का भी साधन हो सकता है। किन्तु उसके वहिर्मूल्य से उसके अन्तर्वर्ती मूल्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। काव्यानुभूति एक तुष्टि प्रदान करने वाली कलात्मक अनुभूति होती है और उसका मूल्याँकन उसके अन्तर्वर्ती मूल्य द्वारा ही हो सकता है।

३—यदि कवि काव्य-रचना में, एवं पाठक काव्यानुभूति में, वहिर्मूल्यों का विचार करता है, तो काव्य का अन्तर्वर्ती मूल्य न्यून हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने में वह कविता को उसकी प्रकृति एवं उसके वातावरण से अलग कर देता है।

४—क्योंकि काव्य की यह प्रकृति है कि वह वस्तु-जगत का न अंश है, न उसकी प्रतिकृति है, अपितु वह स्वयं एक स्वतन्त्र, सम्पूर्ण एवं स्वयं-प्रेरित स्वाधीन जगत है।

1—Edgell Rickword : 'Scrutinies'. Page 69.

2—R. A. Scott-James : 'The making of Literature'. Page 313

1—Clive Bell : "Art" Page 49.

2—A. C. Bradley : Oxford lectures on English Poetry : Page 5,

प्लेटो, अरिस्टॉट्ल होरेस, डान्टे, कॉल्रिज, मैथ्यू आर्नल्ड प्रभृति समालोचकों ने साहित्य को जीवन से सम्बद्ध बताया था। उनका विचार था कि कला-जनित अनुभूतियों का मूल्य अन्य मूल्यों के समान ही आँका जाना चाहिये। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। काव्यगत् अनुभूति मनुष्य की अन्य अनुभूतियों से अलग नहीं की जा सकती।

(२) प्रभाववाद[1]

प्रभाववादी आलोचक परम्परावादी एवं शास्त्रीय आलोचकों के विरोधी हैं। शास्त्रीय आलोचकों के समान वे 'निर्णय के मापदण्ड' को तो स्वीकार करते हैं, किंतु यह मापदण्ड उन्हें अपने ही अन्दर, अथवा अपनी ही विलक्षण सौन्दर्य्य-वृत्ति में प्राप्त होता है। जे० ई० स्विनगार्न का कथन है कि "इन्द्रियों के द्वारा कलाकृति की अनुभूति प्राप्त करना, एवं उसे व्यक्त करना—यही समालोचना का उद्देश्य है।"[2] आर्थर सिमन्स की आलोचनायें प्रभाववादी हैं। उसका उद्देश्य कलाकृति-जनित सम्वेदनाओं एवं अनुभूतियों का चित्रण करना है, उनका मूल्यांकन करना नहीं। राबर्टलिन्द का कहना है कि काव्य द्वारा हमें वस्तु-स्थिति का स्मरण होता है; क्योंकि काव्य-जनित अनुभूति एक प्रबल अनुभूति है, चाहे वह प्रेम की हो, चाहे धर्म अथवा देशभक्ति की हो, अथवा एक 'अधिक सम्पूर्ण जगत की कामना' की हो' और उसे हम भूल नहीं सकते।[3] सर हेनरी न्यू बोल्ट का विचार है कि जब कवि की आत्मा अपने घर (अर्थात् एक अधिक सम्पूर्ण जगत) की स्मृति में आकुल होती है, तब उस स्थिति में जीवन का जो रूप उसके हृदय में बनता है, उसकी अभिव्यक्ति कविता कहलाती है।[4] यह स्मृति-जन्य आकुलता सौन्दर्य्य के लिये हो सकती है, स्थायित्व के लिये भी हो सकती है, अतीत के लिये भी हो सकती है। कवि जानता है कि सुन्दर वस्तुयें विलीन हो जाती हैं, किन्तु वह अनुभव करता है कि सौन्दर्य्य का प्रभाव अजर है, और यद्यपि सुन्दर वस्तुयें समाप्त हो जाती हैं, जगत का यह सौन्दर्य-प्रवाह बना रहता है।[1] कबीर ने भी तो कहा था—'रस गगन-गुफा में अजर झरे', यद्यपि उसका संकेत काव्यानन्द की ओर नहीं, ब्रह्मानन्द की ओर था। लिंद के अनुसार, प्रत्येक कवि इस सौन्दर्य्य-नद के तट पर आता है, और उसके अमृत का पान करके सौन्दर्य्य की प्रेरणा प्राप्त करता है।[2] कवि की यह सौन्दर्य्यानुभूति जब पाठक के हृदय में जाग्रत हो जाती है, तो कविता का उद्देश्य पूरा हो जाता है। यह आत्म-परक सौन्दर्य्यानुभूति ही कला एवं साहित्य में निर्णय का मापदण्ड बन जाती है, किन्तु अपने व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर निर्णय के सिद्धान्तों का निर्माण करना सहृदय व्यक्ति के निश्छल प्रयत्न द्वारा ही सम्भव हो सकता है।'[3]

निस्सन्देह पेटर, मिड्लटन मरी, लिंद जैसे प्रभाववादी आलोचकों की समीक्षा मूल ग्रन्थों से भी अधिक सुन्दर एवं चमत्कार-पूर्ण है, किन्तु प्रभाववादी आलोचना का मूल्य पूर्ण रूप से आलोचक के व्यक्तित्व पर ही निर्भर है। इससे अनुत्तरदायी आलोचना को बल मिलता है, और यही इसकी दुर्बलता है।

(३) अभिव्यंजनावाद[4]

अभिव्यंजनावाद ने सौन्दर्य्यानुभूति की समस्या पर एक नया प्रकाश डाला। इटैलियन लेखक क्रोचे इस सिद्धान्त का प्रवर्तक है। उसके दृष्टिकोण से रूप एवं आकार युक्त अनुभूति ही वास्तविक अनुभूति है, और

1—Impressionism.

2—Millet, Mauly & Rickart : 'Contemporary British Literature.' Page 104

3—Robert Lynd's Essay "On Poetry and the Modern Man."

4.—Ibid.

1—Robert Lynd's Essay "On Poetry and Modern man."

2—Ibid.

3—Remy de Gourmont, as quoted by Middleton Murry in his essay 'A Critical Credo.'

4—Expressionism.

कलाकार के लिये वही उसकी अभिव्यंजना है। संक्षेप में यह सिद्धान्त इस प्रकार है:—

१—प्रातिभज्ञान[1] कल्पना द्वारा प्राप्त होता है। प्रातिभ ज्ञान मानसिक प्रभावों की सक्रिय अभिव्यंजना का नाम है। जब कलाकार को किसी वस्तु का केवल अनुभव होता है, अथवा वह केवल उसकी झलक-मात्र देखता है, तो उसे उसका प्रातिभ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। किन्तु जब उसके मस्तिष्क में उसकी अनुभूति की सम्पूर्ण अभिव्यंजना हो जाती है, तब उसे उसका प्रातिभ ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तिष्क में रूप और आकार के निर्माण के उपरान्त ही सौन्दर्य्यानुभूति होती है। प्रातिभ ज्ञान भावनाओं एवं वासनाओं की उथल पुथल को पराभूत कर देता है। जब व्यक्ति अपने मस्तिष्क में अपनी अनुभूतियों को वस्तुगत रूप दे देता है, तब वह उनसे मुक्त हो जाता है एवं उसकी भावनायें और वासनायें शांत हो जाती हैं।

२—कलाकार ही ऐसा व्यक्ति है, जो बहुत स्पष्ट देखता है। जितना स्पष्ट वह देखेगा, उतनी ही स्पष्ट उसके अंतस् में अनुभूति की अभिव्यंजना होगी। स्वतंत्र अनुभुति के जिन क्षणों में कलाकार का अन्तस् उस अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाता है, उन्हीं क्षणों में वह कलाकार कलाकार है। सफल अभिव्यंजना से जो आत्म-मुक्ति प्राप्त होती है, उससे कलाकार के हृदय में आनन्द की लहर दौड़ जाती है। यही काव्यगत आनन्द है। और जैसे जैसे कवि के अंतस् में इस अनुभूति की अभिव्यंजना होती जाती है, वैसे वैसे यह अनुभूति सुन्दर होती जाती है।

३—कविता, चित्रादि केवल भौतिक उद्दीपन हैं, जिनके द्वारा कलाकार अपने प्रातिभ ज्ञान का पुनर्निर्माण करता है। जब कलाकार एक बाह्य वस्तु (कविता, चित्रादि) का निर्माण करता है, तो वह अपने कला के क्षेत्र को त्याग कर एक ऐसे जगत में प्रवेश करता है जो सामाजिक जगत है, और जहां आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, व्यावहारिक बातें महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं, अर्थात् कलाकार देखने के लिये स्वतंत्र है, कहने के लिये नहीं[1]।

क्रोचे ने कलाकार के अंतस् की बहुत सुन्दर विवेचना की है, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु उसने सौन्दर्य्यानुभूति की प्रेषणीयता के विषय में कुछ नहीं कहा। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कला का उद्देश्य जगत के सम्मुख कुछ रखना है, जो सुन्दर हो। टॉलस्टाय का प्रेषणीयता का सिद्धान्त क्रोचे के सिद्धान्त का पूरक कहा जा सकता है, यद्यपि प्रेषणीयता का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ही हुआ।

(४) प्रेषणीयतावाद[2]

टॉलस्टाय के अनुसार कला एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति एक अनुभूति प्राप्त करता है, और फिर निश्चय पूर्वक दूसरे व्यक्ति के हृदय में उसका प्रेषण करना चाहता है[3]। ऐलमर मॉड ने एक उदाहरण द्वारा इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—

कल्पना कीजिये कि एक जन-संकुल कमरे में से होकर जाते हुये एक पुरुष का पैर एक महिला के अंगूठे पर पड़ जाता है। महिला कष्ट से चीख पड़ती है, और तुरंत अपना पैर खींच लेती है। उसके मुख पर वेदना की रेखायें बन जाती हैं और उपस्थित व्यक्तियों के हृदय में उसके दुख का संचार हो जाता है। किन्तु उसका यह कार्य कला नहीं है, क्योंकि उसका भाव-प्रेषण उसकी अनुभूति के समय ही हुआ है। वह स्वतः स्फूर्त एवं नैसर्गिक प्रवृत्ति-जनक है। किन्तु यदि वह सज्जन फिर उसके पास से होकर निकले, और यदि अपने अंगूठे पर उसका पैर पड़े बिना वह स्त्री इस प्रकार अभिनय करे कि जैसे उसका अंगूठा कुचल गया हो, और यदि उसकी अभिव्यक्ति बिल्कुल ऐसी ही हो जैसी पिछली

1—Intuition.

1—R. A. Scott James. 'The Making of Literature, Page 316.

2—"The Infection Theory."

3—Tolstoy: "What is Art ?" (O. U. P.) Page 6

बार हुई थी, और यदि उपस्थित सज्जनों के हृदय में उन्हीं भावनाओं का संचार हो जाय जो पिछली बार हुआ था, तो उस स्त्री का यह कृत्य कलापूर्ण होगा, और यही उसकी भाव-प्रेषणीयता कही जायेगी। यदि उसका अभिनय उसके भाव को पूर्णत: व्यक्त न कर सके, तो उसका प्रयत्न निष्फल हो जायेगा और उसका कृत्य कलापूर्ण नहीं होगा।[1] टॉलस्टाय के अनुसार कला के लिये चार बातें आवश्यक हैं :—

१—कलाकार किसी अनुभूति को स्वयं प्राप्त करके, फिर दूसरों के हृदय में उसका प्रेषण करने के लिये उसकी पुनरावृत्ति करता है।

२—कला का बाह्य रूप विषय-वस्तु अथवा भाव के पूर्णत: अनुकूल होना चाहिये। यदि उसके बाह्य रूप में किंचित्मात्र भी दोष है, तो भाव के प्रेषण में बाधा पड़ जायेगी और कला का लोप हो जायेगा।

३—यह आवश्यक है कि कला द्वारा ऐसे भावों का संचार किया जाय, जो सात्विक हों, और जिनसे संसार का कल्याण हो। कला का जीवन से गहरा सम्बन्ध है और उसका जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

४—चूंकि कला जीवन से सम्बद्ध है, अत: स्वतंत्र रूप से उसका कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान के समान और उसके साथ कला भी मानव के जीवन एवं विकास का अभिन्न अंग है।

रिचर्ड्स का विचार है कि टॉलस्टाय का दृष्टिकोण संकुचित है।[3] इस सिद्धान्त का उदय जनजीवन की क्लेश और पीड़ा की पृष्ठ भूमि पर हुआ है, अत: इसे सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता।

(५) प्रतिष्ठित सौन्दर्य्यवाद[4]

प्रोफेसर इर्विंग बैबिट के अनुसार सौन्दर्य्य के शास्त्रीय आलोचक को चाहिये कि वह किसी ऐसे आदर्श के द्वारा कलाकृति का मूल्यांकन करे जो उसकी एवं कलाकार की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से ऊंचा हो। उसकी अभिरुचि एवं निर्णय शक्ति तभी मान्य होगी जब वह रचनात्मक अभिव्यक्ति का (अथवा कलाकृति का) एवं अपने ऊपर पड़े हुये उसके प्रभाव का किसी प्रतिष्ठित मापदण्ड से मूल्यांकन करे।[1] प्रोफेसर बैबिट के अनुसार यह आदर्श उसे प्राचीनकाल की महान कला-कृतियों में, ग्रीक एवं रोमन साहित्य में, तथा चुने हुये अंग्रेजी एवं योरोपियन साहित्य में उपलब्ध होगा।

शास्त्रीय समालोचकों में टी० एस०ईलियट अग्रगण्य हैं। मैथ्यू आर्नल्ड के समान उसने अतीत के महान लेखकों (अर्थात डांटे, डन और शेक्सपीयर आदि) का पुन: मूल्यांकन किया है। अपनी पुस्तक "दी सेक्रेड वुड" में उसने कहा—'कविता भावनाओं का अनियंत्रित उद्रेक नहीं है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है, व्यक्तित्व से मुक्ति है।'[2] जो प्रभाव एवं अनुभूति मानव के लिये महत्त्वपूर्ण है, सम्भव है कि कवि के लिये उनका कोई महत्त्व न हो, और जो प्रभाव एवं अनुभूति कवि के लिये परमावश्यक है, सम्भव है मानव के लिये (अथवा उसके व्यक्तित्व के लिये) उनका कोई मूल्य न हो। अत: कवि के व्यक्तित्व का उसकी कला से लगभग कोई सम्बन्ध नहीं होता।

टी० एस० ईलियट का विचार है कि कलाकृति का प्राथमिक सम्बन्ध परम्परा से होता है, अपने रचयिता से नहीं। समीक्षक का कार्य है कि वह वर्तमान के लिये

1—Tolstoy : "What is art" (O. U. P.), Page 7

2—Ibid.

3—I. A. Richards : "Principles of Literary Criticism–Page 66

4—Classical Aestheticism.

1—Millet, Mauly & Rickart : 'Contemporary British Literature' Page 103

2—Quoted by Herbert Read : "Collected Essays in Literary Criticism" Page 22

अतीत का निर्वचन करे, एवं अतीत के मापदण्ड से वर्तमान का निर्णय हो।[१]

साहित्य रचना के विषय में ईलियट का विचार है कि कला-रूप में भाव की अभिव्यक्ति का एकमात्र ढंग यह है कि उस वस्तु को अन्योन्याश्रित बनाया जाय,[२] अर्थात् किसी वस्तु-समूह, घटना अथवा घटना-क्रम को उस विशिष्ट भाव का सूत्र बनाया जाय। और यह कार्य इस प्रकार किया जाय कि जब कभी वह वाह्य वस्तु-समूह प्रस्तुत किये जांय, जिनके द्वारा सम्वेदनीय अनुभूति की उपलब्धि हो, तो उस मूल भाव का तुरन्त संचार हो जाय।[३]

आई० ए० रिचर्ड्स के समान ईलियट ने भी काव्य-कला-विन्यास[४] के सूक्ष्म विवेचन का प्रयत्न किया है। उसने समालोचकों का ध्यान अपने युग की सभ्यता और संस्कृति पर कवि की प्रतिक्रिया की ओर भी आकृष्ट किया है। वर्तमानवादी एवं भविष्यवादी समालोचना के तिर्यक प्रभाव में ईलियट का प्रतिष्ठित परम्परावाद टिक सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह है।

(६) मनोविश्लेषणात्मक सौन्दर्यवाद

बीसवीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है—फ्रायड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों[१] पर आधारित साहित्यालोचन। इस वर्ग के आलोचकों ने कला-जनित अनुभूतियों का बड़ा विशद विवेचन किया है।

इस परम्परा के महान प्रवर्तक आई० ए० रिचर्ड्स का कथन है कि आधुनिक सौन्दर्य्य-शास्त्र की यह मान्यता कि सौन्दर्य्यानुभूति के समय मस्तिष्क में एक विशिष्ट क्रिया होती है, निराधार है, तथा यह भी भ्रांतिमूलक धारणा है कि कला-कृति द्वारा जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, वह इन्द्रिय-जनित आनन्द से अथवा साधारण आनन्दमयी अनुभूतियों से भिन्न है। उसका कहना है कि मनोविज्ञान ऐसी कल्पना का समर्थन नहीं करता।[२] वर्नोन ली ने कहा था कि 'दृश्य-श्रव्य रूपों तथा कला-रसज्ञ के बीच में एक सम्पूर्णतः अनूठा सम्बन्ध विद्यमान रहता है तथा इस बात की पुष्टि इससे होती है कि कुछ विशेष अनुपात रूप, प्रतिकृतियाँ, तथा रचनायें ही कला-कृतियों में बार-बार प्रगट होती हैं।[३] रिचर्ड्स का विचार है कि इससे किसी अनूठी सौन्दर्य्यानुभूति का अस्तित्व स्थापित नहीं होता।

1—'Tradition & Experiment in Present day Literature (O. U. P.) Page 198.

2—"The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative'...." (T. S. Eliot's formula of the 'Objective correlative')

3—Edgell Rickword: Scrutinies Vol, II, Page 63.

4—'Poetic Mechanism'.

१—फ़्रायड (Sigmund Freud) का सिद्धांत है कि मानसिक जीवन चेतन एवं अचेतन पर आधारित है। चेतन ही मानसिक जीवन का मूल तत्व नहीं है। चेतन तो मानसिक क्रिया के अनेक अङ्गों में से केवल एक है। मानव मस्तिष्क कुण्ठाओं की युद्ध-भूमि है। मानव के मानसिक विकास में यौन-चेतना प्रत्येक स्थिति में (शैशव काल से ही) विद्यमान रहती है।

2—I. A. Richards : Principles of Literary Criticism. Chapter II

3—'A relation entirely sui generis between visible and audible forms and ourselves' can be deduced from the fact 'that given proportion, shapes, pattern,, compositions have a tendency to recur in art'—Vernon Lee 'Beauty & Ugliness, Page 10, as quoted by Richards.

रिचर्ड्स का कथन है कि कलाकृति-जनित सौन्दर्य्यानुभूति साधारण वस्तुओं एवं कृत्यों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य्यानुभूति से भिन्न नहीं होती। यदि हम स्वतन्त्र सौन्दर्य्यानुभूति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तो हमें जीवन से असम्बद्ध-कला के मूल्यों को भी मानना पड़ेगा। यह विचार कि किसी कलाकृति के रसास्वादन के लिये हमें जीवन से कुछ नहीं लेना चाहिये, हमें जीवन के विचारों एवं कार्य-कलापों के ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं है, हमारे लिये जीवन की अनुभूतियों से परिचित होना भी आवश्यक नहीं है, एक अत्यन्त भ्रांतिमूलक विचार है, क्योंकि यह कला को मानव-जीवन के अन्य स्वाभाविक व्यापारों से अलग कर देता है, और मनोविज्ञान इसे पुष्ट नहीं करता।

रिचर्ड्स मूलतः समवबोध[१] एवं मूल्यांकन की प्रक्रियाओं का विश्लेषण करता है। उसने समवबोध की इन्द्रिय-जनित, भाव-गत एवं बुद्धिपरक बाधाओं पर आश्चर्यजनक प्रकाश डाला है। अपने मूल्यांकन के सिद्धान्तों में उसने समस्त मूल्यों के समन्वय का समर्थन किया है, चाहे वे मूल्य सौन्दर्य्य-गत हों अथवा नैतिक पारिभाषिक हों अथवा बौद्धिक। रिचर्ड्स का मूल्यांकन सिद्धान्त अन्य समीक्षा सिद्धान्तों की भ्रांतियों का निवारण करता है। सौन्दर्य्यगत और नैतिक मूल्यों के समन्वय की समस्या प्लेटो के समय से आज तक साहित्यालोचन की जटिल समस्या बनी हुई थी। उसे सुलझाने का भी रिचर्ड्स ने प्रशंसनीय प्रयास किया है।

(७) अस्तित्ववाद[२]

युद्ध एवं युद्धोत्तर काल में अस्तित्ववाद का साहित्य पर प्रभाव पड़ा। जर्मन लेखक काफ़्का[3] के उपन्यासों में नये युग की चेतना थी। काफ़्का एक अद्भुत अतिविधिज्ञ था। उसने जन-साधारण की तथा अपने युग की वेदना को वाणी दी थी। अतः वह इस चिन्ता के युग का

1—'Comprehension'.
2—Existentialism.
3—Fraux Kafka.

प्रतिनिधि माना जाने लगा।[१] नये युग के इस निराशावाद का प्रभाव डेन्मार्क के लेखक कीर्कगार्ड[२] पर भी पड़ा। कीर्कगार्ड ने अनुभव किया कि जीवन के प्रेम-सम्बन्धी अथवा धर्म-सम्बन्धी अथवा अन्य महान संकटों में परम्परागत सिद्धान्त मानव का मार्ग प्रदर्शन नहीं करते। अतः उसने उन समस्त सिद्धान्तों को ठुकरा दिया और कहा कि सत्य प्रातीतिक है, वैषयिक नहीं। उसने कहा कि हमें अपने व्यावहारिक जीवन में छोटे-बड़े निर्णय करने पड़ते हैं। उन निर्णयों का हमारे व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। अतः सत्य हमारे व्यक्तित्व एवं सत्य की जो प्रतीति हमें होती है—इन दोनों पर आश्रित है।[3] यही अस्तित्ववाद का दार्शनिक सिद्धान्त है।

अतियथार्थवादियों[४] ने अवचेतन का तत्त्व-विवेचन एवं रहस्योद्घाटन किया था। उनका सिद्धान्त था कि कला एवं यथार्थवाद की एकमात्र स्थिति मानव के अयुक्तिक व्यक्तित्व[५] में होती है। उनका कथन था कि उत्कृष्ट कला में स्वयं प्रेरित लेखन अथवा स्वप्नों का मूलानुगामी अंकन होना चाहिये, किन्तु यह लेखन एवं अंकन कल्पना द्वारा क्रम-बद्ध होना चाहिये।[६]

साहित्यिक अस्तित्ववाद इसी अतियथार्थवाद का विकसित रूप है। अस्तित्ववाद की भी यह मान्यता है कि मनुष्य अयुक्तिक शक्तियों का कोष है, किन्तु फिर भी जब अयुक्तिक विचार उसके समक्ष आते हैं, तो वह हतप्रभ हो जाता है और उन्हें तुरन्त स्वीकार नहीं कर

1—Isracs : 'An Assessment of Twentieth Century Literature' Page 65
2—Soren Kierkegaard.
3—John Drinkwater : 'The Outline of Literature.' Page 804
4—Surrealists.
5—'Irrational self'.
6—Allardyce Nicoll : 'World Drama.' Page 774

(शेष पृष्ठ ६६ पर)

पंडितराज जगन्नाथ की काव्य-सिद्धान्त को देन

प्रेमस्वरूप गुप्त एम० ए०, आचार्य

पंडितराज जगन्नाथ संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अन्तिम, प्रतिभाशाली आचार्य थे। उनका समय १७ वीं शती का मध्य है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र उनसे लगभग ६ शतक पूर्व ही परिनिष्ठित रूप प्राप्त कर चुका था। आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त जैसी प्रतिभायें सिद्धान्त निर्माण का कार्य समाप्त कर चुकी थीं। ११ वीं शताब्दी तक मम्मट के हाथों काव्यप्रकाश के रूप में एक व्यवस्थित काव्यशास्त्र निष्पन्न हो चुका था। मम्मट से जगन्नाथ तक सुदीर्घ ६०० वर्ष के काल में एक कुन्तल की ही उल्लेखनीय प्रतिभा सामने आई। किंतु ध्वनिवादी मान्यतायें इतनी जड़ पकड़ चुकी थीं कि कुन्तल का विशेष रंग न जम सका। पण्डितराज जगन्नाथ भी एक ध्वनिवादी आचार्य हैं, अत: उनके काव्य सिद्धान्त ध्वनिवाद के ही सिद्धान्त हैं। नूतन पथ निर्माण की दृष्टि से पण्डितराज पण्डितराज नहीं हैं। उनकी मौलिकता का स्वरूप एवं महत्व भिन्न प्रकार का है।

भरत, आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि का अनुवर्तन करते हुये भी, प्रत्येक काव्याङ्ग पर एक अनूठे तर्क पूर्ण गम्भीर विवेचन द्वारा, उसमें एक नई चमक ला देना ही जगन्नाथ की मौलिकता है। वे उपर्युक्त आचार्यों की एक-एक मान्यता को उठाते हैं, तर्क की कसौटी पर कसते हैं, तब अपनाते हैं। जहाँ बात बुद्धि सङ्गत नहीं प्रतीत होती, वे उसका बड़ा ही शिष्ट तिरस्कार कर देते हैं। अप्पय्य को छोड़ उन्होंने किसी आचार्य के लिये अपमान की भावना नहीं रखी। गम्भीर समालोचना के लिये पद्य का सहारा छोड़ एक प्रौढ़ गद्य को अपनाकर उन्होंने एक नई दिशा अपनाई थी। अपने उदाहरणों के लिये उन्होंने स्वनिर्मित पद्य लिये, जिनमें उनका मनस्वी आचार्य एवं प्रौढ़ कवि दोनों ही मुखर हैं।

रस गंगाधर एक 'आकर' ग्रन्थ है। उसमें विवेचित सभी दृष्टिकोणों को संक्षेप में भी यहां प्रस्तुत करना सम्भव नहीं। हम कुछ विषय लेकर ही तत्सम्बन्धी मौलिक दृष्टिकोणों का परिचय एवं उनके आधार पर पण्डितराज का आनुमानिक मूल्याङ्कन भर कर सकते हैं।

काव्य की परिभाषा

'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम् ! रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञान गोचरता । लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुमव साक्षिको जातिविशेष: ।

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

काव्य हमें एक चमत्कारी आह्लाद देता है। आह्लाद हमें सांसारिक विषयों से भी मिलता है किन्तु वैषयिक आनन्द एवं काव्यानन्द में महान् अन्तर होता है। काव्यानन्द में एक विशेष 'चमत्कार' होता है। (यह चमत्कार वह नहीं, जिससे प्राय: आचार्य शुक्ल चिढ़ा करते थे, इसका सम्बन्ध काव्यानन्द के अनुभूति-पक्ष से है।) इसी चमत्कार के कारण काव्यानन्द लोकोत्तर है। काव्यार्थ की रमणीयता का ज्ञान ही इस अलौकिक आनंद की सृष्टि करता है।

आह्लाद के लिये सौन्दर्यज्ञान अपेक्षित है। हम किसी रमणीय दृश्य को देखकर मुग्ध होते हैं इसका यही अर्थ है कि हमारी नेत्रेन्द्रिय उस दृश्य के सौन्दर्य का ज्ञान करती है। उस ज्ञान से हमारी चित्तवृत्ति प्रभावित होती है। अनुभूति तथा विषय के बीच विषय-ज्ञान को डालना ही पड़ेगा; विषय चाहे लौकिक रूप में इन्द्रियों के द्वारा चित्तवृत्ति तक पहुँचे, चाहे काव्य शब्दों से कल्पना द्वारा।

रमणीयता या सौन्दर्य रमणीय वस्तु का धर्म है।

आह्लादानुभूति के लिये इसका ज्ञानगोचर होना इसके वैषयिक (Objective) तथा व्यक्तिपक्ष (Subjective) दोनों पक्षों को लिये हुये है। रमणीय काव्यार्थ का धर्म होना रमणीयता का विषय पक्ष है; आह्लाद की सृष्टि के लिये प्रमाता के ज्ञान में आना उसका व्यक्तिपक्ष। इस प्रकार पण्डितराज की मान्यता का सारांश यह है कि अर्थ सौन्दर्य हमें चमत्कारी आनन्द देता है, उस आनन्द का समर्पक मूल तत्व है सुन्दर अर्थ। यही काव्य की आत्मा है। इसी सुन्दर या रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। मनुष्य न केवल आत्मा है, न केवल शरीर। आत्मा का अधिष्ठानभूत--आत्माधिष्ठित--शरीर ही मनुष्य है। न केवल रमणीय अर्थ ही काव्य है, न छूंछा शब्द ही। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

हम देखते हैं कि इस काव्य परिभाषा में सौन्दर्य शास्त्र एवं मनोविज्ञान का पूर्ण मनोयोग है।

पण्डितराज को मम्मट का काव्य लक्षण उथला होने के कारण तथा विश्वनाथ का संकुचित होने के कारण मान्य नहीं है।

काव्य के भेद—

ध्वनिवाद काव्य के तीन भेद मानता है :—

(१) उत्तम—जब व्यंग्यार्थ की रमणीयता शब्द एवं अन्य अर्थों की रमणीयता से अनभिभूत होकर, प्रधान रूप में होती है। यह ध्वनि काव्य है।[1]

(२) मध्यम—जब व्यंग्यार्थ अन्य (शब्द, अर्थ) के सौन्दर्य से अभिभूत तो हो जाता है फिर भी चमत्कार का मुख्य आधार बना रहता है।

(३) अधम—जब व्यंग्यार्थ शब्दअर्थ (शब्दालंकार, अर्थालङ्कार) के चमत्कार भार से दब कर नगण्य हो जाता है।

पण्डितराज को यह वर्गीकरण मान्य है। किन्तु कुछ हेर-फेर के साथ। वे इस वर्गीकरण में दो परिवर्तन उपस्थित करना चाहते हैं :—

(१) अर्थालङ्कारों तथा शब्दालङ्कारों को एक ही कोटि में रखना सर्वथा अनुचित है। अर्थालङ्कार काव्यात्मा के अधिक समीप होते हैं। अतः उनके दो अलग वर्ग चाहिये।

(२) इस उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार है व्यंग्यार्थ की स्थिति। सभी अर्थालङ्कारों में व्यंग्य की एक सी स्थिति नहीं है। पर्यायोक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे अलंकारों में व्यंग्य उपमा, उत्प्रेक्षा अनन्वय जैसे अलंकारों से निस्सन्देह अधिक उभरा होता है। अतः पर्यायोक्ति जैसे अलंकार गुणीभूत व्यंग्य वाले दूसरे भेद में रखने चाहिये। शेष अलंकार तीसरे में। इस प्रकार वे काव्य के चार भेद मानते हैं:—

(१) उत्तमोत्तम—या ध्वनि जहाँ व्यंग्य सर्वतः प्रधान होता है।

(२) उत्तम—गुणीभूत व्यंग्य

(३) मध्यम—वे अर्थालङ्कार जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्य से प्रधान है।

(४) अधम—जहाँ शब्द चमत्कार से व्यंग्य बहुत ही दबा हुआ हो।

निस्सन्देह यह वर्गीकरण प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। पंडितराज शब्दों की कोरी खनखनाहट को जहाँ, व्यंग्य का दूर का भी स्पर्श नहीं, काव्य कोटि में नहीं रखते।

ध्वनि के भेद और रस

व्यंग्यार्थ तक अभिधा तथा लक्षणा दोनों मार्गों से पहुँचा जा सकता है। अतः व्यंग्य दो प्रकार का होता है, अभिधामूलक तथा लक्षणामूलक। प्रथम में अर्थ सौन्दर्य पर ध्यान है तो द्वितीय में अभिव्यंजना पद्धति पर।

अभिधामूलक ध्वनि तीन प्रकार की होती है, रस, वस्तु, अलंकार। आधुनिक पदावली में हम कह सकते हैं कि इनमें भावात्मक, बौद्धिक एवं कल्पनामूलक त्रिविध अर्थ सौन्दर्य समा जाता है, जोकि भावात्मक,

---

१—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यभक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।
ध्वन्यालोक।

बौद्धिक एवं काल्पनिक त्रिविध आनन्द की सृष्टि करता है। मूलतः आनन्द आत्मा का धर्म होने के कारण चाहे एक ही हो, किन्तु उसके अनुभूयमान स्वरूप में एवं उसकी अनुभूति प्रक्रिया में भेद स्वीकार करना ही पड़ेगा। लक्षण मूलक ध्वनि भी क्रमशः उपादान लक्षण एवं लक्षण-लक्षण (लक्षणा के दो आधारभूत भेदों) के आधार पर दो प्रकार की होती है अर्थान्तर संक्रमित वाच्य, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। दोनों में ही हम व्यंग्यार्थ तक लक्षण के माध्यम से पहुँचते हैं।

अतः ध्वनि के ये मुख्य ५ भेद हैं (१) रसध्वनि, (२) वस्तु ध्वनि (३) अलंकार ध्वनि (४) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य (५) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। रस ध्वनि इनमें से केवल एक भेद है जिसमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव सन्धि, भाव शान्ति, भाव शबलता—तात्पर्य यह कि समस्त व्यंजित भाव सौन्दर्य आ जाता है। रस (व्यंजित स्थायी भाव) इन समस्त ध्वनियों में से एक है जो सर्वतः हृदयस्पर्शी होने के कारण ध्वनियों में प्राणभूत है। ध्वनि सिद्धान्त रस को सर्वोत्कृष्ट मानते हुये भी उसके लिये कोई अलग स्थान निर्धारित नहीं करता। भावात्मक सौन्दर्य से कल्पनात्मक सौन्दर्य एवं बौद्धिक सौन्दर्य को हीन स्थान नहीं देता।

रस

समस्त ध्वनियों में सुन्दरतम है रस। रस विषय में पंडितराज को प्रायः अभिनव गुप्त की मान्यतायें स्वीकृत हैं। अभिनव के अनुसार व्यंजित रति आदि स्थायी भाव रस हैं। काव्य की साधारणीकृत सामग्री आत्म चैतन्य के अन्य आवरणों को हटा देती है। विभावादि के प्रतीति काल तक ही सही, चैतन्य भग्ना-वरण हो जाता है। उस स्वयं प्रकाशमान चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित रति आदि स्थायी भाव रस है। रति आदि का इसी रूप में प्रकाशित होना व्यंजित होता है। अभिनव की समस्त प्रक्रिया पंडितराज को स्वीकृत हुई किन्तु उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि उन्हें दुर्वल दीख पड़ी। रस तो चैतन्य का स्वरूप है। श्रुति का प्रमाण है 'रसो वै सः'। तब भग्नावरण चैतन्य से प्रकाशित या विशिष्ट रति आदि कैसे रस कहे जा सकते हैं। अतः इस बात को यों कहना चाहिये कि अन्य आवरणों से रहित चैतन्य, केवल रति आदि के आवरणों को स्वीकार करता हुआ, साहित्यिक रस है। दार्शनिक रस है शुद्ध निरुपाधिक चैतन्य। काव्यरस है स्थायी भावों की उपाधि से उपहित-सोपाधिक चैतन्य। अभिनव-गुप्त तान्त्रिक मान्यताओं से प्रभावित होने के कारण रस को पूर्ण दार्शनिक पृष्ठभूमि नहीं दे सके थे। पंडितराज ने वेदान्त की दृष्टि से रस की व्याख्या करके उस कमी को दूर किया।

पंडितराज के रस भाव विवेचन में ऐसी ही अनेक सूक्ष्मताओं के संकेत मिलते हैं। इन सूक्ष्म विवेचनों में ही उनकी मौलिकता है, जो प्राचीन मान्यताओं को अक्षत रखते हुये भी नई दृष्टि देती हैं। उदाहरण रूप में हम यहाँ उनके कुछ संकेत उपस्थित करते हैं:—

(१) काव्यार्थ अनेक प्रकार का होता है। अतः सभी अर्थों की अनुभूति तथा अनुभूति की प्रक्रिया समान नहीं हो सकती। रस निष्पत्ति के ढंग पर ही समस्त अनुभूतियाँ नहीं चल सकती।

(२) रस अनेक काव्यार्थों में से एक है। साधारणी-करण और रस का अनिवार्य सम्बन्ध है। साधारणी-करण के अभाव में रसानुभूति नहीं होती अन्य प्रकार की भावानुभूति ही हो सकती है।

(३) एक भाव किसी अन्य भाव का संचारी ही नहीं आलम्बन विभाव एवं अनुभाव के रूप में भी आ सकता है। भावों के विषय में ऐसी ही व्यापक दृष्टि हिन्दी में केशव में भी पाई जाती है।

(४) अन्य आचार्य रस को असंलक्ष्य क्रम कहते हैं। अर्थात् विभावादि की उपस्थिति एवं भावोद्बोध की प्रक्रिया इतनी तीव्रगति से होती है कि उनका क्रम संलक्षित नहीं होता। पंडितराज की मान्यता है कि रसानुभूति असंलक्ष्य-क्रम एक में ही नहीं, संलक्ष्य क्रम रूप में भी होती है।

(५) साधारणीकरण के लिये औचित्य एक अनि-

वार्य तत्व है। औचित्य देशकाल सापेक्ष होता है। उसमें समाज का पूरा हाथ होता है। अत: औचित्य के मान दण्ड बदल सकते हैं।

(६) गुण रस के नित्य धर्म नहीं, जैसा कि मम्मट आदि मानते हैं। चित्त की तीन दशायें होती हैं–प्रद्रवत्व दीप्ति, विकास। इनकी प्रयोजक सामग्री क्रमशः मधुर, ओजस्वी एवं प्रसादपूर्ण कही जायगी। यह सामग्री रस ही क्यों—शब्द, अर्थ, रस, रचना सभी हो सकते हैं। अत: 'मधुर शब्द' और 'मधुर रचना' जैसे प्रयोग भी उतने ही ठीक हैं जितना कि 'मधुर रस' का प्रयोग। इनमें औपचारिकता नहीं जैसा कि मम्मटादि मानते हैं।

गुण दो रूप में समझा जा सकता है। एक—चित्त की द्रवत्व आदि अवस्थाओं के प्रयोजक धर्म के रूप में। दूसरे—किसी प्रयोजक सामग्री से होने वाली चित्त की द्रवत्व आदि दशाओं के रूप में।

इस प्रकार के अनेक मौलिक संकेत पंडितराज के विवेचन में भरे पड़े हैं। उन्होंने प्रत्येक प्राचीन मान्यता को नये आलोक में परखा है। पाश्चात्य साहित्य एवं साहित्य शास्त्र के सम्पर्क में आकर हमारी आधुनिक आलोचना का रूप बहुत परिवर्तित हो गया हैं। प्राचीन सिद्धान्तों एवं नवीन मान दण्डों के बीच एक चौड़ी खाई प्रतीत होती है। किन्तु पंडितराज में एक गजब की आधुनिकता दिखाई पड़ती है। वे उस खाई को पाटते दिखाई पड़ते हैं।

(पृष्ठ ६५ का शेषांश)

पाता। इसी कारण मानव जीवन में सदैव व्यंग्य एवं असद्भ्रास निहित रहता हैं।[1]

प्रसिद्ध फ्रैंच नाटककार जीन पॉल सार्त्र[2] इस साहित्यिक विचारधारा का प्रवर्तक हैं। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में निर्णय करने पड़ते हैं। निर्णय के परिणाम-स्वरूप एक नई स्थिति का निर्माण होता है एवं निर्णय के परिणाम स्वरूप एक नया व्यक्ति उस नयी स्थिति का सामना करता है। यह स्वतन्त्रता ही मानव के अस्तित्व का परम नैतिक तत्त्व है। अपने साहित्य में उसने चित्रित किया है कि मानव समाज में प्राणी जीवन के महान अवसरों पर भी असम्बद्ध एवं अयुक्तियुक्त निर्णय करते हैं, फिर भी वे जीवित रहते हैं। वे बार बार ऐसे ही निर्णय करते रहते हैं, फिर भी उनका अस्तित्व शेष रहता है।

अस्तित्ववाद ने सौन्दर्य की परिभाषा ही बदल दी है। ऐनुइल्ह और कैमस[1] प्रभृति लेखकों ने मानव की विडम्बना, विषमता और वेदना को कलात्मक रूप देकर रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है कि सौन्दर्य्यानुभूति को जीवन की अन्य अनुभूतियों से अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि सौन्दर्य्यानुभूति, सत्य के समान प्रातीतिक है, वस्तु-जगत की सुन्दरता एवं असुन्दरता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

आज का युग महान संकटों का युग है। आधुनिक दार्शनिकों, तत्त्व विवेचकों एवं साहित्यकारों के मस्तिष्क में उलझन है। वे युद्ध की सम्भावनाओं से भयभीत हैं, एवं मानव-सभ्यता के अस्तित्व तथा भविष्य की चिन्ता में ग्रस्त हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यालोचन की क्या दशा होगी, सौन्दर्य शास्त्र का कोई सिद्धान्त टिक सकेगा या नहीं, अथवा सौन्दर्य्यानुभूति की नवीन धारायें क्या होंगी, यह अभी, बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारम्भ में, कह सकना सम्भव नहीं।

1—Allardyce Micoll : World Drama, Page 906

2—Jean Paul Sartre.

1—Anouilh और Camus.

सौन्दर्य और रस

डा० द्वारिकाप्रसाद एम० ए०, पी-एच० डी०

यह सम्पूर्ण विश्व अनन्त सौन्दर्य का भंडार है। उस सौन्दर्य-सृष्टा ने विश्व में ऐसे दिव्य सौन्दर्य की सृष्टि की है, जिसका आभास मानव को वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी आदि में आदिकाल से ही मिलता चला आ रहा है। इसी कारण वह कभी उषा की राग-रंजित छवि में अनुरक्त हुआ है, तो कभी संध्या की स्वर्णिम छटा में आत्मविभोर हो उठा है। कभी वह शरद के सुस्मित हास में मग्न हुआ है, तो कभी वसन्त-श्री की सौम्य सुषमा में अपनी सुध-बुध गँवा बैठा है। इसी तरह मानव ने नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों, चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों आदि में सौन्दर्य के दर्शन किए हैं। इस प्राकृतिक सौन्दर्य की भाँति ही मानव ने सुगठित, सुडौल एवं सहज आकर्षणपूर्ण मानव-आकृति, मानव-निर्मित सुरम्य चित्र एवं मूर्तियों में भी सौन्दर्य को देखा है और इस सौन्दर्य में अनुरक्त होकर कभी-कभी वह अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए भी तैयार हो गया है। किन्तु यह सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न पर विद्वानों ने बहुत विचार किया है और बड़े सुन्दर निष्कर्ष भी निकाले हैं, फिर भी यह प्रश्न अभी तक जटिल बना हुआ है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि सौन्दर्य में आकर्षण होता है। क्योंकि सभी प्राणी सौन्दर्य को देखकर आकृष्ट होते हैं; इस आकर्षण के कारण ही भ्रमर सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पों पर मँडराया करते हैं, तितलियाँ रंग-बिरंगे सुमनों पर क्रीड़ा किया करती हैं, कोयल वसन्त की दिव्य छटा देखकर मधुर वाणी में कूकने लगती है, पशु हरिततृणसंकुलित भूमि को देखकर आनन्द-विभोर हो उठते हैं और मानव-समुदाय सौम्य, सुडौल एवं सुरुचिपूर्ण आकृति, अनुपम आनन्द-विधायक कला-कृतियों तथा अन्य सौन्दर्यमयी वस्तुओं को देखकर उनकी ओर आकृष्ट होता है तथा उन्हें अपनाने के लिए लालायित हो उठता है। किन्तु सौन्दर्य में व्यापक आकर्षण होते हुए भी जिस तरह सभी देशों में सौन्दर्यमयी वस्तुएं एक-सी नहीं होतीं, वैसे ही सभी देशों के व्यक्तियों में सौन्दर्य दर्शन की भावना में भी एकरूपता नहीं मिलती। जैसे पाश्चात्य देशों में लिली (Lily) पुष्प अधिक रमणीय माना जाता है, जबकि भारत में कमल को अधिक सुन्दर मानते हैं। पाश्चात्य देशों में नारी के स्वर्णिम केशों में अद्भुत सौन्दर्य दिखाई देता है, जबकि भारत में सहज श्याम एवं सुचिक्कण केशो में ही अनुपम सौन्दर्य की झाँकी मिलती है। अत: सौन्दर्य में सार्वदेशिक आकर्षण होते हुए भी रुचि-भेद रहता है। इसी कारण जो पदार्थ एक व्यक्ति को सुन्दर नहीं लगता, वह दूसरे को सुन्दर प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, कोई सौन्दर्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होते ही अपना सर्वस्व गँवा बैठता है, तो कोई उसे देखकर किंचित् स्पन्दन का ही अनुभव करके शान्त हो जाता है। इसी रुचि-भेद को देखकर महाकवि बिहारी ने ठीक ही लिखा है—

समैं समैं सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
जाकी रुचि जेती जितै, तित तेतौ सुन्दर होय॥

परन्तु यह रुचि हमारी परम्परागत संस्कृति की देन है, क्योंकि हमारे आचार-विचार एवं हमारी इच्छा का निर्माण हमारी सांस्कृतिक परम्परा द्वारा होता है। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने भी लिखा है कि "सौन्दर्यानुभूति में जो मात्रा-भेद पाया जाता है, उसका मूल कारण हमारी संस्कृति है, क्योंकि संस्कृति ही हमारे सजातीय विचारों, रहन-सहन एवं मनोभावों को विकासोन्मुख बनाती है।"[1] इसी परम्परागत संस्कृति के कारण हमारे विचारों, भावों, मान्यताओं आदि में रुचि-

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृ० २७–२८

भेद उत्पन्न होता है, अन्यथा सौन्दर्य-बोध एवं सौन्दर्यानुभूति विश्व-व्यापी वस्तुएं हैं। सभी प्राणी सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होते हैं और सभी के हृदय में सौन्दर्य अपना घर बना लेता है।

सौन्दर्य के विषय में सर्वाधिक चर्चा पाश्चात्य देशों में मिलती है। वहाँ पर सौन्दर्य दर्शन का एक अनिवार्य अङ्ग बन गया है और अनेकानेक विद्वानों ने अपने-अपने मतों द्वारा सौन्दर्य का स्पष्टीकरण किया है। उन विद्वानों में प्रमुख रूप से दो विचारधाराएं मिलती हैं। कुछ तो ऐसे विद्वान् हैं, जो सौन्दर्य को वस्तुगत या भौतिक (Objective) मानते हैं और बतलाते हैं कि सौन्दर्य किसी एक सुन्दर, सुगठित पदार्थ में ही विद्यमान रहता है, वह सबको समान रूप से प्रभावित करता है और वह भौतिक जगत् से परे किसी आध्यात्मिक जगत् की वस्तु नहीं है। दूसरे वे हैं जो सौन्दर्य को व्यक्तिगत या आध्यात्मिक (Subjective) मानते हैं तथा उसे भौतिक एवं पदार्थगत न मानकर पूर्णतया मानसिक एवं आध्यात्मिक जगत् की वस्तु सिद्ध करते हैं।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सुकरात, अरस्तू, होगार्थ, लिबनिज, ह्यूम, लैसिंग, बर्क, हरबर्ट स्पेंसर, रूसी दार्शनिक कैनोविच आदि आते हैं, जिनमें से सुकरात का कथन है कि "जो सर्वथा अनुरूप हो, अभीष्ट परिणाम का उत्तर दे सके तथा जो प्रिय लगे वही सुन्दर होता है।"[१] अरस्तू ने सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "वह शिवत्व ही सुन्दर होता है, जो सुखदायक हो, क्योंकि वह मंगलमय होता है।"[१] ह्यूम ने लिखा है कि—अङ्गों की एक ऐसी क्रमिक एवं सुगठित रचना को सौंदर्य कहते हैं, जो हमारे परम्परागत स्वभाव, रीति-रिवाज या मनोभाव के द्वारा हमारी आत्मा को आनन्द एवं सन्तोष प्रदान करती है।" रूसी दार्शनिक कैनोविच का विचार है कि "सौन्दर्य प्रकृति की व्यापक भावना है, जिसकी प्रेरणा से (will to beauty) इसका उद्गम और विकास हुआ है। हमारे आकाश और इसके पिंडों का निर्माण, वनस्पति और जीव-जगत, यहाँ तक कि समाज में भी विकास द्वारा प्रकृति ने अधिकाधिक सौन्दर्य को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।"[२] इसी तरह लिबनिज़ का मत है कि "सामंजस्य या सुडौलपन (harmony) की अभिव्यंजना को ही सौन्दर्य कहते हैं, यद्यपि उसमें प्रत्यक्षरूप से कुछ विरोधी बातों के समावेश की योग्यता रहती है।"[३] इस तरह इस वर्ग के विद्वानों ने सौन्दर्य को बाह्य पदार्थों में देखा है और अपने विचारों के अनुकूल ही सौन्दर्य-विधान के लिए बाह्य बातों को प्रधानता दी है। जैसे

1—Xenophone records the saying of Socrates that the beautiful is that which is fitting and answers to the end required. Elsewhere he says, it is that which is loved."

—Theory of Aesthetic, Historical Summery–p. 255

1—The beautiful is that good which is pleasent, because it is good.

—History of Aesthetic by B. Bosanquet, p. 63

2—Beauty is such an order and constitution of parts, as either by the primary constitution of our nature, by custom or by caprice, is fitted to give a pleasure and satisfaction to the soul.

—History of Aesthetic by Bosanquet–P–178

3—What is beautiful to feeling is ultimately an expression of harmony, though capable of including apparent contradiction.

—History of Aesthetic–p. 177

अरस्तू का मत है कि क्रम (Order), सममात्रा (Symmetry) तथा निश्चित विधान (Definite limitation) ही सौन्दर्य-विधान के लिए आवश्यक होते हैं।[1] लैसिंग का कहना है कि सामंजस्य या सुडौलपन (Harmony), क्रम (Order), विभिन्नता (Variety), अनुपात (Proportion) आदि सौंदर्य-निर्माण के आवश्यक अङ्ग हैं। ऐसे ही बर्क का विचार है कि आकार-सूक्ष्मता (Smallness of size), मसृणता (Smoothness), क्रमिक विकार (Gradual variation) कोमलता (Delicacy) वर्ण-दीप्ति (Brightness of colours) तथा शुद्धता (Purity) द्वारा सौंदर्य का विधान किया जाता है।[3] अतः इस वर्ग के विद्वानों ने सौंदर्य को वस्तु मानकर उसके निर्माण के लिए बाह्य आकार-प्रकार को अधिक महत्व दिया है।

दूसरे वर्ग में वे विद्वान् आते हैं, जो सौंदर्य को व्यक्तिगत या विषयीगत मानते हैं और सौदर्य का संबंध भौतिक जगत् की अपेक्षा मानसिक या आध्यात्मिक जगत् से स्थापित करते हैं। इस वर्ग के विद्वानों में से प्लेटो, प्लोटीनस, शैफ्टसबरी, बामगार्टन, आस्कर वाइल्ड, शैलिंग, कांट, हैगेल, क्रोचे, शॉपेन हॉवर, रस्किन, शैली, कोट्स आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्लेटो का मत है कि सौंदर्य में सत्य, शिव तथा दैवीगुण विद्यमान रहते हैं।[४] शैफ्टसबरी का कथन है कि "विश्व के दैवी जीवन की अभिव्यजना को सौंदर्य कहते हैं।[१] शैलिग का कहना है कि "अनन्त का सान्त में दर्शन ही सौंदर्य है।[२] कांट का विचार है कि 'वही वस्तु सुन्दर है, जो विना किसी उपयोगिता के प्रसन्न करे।[3] हीगेल ने प्रत्यय (Idea) के भावात्मक प्रदर्शन को सौंदर्य कहा है[४] और क्रोचे ने सफल अभिव्यंजना को सौंदर्य माना है।[५] इस प्रकार दूसरे वर्ग के विद्वान् सौंदर्य को आध्यात्मिक और मानसिक जगत् की वस्तु मानते हुए उसे विषयीगत मानना ही समीचीन समझते हैं।

भारतीय विद्वानों में सौंदर्य के बारे में अधिक चर्चा तो नहीं मिलती, फिर भी यत्र-तत्र कुछ स्फुट विचार मिल जाते हैं। जैसे महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के सौंदर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यह कोमलांगी इस वल्कल वस्त्र में भी अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है, क्योंकि मनोहर आकृति वालों के लिए कौनसी वस्तु शोभा विधायक नहीं होती ?"[६] इससे सिद्ध है कि सौंदर्य प्राकृतिक होता है और उसके लिए बाह्य

1—History of Aesthetic—p. 33

2–Theory of Aesthetic-Historical Summary p. 290

3—साहित्य और सौन्दर्य—डा० फतेहसिंह, पृ० १०४

4–He appears almost to confound the beautiful with the true, the good and the divine.

Theory of Aesthetic—Historical Summery–p. 255

1····Beauty to be an expression of the divine life of the world.

—History of Aesthetic–p. 177

2—Now the infinite represented in finite form is beauty."

—History of Aesthetic–p. 319

3–That is beautiful which pleases without interest.

Theory of Aesthetic—Historical Summery–p. 295

4–Theory of Aesthetic—Historical Summery–p. 306

5—वही पृ० १२६

6—इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्॥
—अभिज्ञान शाकुन्तलम् १।२०

अलंकरणों की आवश्यकता नहीं होती। कुमार-सम्भव में आपने लिखा है कि "सौंदर्य पाप-वृत्ति की ओर नहीं ले जाता।"[1] अतः आपके विचार से सौंदर्य सुडौल और सुगठित आकृति में होता है और वह सात्विक एवं दैवी गुणों से युक्त होता है। महाकवि माघ ने लिखा है कि "जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे वही सौंदर्य है।"[2] इस कथन से भी यही ज्ञात होता है कि सौंदर्य वस्तुगत होता है। अतः उक्त दोनों विद्वान् वस्तुवादी या भौतिकवादी वर्ग में आते हैं। परन्तु महाकवि बिहारी ने मानव की रुचि को प्रधानता दी है और वस्तुगत सौंदर्य का निराकरण करते हुए लिखा है कि "कोई भी वस्तु सुन्दर या असुन्दर नहीं होती। समय-समय पर सभी वस्तुएं सुन्दर होती हैं। किन्तु जिस वस्तु में जिसकी जितनी रुचि होती है, वह उसे उतनी ही सुन्दर जान पड़ती है।"[3] इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने भी सौंदर्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "चेतना के उज्ज्वल वरदान को सौंदर्य कहते हैं।"[4] अतः सौंदर्य का सम्बन्ध चेतना (Consciousness) से है और वह आध्यात्मिक जगत की वस्तु ठहरता है। इस तरह महाकवि बिहारी तथा प्रसाद दूसरे व्यक्तिवादी या अध्यात्मवादी वर्ग में आते हैं।

उक्त दोनों प्रकार की सौंदर्य सम्बन्धी विचार-धाराओं का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि सौंदर्य उभयपक्षी होता है और इसका सम्बन्ध वस्तु और व्यक्ति दोनों से है। क्योंकि एक ओर तो ऐसे रमणीय पदार्थ का होना अत्यावश्यक है, जो सामान्य रूप से सभी को आकर्षित करे और दूसरी ओर सौंदर्य के द्रष्टा की भी आवश्यकता होती है। संसार के किसी भी सौंदर्य पूर्ण पदार्थ में उस समय तक सौंदर्य का कोई मूल्य नहीं जब तक उसका द्रष्टा न हो। उदाहरण के लिए जंगल में खिला हुआ कमल या गुलाब किसी से न देखे जाने के कारण किसी के हृदय में सौंदर्यानुभूति उत्पन्न नहीं करता, जबकि एक असुन्दर पदार्थ द्रष्टा की रुचि के अनुकूल होने के कारण उसे आनन्दविभोर कर देता है। महाकवि बिहारी ने संभवतः इसी कारण सौंदर्य के उभय पक्ष का समर्थन करते हुए लिखा है:—

"रूप रिझावनहारु वह, ये नैना रिझवार"[1]

अर्थात् सौंदर्य रिझाने वाला होता है और नेत्र उस सौंदर्य पर रीझने वाले होते हैं। अतएव बिना दोनों का संयोग हुए सौंदर्य की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी लिखा है कि "मनुष्य के मुख में केवल आकृति की सुन्दरता ही नहीं होती, उसमें चेतनता की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति और हृदय का लावण्य भी होता है।"[2] बहुधा यह देखा भी जाता है कि मानव को वे ही भौतिक वस्तुएं अपनी ओर अधिक आकृष्ट करती हैं, जिनमें सुडौलपन, दिव्यता, सौम्यता, अंगों की विकार-हीनता के साथ साथ हमारी रुचि की अनुकूलता अथवा हमारे भावों की प्रतिच्छाया विद्यमान रहती है। अतः सौंदर्य उभयपक्षी होता है और वे ही असाधारण कला-कृतियां सौंदर्यमयी मानी जाती हैं, जिनमें भौतिक एवं वस्तुगत सौंदर्य के साथ-साथ आध्यात्मिक एवं व्यक्तिगत सौंदर्य का भी एक स्थान पर ही समावेश होता है।

सौंदर्य का विवेचन करने के उपरान्त अब देखना यह है कि सौंदर्य और रस का क्या सम्बन्ध है। क्या जो सौंदर्यानुभूति है वही रसानुभूति कहलाती है अथवा दोनों में कुछ अन्तर है? ऊपर के विवेचन से यह तो

१—यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्य
व्यभिचारि तद्वचः ॥
—कुमारसंभव ५।३६

२—क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं
रमणीयतायाः ॥
—शिशुपालबध ४।१७

३—बिहारी-रत्नाकर-दोहा ४३२

४—उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे
सब कहते हैं।—
—कामायनी, लज्जासर्ग पृ० १२०

१—बिहारी-रत्नाकर-दोहा ६८२

२—साहित्य-पृ० ४४

निर्विवाद सत्य है कि पाश्चात्य देशों में सौंदर्य के बारे में अत्यधिक विचार हुआ है। परन्तु जिस तरह पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्रियों ने सौंदर्य का वर्णन करके उससे उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति का वर्णन किया है, उसी तरह भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने रस का विवेचन करके तज्जन्य आनन्दानुभूति का उल्लेख किया है। क्रोचे ने सौंदर्य-जन्य आनन्द को दो भागों में विभक्त किया है—शुद्ध आनन्द और मिश्रित आनन्द। काव्य, चित्र आदि से शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है और नाटकों से मिश्रित आनन्द मिलता है।[1] इससे सिद्ध है कि सौंदर्य का आनन्द और कला का आनन्द एक ही बात है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी लिखा है कि "चतुर शिल्पी जिस पाषाण खण्ड को अपने कौशल से छू देता है, वही सौंदर्य का प्रतीक बन जाता है और उसी में से रस का अक्षय स्रोत फूट निकलता है।"[2] इस तरह सौंदर्यजन्य आनन्दानुभूति तथा रस-जन्य आनन्दानुभूति में समानता दिखाई देती है। परन्तु सौंदर्य और रस की एक सी प्रकृति होने पर भी उनमें थोड़ा सा अन्तर है क्योंकि रस अपनी विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि सामग्री पर आधारित है, जिनमें से विभाव पक्ष प्रमुख है। रस नौ माने गये हैं और उनमें से शृंगार को रसराज कहकर मुख्यता प्रदान की गई है, किन्तु अन्य रस भी अपना अपना महत्व रखते हैं और सभी से आनन्द की अनुभूति होती है। शृंगार रस का वर्णन करने वाले काव्यों में या शृंगार के आलम्बनों में प्रायः माधुर्यगुण की प्रधानता रहती है और भारतीय दृष्टि से माधुर्य ही सौंदर्य का परिचायक कहा जा सकता है। माधुर्य की परिभाषा करते हुए लिखा भी है, "जो गुण चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादमय बनाता है, उसे माधुर्य कहते हैं।"[3] सौंदर्य में भी चित्त को द्रवीभूत करने या अपनी ओर आकृष्ट करके उसे आह्लादमय बनाने का गुण रहता है। साथ ही शृंगार रस के स्थायी भाव रति में भी मन को उसके अनुकूल अर्थ में द्रवीभूत या प्रेमार्द्र होना बतलाया गया है।[1] इस तरह मन की अनुकूलता या चित्त के द्रवीभूत होने का जो लक्षण 'रति' में मिलता है, वही सौंदर्य या माधुर्य में भी मिल जाता है। अतः अन्य सभी रसों की अपेक्षा सौंदर्य का सम्बन्ध केवल शृंगार रस से ही प्रतीत होता है।

अब यदि गहराई के साथ विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि सौंदर्य का सम्बन्ध शृङ्गार के केवल आलम्बन विभाव से ही है, क्योंकि अनुपम रूप-सौंदर्यमय नायिका या नायक ही शृङ्गार-रस के आलम्बन होते हैं और इनके सहारे ही मानव हृदय में रति आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं, जिनसे रस की निष्पत्ति होती है। इस तरह सौंदर्य का सम्बन्ध केवल शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव से होने के कारण वह कला का बाह्य पक्ष सिद्ध होता है। वैसे प्रत्येक कला का सम्बन्ध रस से है और जो बात कला के लिए कही जा सकती है वही बात व्यापक सौंदर्य के लिए भी कही जा सकती है, जिसमें प्राकृतिक और मानसिक सौंदर्य भी आ जाते हैं। इतना होने पर सौंदर्य कला का बाह्य शरीर ही है और रस उसकी आत्मा है। सौन्दर्य में केवल नेत्रेन्द्रिय या श्रवणेन्द्रिय की सहायता ली जाती है, जबकि रस का सम्बन्ध हृदय से है। यदि सौंदर्य सुरभित सुमन है, तो रस उसका आह्लादमय सौरभ है। इतना होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि केवल बाह्य पक्ष की ओर ही गई है और इसी कारण उन्होंने उसके बाह्य रूप की छान-बीन करते हुए उस पर अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं, जबकि भारतीय मनीषियों ने एक पग और आगे बढ़कर कला के अन्तःकरण में प्रवेश किया है तथा उसके वास्तविक स्वरूप को भी जानने की चेष्टा की है। यही कारण है कि पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति एवं पौरस्त्य रसानुभूति में समानता-सी

(शेष पृष्ठ ७५ पर)

१—Theory of Aesthetic, p. 131
२—कला और संस्कृति, पृ० २१९
३—साहित्यदर्पण, पृ० ५३५

१—वही पृ० १७३

हमारे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

साहित्यिक पुस्तकें

१. सूरदास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ३॥)
२. चिन्तामणि भाग २ — ,, ३)
३. हिंदी का सामयिक साहित्य — आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ४)
४. आधुनिक काव्य धारा — डा० केशरीनारायण शुक्ल ४॥)
५. आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत्र — डा० केशरीनारायण शुक्ल ३॥)
६. भारतेन्दु के निबंध — ,, ५)
७. रुसी साहित्य — ,, ४॥)
८. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन — डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ५॥)
९. हिंदी गद्य के युग निर्माता — ,, ३।॥)
१०. हिन्दी कवि चर्चा — आचार्य चन्द्रवली पांडे ४)
११. तसव्वुफ अथवा सूफीमत — ,, ३।॥)
१२. साहित्य संदीपनी — ,, २॥)
१३. छायावाद युग — डा० शम्भूनाथ सिंह ६॥)
१४. हिंदी काव्य में प्रगतिवाद — प्रो० विजयशंकर २॥)
१५. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री शिवनाथ एम० ए० ४)
१६. भारतेन्दु के युगीन निबंध — ,, २॥)
१७. हिंदी काव्य में सौंदर्य भावना—श्री शकुन्तला शर्मा ४)
१८. हिन्दी उपन्यास — प्रो० शिवनारायणलाल ५॥)
१९. हिन्दी कविता — श्री सूर्यवलीसिंह एम० ए० ३॥)
२०. विद्यापति — ,, २॥)
२१. माखनलाल चतुर्वेदी — प्रो० रामअधार शर्मा ३॥)
२२. वीर रस का शास्त्रीय विवेचन — प्रो० वटे कृष्ण एम० ए० ३॥)
२३. प्रसाद की कहानियाँ — श्री केदारनाथ शुक्ल २॥)
२४. प्रसाद के उपन्यास और कहानियाँ — श्री सुशीलादेवी व विमलादेवी एम० ए० २॥)
२५. महादेवी वर्मा — प्रो० लक्ष्मीसहाय सिनहा २॥)
२६. आधुनिक आलोचना साहित्य — डा० सीताराम जायसवाल २॥)
२७. दृष्टि कोण — प्रो० विनयमोहन शर्मा ४)
२८. और कुछ — श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ३)
२९. प्रेमचन्द और गवन — श्री जितेन्द्रनाथ पाठक २)
३०. प्रेमचन्द और गोदान — ,, २॥)

शिक्षा संबंधी पुस्तकें

१. बाल मनोविकास — प्रो० लालजीराम शुक्ल ६)
२. सरल मनोविज्ञान — ,, ६)
३. शिक्षा मनोविज्ञान भाग १, २ — ,, ७॥)
४. शिक्षा विज्ञान — ,, ३।॥)
५. नवीन मनोविज्ञान — ,, ५)
६. समाज विकास — ,, ३॥)
७. नीति शास्त्र — ,, ५)
८. शिक्षा शास्त्र — डा० सीताराम जायसवाल ७)
९. पश्चिमी शिक्षा का इतिहास — ,, ६)
१०. शिक्षालय प्रबंध और स्वास्थ्य — ,, ३)
११. शिक्षा सिद्धान्त और प्रयोग — ,, ४)
१२. भूगोल शिक्षण — ,, २॥)
१३. बाल विकास और शिक्षण — ,, ५)
१४. पाठशाला प्रबंध—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी २।॥)
१५. अध्यापन कला — ,, ३)
१६. शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्त्तक — आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ६॥)
१७. संस्कृत शिक्षण पद्धति — ,, २॥)
१८. भारत में सार्वजनिक शिक्षा का इतिहास — आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ३।॥)
१९. भाषा शिक्षण — प्रो० करुणापति त्रिपाठी २)
२०. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति — डा० ए० यस० अलतेकर ५)
२१. सामाजिक अध्ययन की शिक्षा — श्री वेणी माधव शर्मा एम० ए० २॥)
२२. रचनात्मक शिक्षा — ,, ३॥)
२३. सामाजिक शिक्षा — ,, २॥)
२४. बच्चों की शिक्षा — ,, २)
२५. प्रौढ़ शिक्षा के प्रयोग व विधान — ,, ३॥)
२६. विद्यालय व्यवस्था — ,, २॥)
२७. इतिहास शिक्षण — ,, २)
२८. गणित शिक्षा के सिद्धांत तथा शिक्षण प्रणाली — प्रो० के० एल० किचलू २)
२९. भारतीय चित्रकला — प्रो० इकबाल बहादुर देवसरे ३॥)
३०. हिन्दी किशोर साहित्य — श्री ज्योत्सना द्विवेदी एम० ए० २)

विस्तृत विवरण जानने के लिए हमारा सूची पत्र मँगावें ।

नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी ।

(धन-दौलत के दहेज के साथ-साथ विद्या का दहेज दो)

कन्याओं के दहेज के लिये सर्वोत्तम भेंट

६ अमूल्य पुस्तकों का सैट

कन्याओं को दहेज आदि उत्सवों पर देने के लिए अनुपम भेंट।

(१) शाक रत्नाकर (लेखिका—सुशीला)

इस पुस्तक में प्रत्येक घर में बनने वाली शाक सब्जियों को बनाने के तरीके व उनमें पड़ने वाले मसाले आदि का वर्णन बड़ी सरल भाषा में सविस्तार किया गया है। इसकी सहायता से वह स्वादिष्ट शाक-सब्जियाँ बना सकती हैं। शाक-शब्जियों के विषय में पूर्ण जानकारी कराने वाली एक अनोखी व अमूल्य पुस्तक है। मूल्य २।) दो रुपया चार आने। डाक व्यय ।।।=)

नये-नये बेल-बूटे, डिजाइन, सीनरियाँ काढ़ने के लिए इस पुस्तक को मंगाइये।

(२) आदर्श काशीदाकारी

जिसमें नये-नये डिजाइन और बूटियाँ, बेलें, क्राम स्टिच, कटवर्क, मोतियों का काम, सीनरियाँ, मोनोग्राम, तकिये पर दोहे, पेटीकोट के बोर्डर, कमीजों के गले, रमोकिंग लेडीडेजी तथा आधुनिक ढंग की चीजें हैं। छोटे-बड़े दोनों प्रकार के बूटे तथा महीन और मोटा दोनों काम दिये गये हैं। मूल्य ३) । डाक व्यय १) अलग।

---

(३) ऊषा दसूती कढ़ाई शिक्षा

आजकल घरों में दसूती की कढ़ाई बहुत बढ़ गई है। कन्या पाठशालाओं तथा स्कूलों और सरकारी सेन्टरों में छोटी लड़कियों को यह काम सिखलाया जाता है। इस दसूती की पुस्तक में बेलें, पशु-पक्षी, चौपायों के चित्र तथा गुलदस्ते बनाकर दिखाये गये हैं। मूल्य ३) डाक खर्च ।।।=) प्रथक।

नारी जगत को हमारी अभूतपूर्व भेंट

(४) पाक भारती (लेखक—अमोलकचन्द्र शुक्ल)

पाकशाला की व्यवस्था, कच्ची रसोई, पक्की रसोई, दूध की चीजें, मुरब्बा, अचार, चटनी आदि देशी एवं बंगाली मिठाई, पाकरोटी, नान, विस्कुट आदि और मांस, मछली, अण्डा तथा प्रत्येक प्रकार की आधुनिक एवं प्राचीन खाद्य सामग्रियों के तैयार करने का विधियों सहित वर्णन है। ६०० पृष्ठों की सचित्र सजिल्द रंगीन आवरण की पुस्तक का मूल्य ६) रुपये छः मात्र। डाक खर्च १।।)

इस पुस्तक को पढ़कर प्रत्येक नारी एक आदर्श पाक ज्ञाता बन सकती है।

विवाहित जीवन को सुखी और सफल बनाने वाली जीवन साथी

(५) महिला मंजरी

(लेखक—सत्यकाम सिद्धान्त शास्त्री)

गृहस्थ धर्म को सुखी बनाने में स्त्री का स्थान सबसे ऊँचा है। महिला मंजरी पुस्तक में स्त्री जीवन सम्बन्धी समस्त आवश्यक बातें लिखी गई हैं। शादी से पहले की शिक्षा तथा विवाहित जीवन के बाद में किन-किन बातों से बचना चाहिये, पाक विज्ञान स्वास्थ्य विज्ञान तथा नारी का बनाव सिंगार आदि हर विषय पर पूरा प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ ३८४ पर मूल्य केवल ६) डाक व्यय १।)

नव विवाहित पति-पत्नी की पथ-प्रदर्शिका

(६) स्त्री-शिक्षा या चतुरगृहिणी

(लेखिका—श्रीमती साधना सैन)

यह पुस्तक प्रत्येक नारी के बाल्यकाल से मरण-पर्यन्त साथ रखने योग्य है, क्योंकि यह उसकी सच्ची जीवन सहचरी तथा गृहस्थी को सुखमय बनाने वाली है। इसमें बाल्यकाल और आरम्भकाल की शिक्षा अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाने की विधि शिल्प-विद्या, सीना-पिरोना, गर्भरक्षा, धात्री-शिक्षा, स्त्री-रोगों की चिकित्सा, बालकों का पालन-पोषण और धर्मोपदेश एवं अनेक प्रकार की रीति और व्रत त्यौहारों का वर्णन है। इसमें लड़की को अमूल्य शिक्षायें दी गई हैं। मूल्य २।।) डाक व्यय अलग।

प्रथक-प्रथक पुस्तकें मंगाने पर डाक व्यय ग्राहक को देना होगा।

उपरोक्त छः पुस्तकों की छपी कीमत २२।।।) होती है पूरा सैट मंगाने वाले सज्जनों को केवल २०) की वी० पी० की जायेगी।

केवल चार आने (२५ नए पैसे) के टिकट पोस्टेज वास्ते भेजकर हजारों पुस्तकों का बड़ा सूचीपत्र अमूल्य मंगावें।

केवल बारह आने (७५ नए पैसे) के टिकट लिफाफे में भेजकर नये वर्ष १९५८ की श्री बापू राष्ट्रीय मशहूर जंत्री मंगायें।

देहाती पुस्तक भण्डार चावड़ी बाजार (६) दिल्ली—६

अपने शुभचिन्तकों का हम बसन्तोत्सव के
शुभ अवसर पर हार्दिक अभिनन्दन करते हैं एवं
सुखद समृद्धिशील नव वर्ष की बधाई देते हैं।

कलाकुंज

डिजाइनर तथा फोटोग्राफर

ब्लाक डिजाइन

सिनेमा स्लाइड्

टाइटिलपेज

फोटोग्राफी

पेन्टिंग

स्टूडियो कलाकुंज

३५०६, चित्रा सिनेमा के सामने, आगरा

पुस्तकालयों के लिये स्थायी साहित्य

हमारा अनुरोध है कि पुस्तकालय निम्नलिखित प्रत्येक पुस्तक मँगावें। जो पुस्तक वह अस्वीकृत करेंगे वह हम वापस ले लेगे।

उपन्यास, एकांकी, कहानी

चतुरसेन—वैशाली की नगर-वधू [दो भाग] १२·००
गोल्डस्मिथ – अनोखी तृप्ति ४·२५
पर्लबक – जनानी ड्योढ़ी ७·५०
पर्लबक—यशपाल—मृगतृष्णा ५·७५
रस्तोगी—ठंडी आग २·७५
रस्तोगी—दरारें ४·२५
मनोजवसु—दीवाने २·५०
अलैक्जेंडरड्यूमा—वह कौन थी ? ३·७५
मार्कण्डेय—यशपाल—चलनी में अमृत ४·५०
एमिली ब्रौंटे-प्रतिशोध(Wuthering heights)७·५०
वैलेंटाइन विलियम्स—चिड़िया की तिग्गी २·७५
सर आर्थर कॉनन डायल—शिकारी कुत्ता ४·००
स्टीवेन्सन—डॉक्टर जैकिल और मिस्टर हाइड २·००
वर्मा – मोहब्बत, मनोविज्ञान और मूँछ दाढ़ी ३·५०
रस्तोगी—कसम कुरान की ३·००
मेहरोत्रा—धरती और धुआँ २·५०
श्रीशचन्द्र देव—महाभारत की कथा ३·००

इतिहास

सरदेसाई—मराठों का इतिहास ६·००
मुकर्जी—योरोप का इतिहास [१५००-१९५०] ५·७५
मुकर्जी—आधुनिक योरोप का वृहत् इतिहास (१७८९-१९३९) ५·५०
मुकर्जी—भारत का इतिहास
—प्राचीन काल २·५०
—मध्य काल २·५०
—आधुनिक काल २·५०
Bhargava-India in the VedicAge 22·50

दर्शन तथा आत्मोन्नति

विवेकानन्द—कर्मयोग २·००
विवेकानन्द–भक्ति और वेदाँत (out of print)२·५०
विवेकानन्द—भक्ति योग (out of print) २·५०

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—भारत की अन्तरात्मा ३·७५
सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—स्वतंत्रता और संस्कृति ३·७५
सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—भारत और चीन ५·२५

मनोविज्ञान

वुडवर्थ मार्क्विस—मनोविज्ञान १२·५०
गिन्सबर्ग—समाज का मनोविज्ञान ५·००

राजनीतिशास्त्र

आशीर्वादम्—राजनीतिशास्त्र १२·५०
Asirvatham—Political Theory १४·००

शिक्षा

रायबर्न—शिक्षालय संगठन ४·५०
रायबर्न—अध्यापन के सिद्धान्त ५·००
जीवनायकम—शिक्षा शास्त्र ६·००
जीवनायकम—मनोविज्ञान और शिक्षा ५·००

समालोचना

दीक्षित – तुलसीदास और उनके ग्रन्थ ५·००

पाकविज्ञान

श्रीमती वृन्देश्वरी—सरस भोजन कैसे बनायें ३·७५

यौनविज्ञान

दत्त—नर-नारी ४·५०
Vatsyayana Kama Sutra ७·००

स्वास्थ्य

डॉक्टर सुमित्रा भार्गव स्वास्थ्य के लिए क्या खायें २·००
महात्मा गांधी–स्वास्थ्य प्रदर्शक [out of print] ·७५

विज्ञान

दत्त-सक्सेना— वनस्पति शास्त्र भाग १ ६·००
डे—अकार्बनिक रसायन [दो भाग] ९·५०
हरिभगवान् - दैनिक जीवन में विज्ञान ४·००
त्यागी – विज्ञान के नये चरण [in press] ५·००

वाणिज्य

मिश्र—व्यापार एवं उसकी व्यवस्था भाग १ ७·५०
मिश्र—व्यापार एवं उसकी व्यवस्था भाग २ ५·००

पुस्तकालय और पुस्तक-विक्रेता विस्तृत सूचीपत्र मँगायें।

दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लि०, अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ

विश्व के महान् नाटककार

शेक्सपियर

के नाटकों के हिन्दी अनुवाद

अनुवादक—डा० रांगेय राघव

✤वेनिस का सौदागर ✤रोमियो जूलियट

✤जूलियस सीज़र ✤जैसा तुम चाहो

✤तिल का ताड़ ✤बारहवीं रात

✤सम्राट् लियर ✤एक सपना

✤हैमलेट ✤मैकबेथ

✤ऑथेलो ✤तूफान

प्रत्येक नाटक का मूल्य दो रुपये

मैकबेथ

(हिन्दी पद्यानुवाद)

अनुवादक

डा० हरिवंशराय बच्चन

मूल्य तीन रुपये

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

इस वर्ष का नया आकर्षण

बढ़िया कागज पर छपे एवं सुरुचिपूर्ण कवर से सुसज्जित उत्तमोत्तम उपन्यास और नाटक

उपन्यास—

नील कण्ठ	—गुलशन नन्दा	६/००
मनोज	—जनार्दन गौड़	४/२५
बकवास	—शौकत थानवी	४/२५
मन के हारे हार	—यादवचन्द्र जैन	४/५०
लिबिड़ो	—सुभाष चन्द्र	२/५०
रुपया रूप और रोटी	—विनोद रस्तोगी	५/५०

नाटक—

गोपा का दान	—विनोद रस्तोगी	३/७५
नन्हा कवि	—इन्द्रसेनसिंह भावुक	०/७५

हमारे अन्य सुरुचिपूर्ण प्रकाशनों के लिए विस्तृत सूचीपत्र मँगायें।

प्रकाशक—**नवयुग प्रकाशन**

२८१ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६ ।

उच्च परीक्षाओं के लिए हमारे श्रेष्ठ प्रकाशन

(१) साहित्यालोचन—श्री रामलाल वर्मा एम० ए०, साहित्यरत्न, शास्त्री

—: प्रश्नोत्तर रूप में :—

पुस्तक के अन्तर्गत विषय (१) साहित्य का स्वरूप (२) साहित्य और समाज (३) कविता का स्वरूप और उसके भेद (४) कविता में व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति (५) कविता में जीवन की व्याख्या (६) महाकाव्य और खण्डकाव्य (७) गीतिकाव्य (८) नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना की व्याख्या तथा तत्व-विवेचन आदि (९) जीवन-साहित्य और पत्र-साहित्य मूल्य केवल २॥)

(२) हिन्दी साहित्य का सरल अध्ययन—श्री ओमप्रकाश तरुण एम० ए०

—: प्रश्नोत्तर रूप में :—

हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सर्वश्रेष्ठ प्रश्नोत्तरी जिसमें एक ही विषय पर विभिन्न विद्वानों के मत देकर उसे और भी उपयोगी बनाया गया है। मूल्य केवल ३)

(३) प्रबन्ध प्रकाश—

विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित उच्चकोटि के साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्धों का संग्रह। मूल्य ५)

डाक खर्च से मँगवाने के लिए बारह आने प्रति पुस्तक अलग।

सूर्य प्रकाशन

७३१५ प्रेम नगर, सब्जी मण्डी, दिल्ली।

महत्वपूर्ण प्रकाशन

दीवाने ग़ालिब

सम्पादक:—मुग़नी अमरोहवी तथा नूरनबी अब्बासी

उर्दू के महान् और लोकप्रिय कवि मिर्जा ग़ालिब के सम्पूर्ण काव्य का एक मात्र संकलन। पाठकों की सुविधा के लिये पुस्तक के अन्त में उर्दू के कठिन शब्दों के अर्थ भी दिये गये हैं। मूल्य ६) मात्र

बाचाख़ान

ले० फारिग़ बुखारी (अनु० प्रभाकर)

गान्धी जी की विचार धारा के प्रमुख अनुयायी सरहदी गान्धी खान अब्दुल गफ्फार खान की कहानी जिसे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी पाकिस्तान में सर्वाधिक दण्डनीय और बन्धनीय समझा जाता है। राजनीति और स्वतन्त्रता संग्राम से सम्बन्धित अद्वितीय ग्रन्थ। ६)

वैज्ञानिक चाँद

ले० बसन्त कुमार चटर्जी

आकाश और महा शून्य में के गति नियमों, चान्द के चक्कर काटने की शक्ति, इस के निर्माण के लिये वैज्ञानिक आधार, इसकी बनावट और आकाश केन्द्रों आदि के बारे में १४ चित्रों सहित पूर्ण विवरण। मूल्य १॥)

बड़ा सूचीपत्र निशुल्क मंगाइये

नारायणदत्त सहगल एण्ड संस

दरीबा कला, देहली—६।

हमारी प्रकाशित प्रमुख पुस्तकें—

रवीन्द्र साहित्य--

१	गीतांजलि	३)	१०	काबुली वाला	२)
२	गोरा	६)	११	महामाया	२)
३	नष्ट नीड़	२)	१२	क्षुधित पाषाण	२)
४	तीन साथी	२)	१३	दृष्टि दान	२)
५	पराया	२)	१४	मणिहीन	२)
६	दुर्भाग्य चक्र	२)	१५	देहाती समाज	२)
७	उपवन	२)	१६	वैरागी	२)
८	ठकुरानी बहू का बाजार	२)	१७	विराज बहू	२)
९	अन्तिम कविता	२)	१८	चन्द्र नाथ	२)

विश्व प्रसिद्ध विदेशी उपन्यास--

१	युद्ध और शान्ति	महात्मा तॉल्स्तॉय	६)	१०	मंजिल से पहिले	तुर्गनेव	३)
२	पुनर्जीवन	,, ,,	६)	११	अपराध और दण्ड	दास्तावस्की	४)
३	अन्ना करेनिना	,, ,,	३)	१२	कप्तान की बेटी	पुश्किन	३)
४	कज्जाक	,, ,,	३)	१३	धरती माता	पर्ल बक	३)
५	सेवास्तोपोल का घेरा	,, ,,	३)	१४	नाना	एमिल ज़ोला	६)
६	व्यापारी का बेटा	मैक्सिम गोर्की	४॥)	१५	नींव के पत्थर	क्रिमोव	४)
७	पिता पुत्र	तुर्गनेव	४)	१६	मौजी जीवन	नोसोव	५)
८	रुदिन	,,	३)	१७	द्वन्द्व युद्ध	चेखव	३)
९	अछूती धरती	,,	६)	१८	सिद्धार्थ	हरमेन हेस्स	२)

विदेशी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ--

१	गोर्की की श्रेष्ठ कहानियाँ (खण्ड १)	३)	४	चेखव की श्रेष्ठ कहानियाँ (खंड २)	३)
२	गोर्की की श्रेष्ठ कहानियाँ (खंड २)	३)	५	तॉल्स्तॉय की श्रेष्ठ कहानियाँ	३)
३	चेखव की श्रेष्ठ कहानियाँ (खंड १)	३)	६	मोपासां की श्रेष्ठ कहानियाँ	३)

प्रभात प्रकाशन, मथुरा।

रत्न

पंजाब यूनिवर्सिटी की

प्रभाकर

भूषण

प्रथमा

साहित्य सम्मेलन प्रयाग की

साहित्यरत्न

मध्यमा

प्रवेशिका

प्रयाग महिला विद्या पीठ की

विदुषी,सरस्वती

विद्या-विनोदनी

MATRIC

(Delhi, U.P., M.P. & Punjab's)

F.A., B.A.

M.A.

की पाठ्य पुस्तकें, सहायक पुस्तकें, पथ प्रदर्शक, (गाइडें) तथा हिन्दी की हर प्रकार की पुस्तकें प्राप्त करें.

सूची पत्र बिना मूल्य मंगायें

रीगल बुक डिपो नई सड़क दिल्ली

पुस्तकालयों के लिए हमारा स्थायी साहित्य

आलोचनात्मक व साहित्यिक

१—कुछ उथले कुछ गहरे बा० गुलाबराय ५)
२—निराला डा० रामविलास शर्मा ३)
३—सूर की झाँकी डा० सत्येन्द्र ६)

अमूल्य एतिहासिक ग्रन्थ

१—दिल्ली सल्तनत डा० आशीर्वादीलाल (७११-१५२६) द्वितीय संस्करण श्रीवास्तव ८)
२—मुगलकालीन भारत डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव १०) (१५२६-१८००) द्वितीय संस्करण
३—भारतीय संस्कृति का इतिहास डा० मथुरालाल शर्मा ६)
४—राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास श्री मन्मथनाथ गुप्त ६)
५—The Mughal Empire Dr. A. L. Srivastava ८) (1526–1803) Revised and enlarged 2nd Ed.
६—The Sultanate of Delhi Dr. A. L. Srivastava १०) (711–1526) Revised and enlarged 2nd Ed.
७—A Short History of Akbar the Great Dr. A. L. Srivastava ३॥)

राजनीति

१—द्वैत शासन से स्वराज्य की ओर डा० इकबाल नारायन ६)
२—आधुनिक संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन कुंजबिहारीलाल २।)
३—From Dyarchy to Self Govt. Dr. I. N. Srivastava ४)

जीवनियाँ

१—My Search for Truth Dr. S. Radhakrishnan १॥) (2nd Edition)
२—Netaji Ed. by Shri Ram Sharma २०)

(A Grand Souvenir Volume printed on art paper and contains nearly 100 rare photos on real art paper. Recommended for Libraries by the Governments of U. P., Punjab and Bombay.)

एतिहासिक अनुसंधान ग्रंथ

१—अवध के प्रथम दो नवाब डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव १२॥)
२—A Study in Maratha Diplomacy Dr. S. P. Verma १५)
३—Mewar & the Mughal Emperors Dr. G. N. Sharma १२॥)
४—The First two Nawabs of Awadh Dr. A. L. Srivastava १२॥)
५—Some Aspects of Society & Culture in Mughal Age. Dr. P. N. Chopra ८)
६—History and Administration of the North-Western Provinces (1303-1856) Dr. Dharma Bhanu १५)

शिक्षा

१—शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा लेखक—जेम्स एस० रौस अनुवादक—एम० एल० जैन ५)
२—शिक्षालय व्यवस्था एम० एल० जैन ३)
३—शिक्षा का माध्यम —श्रीमन्नारायण अग्रवाल १॥)

अर्थशास्त्र

गांधीवादी योजना—श्रीमन्नारायण अग्रवाल २॥) भूमिका लेखक महात्मा गांधी (तृतीय संस्करण)

गृह विज्ञान

सुव्यवस्थित गृह—श्रीमती एस० पी० सुखिया व श्रीमती जी० पी० शैरी २॥) (द्वितीय संस्करण)

नागरिक शास्त्र

१—नागरिक शास्त्र दर्शन विष्णुनरायन वर्मा व इकबाल नरायन ५) (तृतीय संस्करण)
२—हमारा संविधान तथा नागरिक जीवन इकबाल नरायन ५)
३—हमारा संविधान इकबाल नरायन ३॥)

दर्शन शास्त्र

१—Introduction to Philosophy Dr. K. S. Verma ४॥)
२—गांधी और गांधीवाद—डा० पट्टाभि सीतारमैया ५)

बाल साहित्य

१—देश की झांकी—डा० राजेन्द्रप्रसाद चतुर्वेदी ।॥)
२—नये राष्ट्र का जन्म—राजेन्द्रसिंह रघुवंशी ।॥)
३—हमारा निर्माण—डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ।॥)
४—उनका पथ हमारा निर्माण—फूलचन्द सारंग ॥)

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता, आगरा।

हमारे अभिनव प्रकाशन

१. दर्शन शास्त्र के मूल तत्त्व ६।।)

डा० ब्रजगोपाल तिवारी, एम. ए. (दर्शन, अंगरेजी) पीएच. डी. डी. लिट्.

(अध्यक्ष दर्शन विभाग, आगरा कालेज, आगरा ।)

२. भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन का सरल अध्ययन. डा० ब्रजगोपाल तिवारी ५।।)

३. नीति शास्त्र का सरल अध्ययन ,, ४।।।)

४. महाकवि चन्दवरदाई और पद्मावत समय ३।।)

डा० राजेन्द्र शर्मा

(हिन्दी विभाग बी० आर० कालेज, आगरा ।)

तथा

प्रो० प्रकाश दीक्षित एम. ए. साहित्यरत्न.

(हिन्दी विभाग, सेन्ट जोन्स कालेज, आगरा ।)

५. उद्धव शतक विवेचन और व्याख्या —प्रो० प्रकाश दीक्षित ३)

६. CRITICAL STUDY ON BUNYAN. १।)

Dr. Tara Singh. M. A. D. Phil.

(Eng. Dept. B. R. Callege Agra.)

कृपया सूची पत्र मंगाइये

पुस्तक भवन, आगरा

भारतीय-प्रतिष्ठान के अभिनव प्रकाशन

उपन्यास-साहित्य

(१) वन्दना —श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव १०)

(२) विषमुखी ,, ५)

(३) बेकसी का मजार ,, ८)

(४) विसर्जन ,, ७)

(५) पेशवा की कञ्चनी —श्री उमाशङ्कर ४।।)

(६) सम्राट नीरो —अनु० रमेशचन्द्र अवस्थी ४)

आलोचना-साहित्य

(८) रोमाँसवादी साहित्य-शास्त्र—डा० रवीन्द्रसहाय ।।।)

(८) प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प —प्रो० हरस्वरूप ५)

काव्य-साहित्य

(९) करुणाकादम्बिनी —आचार्य श्री 'सनेही' २)

(१०) कसक —श्री हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश' ५)

(११) मधुरिमा ,, ३)

(१२) सुषमा ,, २)

(१३) प्रेमसन्देश ,, २।।)

(१४) करुणा ,, १।।)

एकाधिकारी वितरक :—

ग्रन्थ कुटीर

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता—पो० रोड, कानपुर ।

शैव-दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र

प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

सर्व-प्रथम 'शैव-दर्शन' व "सौन्दर्य-शास्त्र" इन दो शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शैव-दर्शन के अनेक भेद हैं। इस लेख में हम केवल शैव-दर्शन की काश्मीरी शाखा पर ही विचार करेंगे। काश्मीरी-शैव दार्शनिकों ने सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी निर्माण किया है। आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्त का "लोचन" ('ध्वन्यालोक' की व्याख्या) तथा अभिनव भारती (भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या) आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इस लेख में हम इन ग्रन्थों को आधार न बनाकर केवल अभिनवगुप्त के 'तंत्रालोक' में प्राप्त सौन्दर्य-शास्त्रीय तत्त्वों पर विचार करेंगे। 'तंत्रालोक' में प्राचीन आगमों तथा काश्मीरी-शैव-मत के अन्य ग्रन्थों को आधार मानकर शैव-दर्शन की व्याख्या की गई है, इस व्याख्या में सौन्दर्य-शास्त्र के लिए भी प्रकाश मिलता है।

'सौन्दर्य-शास्त्र' कला का दर्शन (Philosophy of Art) है।[1] कलाकारों का गुण दोष विवेचन (आलोचना—Art cirticism) इसका लक्ष्य नहीं है, अपितु कलाओं (काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य आदि) को सामग्री (Material) के रूप में स्वीकार करके कला, सौन्दर्य, कला-जन्य आनन्द, आदि पर 'सौन्दर्य-शास्त्र' सैद्धान्तिक विवेचन करता है, कला व सौन्दर्य की परिभाषा करता है, कलाकार की मानसिक स्थिति तथा कला-सृष्टि के क्षणों की प्रकिया का वैज्ञानिक विवेचन करके कुछ सिद्धान्त निश्चित करता है और इन सिद्धान्तों को अधिकाधिक तर्क-पूर्ण बनाता है, अतः आलोचना के क्षेत्र में जो अस्पष्टता (Vagueness) रहती है, वह सौन्दर्य-शास्त्र में नहीं मिलती। सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से अपरिचित रहकर भी आलोचक या सहृदय कला का आनन्द प्राप्त कर सकता है परन्तु इन सिद्धान्तों से परिचित हो जाने पर आलोचना में स्पष्टता व निर्भ्रान्तिता अवश्य आती है, दूसरे उसकी दृष्टि सूक्ष्म व सक्षम हो जाती है, तीसरे वह साहित्य व कला के सम्बन्ध में अन्य आलोचकों, सौन्दर्य शास्त्रियों व कलाकारों के सिद्धान्तों में तर्क-विरोधी तत्त्वों को दूर करके आलोचना के सिद्धान्तों को अधिक वैज्ञानिक बना सकता है। चूंकि सौन्दर्य-शास्त्र सिद्धान्तों के

१ बोसाँके ने अपने 'सौन्दर्य के इतिहास' में लिखा है कि सौन्दर्य-शास्त्र 'दर्शन' (philosophy) का एक अङ्ग है। केवल ज्ञान के प्रति अभिरुचि के कारण ही इस शास्त्र का अध्ययन होना चाहिए न कि इसलिए कि इसके पठन-पाठन से कला की सृष्टि में सहायता मिलेगी। सौन्दर्य-शास्त्री 'कलाकार' का अध्ययन अपनी जिज्ञासापूर्ति के लिए करता है, कलाकार के क्षेत्र में जाकर उसे कुछ सिखाने समझाने के लिए नहीं—History of Aesthetic-preface

---

(पृष्ठ ७४ का शेषांश)

दिखाई देने पर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। क्योंकि पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति रजोगुण प्रधान है, जबकि भारतीय रसानुभूति पूर्णतया सतोगुण प्रधान है। प्रथम में आनन्द की अनुभूति आनुषंगिक है, जबकि दूसरी स्वतः अखण्ड आनन्दस्वरूप है। इसी कारण पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति में यत्किंचित् आध्यात्मिकता का समावेश होने पर भी उसे ब्रह्मानन्द के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता, जबकि भारतीय विद्वानों ने "रसो वै सः" कह कर रस को ब्रह्म मान लिया है और रसानुभूति भी यहाँ ब्रह्मानन्द की अनुभूति मानी गई है।

विवेचन पर अधिक ध्यान देता है। अतः वास्तविक स्थिति से दूर जाने का भय बराबर रहता है, वह अन्य सिद्धान्तों के दोष तो सुविधा से खोज लेता है परन्तु जब स्वयं सिद्धान्तों का निर्माण करता है तो उनमें वह "फार्मल" हो जाता है। आलोचक को सौन्दर्य-शास्त्र के अध्ययन से अपनी सैद्धान्तिक विवेचना को अधिक तर्क संगत और वास्तविक बनाने का अवसर मिलता है।[२]

---

(२) आर० जी० कालिंगवुड के अनुसार सौंदर्य शास्त्र का अध्ययन एक सीमा तक आवश्यक है। सौन्दर्य शास्त्री दो प्रकार के होते है 1 आलोचक-सौन्दर्य-शास्त्री 2 दार्शनिक-सौन्दर्य-शास्त्री । आलोचक यह बताते हैं कि कला किन किन तत्वों से बनती है, कला-पूर्ण और कला-हीन दोनों को वे अलग-अलग करते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र एक कदम और आगे जाकर कला व सौन्दर्य की परिभाषा करता है, सृष्टि के क्षणों पर विचार करता है, वह आलोचक के अस्पष्ट और व्यवस्थाहीन सिद्धान्तों की जगह स्पष्ट, व्यवस्थित और तर्कसंगत विचार रखता है; अतः सौन्दर्य शास्त्र के अध्ययन से आलोचक को तर्क-संगत व व्यवस्थित होने का अवसर मिलता है तथा वह सौन्दर्य-शास्त्र की कोरी सिद्धान्तवादिता के ख़तरे से बचना सीखता है—

Philosopher's Aesthetic, not having a material criterion for the truth of theories in their relation to the facts, an only apply a formal criterion. It can detect logical flaws in a theory and therefor dismiss it as false, but it can never acclaim any theory as true. It is wholly uncoustructive............Yet the fugitive and cloistered virtue of academic aesthetic is not without its uses, negative though they are. Its dialectic is a school in which the artist-aesthetician or Critic can learn the lessons that will show him how to advance from Art-Criticism to aesthetic theory. (The Principles of Art- R. Y. Collingwood, Page--4)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्य-शास्त्र काव्य-शास्त्र या आलोचना -शास्त्र (Principles of Art or Poetics) का सहायक शास्त्र है, दोनों ही कलाओं को विवेचन का उपकरण (Material) बनाते हैं, अतः अलग होकर भी परस्पर सम्बद्ध हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र सम्बद्ध रूप में ही मिलते हैं। योरोप में जिस प्रकार काव्य-शास्त्र व सौन्दर्य शास्त्र अलग अलग दिखाई पड़ते हैं, उस रूप में यहाँ विकास नहीं हुआ। अतः शैव-दर्शन में भी सौन्दर्य शास्त्र व काव्य-शास्त्र दोनों के लिए प्रेरणाएँ व प्रकाश है।

शैव-दर्शन जगत् की सृष्टि का विस्तार से वर्णन करता है, इस सृष्टि-प्रक्रिया में सौन्दर्य की सृष्टि-प्रक्रिया का रहस्य निहित है। जिस प्रकार जगत् में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि पंचभूतों और इनसे पर्वत, नदी, वृक्ष, पुष्प, पल्लव आदि नाना पदार्थों की सृष्टि होती हैं, उसी प्रकार कलाओं के क्षेत्र में अनेक रूपों की सृष्टि होती है। जगत् की सृष्टि की प्रक्रिया व कला की सृष्टि प्रक्रिया एक हैं क्योंकि जगत् की सृष्टि की कल्पना में स्वयं व्यक्ति की सृष्टि-प्रक्रिया ही प्रमाण है। पिंड व ब्रह्माण्ड की सारी प्रक्रियाएँ समान हैं। अतः शैव दर्शन में बाह्य जगत् की सृष्टि का वर्णन कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का ही वर्णन है, ऐसा मानना चाहिए।

शैव-दर्शन के अनुसार जगत् की इस सृष्टि का कारण एक चेतनतत्त्व है। इस चेतनतत्त्व का शास्त्रीय नाम है "परम शिव"।[१] यह चेतन तत्त्व सभी प्रकार के आन्दोलनों (Movements) से परे है, अतएव इसका वर्णन सम्भव नहीं है। यह सर्वथा भेद-रहित स्थिति है। इस स्थिति में सृष्टि सम्भव नहीं है।

---

(१) उपनिषद् में यही "परब्रह्म" कहलाता है।

अर्थात् चेतना अपने आत्यन्तिक शुद्ध रूप में स्थित होकर सृष्टि से परे हो जाती है। इसीलिए सौन्दर्यानन्द को "ब्रह्मानन्द" नहीं कहा जाता क्योंकि सौन्दर्यानन्द, ब्रह्मानन्द से निम्न स्थिति है। प्रज्ञा के स्थिर हो जाने पर सृष्टि नहीं हो सकती है।

स्वच्छन्दतावाद—

शुद्ध चेतन तत्त्व में शैव दर्शन एक स्वतंत्र शक्ति की स्थिति मानता है। यदि यह प्रश्न हो कि परम शिव (ब्रह्म) में सृष्टि की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है तो उसका उत्तर यह है कि ब्रह्म अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने को उन्मुख होता है। अतः सौन्दर्य-शास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह है कि कलाकार अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने के लिए उन्मुख होता है, यह स्रष्टा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, बाह्य दबाब सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। पुनः प्रश्न होगा कि अंततः कुछ तो सृष्टि-इच्छा का कारण होना ही चाहिए, तो उत्तर होगा कि सृष्टि करने में चेतना को आनन्द प्राप्त होता है।[१] अनुभव से ही आत्मा (चैतन्य) को आनन्द मिलता है यद्यपि आत्मा या चैतन्य स्वतः सत्-चित् आनन्दमय है, तथापि सृष्टि उसकी स्वानुभूति मात्र (Self realization) है। अन्य बाह्य उद्देश्य सृष्टि नहीं कर सकते।[२]

अतएव सृष्टि का कारण है, स्रष्टा की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति। यह इच्छा क्रीड़ाजन्य आनन्द-प्राप्ति की इच्छा है। जिस प्रकार क्रीड़ाशील बालक क्रीड़ा के बिना भी पूर्ण है परन्तु क्रीड़ा के द्वारा वह अपने ही आनन्द का भोग करता है; नाना पदार्थों की सृष्टि करके अपने आनन्द का विस्तार करता है, उसका अनुभव करता है, उसी प्रकार अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से परम-शिव जगत् की सृष्टि करता है और इसी प्रकार कलाकार अपनी स्वच्छन्द-इच्छा-शक्ति से आत्म-अनुभूति के लिए, आनन्द-विस्तार के लिए सृष्टि करता है।[१]

शुद्ध चेतन तत्त्व में यह स्वतंत्र इच्छा उत्पन्न होते ही उसमें पहले से ही विद्यमान शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। ये शक्तियाँ चेतना के साथ एकाकार हैं परन्तु स्वतंत्र इच्छा शक्ति से सृष्टि का संकल्प उदय होते ही चेतना का यह अंश (शक्तितत्व) चेतना से भिन्न प्रतीत होने लगता है। इसे शैव-दर्शन में "शक्तितत्व" कहा गया है, और शक्ति के साथ एकाकार चेतना का दूसरा अंश शिवतत्त्व कहलाता है। इस प्रकार परम-शिव के दो रूप (Aspects) दिखाई पड़ते हैं, शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व। इनमें शक्तितत्त्व को विमर्षतत्त्व या क्रिया-तत्त्व भी कहा जाता है। यह शक्तितत्त्व ही सृष्टि में समर्थ है, दूसरे शब्दों में स्रष्टा (शिव) शक्ति द्वारा सृष्टि करता है। यह शक्तितत्त्व स्वतंत्र या स्वच्छन्द तत्त्व है क्योंकि चैतन्य का एक अंश या रूप होने पर भी यह जड़-तत्त्व की सृष्टि में समर्थ है। अतः जड़ जगत् शक्ति का एक रूप है (Aspect) है, वह वेदान्तियों के अनुसार "मिथ्या" नहीं है। इसलिए सृष्टि का आनन्द जो शिव या स्रष्टा को प्राप्त होता है, वह

(१) स्वात्मप्रच्छादनक्रीड़ा, पण्डितः परमेश्वरः—तन्त्रा० चतुर्थ आह्निक

(२) उपयोगी कला और शुद्ध कला का भेद यहाँ स्पष्ट हो जाता है। शुद्ध-कला केवल अपनी प्रेरणा, अपनी स्वच्छन्द-प्रक्रिया पर चलती है, उपयोगी कला या शिल्प (craft) में कोई बाह्य उद्देश्य रहता है, इसीलिए तुकबन्दी या समस्या पूर्ति को हमारे यहाँ ६४ शिल्प कलाओं में रखा गया है और काव्य या शुद्ध कला को शिल्प से अलग कर लिया गया है।

(१) इस 'स्वच्छन्दतावाद' में "कला कला के लिए है", "कला केवल आनन्द के लिए है" जैसे एकांगी सिद्धान्तों के लिए स्थान नहीं है क्योंकि शैवदर्शन में आनन्द, ज्ञान, क्रिया, इच्छा, इनको परस्पर सम्बद्ध माना गया है। ज्ञान, क्रिया व इच्छा इन सबके सामरस्य से ही सृष्टि होती है अतः शिवता और सत्य भी सौन्दर्य में सम्मिलित रहते हैं। भेदवादी दृष्टि ही एकांगिनी होती है। प्रधानता के कारण ही अलग नाम दिए जाते हैं न कि सारे अनुभवों से पूर्णतः विच्छिन्न और निरपेक्ष्य होने के कारण।

भ्रम-जन्य आनन्द नहीं है, वह अपनी ही शक्ति द्वारा शक्ति के ही रूप में प्राप्त आनन्द है। कलाकार (शिव) अपने रूप शक्तितत्त्व का विस्तार करके ही आनन्द पाता है।

आभासवाद—

शुद्ध चेतन तत्त्व का एक अंश द्वारा व्यक्त होना ही "बाह्याभास" है। सारी सृष्टि एक प्रतिबिम्ब के समान है और यह प्रतिबिम्ब चैतन्य में ही प्रतिष्ठित है। जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब आनन्ददायी होता है, वैसे ही सृष्टि शिव का ही प्रतिबिम्ब है। कलाकार अपनी सृष्टि में अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है और आनन्दित होता है। जैसे प्रतिबिम्ब और बिम्ब अलग होने पर भी अभिन्न होते हैं, वैसे ही कला व कलाकार भी, अलग प्रतीत होने पर भी एक और अभिन्न हैं। यह प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया शक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है। शिव (कलाकार) अपनी ज्ञान, इच्छा व क्रिया द्वारा इस प्रक्रिया को पूर्ण करता है। माध्यम से भिन्न अभिव्यक्ति या सृष्टि की सत्ता नहीं है।[1]

आभास या प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया इस प्रकार है। शिव पंच-शक्तियों द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। चित्, आनन्द, ईषण, ज्ञान व क्रिया ये पांच शक्तियाँ ही सृष्टि करती हैं। शिव मूलतः पूर्ण होने पर भी स्वातंत्र्य शक्ति से, बाह्य रूप में प्रकट होने की इच्छा करता है और सर्वप्रथम वह "अहम्" (मैं हूँ) इस अनुभव को प्राप्त करता है, तत्पश्चात वह 'इदम' (यह है,) ऐसा अनुभव करता है किन्तु ये दोनों अनुभव अस्फुट रहते हैं। **'इदम्' यह ज्ञान बराबर "अहम्" इस ज्ञान से संयुक्त रहता है।** ज्ञानशक्ति की प्रधानता इस अवस्था में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। अहम् व इदम् यदि अस्फुट अवस्था में ही रहें और ज्ञान-शक्ति व आगे चलकर क्रिया-शक्ति का संयोग इनके साथ न हो तो सृष्टि नहीं हो सकती।[1] इसीलिए ज्ञान शक्ति के साथ जब अहम् व इदम् के अनुभवों का संयोग होता है तब शैव-दर्शन शिव की इस स्थिति को "ईश्वर" संज्ञा देता है। कलाकार को भी इसलिए ईश्वर या स्रष्टा कहा गया है। ईश्वरीय अवस्था में क्रिया-शक्ति कार्य करने लगती है। क्रिया-शक्ति के पूर्व सृष्टि कलाकार के मन में स्थित रहती है। क्रिया के द्वारा वह बाह्य रूप धारण करती है।

अहम् व इदम् के अनुभव को माया, कला, विद्या राग, काल व नियति ये तत्त्व शासित करते हैं, ये ही कंचुक या आवरण हैं, इनसे आवृत होकर ही शिव सृष्टि करता है। इनमें अहम् व इदम् का भेद करने वाली शक्ति 'माया' कहलाती है। इसी मायाशक्ति से शिव को 'जीव' संज्ञा प्राप्त होती है।

माया रूप का गोपन करती है अर्थात् जो पूर्ण

---

(१) अभिव्यक्ति के विवेचन में अलंकार, भाषा, छंद आदि के भेद करते हुए व्याख्या करना केवल बाह्य व्याख्या है, और मात्र व्यावहारिक है। वास्तविक दृष्टि से अभिव्यक्ति को अभिव्यक्ति की शक्ति या माध्यम से अथवा कलाकार की मानसिक शक्तियों से भिन्न नहीं किया जा सकता।

१ शैव-दर्शन का यह निर्णय सौन्दर्य-शास्त्र के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मनोवैज्ञानिक कला में 'अव-चेतन' मन को ही सर्वस्व मानते हैं, जो एक अतिवाद है। इसी प्रकार दिवास्वप्न या भ्रम-सृष्टि की इच्छा भी कला का मुख्य कारण नहीं है। कल्पना की अतिशयता में विश्वास करने वाले ज्ञान का महत्व कला में स्वीकार नहीं करते अतः यह सिद्धान्त भी अतिवादी है। कला-सृष्टि में ज्ञान (consciousness not intellect) **शक्ति अनिवार्य रूप से रहती है। कॉलिंगवुड ने तो ऐन्द्रिक अनुभव** (sensation) **और विचार** (thought) **के मध्य में 'कल्पना'** (imagination) **को आवश्यक माना। एन्द्रिक अनुभव को कल्पना में ज्ञानशक्ति ही परिवर्तित करती है, बिना ज्ञानशक्ति के कल्पना एन्द्रिक अनुभवों को इच्छित रूप नहीं दे सकती। अतः कला में ज्ञानशक्ति मान्य होनी चाहिए, किन्तु ज्ञानशक्ति का बौद्धिक रूप जिसका प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में होता है, सृष्टि के लिए आवश्यक नहीं है।**

चैतन्य है, उसे अंश रूप में प्रकट होने देती है। यही माया सृष्टि कारिणी होने से "कला" कहलाती है। यह 'कला' का दार्शनिक और विशेष अर्थ है। 'कला' से ही कर्म की ओर हम उन्मुख होते हैं और कर्म की ओर उन्मुख होने के लिए यह आवश्यक है कि शुद्ध चैतन्य जागृत हो, स्वरूप गोपन हो। इसीलिए प्रारम्भ में ही कहा गया है कि परम शिव की स्थिति में अर्थात् शुद्ध चैतन्य की स्थिति में सृष्टि सम्भव नहीं है। 'कला' का अर्थ क्या है? कला का अर्थ है— "किंचित्कर्त्तृत्व"—"कुछ करना" ही कला है। अतः केवल कविता लिखना या चित्रकारी ही कला नहीं है, अपितु प्रत्येक कार्य में कला-शक्ति कार्य करती है, और प्रत्येक कार्य में—प्रत्येक सृष्टि में वही आनन्द प्राप्त होना चाहिए जो कवि को काव्य-सृष्टि में मिलता है। प्रत्येक कर्म में कर्त्ता की मानसिक स्थिति वही होती है जो एक कलाकार की होती है। मिट्टी से छोटे-छोटे घर बनाने वाला बालक, खेत को तैयार करने वाला कृषक, गृहस्थी सँवारने वाली गृहिणी, ये सब कलाकार हैं; अन्तर केवल यह है कि काव्य, चित्र आदि के सृजन में कलाकार का स्वरूप-गोपन कुछ कम होता है और वह उस समय निकटतम लाभ की इच्छा से सृजन नहीं करता। यदि कृषक की मानसिक स्थिति भी यही रहे तो वह भी कलाकार कहा जा सकता है। इसीलिए शैव-दर्शन में कला के दो रूप स्वीकृत हैं। प्रथम अशुद्ध कला,—इसमें जड़ता प्रधान रहती है; जड़ता का अर्थ है, आंतरिक प्रकाश का किंचित् अभाव। ईर्ष्या, द्वेष, मोह, क्रोध आदि में शुद्ध कला की सृष्टि सम्भव नहीं है। द्वितीय, शुद्ध कला—इसमें जड़ता दूर हो जाती है, आंतरिक प्रकाश या चैतन्य का उदय होता है, इसीलिए गीत, काव्यादि में आनन्द उत्पन्न होता है। उदासीनता के दूर होने से व्यक्तिगत जड़ता के नाश से और शुद्ध चैतन्य की अनजान में झलक पड़ने से शुद्ध कला का जन्म होता है। सुन्दर से सुन्दर शब्दों और उक्ति-वैचित्र्य का घनघोर प्रयोग करने पर भी यदि स्रष्टा की चेतना शुद्ध नहीं है, यदि वह निजी क्रोध व ईर्ष्या आदि से पीड़ित है तो शुद्ध कला का जन्म असम्भव है। शिल्प व जादू (वाक् चातुर्य) को 'कला' नहीं कह सकते यद्यपि इनकी सहायता कला में आवश्यक है। कला में आत्म-परामर्श, स्वरूप-गोपन, विकल्प, ज्ञान व बाह्य रूप में अपने को उल्लसित करने की इच्छा, ये पाँच तत्त्व अनिवार्य हैं। शुद्ध चैतन्यतत्त्व स्वयं अपने को जागृत करके कला के रूप में अभिव्यक्त होता है।

जिस प्रकार बीज में सर्व प्रथम उच्छूनता (swelling) उत्पन्न होती है, वैसे ही कर्त्ता में यह कला उत्पन्न होती है। ज्ञान, इच्छा व क्रिया द्वारा यह कला-शक्ति स्वयं प्रेरिका बनकर स्रष्टा से सृष्टि कराती है। कला द्वारा सृष्टि करके स्रष्टा अपने को सार्थक मानता है। अपने को कर्त्ता मानने से उसे एक विशेष आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार शिव को सृष्टि का आभासन करने से आनन्द होता है। अतः कला द्वारा कर्त्ता अपनी कर्त्तृता (करने की शक्ति) की अभिव्यंजना करता है। कला द्वारा ही कर्त्ता का भोग उसे आनन्द देता है।[1]

कला ज्ञान के अभाव में अधः पतन की ओर भी ले जाती है। कला को मात्र मनोरंजन समझने वालों के लिए यह महत्त्व पूर्ण है। ज्ञान के पूर्व कला "दोषालया" है। और ज्ञान के बाद "शुभा"। यही कला का "मर्म" है। कला का मर्म समझ लेने से निर्लिप्तता आती है। स्रष्टा विवेकहीन होने पर दोषपूर्ण कला को जन्म देगा और श्रोता या दर्शक भी ज्ञान के अभाव में शुद्ध कला से भी अधः पतन को प्राप्त होगा, यह निश्चय है। विवेक क्या है? अकर्त्तृत्व का अनुभव ही विवेक है। इसके बिना स्रष्टा अहंकार के कारण विकास नहीं कर सकता और पाठक या दर्शक आसक्ति के कारण कला को केवल

---

(१) कर्त्तृ शक्ति व्यनक्त्यस्य कला सातः प्रयोजिका।

ततः कलासमायुक्तो, भागेऽणुः कर्त्तृकारकम्-
तंत्रालोक-नवम आह्निक

वासना-पूर्ति का साधन समझ बैठेगा। विवेक के उत्पन्न होने पर न केवल कविता, चित्र आदि अपितु जगत् का प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक कार्यकलाप, प्रत्येक दृश्य आनन्द का सृजन करता है और सुख-दुःख सब में चेतना का क्षोभ उसकी आंतरिक शांति को नष्ट नहीं कर पाता। चेतना के बाह्यस्तरों (मन व इन्द्रिय जगत्) को क्षुब्ध करके जो कलाकार आंतरिक रूप से स्वस्थ और तटस्थ नहीं रह सकता, वह कलाकार नहीं है, मानसिक रोगी है। इसीलिए कला का जन्म सात्विक अवस्था में सम्भव है। 'तामस् व रजस्' की स्थिति में कला का जन्म नहीं होता, शिल्प और शोक का जन्म होता है। 'ध्वन्यालोक', 'अभिनव भारती' व 'काव्य प्रकाश' में इस सात्विक स्थिति का विस्तार से वर्णन किया गया है। कला के लिए सात्विकता अनिवार्य है। सात्विक स्थिति में, ज्ञान-शक्ति की सहायता से 'राग' की व्यंजना ही 'कला' कहलाती है।

इस प्रकार विद्या से विषय का चयन, राग से निश्चित विषय के प्रति तल्लीनता तथा कला से रूपों की सृष्टि होने पर ही सृष्टि होती है। यह सृष्टि काल-विशेष में ही होती है, अतः काल भी सहायक तत्त्व है। नियति तत्त्व से सृष्टि या कर्म विशेष करने की प्रेरणा होती है, अतः माया, कला, विद्या, राग, काल व नियति ये कंचुक सृष्टि के लिए अनिवार्य हैं। इनमें 'काल' को छोड़कर सभी मानसिक प्रेरणाएं या स्थितियां हैं। नियति ईश्वरीय प्रेरणा है अतः उसे हम छोड़ सकते हैं। विद्या ज्ञान का ही एक रूप है, बुद्धि भी ज्ञान का ही एक रूप है जो इन सभी कंचुकों से होने वाली सृष्टि से उत्पन्न "अहम्" का मनन कराती है। इसी बुद्धि में शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, अतः बुद्धि द्वारा अहं का मनन या परामर्श वस्तुतः स्वयं चैतन्य का ही परामर्श है। इस प्रकार उपर्युक्त सृष्टि की सारी प्रक्रिया चैतन्य के द्वारा एक 'आभास' या प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया है। आत्मा की भित्ति पर ही, आत्मा की स्वतंत्र इच्छा शक्ति से ही यह सारी क्रीड़ा हो रही है और इस क्रीड़ा के द्वारा स्रष्टा आनन्द में निमग्न रहता है।

आनन्दवाद—

अविद्या या माया के कारण आनन्दरस से पूर्ण यह जगत् जो शिव की कला है, दुःख रूप प्रतीत होता है। माया के कारण भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है और कर्त्ता जगत् को अपने से भिन्न समझ बैठता है। वह आंतरिक प्रकाश या विवेक के अभाव में कल्याणी सृष्टि को अपने अज्ञान से उत्पन्न दुःख के कारण दुःखमयी मान लेता है, परन्तु यह उदासीनता या अवसाद कला के मर्म को न समझ पाने के कारण है। जगत् सूक्ष्म चेतना का ही व्यक्त रूप है, यह ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द उत्पन्न होता है। यह स्फुरणा चेतना का "हृदय" कहलाती है।[1] इससे युक्त व्यक्ति "सहृदय" कहलाता है और तब दुःखादि भावनाओं में भी वह आनन्दमय रहता है। शोक व वीभत्स के वर्णन में आनन्द इसीलिए मिलता है कि उस समय सहृदय सात्विक स्थिति में होने पर निजी राग व द्वेष से ऊपर उठ जाता है। उस समय विभाव, अनुभाव, संचारी भावों आदि के वर्णन या दर्शन से 'सहृदय' अपनी चेतना के शुद्ध रूप की झलक पा जाता है और उस शुद्ध चेतना के ऊपरी स्तरों—सुख-दुःखादि भावों का जो कि साधारणीकृत हो जाते हैं, भोग करता है। इस प्रकार कला द्वारा सहृदय अपने भावों का भोग करता है। कला का सौन्दर्य 'सहृदय' की इस मानसिक अवस्था के उद्दीप्त करने में है। कला द्वारा वर्णित विषय 'सहृदय' की स्फुरणा को जागृत कर देते हैं, और तब सहृदय अपने ही आनन्द की "चर्वणा" करता है। यहाँ विषयी-सौन्दर्य व विषयगत सौन्दर्य दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, यही "रसावस्था" है। रस की अवस्था में, चेतना में प्रति-बिम्बित होने वाले सुख-दुःखादि वासनाओं का भोग

---

(१) सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्टिनः।

तथाहि मधुरेगीते, स्पर्शे वा चन्दनादिके।
माध्यस्थविगमेयासौ हृदये स्पन्दमानता,—आनन्द शक्तिः सैवोक्ता—यतःसहृदयोजनः—तं०आ० तृतीय आह्निक

आनन्द देता है जबकि शुद्ध चेतना के सुप्त रहने पर, निजी सुख दु:ख के अनुभव के समय मोह व शोक होता है। जिस प्रकार दर्पण में भूमि जलादि प्रतिबिम्बित होते हैं और साथ ही वे दर्पण से अभिन्न भी रहते हैं, उसी प्रकार रसावस्था में शुद्ध चेतना के जागृत हो जाने पर अर्थात् विगलितवेद्य होने पर (निजता, परतादि का ज्ञान न रहने पर) सुख-दु:खादि भावनाओं का वर्णन, चित्रण या प्रदर्शन आनन्ददायी होता है।

यह सारा विश्व चैतन्य से संलग्न होकर ही आभासित हो रहा है। अत: चैतन्य स्वच्छ है। उसमें सर्व विश्व प्रकाशित है। यदि संवित् या चैतन्य स्वच्छ नहीं है तो उसमें पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। प्रतिबिम्ब रूप का ही क्यों दिखाई पड़ता है? क्योंकि रूप तेज का साथी है अत: नेत्र को केवल रूप का ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, स्पर्श आदि का नहीं किन्तु ज्ञान स्पर्श आदि का भी होता है, अत: रूप का प्रतिबिम्ब प्रधान होने से कला के क्षेत्र में रूप की ही महिमा है, यद्यपि शब्द, स्पर्श, रस और गंध भी आनंददायक हैं। रूप ही स्पर्शादि की ओर बढ़ने के लिए उत्तेजित करता है। यथा कामिनी के रूप को देखकर ही स्पर्शादि की इच्छा कामुक करता है। वैसे ही रूपों के प्रतिबिम्ब से हम क्रमश: जगत् के मूल में स्थित चेतना की ओर बढ़ते हैं। रूप, रस, गंध आदि का बार बार भोग करके भी हम तृप्त नहीं होते क्योंकि इन आभासों के पीछे शुद्ध चेतना की प्राप्ति जब तक नहीं होती, तब तक ये रूपरसादि क्षोभकर ही रहते हैं[1] किंतु आनंद के मूल स्रोत को प्राप्त कर लेने पर रूप, रस, गंधादि क्षोभकर नहीं होते, अपितु ये शांति के सहायक हो जाते हैं। अत: रसावस्था में चेतना का आवरण एक सीमा तक उतर जाने पर रूप, रस, गंध, सुख, दु:खादि सब आनन्द के सहायक हो जाते हैं। अत: जगत् में जो कोई आह्लादकारी पदार्थ हैं, रूप हैं, वे सब आनन्द के मूलस्रोत से संलग्न कर देने पर पूजा के उपकरण बन जाते हैं।[1] इसीलिए भारतीय काव्य और कला रहस्यात्मक और संकेतात्मक है, व्यंजना का इसीलिए हमारे यहाँ आदर है। केवल भोग की लालसा को कला द्वारा व्यक्त करना हमारे यहाँ इसीलिए पाप माना गया है। इस लालसा को शैव-दर्शन 'लोलिका' कहता है। 'लोलिका' में अपूर्णता का अनुभव रहता है, अत: लालसा-प्रधान कला विनाशकारिणी है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह कला हमारा उदात्तीकरण नहीं करती अथवा कॉलिङ्गवुड की शब्दावली का प्रयोग करें तो उसमें भावनाओं और प्रवृत्तियों का domestication नहीं होता।

निष्कर्ष—शैव-दर्शन से प्रथम शिक्षा यह मिलती है कि कला स्वत: स्फूर्त चेतना का उच्छलन है। चेतना का "स्वरूप" ही ऐसा है कि उसमें अपने को प्रकाशित करने की इच्छा रहती है, अत: इस दृष्टि से इस सिद्धान्त को "स्वरूपवाद" कहा जा सकता है।

(२) स्रष्टा व सृष्टि एक और अभिन्न हैं, सृष्टि में स्रष्टा अपने शक्ति रूप से रूपान्तरित हो जाता है, अत: स्रष्टा व सृजन में आत्यन्तिक एकता है। जिस सृजन में कलाकार के 'स्व' पर प्रकाश नहीं पड़ता,

---

(१) प्रच्छन्नरागिणीकान्त - प्रतिबिम्बितसुन्दरम् दर्पणं कुचकुम्भ्यां, स्पृशन्त्यपि न तृप्यति—तंत्रा० तृतीय आह्निक

(१) यत्किंचिन्मानसाह्लादि, यत्रक्वापीन्द्रियस्थितौ।

योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि—पूजोपकरणं हित त्—तंत्रा० चतु० आ०

तान्त्रिकों व वैष्णवों ने इसीलिए इन्द्रिय व मानस जगत् को—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इच्छा, आशा रति आदि को पूजा का उपकरण स्वीकार किया था और केवल भगवान को इनका लक्ष्य बनाकर—लीला-वर्णन द्वारा कला और साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत सृष्टि की थी। किसी महान लक्ष्य के लिए यदि ऐन्द्रिक जगत् व मानसिक जगत् को उपकरण न बनाया जाएगा तो कला भ्रष्ट हो जाएगी।

उसके व्यक्तित्व का अंश व्यक्त नहीं होता, वह कला हीन हो जाती है।

(३) कला का आनन्द स्वतः अपने में पूर्ण होता है, वह शिवत्व या सत्य का विरोधी नहीं है परन्तु ये तत्व अप्रत्यक्ष रूप से ही कला को प्रभावित करते हैं। कांट जिसे "उद्देश्यहीन उद्देश्य" (Purposiveness without purpose) कहता है, वही वस्तुतः सुन्दर सृष्टि का उद्देश्य होता है।

(४) 'सुन्दर' किसे कहते हैं, कोई पदार्थ सुन्दर क्यों लगता है? आदि प्रश्नों के उत्तर में निवेदन यह है कि शैव जगत् के सभी पदार्थों को सुन्दर मानते हैं, जो पदार्थ अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं, उनमें ब्रह्मतेज अधिक व्यक्त हो रहा है, ऐसा उनका विश्वास है। 'ज्यामित' के आधार पर सौन्दर्य के बाह्य-कारणों की मीमांसा इस दर्शन में नहीं मिलती, परन्तु अंतर्मुख-सौन्दर्य (Subjective beauty) की व्याख्या अवश्य मिलती है। सुन्दर या असुन्दर—यह अनुभव हमारी वासना पर निर्भर करता है। देश, जाति, काल, पात्र के भेद से सौन्दर्य के अनेक स्तर व मापदंड बन गए हैं परन्तु चेतना के साथ सम्पृक्त हो जाने पर असुन्दर पदार्थ भी सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। शिवत्व व सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही सौन्दर्य का वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः सौन्दर्य का शिव व सत्य से अभिन्न सम्बन्ध है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सौन्दर्य-सृष्टि स्थूल नैतिकता व दर्शन शास्त्र से निर्णीत सत्य का दस्तावेज़ है। शिव व सत्य अप्रत्यक्ष रूप से कलाकार की चेतना में स्फूर्ति उत्पन्न करते हैं, अतः आत्म-स्फुरण की अभिव्यक्ति कला है और "आत्म" का निर्माण शिव व सत्य के ज्ञान से पूर्ण होता है, बाह्य जगत् व समाज आदि सभी का ज्ञान "शिव-सत्य" में सम्मिलित हैं।

(५) पारमार्थिक दृष्टिकोण से सौन्दर्य-सृष्टि के ये सिद्धान्त हीगेल से सादृश्य रखते हैं। एक सत्य या विचार (idea) ही कला में व्यक्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार एक ब्रह्म जगत् के द्वारा व्यक्त हो रहा है।[1]

(६) सृजन-क्षणों में ज्ञान-शक्ति, कल्पना (इच्छा का एक रूप)[2] राग आदि वृत्तियों में पूर्ण सामञ्जस्य की आवश्यकता है। "वृत्ति-सामरस्य" ही तादात्म्य' की सृष्टि करता है। बिना 'तादात्म्य' के आनन्द की सर्जना नहीं हो सकती। अतः कला की सफलता 'सामरस्य' पर आधारित है। किंचित् संतुलन के अभाव में ही कला विकलांग हो जाती है। उदाहरण के लिए 'कामायनी' में ज्ञानशक्ति व रागतत्त्व का सामञ्जस्य पूर्ण मात्रा में नहीं हो सका, उसमें बुद्धि तत्त्व किन्हीं सर्गों में अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु यह स्मरणीय है कि 'कामायनी' में आधुनिक किसी भी

(शेष पृष्ठ ८४ पर)

In Art, reality shines as beauty through a medium, which may be directly presented as in the cases of a statue, a building, or strain of music or in sensuous imagery as in poetry. (History of Modern Philosophy—W. K. Wright on Hegel)

(१) 'कल्पना' शब्द का प्रयोग शैव-शासन में नहीं मिलता, किंतु इसे इच्छा का एक रूप माना गया है। कुछ लोग इसे "प्रातिभ-ज्ञान" यह नाम देना चाहते हैं, जो गलत है क्योंकि 'प्रातिभ-ज्ञान' स्वतः प्रकाश्य ज्ञान (intuition) है, जबकि 'इच्छा' या कल्पना में ज्ञान-शक्ति की जागरूकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है, प्रातिभ-ज्ञान अकस्मात् उदित होता है।

(२) 'कल्पना' शब्द का प्रयोग शैव-शासन में नहीं मिलता, किन्तु इसे इच्छा का एक रूप माना गया है। कुछ लोग इसे "प्रातिभ-ज्ञान" यह नाम देना चाहते हैं, जो ग़लत है क्योंकि 'प्रातिभ-ज्ञान' स्वतः प्रकाश्य-ज्ञान (intuition) है, जबकि 'इच्छा' या कल्पना में ज्ञानशक्ति की जागरूकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है, प्रातिभ-ज्ञान अकस्मात् उदित होता है।

साहित्य में सौन्दर्य-तत्त्व

डा० हरद्वारीलाल शर्मा

'सुन्दर' की परिभाषा करना कठिन है; और वह परिभाषा सर्वमान्य भी हो, यह असम्भव सा प्रतीत होता है। परिभाषा न कर सकने के दो कारण मुख्यतः होते हैं; एक यह कि वस्तु अत्यन्त सरल है, इतनी सरल कि विश्लेषण नहीं किया जा सकता, जैसे मिठास, सुख-दुःख प्रेम-द्वेष आदि। दूसरे, पदार्थ इतना जटिल हो कि विश्लेषण असम्भव हो जाय, जैसे संस्कृति, सभ्यता, विकास आदि की परिभाषा। अत्यन्त सरल अथवा जटिल होना किसी पदार्थ की परिभाषा की दो सीमाएं हैं। हमारे मत में 'सुन्दर' परिभाषा की सीमा से इसलिये बाहर है कि वह हमारी सरलतम और निकटतम अनुभूति है। वह विरल और विचित्र नहीं अपितु सरल और साधारण है। इस मत की पुष्टि करने का यह निबन्ध अवसर नहीं है। फिर भी, इसका एक पोषक प्रमाण यह है कि 'रस' की स्पष्टतम और तीव्रतम अनुभूति मन की सरल और 'आदिम' अवस्था में जितनी होती है उतनी 'संस्कृति' द्वारा 'विकृत' अवस्था में नहीं जब मन विधि-निषेध और न जाने कितनी मीमांसाओं में उलझ जाता है।

सौभाग्य से प्रस्तुत विषय के लिये 'सुन्दर' की परिभाषा आवश्यक भी नहीं है। जिस प्रकार ग्राफ कागज पर किसी बिन्दु की स्थिति दूसरी अक्ष रेखाओं और बिन्दुओं की सहायता से निश्चित की जा सकती है, उसी प्रकार अन्य अनुभवों के सम्बन्ध से 'सुन्दर' का स्वरूप-बोध किया जा सकता है। संक्षेप में, कोई 'वस्तु' सुन्दर होती है; 'सौंदर्य' उसका गुण है। सुन्दर वस्तु के सन्निकर्ष से 'रस' की अनुभूति जाग्रत होती है। यह अनुभूति सरल और सामान्य होने के साथ ही पोषक होने के कारण मूल्यवान भी है। इसको उत्पन्न करने में 'वस्तु' का इतना ही हाथ है जितना विद्युत् प्रकाश को लाने के लिए 'स्विच' का होता है। जिस प्रकार जल पृथ्वी के हृदय से भी झरता है और आकाश के बादलों से भी जिनसे मिलकर स्रोतस्विनी का जन्म होता है, उसी प्रकार 'सुन्दर' वस्तु और रसिक की आत्मा दोनों से ही रसानुभूति का उदय होता है। हम 'आनन्द' की अपेक्षा 'रस' शब्द को उपयुक्त समझते हैं क्योंकि 'आनन्द' और साधारण सुख में अन्तर करना भाषा के प्रयोग में कठिन प्रतीत होता है जब कि 'रसानुभूति' 'सुख' से भी अधिक 'दुःख' से जाग्रत और पुष्ट होती है।

रसानुभूति क्या है ? यह 'आत्मा' की वह स्वकीय और सरलतम अवस्था है जो अवस्था 'व्यक्तित्व' के उदय होने से पूर्व उसकी थी। व्यक्तित्व का केन्द्र 'अहं' की भावना है। इसके चारों ओर व्यक्ति की विशेष परिस्थितियां परिधि का निर्माण करती हैं। केन्द्र तथा परिधि के मध्य प्रदेश में उनके स्वकीय अनुभवों का ताना बाना रहता है। मनोविज्ञान की भाषा में, व्यक्तित्व अनुभूतियों का वह सक्रिय संस्थान अथवा व्यवस्था है जो किसी व्यक्ति के व्यवहार, विचार-धारा, मनोवेगों का आधार व संचालक है। आत्मा अनन्त है, व्यक्तित्व उस पर तैरती हुई नौका है; आत्मा अमेय आकाश है, व्यक्तित्व उसमें उड़ता हुआ अभ्र-खण्ड है; आत्मा अनिमिष ज्योति है, व्यक्तित्व उससे निस्रत स्फुलिङ्ग है। व्यक्तित्व व्यवहार व जीवन के लिये आवश्यक है, किन्तु रसानुभूति के लिये तो इसका 'विलय', 'निर्गलन', 'भंग' अनिवार्य है। इस स्थान पर अनेक प्रश्न खड़े होते हैं जिनके उत्तर देने में यदि हम उलझ गए तो प्रस्तुत विषय से दूर हो जायेंगे। अतः इतना कह कर हम आगे चलें : सौन्दर्य का प्रभाव व्यक्ति को गलाकर आत्मा को उसकी आदिम, स्वकीय

व सरल अवस्था में ले आता है। "रसो वै सः" वह आत्मा स्वयं रस है, जीवन है, चिन्मय और व्याख्या से बाहर है। स्यात्, आप कहें—'उपनिषदों के रहस्य में न जाइये। विज्ञान की बात कीजिये।' परन्तु सामयिक मनोविज्ञान भी तो 'मन' को अनन्त और अमेय मानता है जिसके व्यवस्थापन से 'व्यक्ति' का निर्माण होता है। और भी, विज्ञान की अपनी सीमाएं हैं। एक सीमा यह है कि वह सरलतम पदार्थ का निर्वचन नहीं कर सकता जिसका विश्लेषण न हो सके। रसानुभूति का विश्लेषण न सम्भव है न उचित। अस्तु, रस आत्मा की सरलतम और स्वकीय अनुभूति है और 'सुन्दर' वस्तु के 'सौन्दर्य' गुण से उदित होती है। हम इस मत की स्थापना अन्यत्र करेंगे। प्रकृत विषय के लिये पाठक से निवेदन है कि वह इसे स्वीकार कर ले।

प्रकृत विषय पर आने से पहले एक अन्य प्रश्न स्पष्ट करना होगा। 'कला' और 'सुन्दर' में क्या सम्बन्ध है ? सौन्दर्य का वास्तविक स्रोत और आधार प्रकृति है। मनुष्य जब अपनी प्रतिभा से सौन्दर्य का सृजन करता है तो वह कलाकार होता है। कला जिस सौन्दर्य को जन्म देती है उसमें दो विशेष गुण रहते हैं; एक यह कि मानव-माध्यम से उत्पन्न होने के कारण उसमें 'मानवता' या 'मार्मिकता' रहती है। प्रकृति के 'दिव्य' सौंदर्य से कला का मानव-सौंदर्य अधिक मार्मिक होता है। दूसरे, कला-सृष्ट सौंदर्य में 'अर्थ' की अभिव्यक्ति अवश्य ही होती है। कला के माध्यम से मनुष्य की चेतन और अचेतन वेदना मुखर होती है। अतएव कला अवश्य ही मार्मिक, मानव और वेदना गम्य 'अर्थों' की अनुभूति उपस्थित करती है। किन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं कि सौंदर्य आत्मा की सरलतम अनुभूति है, वह अपनी ही चरम और सरल अवस्था का अनुभव है। इसलिए जहाँ यह अनुभूति कला द्वारा जागरित होती है वहाँ एक ओर हमारी साधारण 'व्यक्ति-ग्रन्थियों'

(पृष्ठ ८२ का शेषांश)

अच्छी कृति से सामरस्य अधिक है। पंतजी के नूतन काव्य में बुद्धितत्त्व बहुत अधिक है, अतः काव्य घोषणा में परिवर्तित हो गया है। यद्यपि उसमें यत्र-तत्र बिखरा हुआ काव्य-वैभव अवश्य मिलता है। 'सामरस्य' का अत्यधिक अभाव 'प्रयोगवादी' काव्य में मिलता है। इसमें संवेदन की अस्थिरता के क्षणों में ही अभिव्यक्ति होती है, अतः विचार-सूत्र कहीं बहुत क्षीण, कहीं अव्यवस्थित और कहीं विकृत रूप में (कुंठा में) व्यक्त होता है। अनास्था, उल्लासहीनता, आशा का अभाव तथा प्रेरणा के संचार का अभाव इसका अवश्यम्भावी परिणाम है। रागतत्त्व के उलझे हुए तार; संगतिहीन संगीत को जन्म देते हैं, प्रयोग काव्य की भी यही स्थिति है। आज की चित्र-कला में भी 'सामरस्य' का अभाव है। सृजन के समय यदि मानसिक-स्थिति सूत्र-हीन होगी तो सृष्टि के पश्चात्—मानसिक-स्थिति बदल जाने पर कला का समझ लेना दुःसाध्य होगा। साधारणीकरण के अभाव का यही कारण है। सामरस्य जिस अंश में कम होगा, साधारणीकरण उसी अंश में कम हो जाएगा, यह शैव-शासन का महान् संदेश है। प्राचीन कला में भी गहन और सूक्ष्म मानसिक स्थितियों का अलग-अलग और सामूहिक रूप में भी व्यक्तीकरण हुआ है परन्तु उनका साधारणीकरण होता है क्योंकि इनमें ज्ञान, इच्छा व क्रिया का सामञ्जस्य है। प्रयोग-काव्य का साधारणीकरण इसलिए नहीं होता कि ये कलाकार वृत्तियों में तथा अभिव्यक्ति में सामञ्जस्य नहीं ला पाते। प्रगतिवादी काव्य व कला में भी सामञ्जस्य की कमी खटकती है। कला में सत्य व शिव अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होता है, यह सिद्धान्त प्रगतिवादी कवि भूल जाते हैं।

इस प्रकार शैव-दर्शन से हमारे लिए बहुत से उपयोगी सिद्धान्त और सुझाव मिल सकते हैं।

का निर्गलन होता है ('भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः'), दूसरी ओर कला अपने गुण के प्रभावों से रसिक के लिये एक नूतन, अननुभूत, अपूर्व विश्व का चित्र प्रस्तुत करती है। कला की यह द्विविध क्रिया है : एक ओर अपने गुण-प्रभाव से सामान्य विश्व का रूपान्तरण अथवा यों कहिये—एक नूतन संसार का सृजन जिसमें हमारे दैनिक संसार से भिन्न विधान रहते हैं, जहाँ काल, दिशा, विधि-निषेध, प्रामाण्य आदि के मापदण्ड विचित्र हो जाते हैं (जैसे, नाट्य में सीता-राम के अभिनय से रसानुभव) और जहाँ हमारी सत्यासत्य की मीमाँसा भी असाधारण हो जाती है। दूसरी ओर, कला अपनी शक्ति से आत्मा के स्वसंवेद्य चित् प्रकाश के ऊपर जाल के आवरण की भाँति छाये हुए 'व्यक्तित्व' को, क्षणिक ही सही, भंग कर देती है (चिदावरण भंग से रस निष्पत्ति—पण्डितराज जगन्नाथ)। कला अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों और सम्पूर्ण साधनों से एक ओर 'अपूर्व' का सृजन और दूसरी ओर 'पूर्व' का विसृजन रसानुभूति के क्षण में उपस्थित करती है। यह क्षण 'सुन्दर' के अनुभव का क्षण होता है।

(२)

ऊपर के कथन में अनेक शङ्कास्पद बातें होगी। किन्तु प्रस्तुत विषय में अग्रसर होने के लिए हमें इन्हें छोड़कर आगे चलना होगा।

साहित्य और साहित्य-कला में क्या अन्तर है? वास्तव में, जहाँ शब्द रहता है वहाँ अर्थ भी रहता है। शब्द आधार है, अर्थ आधेय है; शब्द शरीर है अर्थ आत्मा है; शब्द व्यक्त है, अर्थ अव्यक्त है; वाक् और अर्थ सम्पृक्त हैं पार्वती और परमेश्वर की भाँति। व्यक्त और अव्यक्त का यह अपूर्व संयोग साहित्य को उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से सभी अर्थमय अभिव्यक्तियाँ साहित्य हैं। रंग और रेखा द्वारा चित्र, गति और लय द्वारा नृत्य, ध्वनि और ताल द्वारा संगीत तथा अन्याय प्रकारों से सभी कलाएँ अनेक अर्थों का उद्घाटन करती हैं और सभी 'साहित्य' के अन्तर्गत आ सकती हैं। परन्तु यह दृष्टि सत्य होने पर भी अत्यन्त सामान्य होने के कारण हमें ग्राह्य नहीं। अतएव हमें साहित्य के स्थान पर साहित्य-कला की, संकुचित ही सही, परिभाषा करनी चाहिये। शब्द और अर्थ का 'साहित्य' (सहित होना) तो सर्वत्र है, किन्तु जहाँ यह 'साहित्य' कला के उद्देश्यों को पूरा करता है अर्थात् जहाँ शब्दार्थ के माध्यम द्वारा रसमय जगत् का आविर्भाव रसिक के लिए होता है, जहाँ शब्द और अर्थ दोनों अपने आपको रसानुभूति के अधीन कर देते हैं और अपने लय, गति, ताल और सौष्ठव आदि गुणों द्वारा 'नूतन' का निर्माण करते हैं, वहाँ साहित्य कला की भूमिका को ग्रहण करता है। प्रस्तुत विषय साहित्य-कला में सौंदर्य के स्वरूप का विवेचन करने के लिये है।

वास्तव में प्रश्न यह है : शब्द और अर्थ पृथक और सहित रह कर किस प्रकार रस-सृष्टि करते हैं? इनके कौन और कैसे प्रभाव हैं जिनके द्वारा आत्मा को रस का अनुभव होता है? साहित्यिक कलाकार किन उपायों, योग और योजनाओं द्वारा वह 'प्रभाव' शब्दार्थ द्वारा प्रकट करता है जिसे 'रस' कहा जाता है और जिसकी निष्पत्ति अन्यान्य कलाएँ अपने-अपने साधनों से करती हैं? साहित्य-कला के इन प्रयत्नों और उपायों का संक्षिप्त विवेचन ही यहाँ किया जा सकता है।

बिना अर्थ के भी शब्द में स्वकीय कलात्मक शक्ति है जिसके द्वारा वह रस-निष्पत्ति में समर्थ होता है। शब्द नाद का विशेष रूप है। अतएव नाद के समान ही श्रुति और स्वरों के आरोह-अवरोह से निष्पन्न गीत की भाँति शब्द में संगीत का 'सर्वस्व' सार अनुभव किया जा सकता है। संगीत की लयात्मक गति उसका मुख्य गुण है। इसके प्रभाव से श्रोता के मन की साधारण, साँसारिक गति 'लय' का रूप धारण करती है जिसका प्रथम स्फुरण उस स्थिति में होता है जब श्रोता 'गत' और 'अनागत' रूपी समय-प्रवाह को भूलकर एक निष्पन्द, सतत 'काल' का अनुभव करता है। इस स्थिति को 'आत्म-विस्मृति' साधारणतया कहते हैं। वस्तुतः काल-पाश और अनुभवों के जाल से निर्मित मनुष्य के सांसारिक 'व्यक्तित्व' के अनावरण से 'आत्मानुभूति'

का यह विशेष क्षण होता है। संगीत की पहली झनक, नाद का प्रथम प्रहार, यदि 'लय' अर्थात् व्यक्तित्व का 'विलय', 'आत्मानुभूति' बनाम आत्म-विस्मृति उत्पन्न नहीं करते तो रसिक या संगीत में कहीं दोष अवश्य है। साहित्य शब्दों के द्वारा संगीत के इस मार्मिक गुण का उपयोग करता है। इसी गुण से साहित्य-कला में मात्रा, छन्द, तुक, नियमित गति आदि का आविर्भाव हुआ है। उच्चकोटि की कला में कितना साहित्य है और कितना संगीत, बताना कठिन होता है। वस्तुत: साहित्य शब्द-निर्मित संगीत है और संगीत स्वरों का साहित्य।

पदों की योजना से 'शब्दों का संगीत' बनाम साहित्य उत्पन्न होता है। परन्तु प्रत्येक पृथक् शब्द में, अर्थ को ध्यान में न लाकर भी, श्रव्य, दृश्य, स्पर्श तथा दूसरे ज्ञानेन्द्रियों के गुण भी रहते हैं। रूप के अनन्तर शब्द का अनुभव मनुष्य के लिये 'सुव्यक्त' हुआ है। शब्दों के संसार में विचरने वालों का अनुभव है कि कुछ शब्द 'कोमल', कुछ 'कठोर', कुछ आयास उत्पन्न करने वाले, अन्य 'विश्रान्ति' देने वाले, कुछ भारी, कुछ हल्के, कुछ कटु और दूसरे मृदु, कुछ मधुर और दूसरे तिक्त, आदि न जाने कितने मनोभावों को जाग्रत करने वाले होते हैं। प्रत्येक अनुभव को व्यक्त करने के लिए शब्द हैं। शब्द को प्रकट करने के लिये 'रूप' हो या न हो, परन्तु प्रत्येक रूप का व्यंजक शब्द मिलेगा। इस प्रकार शब्दों का संसार पूर्ण है; उसमें अखिल रूप और अर्थ विद्यमान रहते हैं। जब कोई नूतन 'अनुभव' जन्मता है उसे शब्द ही शरीर प्रदान करते हैं। इसीलिए शब्दों से निर्मित सृष्टि बनाम साहित्य में यदि अखिल विश्व के अखिल गुण मौजूद हों तो आश्चर्य ही क्या ?

शब्दों की परस्पर संगति एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करती है। 'संगति' का अर्थ है : अनेक तत्त्वों का ऐसा सम्वाद और सामंजस्य कि वे परस्पर अन्योन्य के प्रभाव को बढ़ावें और एक सजीव 'एकता' उत्पन्न करें। साहित्य-कला में शब्दों की संगति न केवल 'अर्थ' की एकता व सामंजस्य में प्रकट होती है, अपितु ध्वनि की 'एक-वाक्यता' को भी उत्पन्न करती है। एक दूसरे से सटा कर शब्द रखने से वाक्य या संगति उत्पन्न नहीं होते। शब्द-संगति का जन्म कलाकार की उस कलात्मक प्रतिभा से होता है जिससे स्रोत् की भाँति स्वयमेव सम्पूर्ण सौंदर्य का सृजन होता है। इसके लिए कलाकार का 'पृथक प्रयत्न' आवश्यक नहीं। इसीलिए कलात्मक साहित्य में शब्द-योजना में अपूर्व स्वाभाविकता और सहज गुण विद्यमान रहते हैं जिन्हें अधपके साहित्यकार कृत्रिम और चेतन प्रयत्नों से उत्पन्न नहीं कर सकते।

शब्द अर्थ का **वैखरी** या 'प्रकट' रूप है और अर्थ शब्द का 'परा' या 'अप्रकट' मूल है। 'परा' साक्षात आत्मा है जो अविभक्त आलोक या चेतना के रूप में हमारे अस्तित्व का उद्गम है किसी अज्ञेय कारण से, ठीक उसी कारण से जिससे बीज अंकुर के रूप में परिणत होने के लिए प्रवृत्त होता है, उस अनन्त चेतना-लोक में स्पन्द होता है और वह 'आलोक' व्यक्त होने के लिए उन्मुख हो जाता है। यह वाणी का 'पश्यन्ती' रूप है। परन्तु यह अखण्ड आलोक शनैः शनैः 'नाद' का रूप धारण करता है। यह 'मध्यमा' वाणी है। और अन्त में वह अखण्ड-आलोक नाद में परिवर्तित होकर खण्डश: विभक्त रूपों में शब्दों के द्वारा प्रकट हो जाता है। शब्द चेतना के खण्ड हैं, आलोक के कण हैं, आत्मा की सजीव, स्पन्दन करने वाली अभिव्यक्तियाँ हैं। फलत: शब्द में शक्ति रहती है। नाद रूप में व्यक्त हुआ शब्द अव्यक्त आत्मा से सम्बद्ध है। वह शब्द हमें 'आत्मानुभूति' तक ले जा सकता है जो कला की अनुभूति है। शक्तिशाली शब्द का प्रयोग प्रकाश के लोक का उद्घाटन कर सकता है। साहित्य के लिए यह प्रयोग इसका प्राण है क्योंकि हम अपने कला के अनुभव में '**वैखरी**' स्तर पर ही नहीं रुकना चाहते। शब्दों का सुप्रयोग हमें कहाँ तक 'श्रुत' से 'अश्रुत' की ओर, **वैखरी से** 'मध्यमा', 'पश्यन्ती' और 'परा' के अचिन्त्य आलोक की ओर, सीमित से असीम की ओर ले जाता है—यह साहित्य की परख के लिये अच्छी कसौटी है। यदि हम शब्द की इस केन्द्रोमुखी

और केन्द्रविमुखी गति को समझ सकें, शब्द कैसे जन्मता है, इसे जान सकें तो हमें निश्चय ही अध्यात्म-रहस्य को समझने की कुंजी मिल जाये।

अर्थ मूल है, शब्द उसके अंकुरित पुष्प और पल्लव। अर्थ अपनी अभिव्यक्ति के लिये शब्द की ओर, बीज जैसे अंकुरण के लिये, गमन करता है और शब्द अपने आस्तित्व के लिये, शरीर जैसे प्राणन के लिये अर्थ की ओर चलता है। शब्द और अर्थ के बीच की यह गति वास्तव में साहित्य का रहस्य है। स्यात्, यह मानव के अस्तित्व का रहस्य भी है।

वैदिक साहित्य में शब्दार्थ के इस रहस्य को समझने के लिये वाणी को 'गौ', 'वृषभ' आदि से उपमित किया है। किन्तु सबसे सुन्दर उपमा वाणी को 'उषसी, सुवासा' अर्थात् सुन्दर वस्त्रों से सजी प्रियतमा युवती के समान कह कर दी हैं। सकामा युवती का 'अभिप्राय' है, किन्तु वह उसे 'प्रियतम' पर ही प्रकट कर सकती है। यह 'अभिप्राय का उद्घाटन' कैसे हो? क्या निर्ल्लज होकर कहे? शालीनता की हानि होगी। क्या रूठकर अवगुंठन में मुंह छिपाले? यह विषम आचरण होगा। उसका चीर कितना झीना हो कि प्रियतम उसके मनोहर अंगों को निहार कर स्वमेव मुग्ध हो आत्म-निवेदन करे। यदि अत्यन्त झीना हुआ तो जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो सकता है। भय है प्रियतम विमुख न हो जाये। और, यदि संवरण अधिक गाढ़ा हुआ तो सारा प्रयत्न ही विफल हो जाये। साहित्य से वाणी का प्रयत्न उस सुवासित विलासिनी के प्रयत्न की भाँति है जो अपनी शालीनता की रक्षा करती हुई अपने मनोगत भाव को व्यक्त करती है।

इसी उपमा को थोड़ा और लीजिये। सुन्दरी के रूप के अनुसार वस्त्र और भूषा होनी चाहिये (Consent of sound and sense) इससे उसका सौन्दर्य बढ़ेगा। अलंकार हों, किन्तु कृत्रिमता नहीं, आडम्बर नहीं। नवीनता और विविधता हो, किन्तु आश्चर्य चकित करके 'प्रियतम' को मूढ बनाने के लिये प्रदर्शन नहीं। सज्जा हो, किन्तु सरलता और स्वाभाविकता का ह्रास न करे। और, इतनी ऋजु और 'निगूढ-भावा' भी न हो कि अपना मन्तव्य प्रकट भी न कर सके। इस प्रकार की 'विकट' वाणी कालिदास, और अनेक कवि व लेखकों की है जो ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत होती है। यह शब्द-शरीरा वाणी अपने झीने चीर में से अंगों को दिखाती हुई भी अपनी शालीनता, अभिजन और गाम्भीर्य की रक्षा करती है, कुल-वधू की भाँति, वार-विलासिनी के समान नहीं।

(३)

'अर्थ' साहित्य की आत्मा है। शब्द के माध्यम से अर्थ की अभिव्यक्ति और अनुभूति 'साहित्य' है तथा शब्दार्थ के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और रसानुभूति 'साहित्य-कला' है जो हमारा मन्तव्य विषय है। किन्तु जैसा कि पहले प्रतिपादन किया जा चुका है शब्द और अर्थ का 'साहित्य' अखण्ड है, अतएव शब्द के द्वारा जिस सौन्दर्य का सृजन होता है वह अर्थहीन नहीं हो सकता और न इसका विपरीत ही सम्भव है। फिर भी यह मानना होगा कि शब्द इन्द्रिय गम्य, व्यक्त पदार्थ है जिसमें खण्ड या अन्तर हो सकते हैं और 'अर्थ' बुद्धिगम्य, आन्तरिक वस्तु है जो अखंड प्रवाह के रूप में ही अनुभूत होता है। प्रस्तुत अंश में हम 'अर्थ' के माध्यम से स्पष्ट सौन्दर्य पर विचार करेंगे।

'सुन्दर' वस्तु, चाहे वह राग हो या चित्र, मूर्ति हो या भवन, उपन्यास हो या काव्य, पूर्ण और अखण्ड होती है। खण्डित और अपूर्ण वस्तु हमें ग्राह्य नहीं होती। उसलिये 'सुन्दर' वस्तु में अवयवों का विन्यास स्वाभाविक और सहज होता है जिससे उसकी सम्पूर्णता निर्बाध रहे। किसी मूर्त्ति, भवन, राग या चित्र को लीजिये। यदि वह कलाकार की सौन्दर्यावगाहिनी प्रतिभा की उपज है और उसमें 'प्रसव' की भाँति पल कर प्रसूत हुई है तो वह अपने अंग-प्रत्यंगों से पुष्ट व पूर्ण होगी। विकलाङ्ग कला-कृति परिपक्व प्रतिभा की प्रसूति नहीं मानी जाती। साहित्य-कला-कृतियों में तो इस गुण की रक्षा के लिये अरस्तू आदि पाश्चात्य

विचारकों ने देश, काल और घटना की एकताओं का आविष्कार किया है, यद्यपि इनकी संकुचित परिभाषा करना उचित नहीं। वास्तव में कला-कृति 'एक' और 'सम्पूर्ण' होती है तो एक में एकता लाने का प्रश्न ही क्या। देश, काल और घटनाओं में व्यवधान से भी यदि काव्य के पूर्ण और पुष्टाङ्ग होने में बाधा न हो तो एकताओं की अपेक्षा व्यर्थ है। अब हमारे लिये दो प्रश्न उपस्थित हैं। एक साहित्य-कला में जिन्हें हम काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि नामों से पुकारते हैं वे मूर्त्त 'अर्थ' हैं या 'अर्थ-मूर्त्तियाँ' हैं या अर्थ-सामग्री से निर्मित भाँति-भाँति के 'भवन' हैं। या, संगीत की भाँति काल-क्रम में स्वरों के आरोह-अवरोह से रचित ये कृतियाँ अर्थों के आरोह-अवरोह से निर्मित भाँति-भाँति के राग और रागनियाँ हैं। चाहे इन्हें जिस रूप में देखिये, हमें पूछना है कि ये 'अर्थ-मूर्त्तियाँ' किस प्रकार कलाकार के आध्यात्म-लोक से प्रकट होकर रसिक तक आती हैं और किस प्रकार इनके सन्ध्यान (Contemplation) से वह उन मूर्त्तियों के साक्षात्कार से रस का अनुभव करता है? दूसरा, वे कौन से अर्थ हैं जिनके द्वारा साहित्यिक कलाकार इनका निर्माण करता है? इस स्थल पर अन्य अनेक प्रश्न भी उठते हैं, जैसे : ये आध्यात्म-लोक के निवासी 'अर्थ' किस प्रकार शब्दों का शरीर धारण कर हमारे मानुष-लोक में उतरते हैं? कौन सी अर्थ-निर्मितियाँ सुन्दर होती हैं और क्यों? इत्यादि। हम इनका उत्तर यहाँ न दे सकेंगे। परन्तु उत्तर देने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि साधारणजन का यह विचार कि कलाकार जगत् का अनुकरण करता है और प्रकृति और समाज से अनुभव द्वारा सामग्री बटोर कर कला का निर्माण करता है—निर्भ्रान्त नहीं है। वास्तव में कलाकार अन्तर्मुखी, अनुध्यान-परायण होकर ही अर्थों के द्वारा अपनी कृति को गर्भ के रूप में रखकर ही प्रसव देता है। यदि बाहर से प्राप्त सामग्री से कला का निर्माण होता तो सभी कलाकार एक ही वस्तु को देखकर समान रूप से उसका वर्णन करते। वस्तुतः 'अर्थों' का उद्गम अन्तरालोक है, बाह्य-जगत् उस 'आलोक' को रूप, स्थान और आधार प्रदान करता है। और, यही विज्ञान और कला में अन्तर का आधार भी है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले देंगे। हमने पहले ही कहा है कि मनुष्य का एक 'स्व' या व्यक्तित्व' होता है जो उसके जीवन की परिस्थितियों से बना हुआ जाल या आवरण है और उसके आध्यात्म-तत्त्व को ढंके रहता है। यह 'स्व' आकस्मिक होते हुए भी कार्य-कलाप के लिये जितना आवश्यक है उतना ही 'रस' की अनुभूति के लिये आवश्यक। अतएव जिन-जिन अर्थों के सन्ध्यान से 'स्व' का निगलन और 'परालोक' का उद्घाटन होता है, जिनके प्रभाव से सामयिक, आकस्मिक व्यक्तित्व का निराकरण होकर 'सनातन' और 'चिरन्तन' का अनुभव जगता है, उन्हीं अर्थों के माध्यम से कलाकार कला की रचना करता है। सबसे पहले ये अर्थ दिव्य और भव्य भाव हैं जो हमें 'समय' और 'सीमा' के बन्धन से मुक्त करते हैं, जैसे समुद्र, गिरि-शिखर, विशाल वन, अछोर आकाश, पवन, अग्नि, गगन-चारी प्रकाश-पिण्ड, ज्योति, जल-स्रोत, उषा और सन्ध्या, हिम-राशि। इनका चिन्तन हमें मानुषिक-सीमाओं से विमुक्त करता है। मनुष्य के आदि काव्य इन्हीं दिव्य भावों पर केन्द्रित हैं। यदि साहित्य-कला में से इन्हें निकाल दिया जाय तो इसका रसोत्पादक या कलात्मक प्रभाव अवश्य ही आधा रह जायगा। इसके अनन्तर वे पदार्थ हैं जो दिव्य तो हैं साथ ही इनका दर्शन चमत्कार और चर्वणा को जगाता है, जैसे, पुष्प, कमल और कमल-वन, सरित्, सरोवर, लता, वृक्ष, पल्लव, मंजरी, भ्रमर और पक्षी तथा उनका कलरव आदि। वे काव्य-सृष्टि के सजीव प्राणी हैं। यह न समझना चाहिये कि कलाकार ने इन्हें ज्यों का त्यों बाहर से उठा लिया है—क्योंकि कवि या चित्रकार या मूर्तिकार का 'कमल' अनेक दिव्य और कलात्मक भावों से ओत-प्रोत होने के कारण साधारण कीचड़ के कमल से भिन्न है। ये दिव्य भाव वे अर्थ हैं जिन्हें केन्द्र बना-

कर विश्व-साहित्य का बड़ा अंश निर्मित हुआ है।

परन्तु मनुष्य 'दिव्य' में चिरकाल तक टिकने के बाद आगे बढ़ा। उसके सम्मुख 'मानुष' भाव प्रकट हुए। सम्भवत: वैदिक काव्यों के अनन्तर वाल्मीकि ने सर्व-प्रथम 'मानुष' अर्थ को काव्य में स्थान देकर आदि कवि का पद पाया। वैदिक काव्य में अग्नि-ज्वाला, जल-स्रोत, ज्योति का उदयास्त, आकाश में बादलों की दौड़ और न जाने कितनी दिव्य घटनाओं की अर्थ-मूर्त्तियाँ हैं जिनमें हमारा साधारण 'स्व' विस्मृत हो जाता है। परन्तु वाल्मीकि-काव्य में दिव्य-अर्थ के गर्भ में से प्रेम, करुणा और वीरता के 'मानुष' भाव प्रगट होते से दिखाई पड़ते हैं। ये मानुष-लोक के सनातन भाव हैं और साहित्य-कला के कलेवर में प्राण की भाँति ओतप्रोत हैं, जीवन की नाईं जगमग जगते हैं। स्यात्, अन्य भाव इन्हीं के चारों ओर ग्रह-उपग्रहों की भाँति घूमते हैं। स्यात्, प्रेम ही मूल-भूत अर्थ है और करुणा और वीरता जल-वीचि के समान इसीके परि-स्थिति-वश परिणाम और विकार हैं। प्रेम जो कला में शृङ्गार का नाम ग्रहण करता है मनुष्य का मौलिक अनुभव और प्रेरणा है। प्रेम का मूल-स्रोत आध्यात्म-लोक है। जब यह व्यक्त होता है तो अनेक 'वेदनाओं' का रूप ग्रहण करता है, अनेक-विधि अनुभूतियों को जगाता है और अनगिन घटनाओं को प्रेरित करता है। समाज का सृजन करता है यह प्रेम; धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप, विधि और निषेध के व्यापक विचारों को जन्म देता है। साहित्य-कला और अन्य कलाओं में दिव्य भावों के अनन्तर यही 'मानुष' भाव हैं जो इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का निर्माण करते हैं। यदि इन्हीं 'वेदनाओं' को सरल स्वरूप में व्यक्त किया जाता है तो ये उत्तम रस-काव्य (Lyrics) हो जाते हैं। परन्तु कलात्मक प्रतिभा की 'शरीरीकरण' स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिस कारण ये वेदनाएं घटना-चक्र और अभिव्यंजक 'प्रतीकों' (Symbols) को जन्म देती हैं। 'घटना' वेदना का स्वाभाविक शरीर है। घटना काल से घटित होती है और 'काल' और 'स्थान' या 'स्थिति' प्रदान करती है, किन्तु 'वेदना' 'घटना' या 'स्थान' को 'आरोह अवरोह' रूप, 'गति', विकास' उच्छ्वास' प्रदान करता है। 'कला' और 'स्थान' का यह सम्बन्ध व्यक्त और अव्यक्त, बीज और अंकुर का सम्बन्ध है। 'घटना' काल का क्रम ग्रहण कर अपने लिये जीवन और जगत् का माध्यम ढूंढ़ती है और अभिव्यंजक सामग्री को। यह सामग्री 'प्रतीकों' के रूप में होती है। 'प्रतीक' किसी अव्यक्त वेदना या मानुष 'अर्थ' या 'आत्मलोक' के लिये प्रकट पदार्थ हैं। कला में ये प्रतीक ही दृष्टि-गोचर होते हैं। 'राम' और 'सीता', चाहे ऐतिहासिक व्यक्ति हों या न हों, सभी कलाओं के लिये अनेक भावों, वेदनाओं और अर्थों के 'प्रतीक' हैं, उनके जीवन की एक एक घटना महान् 'अर्थ' की अभिव्यक्ति है। इति-हास के 'राम' इस कवि-प्रतिभा-सृजित 'राम' की फीकी परछाईं है। 'राम' की भाँति ही, कवियों ने अनेक वीर और वीराङ्गनाओं के प्रतीकों को अपने अन्तरात्मा के आलोक से गढ़ा। ये प्रतीक ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक भी हुए। इतिहास ने स्यात् किसी चौराहे पर लगे हुए दिशा-सूचक बाण का काम दिया हो। परन्तु कला ने जिस प्रतीक का आविष्कार किया, उसके सम्मुख इतिहास का 'पुरुष' न केवल प्रेत की छाया की भाँति दिखाई पड़ता है, वह असत्य, धुंधला और 'अपराधी' सा प्रतीत होता है। कौन स्वीकार करेगा राम-कथा के इतिहास को (यदि वह मिल सका तो भी) वाल्मीकि और तुलसी के मानस-लोक में जन्मी हुई राम-कथा के सामने ? इसी प्रकार विश्व-साहित्य में असंख्य प्रतीक कला-सृष्टि में हमारी वास्तविक कही जाने वाली सृष्टि से भी अधिक सत्य, सजीव होकर जगमगाते रहे हैं। वस्तुत: कलाकार की मौलिक प्रतिभा की पहचान ही यह है कि वह अपने अन्तराल से 'अर्थालोक' को लेकर ज्योति और जीवन से जगमग करते 'प्रतीकों' का सृजन करे। उच्छिष्टभोजी कवि पूर्व-निर्मित प्रतीकों का प्रयोग करते हैं।

इनके अतिरिक्त कवि-प्रतिभा ने दिव्य और मानुष अर्थों को वहन करने के लिये दूसरे 'प्रतीकों' का

आविर्भाव किया है। एक ऐसा प्रतीक 'नियति' या 'दैव' (Fate, Destiny) है। विश्व-साहित्य में यह 'प्रतीक' कितना व्यापक है, हम इसे यहाँ न ले सकेंगे। आशा और निराशा, वैभव और विपत्ति, शक्ति और दैन्य, जय और पराजय, त्याग और परिग्रह, आदि अनेक 'अर्थ' हैं जो साहित्य में ओत-प्रोत हैं। हमने इन्हें 'द्वन्द्व' के रूप में इसलिये लिया है कि ये दोनों एक ही भाव के दो छोर हैं। आशा एक छोर निराशा दूसरा छोर। एक ही शक्ति एक छोर से दूसरे छोर तक लहरें मारती है। कला के लिये ये जीवित प्रतीक अत्यन्त महत्त्व रखते हैं। ये मानस लोक की घटनाएं हैं। हमारे स्थूल जगत में व्यक्त होने के लिये इन्हें स्थूल-शरीर चाहिये। अतएव दीपक, स्रोत, पक्षी, पुष्प, तारा-नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि का उदय और अस्त, ऋतुएं, तट, तरनी, शस्य, और न जाने क्या क्या वस्तुएं हमारे मनोभावों के वहन करने वाले स्थूल प्रतीक हैं। प्रकृति को केवल सज्जा या पृष्ठभूमि-प्रभाव के लिये मानने वाले सम्भवतः साहित्य की उद्गम-भूमि को नहीं समझते। परन्तु समुद्र की भाँति साहित्य में विस्तार है और गाम्भीर्य भी। हम यहाँ विस्तार और गाम्भीर्य दोनों का ही विवेचन कर रहे हैं, न कि केवल विस्तार का।

आगे चलने से पूर्व एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिये; साहित्य शब्दार्थ-मूर्ति है। 'अर्थ' घटना का रूप धारण करके काल-क्रम से आरोह-अवरोह करता है, ठीक संगीत में 'मूर्च्छना' की भाँति। परन्तु साहित्य को छोड़कर 'अर्थ' किसी कला में नहीं रहता। पाठक अधीर न हों। संगीत स्वरों का विस्तार है। स्वरों का वैभव संगीत का शुद्ध 'रस' है। यदि वह प्रेम, द्वेष या किसी अन्य भाव को व्यक्त करता है तो स्वरों के माध्यम से 'अर्थ' को ही व्यक्त करता है और उस दशा में वह 'साहित्य' हो जाता है। संगीत का स्वकीय गुण 'अर्थ' नहीं है, यद्यपि संगीत और साहित्य व्यवहार में अलग नहीं किये जाते। इसी प्रकार रंग और रेखा से कहानी कही जा सकती है, मूर्त्ति और भवन अनेक मन्तव्यों को प्रकट कर सकते हैं और करते हैं। किन्तु इन कलाओं का आत्मीय रूप अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ, चित्रकला में, रेखा की गति और लय, रंगों का उदार वैभव, छाया और प्रकाश का परस्पर सन्निपात और समानुपात, उनका सन्तुलन और वेग, उनकी अनेक भावों की ओर ले जाने वाली शक्ति, यही 'चित्र' का शुद्ध 'आनन्द' है। स्पष्ट है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य अर्थाभिव्यक्ति है यद्यपि उसमें संगीत, चित्र, मूर्त्ति और स्थापत्य के सभी गुण गौण रूप से प्रधान उद्देश्य' की वृद्धि और गौरव के लिये विद्यमान रहते हैं, और सभी कलाओं में साहित्य का प्रधान गुण—अर्थात् अर्थ—उनके अपने अपने लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होता है।

प्रश्न यह भी है। साहित्य में जो अर्थ मूर्त्त होते हैं, क्या वे केवल मनोवेग (Emotions) ही हैं या तर्क और बुद्धि जन्य 'विचार' (Thought) के लिये भी स्थान है? क्या दर्शन और विज्ञान भी साहित्य-कला में 'रस' उत्पन्न कर सकते हैं? उत्तर यह है। जो भी पदार्थ जीवन की भाँति तरल, गतिमय, घटना चक्र में 'फिट' हो जाने वाला, और 'रसनीय' हो सकता है वह साहित्य का विषय भी हो सकता है। दर्शन और विज्ञान का विकास, विशेषतः पश्चिम में, जीवन की भूमि से उत्तरोत्तर अलग होकर हुआ है। इसीलिये उसके शुद्ध तर्कों में पत्थरों का सा भार तो है परन्तु जीवन की रसमय तरलता और उर्वरता नहीं। इसके अनेक लाभ भी हैं जिनसे हमें इंकार नहीं। परन्तु साहित्य-कला के लिये नदी में किनारे पर पड़े हुए प्रस्तर-खण्डों की भाँति ये भारी पदार्थ हैं; आवश्यक तो हैं क्योंकि नदी को किनारे आवश्यक हैं और 'तल' की भी आवश्यकता है। अतएव दर्शन और विज्ञान साहित्य-स्रोत में तट और तल बांधने का काम देते हैं। संक्षेप में, कोई तर्क या युक्ति जीवन से (जो भाव-भूमि है) सम्बद्ध होकर ही साहित्य-कला में प्रवेश पाते हैं, अन्यथा नहीं।

साहित्य-कला में 'शब्दार्थ' जमी हुई जड़ हिमानी की भांति पिघल कर बहने योग्य हो जाता है। इसका उद्घाटन, विकास और विस्तार होता है। साहित्य-मूर्ति अर्थों का द्रव-प्रवाह है। कलाकार अनेक विधियों से इस प्रवाह को सजीव बनाता है। अन्तर्द्वन्द्व (Conflict), संकट (Crisis), चरमान्त(Climax) संघर्ष (Love triangle) आदि अनेक उपाय हैं जिनके द्वारा 'अर्थ' को अधिक समर्थ बनाया जाता है जिससे इसका प्रभाव हमारे संकुचित 'व्यक्तित्व' को चीर कर 'आत्मानुभूति' यानी 'रसानुभूति' तक हमें ले जा सके। इसका 'निर्वाह' (Conclusion या denouement महत्त्वपूर्ण होता है। किसी ने इसे स्वादु भोजन के उपरान्त शेष 'स्मृति' के समान ठहराया है या राग सुनने के बाद इसके अनुरणन या गुंजन की भाँति। साहित्य को मूर्त प्रवाह मानकर इसके 'निर्वाह' को हम स्रोतस्विनी के अनन्त समुद्र में मिल जाने की भाँति मान सकते हैं। साहित्य में 'व्यक्त' हुआ 'अर्थ' किसी अव्यक्त, अनन्त और आन्तरिक जीवन की वेदना में मिल जाये। अव्यक्त से व्यक्त की ओर, और फिर अव्यक्त में विलीन हो जाना) अव्यक्तादीनि भूतानि-व्यक्त मध्यानि भारत-इत्यादि या 'अदर्शनादापतित: पुनश्चादर्शनं गत:) अर्थात् जो जीवन के उदय से अस्त, अदर्शन से अदर्शन, रहस्य से दूसरे रहस्य, पूर्व छाया से पश्चिम छाया, का मार्ग है वही साहित्यकला में प्रथम भूमिका से लेकर निर्वाह तक का मार्ग है। कला के लिए जितने 'प्रकाश' और अभिव्यक्ति की आवश्यकता है उससे भी अधिक 'तिमिर' और रहस्य की। कला में 'अप्रकट' और 'अनभिव्यक्त' ही उसका सार है : वह निर्वचन और व्याख्या की सीमा से पार होने पर भी हृदय-ग्राह्य होता है; बुद्धि से न समझे जाने पर, तर्क से न पकड़े जाने पर भी, जीवन और अपने ही 'आत्मा' की भाँति, हमें स्वीकार्य होता है। यह कला का तत्त्व सौन्दर्य-बोध का प्राण है, और साहित्य में 'प्रवेश' और 'निर्वाह' के अवसरों पर इसकी अनुभूति तीव्र हो उठती है।

(४)

अन्य कलाओं की भाँति, साहित्य-कला कुछ उपायों का उपयोग करती है जिनसे इसका शब्दार्थ-जन्य सौंदर्य-तत्त्व अधिकाधिक समर्थ हो सके। उचित शब्दों के अभाव में हम इनको 'कला-योग' कहेंगे।

हमने स्वीकार किया है कि कला एक इङ्गित है 'प्रकट' से 'अप्रकट' की ओर, व्यक्त से अव्यक्त की ओर इत्यादि। यह मान्यता कला-योगों का आधार है। कलाकार का तात्कालिक सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रंग, रेखा आदि से रहता है। कृति के काल में वह इसी तत्त्व को लेकर कला का गठन करता है। उसके मनोभावों का व्यक्त कृति में 'अनुवाद' कला के रहस्यों में से एक है। रसिक भी इसी व्यक्त तत्त्व का अनुभव करता है। वह रूप, रंग, ध्वनि, स्वर आदि को मन सहित इन्द्रियों से ग्रहण करता है। परन्तु वह 'प्रकट' तत्त्व किसी 'अप्रकट' की ओर संकेत है। सुन्दर वस्तु की सफलता की माप इस 'प्रकट' और 'अप्रकट' दोनों में सजीव और गतिमय सम्बन्ध पर निर्भर है। स्थापत्य की अपेक्षा मूर्ति में और मूर्ति की अपेक्षा चित्र में, तथा इसी प्रकार अपेक्षा कृत संगीत में और सर्वाधिक साहित्य में, यह गतिमान सक्रिय सम्बन्ध रहता है। शब्द और शब्द-मूर्त्तियों की ओर से अर्थ की ओर और अर्थ से अर्थ के आधार आत्मालोक की ओर, यह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी पुन: पुन: होने वाला व्यापार, साहित्य में रसास्वादन का रहस्य है। साहित्य-मर्मज्ञ आनन्दवर्द्धन ने इसको 'सरस्वती का निष्पन्द' कहा है। वास्तव में, यह गति 'चर्वणा' को जन्म देती है जिससे 'चमत्कार' या रस का साक्षात्कार होता है। गतिहीन काव्य निर्बल होता है और असुन्दर।

ध्वनि या स्फोट सबसे पहला कला-योग है। जिस प्रकार वीणा के एक तार को एक बार छेड़ देने पर भी वह देर तक झनझनाहट करता है, उसी प्रकार साहित्य में एक पद, या पद-समूह, या कोई लय, छन्द, गीति, अर्थ या वाक्य, एक बार प्रयुक्त होने पर, आलोक और भावों का कुछ काल तक टिकने वाला 'स्पन्दन' प्रारम्भ

कर देता है। इसे ही 'ध्वनि' कहा गया है। अर्थालोक के अकस्मात् और अप्रत्याशित क्षण में फूट उठने के कारण इसे वैयाकरण स्फोट भी कहते हैं। कुछ भी कहा जाय, काव्यकला में 'व्यक्त' से 'अव्यक्त' का अकस्मात् उद्घाटन, जैसे चिनगारी से विशाल ज्वाला का उत्थान, या झरोखे से झांकने पर विस्तृत दृश्य का वितान, उसके सौन्दर्य का बीज है। ध्वनि साहित्य में एक विरोधाभास (Paradox) का आधार है। कविता या साहित्य का कोई रूपक कितनी बात कहता है और कितनी बात अनकही छोड़ देता है? यदि सब कुछ कह दिया तो अनुचित; यदि कुछ न कहा तो कहने से ही क्या? कवि कितना कहे, कितना न कहे, और कैसे थोड़ा कहने से ही बहुत सा 'अनकहा' अर्थ रसिक तक पहुँच जाये? कहे से अनकहे तक और 'श्रुत' से 'अश्रुत' तक पहुँचने का मार्ग और विधि 'ध्वनि' के द्वारा समझ में आता है।

क्योंकि 'ध्वनि' कला और विशेषत: साहित्य-कला का बीज है, इसलिये इसमें 'प्रस्तुत' और 'प्रकृत' की अपेक्षा 'अप्रस्तुत' और 'अप्रकृत' का अधिक जोर रहता है। 'अप्रस्तुत' के द्वारा 'प्रस्तुत' का प्रस्ताव साहित्य में महत्वपूर्ण कला-योग (artistic device) है। सामान्यत: यह योग वक्रोक्ति और अलंकार का मूल-स्रोत है। साधर्म्य और सादृश्य अलंकार का सार होता है (उपमैका शैलूषी इत्यादि)। सादृश्य रखने वाले दो पदार्थों में अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा प्रस्तुत (उपमेय) को दिव्य, भव्य और लोकोत्तर बनाया जाता है, कल्पना को उदार और तीव्र किया जाता हैं और अनेक अविद्यमान भावों से भरा जाता है। न जाने क्यों 'अलंकार' का अर्थ साहित्य में 'सजावट' किया गया। सजावट शरीर और आत्मा का अभिन्न भाग नहीं, किंतु साहित्य में 'अलङ्कार' का एक विशेष और अनिवार्य कार्य है। साहित्य अलङ्कार के बिना असम्भव है, क्योंकि इसके द्वारा ही 'प्रत्यक्ष' और 'प्रस्तुत' को 'अप्रत्यक्ष' और 'अप्रस्तुत' के ऊँचे धरातल पर उठाया जाता है। अलङ्कार कला का प्रधान साधन है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण महाभारत काव्य में मिलता है जिसमें महाकवि ने अठारह दिन में होने वाले कल्पनातीत और भयकर जन-क्रंदन को अलङ्कार की शक्ति द्वारा हृदयहारी उदार दृश्यों में रूपान्तरित कर दिया है। प्रस्तुत का रूपान्तरण (Transformation of Nature) कला के मन्तव्यों में से एक है। अलङ्कार क्रिया और वक्रोक्ति के द्वारा यह पूरा होता है। यह क्रिया (Metaphoric activity) कवि-प्रतिभा का प्रथम प्रसव है।

नवोन्मेष को जगाने वाले प्रतीकों का सृजन साहित्य में अन्य कला-योग है।

कला-शक्ति का उपयोग हम सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा अन्य उद्देश्यों के लिये करते हैं; यदि उद्देश्य उचित है तो इसका उपयोग अनुचित भी नहीं। किन्तु कला स्वयं यथार्थवादी हो ही नहीं सकती। वह तो 'यथार्थ' और 'वास्तविक' के द्वारा हमें 'आदर्श' और 'अ-वास्तविक' भावों की ओर ले ही जायगी। 'चित्राश्व न्याय' कला को मान्य है, अर्थात् चित्र से वास्तविक अश्व हो ही नहीं सकता। वहाँ तो रंग और रेखाओं, प्रकाश और छाया की खेला है। इनकी शक्ति कल्पना को जगाती है और उस अवास्तविक तत्त्व की ओर ले जाती है जिसका स्थान और काल नहीं परन्तु जो भावों के रूप में रसिक के अन्तरालोक से ग्रहण किया जा रहा है। वह 'यथार्थ' नहीं, पर हम उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। शाहनामे के 'सोहराब और रुस्तम' इतिहास की 'वस्तु' नहीं पर क्या हमने इस हृदयहारी कथानक को कभी अस्वीकार किया है? कभी 'नाइटिंगेल' और 'स्काई लार्क' बोले नहीं, परन्तु जब कवि ने उन्हें बुलाया तो हमसे उसे माने बिना न रहा गया। जरथुस्त्र, फौस्ट, आदम, राम और कृष्ण, जो साहित्य में ज्योति-पुंजों से जगमगा रहे हैं वे कहाँ हैं? परन्तु हृदय एक क्षण भी उनके 'न होने' पर विश्वास नहीं कर सकता। साहित्य-कला 'वास्तविक', 'सत्य', 'यथार्थ' या 'इतिहास' की सामान्य परिभाषा स्वीकार नहीं कर सकती।

साहित्य-कला के दूसरे योगों का संक्षेप में ही वर्णन

कर सकते हैं। जैसे, साहित्य में पुरातन और सुदूर इतिवृत्तों का ग्रहण, असाधारण और आश्चर्यजनक चरित्रों का चित्रण, कथा, पुराण, (Legends & myths) परी और पशुओं की कथाएं (Fairy Tales & Animal Stories) का वर्णन। जहाँ 'यथार्थ' का भी चित्रण किया जाता है, वहाँ भी उद्देश्य रसिक के मन में कल्पना को जगाने का ही प्रयत्न रहता है। उस 'यथार्थ' को 'रसनीय' बनाकर ही प्रस्तुत किया जाता है और, 'यथार्थ' में से भी 'विलक्षण' को ही ग्रहण किया जाता है।

भाषा के स्तर पर 'समस्यन्त' पदों का प्रयोग 'अर्थ' के प्रकाश को अधिक प्रबल बनाने का एक योग है। केवल 'संक्षेप' के लिये ही 'समास' का आविष्कार नहीं हुआ, बल्कि समास के द्वारा, शब्दों के मित प्रयोग के द्वारा, अमित अर्थ को बाहर फेंकने के लिये, चर्वणा को तीव्र बनाने के लिये, इसका साहित्य में उपयोग हुआ। पदों में नृत्य सी गति, वीणा आदि वाद्यों की झंकार, पवन, स्रोत आदि जैसा वेग, अनेक गन्ध और वर्णों का सौष्ठव, मूर्तियों जैसा मूर्त्तत्त्व और भवनों जैसा भव्य-विन्यास सभी रहते हैं, तभी तो साहित्य-कला में विश्व का सम्पूर्ण वैभव, हृदय के अखिल भाव, आत्मा का सारा प्रकाश, बुद्धि के सारे विलास और मन की गम्भीर वेदना सभी तो यथावत् उतर आते हैं। साहित्य में 'सृजन' और 'रस' की सीमाएं नहीं हैं।

(५)

अन्त में, साहित्य अपने शब्दार्थ रूप माध्यम और अन्य योगसाधनों द्वारा रसिक को परिस्थितियों के आकस्मिक जालों से बुने हुए, समय और सीमा के बन्धनों से आबद्ध 'व्यक्तित्व' से मुक्त कर उसे उदार अर्थों के प्रकाश में ले जाता है। यह अर्थों का आलोक रसिक के स्वकीय आत्मा का आलोक है। रसास्वादन की क्रिया में जितना 'स्व' को खाली किया जाता है उतना ही वह 'प्रकाश' और 'आनन्द' से भरता है। वास्तव में, 'सौंदर्य' कोई ठोस वस्तु नहीं है, उसका तत्त्व रसास्वादन की क्रिया है। वह क्रिया एक ओर आत्मा के आवरण को अनेक 'युक्तियों' से 'भंग' करती है (जिसका हमने ऊपर वर्णन किया है) दूसरी ओर अनेक रस-स्त्रोतों से जिनमें अर्थ की आलोक किरणें स्पन्दन करती हैं वेग से भर देती है। यह रसास्वादन की क्रिया ही साहित्य कला में सौंदर्य का सार है।

पुस्तकालय व शिक्षा संस्थाओं
के लिए
हिन्दी की आलोचनात्मक व जनरल पुस्तकें हमसे मंगाइए
[सूचीपत्र के लिए आज ही लिखें]
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता
हास्पिटल रोड, आगरा।

संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य की कल्पनाएँ

डा० रा० ग० हर्षे, डी० लिट् (पेरिस)

वर्तमान भारतीय भाषा में सौन्दर्य शास्त्र Aesthetics का प्रतिशब्द बनाया गया है। मूलतः Aesthetic ग्रीक aisthetikas से आया है और उसका अर्थ देखना, समझना, इन्द्रियों से और मन से ग्रहण करना ऐसा समझा जाता है। इसका सम्बन्ध सौन्दर्य शास्त्र से वस्तुतः नहीं है, किन्तु अध्यात्मान्तर्गत मनोविज्ञान शास्त्र का वह एक भाग है। इन्द्रिय संनिकर्ष द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह किस अवस्था में और किस प्रकार से होता है इतनी ही उसकी मर्यादा समझी गयी थी। किन्तु जर्मन पण्डित बौमगार्टन ने इस शब्द का प्रथम उपयोग सौन्दर्य की वैज्ञानिक उपपत्ति के बारे में किया। भावना-जन्य ज्ञान का सौन्दर्य दृष्टि से विश्लेषण, कलात्मक वस्तुओं के दर्शन से प्राप्त होने वाला प्रतिक्रिया रूप आनन्द तथा सुख का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण और सदभिरुचि का विवेचन ऐसे सौन्दर्य शास्त्र के तीन प्रधान अंग बन रहे हैं।

नव भारत में सौन्दर्य शास्त्र की चर्चा अभी तक स्वतंत्र ढंग से कम हुई है। अंग्रेजी ग्रन्थों के द्वारा जो कुछ अभ्यास चल रहा है उसके आधार पर अपने शास्त्र की रचना करना अनुचित है। क्योंकि संस्कृत साहित्य में इस शास्त्र को बनाने के लिए काफी सामग्री विद्यमान है और इसका विचार प्रथम होना चाहिए। विद्वन्मान्य ग्रन्थों का अनुवाद सर्व साधारण की ज्ञानवृद्धि के लिए आवश्यक होगा किन्तु केवल अनुवाद से बौद्धिक स्वातन्त्र्य की हानि हो रही है। राजकीय स्वातन्त्र्य के समान बौद्धिक स्वातन्त्र्य की रक्षा करना भारतीय विद्वानों का सर्व प्रथम कर्तव्य है।

बर्नार्ड बोसांके ने सौन्दर्य शास्त्र का जो इतिहास लिखा है उसमें उन्होंने केवल युरोपीय साहित्य में और कलात्मक वस्तुओं के विषय में जो कुछ शुरू से लिखा गया था, उसका परामर्श लिया है। किन्तु भारतीय, फारसी, चीनी और दूसरे किन्हीं पौरत्स्य देशों में इस विषय पर जो कुछ हो उसका विचार उन्होंने छोड़ दिया है। इसलिये यहाँ संस्कृत साहित्य में किस तरह की सामग्री मिल सकती है इसका विचार प्रस्तुत करना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृत साहित्य में खास तौर से सौन्दर्य शास्त्र का विवेचन आधुनिक ढंग से नहीं किया गया किन्तु सौन्दर्य शास्त्र बनाने का पर्याप्त साधन यहाँ उपलब्ध है इसमें कुछ संदेह नहीं है।

वस्तुतः वर्तमान काल में सौन्दर्य शास्त्र तत्त्व ज्ञान (Philosophy) का एक महत्त्वपूर्ण विभाग बन गया है। इसलिये तत्त्वज्ञान के अन्य सिद्धान्तों के साथ इसका विचार किया जाता है। लेकिन पाश्चात्य तत्वज्ञान ग्रीक तत्त्वज्ञ (Philosophers) के समय से उत्क्रान्त हो गया है और उसकी ऐतिहासिक कारण परम्परा भी दी जा सकती है। परन्तु भारतीय तत्वज्ञान के बीजभूत सिद्धान्त वेदों में ही उपलब्ध होते हैं और उनका दार्शनिक विवरण भाष्यकारों ने जगह जगह सैद्धान्तिक पद्धति से किया है। सौन्दर्य विषयक कल्पनाओं के अनुसंधान में वेदों से ही आरम्भ करना समुचित होगा किन्तु इसका सूत्र विस्तार करने की आवश्यकता होगी और इस प्रकार का विवेचन संभवतः विवाद्य होने पर साधक बाधक चर्चा करने को अवसर भी होना चाहिये। इसलिए थोड़े अवकाश में जो कुछ कल्पनाएं संस्कृत साहित्य में इधर उधर मिलती हैं उनका सुसूत्र विवरण देना समुचित होगा।

सौन्दर्य विविध प्रकार का होता है। निसर्ग-सौन्दर्य, जिसमें वनश्री, उषः काल, चन्द्रप्रभा, तारों की जगमगाहट इत्यादि दृश्यों का समावेश है। प्राणिमात्रों का सौन्दर्य

पशु, पक्षी, बालक, पुरुष या स्त्री में प्रतीत होता है। मनुष्यकृत कलाविलास का सौन्दर्य शिल्प, नाट्य, संगीत, काव्य आदि रूपों में परिणति पाता है।

सौन्दर्य का अनुभव पञ्चज्ञानेन्द्रियों से ही होता है। नेत्र से आप निसर्ग और मनुष्यकृत सुन्दर वस्तु देख सकते हैं। कर्ण से सुमधुर संगीत श्रवण करते हैं। नासिका का उपयोग सुवास ग्रहण करने के लिए होता है। और जिह्वा से विविध रस का अनुभव किया जाता है। सुखमय स्पर्श की संभावना त्वगिन्द्रिय से होती है यह सब लोक जानते हैं।

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से सौन्दर्य-ग्रहण करने वाली बुद्धि और तज्जन्य संस्कार मन में असंख्य भावलहरियाँ उत्पन्न करते हैं जिसका तात्कालिक और चिरंतन परिणाम मनुष्य प्राणियों के ऊपर होता है। इसलिए सौन्दर्य वस्तु चिरंतन आनन्द देने वाली है ऐसा कहा जाता है। "A thing of beauty is a joy for ever." सौन्दर्य का इतना प्रभाव है कि सौन्दर्य ग्रहण होने पर मनोमयकोश में बुद्धिचक्र शुरू होता है और उससे उद्भूत होने वाले कल्पना तरंग भावना को प्रक्षुब्ध करते हैं। सद्विचार, सत्कल्पना और सद्भावना से सौन्दर्य का निरुपम सुखास्वाद मनुष्य ले सकता है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' भारतीय कला की परिसीमा हो गई है। सौन्दर्य शास्त्र में इन्द्रिय, बुद्धि, कल्पना और भावना इन सबका विचार साथ ही साथ करने की आवश्यकता है और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का सुनिश्चित रूप से कथन करना मनोविज्ञान शास्त्र का एक मनोरंजक भाग हुआ है।

सौन्दर्य का अनुभव किसी एक मर्यादा तक हर एक मनुष्य को प्राप्त होता है। किन्तु सौन्दर्य का अनुभव होने पर भी उससे प्राप्त होने वाला आनन्द का विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्र ही कर सकता है । विविध सौन्दर्यवस्तुओं का अभ्यास करने से सौन्दर्याभिरुचि पैदा होती है और सौन्दर्य विज्ञान से इस विषय में सूक्ष्मता भी आती है। सौन्दर्यानन्द के विश्लेषण से अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और इनका विचार करना आवश्यक है।

सौन्दर्य की अनेक प्रकार की व्याख्या बोझांके ने अपने ग्रन्थ में दी है। उदाहरण—(१) सब सौन्दर्य मन के द्वारा ग्रहण करने में और कल्पना में होता है ("All beauty is in perception or imagination") (२) सौभाग्य का सन्तोषप्रद प्रगटन ("The pleasant expression of the good"—श्लेगेल) (३) काल्पनिक और इन्द्रिय द्वारा विविधता में जो एकता प्रतीत होती है इसमें सौन्दर्य रहता है। ("Beauty consists in the imaginative or sensuous expression of unity in diversity") (४) केवल और दैवी वास्तवता का मानवी माध्यम से किया हुआ अत्युच्च प्रगटन ही सौन्दर्य है। ("Beauty is a supreme expression of the absolute or divine reality as uttering itself through man"—Schelling.) (५) सौन्दर्य इन्द्रियों को दिखाई देने वाली कल्पना है। ("Beauty is the Idea as it shows itself to sense"—Hegel) इन सब व्याख्याओं से विभिन्न व्याख्या संस्कृत में मिलती है—"प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः" (प्रतिक्षण जो नवीनता का आभास देता रहता है वह रमणीयता का स्वरूप)। इसमें सौन्दर्य की दो प्रकार की वृत्ति उपलक्षित है; एक सौन्दर्य की स्पष्ट रूप से ग्रहण करने की असाध्यता। चांचल्य, चैतन्य और मायाविता का मनोहर मिश्रण जिस से प्रतिक्षण नवीनता का अनुभव आता है। ज्ञानेश्वर ने 'गीतातत्त्व' के विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है जिसका तात्पर्य यह ही है—"हरु ह्मणे देवी नेणिजे। जैसें का स्वरूप तुझें। तैसें हें नित्य नूतन देखिजे। गीतातत्त्व" (शंकर पार्वती से कहते हैं—"देवी, तुम्हारा रूप नित्य नूतन होने के कारण कितना सुन्दर और कैसा है इसे कोई नहीं समझ सकता, वैसा ही गीतातत्त्व है।" कालिदास ने ही मालविकाग्निमित्र में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। नाट्याचार्य गणदास जब अग्निमित्र महाराज से मिलने जाता है तब वह कहते

हैं :—"नच न परिचितो न चाप्यगम्य: चकित मुपैमि तथापि पार्श्वमस्य। सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णो:" (यह राजा मेरा परिचित नहीं ऐसा तो नहीं, और उसके सामने में नहीं जा सकता ऐसा भी नहीं। लेकिन इसके समीप में आश्चर्य युक्त होकर जाता हूँ। सागर के समान मेरे नयनों को प्रतिक्षण यह नया नया मालूम होता है) दूसरी वृत्ति:—सौन्दर्य वस्तुओं के दर्शन में अतृप्ति। सौन्दर्य शास्त्र के सर्वप्रश्न इन दोनों वृत्तियों में अन्तर्भूत है। किन्तु इन दोनों लक्षणों की चर्चा मुझे पाश्चात्य पण्डितों के सौन्दय शास्त्र के इतिहास में नहीं मिली।

सौन्दर्य वस्तु के याथातथ्य वर्णन की और विश्लेषण की असंभाव्यता यह सार्वजनीन अनुभव है। कितना ही वर्णन किया जाय तो भी अधूरा ही रहता है और परब्रह्म के समान "नेति, नेति" ऐसा कहते कहते "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" यही लक्षण बताना आवश्यक हो जाता है। परिपूर्ण का वर्णन अपूर्ण माध्यम से नहीं हो सकता। इसलिये ईशावास्योपनिषद् में ही पूर्णता का वर्णन करते समय "ओ३म् पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते। पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ऐसा कहना आवश्यक हो गया है। सौन्दर्य की पूर्णावस्था और सर्वोत्तमता पाश्चात्य पंडितों को भी मान्य है। सौन्दर्य का सर्वोत्तम वर्णन करने में भवभूति ने ही असफल प्रयत्न किया है। 'मालती माधव' में माधव ने मालती का रूप वर्णन करते समय सौन्दर्य उत्पन्न करके वाली सब साधन-सम्पत्ति इकट्ठी की है किन्तु इससे भी उसकी अन्तरात्मा संतुष्ट हुई थी ऐसा नहीं प्रतीत होता! देखिये—

'सा रामणीय निधेरधि देवता वा। सौन्दर्यसार-समुदायनिकेतनं वा॥ तस्या: सखे नियतमिन्दु सुधा मृणाल ज्योत्स्नादि कारणमभून्मदनश्च वेधा:' (यह (मालती) सौन्दर्य संपत्ति की अधिष्ठात्री देवी–जिसके पास सौन्दर्य की कमी होने की संभावना नहीं है और सौन्दर्य का जो आन्तररस और अर्क (essence) होता है उसके निधि का भाण्डागार सी मालूम होती है। इसको निर्माण करने में निश्चित रूप से इन्दु, सुधा, मृणाल, ज्योत्स्ना, कमल इत्यादि सौन्दर्य की वस्तुओं का उपयोग किया गया होगा और सौन्दर्य का परमोच्च आदर्श मदन ही इसका निर्माता हुआ है।) सर्वोत्तम वस्तुओं का संग्रह किये बिना सौन्दर्य की पूर्णता नहीं हो सकती यह कल्पना भी संस्कृत वाङ्मय में है। कुमार सम्भव में कालिदास ने कहा है—"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्ना देकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयैव" सर्व प्रकार का उपमा देने योग्य द्रव्यों का समूह लाकर और उनको सुयोग्य स्थान पर रखकर जग उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा ने इस पार्वती को यत्नपूर्वक निर्माण किया है जिससे वह एक ही स्थान में सब सौन्दर्य देख सकें। आदर्श सौन्दर्य में कुछ न्यूनता और निंद्यता नहीं होनी चाहिये, इसलिये—"सर्वावस्थासु चारुता शोभान्तर पुष्णाति" और "सर्वस्थानानवद्यता रूप विशेषस्य।"

वास्तव में सौन्दर्य किसी वस्तु में नहीं किन्तु सौंदर्य की भावना देखने वालों के हृदय में और कल्पना में होती है। ("Beauty is subjective; it exists in and for a percipient and not otherwise"—Kant) इस विचार का प्रत्यय अपने को 'तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जन:' इसमें मिल सकता है। सुस्पष्ट रूप में—'तस्य तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्।' ऐसी ही विचार-धारा है।

सुन्दर वस्तु देखने में जो अतृप्ति की भावना रहती है इससे अभिलाषा की भावना होना स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर वस्तुओं का प्रथम दर्शन केवल आदर की भावना उत्पन्न करता है। 'आकृति विशेषेषु आदर: पदं करोति।' बाद में जब उससे तन्मयता पाकर भी अतृप्ति की भावना शेष रहती है और सुदूर होने से बार-बार प्राप्ति की आशंका होने के कारण स्वाधीनता के लिये अभिलाषा करते हैं। इस दृष्टि से "ध्यायतो विषयान् पुंस: संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते काम:" यह गीता का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सत्य है। साधारण लोगों के विषय में यह सामान्य अनुभव है। किन्तु

व्यक्तिगत आकर्षण के सम्बन्ध में दूसरा एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भवभूति ने बताया है—"व्यतिषजति पदार्थान् आन्तर: कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतय: संश्र-यन्ते।" इस आध्यात्मिक प्रयोजन का स्पष्टीकरण कालिदास के "भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि" उस उक्ति में मिल जाता है। सर्व काल, सर्व देशों में स्त्री-सौन्दर्य अपूर्व मोह की वस्तु है और इस विषय में बहुत ही लिखा गया है किन्तु इसका प्रपंच-विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक विशेष विचार यहाँ उल्लेखनीय है।

स्त्री सौन्दर्य से निर्मित हुई प्रेम भावना मूलभूत आदर के कारण केवल वैषयिकता के निम्न स्तर में नहीं रहती। इसमें आध्यात्मिक उदात्तता का उच्चतम दर्शन मानवों को प्राप्त होता है। इसलिये मनुष्य अखिल संसार का त्याग भी कर सकते हैं। न केवल धन संपत्ति किन्तु जीवित का त्याग भी इस भावना का पर्याप्त मूल्य न होगा ऐसी भावना प्रेमी मानव के हृदय में रहती है। सौन्दर्य-जन्य प्रेम का प्रभाव ऐसा इतना तीव्र होता है। भवभूति ने कहा है—"लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च। प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च। सा नश्चतोसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुव: पञ्चभिश्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिड-स्यूतेव लग्ना प्रिया।" इससे अधिक समर्पक वर्णन नहीं हो सकता। प्रेम रूप की तन्मयता से मानव को एक आश्चर्य कारक अद्वैत सिद्धि का अभिनव प्रत्यय होता है। इसलिये कहा गया है—"सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद: ?"

शिल्प के सौन्दर्य के विषय में भारतीय शिल्प कलाकृति अखिल संसार में सर्वोत्कृष्ट है इसमें कुछ संदेह नहीं है। औचित्य, प्रमाणबद्धता, समन्वय, सुकुमारता, कोमलता, सजीवता, वास्तवता, व्यञ्जकता और प्रतीकमयता इन सब सौन्दर्य तत्त्वों का विचार भारतीय शिल्प ग्रंथों में है। और असंख्य शिल्पकृतियाँ उनके साक्षात् मूर्तिमंत उदाहरण भी हैं। उन सौन्दर्य तत्त्वों का पाश्चात्य ढंग से सोन्दर्य शास्त्रीय विवरण का अभाव है!

नाट्य के विषय में भारतीय नाट्य शास्त्र में जितना सूक्ष्म विचार किया गया है उतना संसार में अन्यत्र नहीं पाया जाता है। नाट्य तत्त्व का जीवित रस और अभिनय ही है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के रस सिद्धान्त की रचना में सर्व मानवीय भावनाओं का पूर्णतया समावेश है। 'उत्कटत्वेन आस्वाद्यमानता' यह रस का लक्षण होने पर स्थायी भावों के साथ साथ व्यभिचारी भावों को भी रसत्व प्रदान करने की सुविधा हो सकती है और आधुनिक कलाकृतियों में क्षणजीवी भाव दर्शन का ही प्राचुर्य है तो भी इसका स्पष्टीकरण भारतीय साहित्य-शास्त्र के अनुसार किया जा सकता है। किन्तु सूत्र रूप में कहने का भारतीय शास्त्रकारों का स्वभाव होने के कारण आधुनिक पद्धति से विस्तृत विवरण करने की आवश्यकता है। अभिनय के बारे में इतने सूक्ष्म नियम भरत मुनि ने दिए हैं कि इसमें कुछ अविशेष रहा ही नहीं। स्वभाव गुण, भूमिका से एक रूपता इन मामूली बातों का विचार तो है ही, किन्तु सूक्ष्मदर्शी प्राश्निकों को भी संतुष्ट करने के लिये शरीरा-भिनय, हस्ताभिनय, भावव्यञ्जन, वागाभिनय, भाषा विधान आदि विभिन्न दृष्टियों से ही इस विषय की चर्चा नाट्य शास्त्र में की गई है। तात्पर्य, एवं गुणविशिष्ट नटों के द्वारा नाटककारों ने अपनी कृतियों में प्रदर्शित किये हुए भाव का जो समुचित प्रकटन किया है उससे कितना आनन्द हो सकता है उसकी कल्पना ही की जा सकती है। "सिद्धिव्यंजक" अध्याय से नटों की और नाट्य प्रयोगों की कसौटी कितनी कठिन होती थी इसका ज्ञान होता है।

नृत्य कला भारत में अभी तक विद्यमान है और लोकाभिरुचि होने पर इसका उत्कर्ष भी हो रहा है। किन्तु प्राचीन नृत्त और नृत्य शास्त्र का पुनरुज्जीवन करने की नितान्त आवश्यकता है। ग्रीक नृत्य के बारे में एक अंग्रेज महिला ने सात वर्ष तक ग्रीस में घूम घूम कर ग्रीक नृत्य का पुनरुज्जीवन किया और उसके ऊपर सचित्र ग्रन्थ भी लिखा है। ऐसा ही प्राचीन भारतीय नृत्य के

बारे में करना आवश्यक है । "नृत्य" को "देवानां कान्तं क्रतुं चाक्षुषं" कहा गया है। इतनी इसकी योग्यता है और मूकाभिनय, लास्य और ताण्डव के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएँ भरत मुनी ने दी हैं। वर्णन पढ़ने से ही उनकी सौन्दर्य प्रतीति होती है लेकिन प्रत्यक्ष-दर्शन का अवसर मिले तो कितने हर्ष की बात होगी ?

भारतीय संगीत ही बहुत उन्नत अवस्था में पहुँचा था किन्तु ग्रन्थोक्त प्राचीन संगीत का अनुभव करने में प्रायोगिक सुविधा हुई नहीं और प्रयोग करने वाले संगीतज्ञ ही हमारे यहां नहीं हैं। किन्तु भारतीय संगीत में जो राग व्यवस्था है और विविध रागों के सम्बन्ध में जो आख्यायिकायें चल रहीं हैं उससे ज्ञात होता है कि लोगों ने संगीत की जादू का अनुभव किया है। वाद्यवृन्द युरोपीय संगीत की विशेषता है किन्तु केवल वाद्यवृन्द के बजाने से रंगमंच पर कौन व्यक्ति आ रहा है यह जानने की सुविधा भारतीय नाट्य शास्त्र में ही बताई गई है।

काव्य क्षेत्र में जिसको अंग्रेजी में (Higher Criticism) कहते हैं वह संस्कृत साहित्य में ध्वनि का एक प्रकार है। कवी ने हेतु पूर्वक और निर्हेतु पूर्वक अपने काव्य में जो व्यंग्यार्थ सूचित किया जाता है उसका विवरण सौन्दर्य शास्त्र में अन्तर्भूक्त होता है। क्योंकि व्यंग्यार्थ प्रतीति से एक प्रकार के उच्च निरतिशय आनन्द की संप्राप्ति होती है और इसको रसिक जानकार चाहते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि रसिकों द्वारा दिये हुए अर्थ कवि के मन में होने वाले अर्थ से भिन्न ही होते हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्बन्ध में ऐसी कथाएँ बहुत प्रचलित हैं। काव्य पंक्ति के अतिरिक्त वृत्त के विषय में क्षेमेन्द्र ने ही कुछ इस प्रकार की चर्चा अपने 'सुवृत्ततिलकम्' में की है। किन्तु संकलित रूप में काव्य-विमर्शन की अपने यहाँ बहुत ही कमी होने के कारण और मुद्रण सुविधा न होने के कारण युरोपीय साहित्य समालोचन शास्त्र ने जितनी प्रगति की है उतनी भारत में नहीं हुई। किन्तु इस क्षेत्र में बहुत कुछ करने की संभावना है।

भवभूति के दो श्लोक उदाहरण के लिये लेकर उनमें अन्तर्गूढ़ काव्य सौन्दर्य का विवरण इस प्रकार दिया सकता है—

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं। त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे"—सीता के सम्बन्ध में राम का जो कहना है इसमें एक विशिष्ट अनुक्रम है: १ त्वं जीवितं (तुम मेरा प्राण हो) २ त्वं मे द्वितीयं हृदयमसि (तुम मेरा दूसरा हृदय हो) ३ त्वं नयनयो: कौमुदी (तुम मेरे आंखों की चन्द्रिका हो) ४ त्वमङ्गे अमृतं (तुम मेरे शरीर के लिए अमृत के समान हो) इस अनुक्रम से कवि ने राम के प्रेम भावना की सोपान पंक्ति दी है और उसकी श्रेणियाँ उत्तरोत्तर बढ़ रहीं हैं। प्रथम जीवित। जीवित की कल्पना अमूर्त है। इससे उसका समाधान नहीं हुआ। 'तुम मेरा हृदय हो' यह तो गलत बात है क्योंकि उसका हृदय उसके पास है ही। इसलिये 'हृदयं द्वितीयं'— दूसरा हृदय कहा ! किन्तु यह भी केवल कल्पना है। मेरे आंखों की चन्द्रिका कहने में प्रत्यक्ष अनुभव है। किन्तु चन्द्रिका चन्द्र के पास है और सिर्फ इसका आनन्द आप ले सकते हैं। अन्त में "अमृतं त्वमङ्गे" कहने में वह आनन्द का और सुख का अटूट आनन्द उपभोगने की क्षमता पा सकता है, ऐसा नितान्त मधुर अर्थ इन दोनों चरणों में व्यक्त किया गया है।

इस विशेषानुक्रम की दूसरी सुन्दर रचना भवभूति के "प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा। सर्वेकामा: शेवधिर्जीवितं वा" इस पद्यार्थ में मिलती है। पत्नी ने पती को और पती ने पत्नी को कैसे समझना चाहिए इसका उपदेश कामन्दकी ने मालती को और माधव को उनके विवाह समय इस पद्यार्थ में किया है। यहाँ सब प्रियवस्तु लेकर उनका इस सम्बन्ध में जो यथार्थ अनुक्रम है जो कवी ने दर्शित किया है। इसमें भी एक अपूर्व सुन्दरता है। आपने अपने पत्नी को प्रिय मित्र समझना चाहिए। किन्तु कितना हि प्रिय मित्र हो आपके निकटवर्ति रिश्तेदार की योग्यता आप उसको नहीं दे सकते। इस-

(शेष पृष्ठ १०८ पर)

मराठी भाषा में सौन्दर्य-शास्त्र का विकास

श्रीयुत बारलिंगे

सौन्दर्य-शास्त्र का विचार करते समय दो मूलभूत प्रश्न हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। एक तो 'सौंदर्य' का अर्थ क्या है? उसका स्वरूप क्या है? दूसरा प्रश्न है, सौंदर्य किस वस्तु में है ? कला-स्वरूप का विचार इसी दूसरे प्रश्न से सम्बन्धित है।

वैसे यदि देखा जाय तो किसी भी भाषा का किसी भी शास्त्र से अव्यभिचारी सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी यदि किसी शास्त्र का विचार किसी भाषा-माध्यम से किया जाता है तो उससे भाषा सम्पन्न होती है। 'मराठी भाषा में सौन्दर्य-शास्त्र का विकास' इस शीर्षक से ही मुझे यह ज्ञात हुआ। मराठा भाषा-भाषी पण्डितों ने भी सौन्दर्य-शास्त्र पर अपने विचार मराठी भाषा में प्रकट किये हैं।

"सौन्दर्य-शास्त्र" की कल्पना केवल मराठी भाषा-भाषियों के लिये ही नहीं अपितु हिन्दी साहित्य के लिये भी आधुनिक है क्योंकि "सौन्दर्यशास्त्र" पाश्चात्य विद्या द्वारा हमें मिला है। इसका मतलब यह नहीं है कि जिसको हम आज 'सुन्दर' इस विशेषण से सम्बोधित करते हैं वैसे वस्तु-प्रकार हमारे देश में नहीं थे। केवल महाराष्ट्र का ही उदाहरण लिया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि महाराष्ट्र में कई प्रकार से ललित कलाओं की वृद्धि हुई है। अजन्ता और एलोरा के चित्र और शिल्प कला और एलिफेन्टा की बौद्ध गुफा, पुराने अन्य मन्दिर और जगह-जगह बिखरे हुए दुर्गों के परकोटे इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि वास्तु कला, चित्र या शिल्प कला मराठी लोगों को अज्ञात नहीं थी। हिन्दुस्थानी संगीतपद्धति की प्रथम रचना भी एक देवगिरि (दौलताबाद) निवासी मराठी ब्राह्मण ने की थी, यह भी एक सत्य घटना है। महाराष्ट्र के बाहर तो सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ, कुतुबमीनार और कीर्तिस्तम्भ जैसे सुन्दर स्तम्भ, सांची और पारसनाथ जैसे भव्य और रमणीय स्तूप, आबू और श्रीरंगम् मदुरा और रामेश्वरम् के भव्य और सुन्दर मन्दिर तथा विश्व को विस्मित करने वाला ताजमहल इसकी साक्षी देते हैं कि हमारे देशवासियों में सौन्दर्य की दृष्टि निश्चित रूप से थी। जब हमारे कवि सुन्दर स्त्री के मुख में चन्द्रमा का दर्शन पाते हैं या उसके नयन में हरिणनयन को देखते हैं या उसके दांतों में दाड़िम और कुन्द के फूल प्राप्त करते हैं तो क्या यह सब सौन्दर्य-दृष्टि के बिना ही हो सकता है। श्री कालिदास के—

'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी ।
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

या पण्डितराज जगन्नाथ के 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' काव्य की इस व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है। भरत का नाट्यशास्त्र और उसका साहित्य-शास्त्र में विकास भी इसी चीज को बार-बार दुहरायेगा। सौंदर्य-दृष्टि के बिना कला विकसित ही नहीं हो सकती। श्री अभिनव गुप्त के तंत्रालोक का एकादश आह्लिक यदि कोई पढ़े तो स्पष्ट हो सकता है कि भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि कितनी उन्नत थी।

फिर भी हमारे देश में 'सौन्दर्य' का अर्थ क्या है इस प्रश्न का कभी विचार ही नहीं हुआ है। रमणीय-मनोज्ञ इत्यादि शब्दों से यही ज्ञात होता है कि हम लोग 'सुन्दर' इस विशेषण से 'सुखदायक' (Pleasing) इतना ही अर्थ समझते थे। एक कला या वस्तु को सुन्दर होने के लियें उसमें कुछ गुण जो अन्य कला या वस्तु से 'साधारण' होंगे, होने चाहिए या नहीं, यह प्रश्न कभी हमारे सामने उत्पन्न ही नहीं हुआ। यद्यपि हमारे देश में 'सुन्दर' कला या नैसर्गिक वस्तुओं का आविष्कार नित्य

हो रहा था फिर भी हमने सारा समीक्षाशास्त्र 'आनन्द सिद्धान्त' के ऊपर आधारित किया और सुन्दर अर्थात् आनन्ददायक इसी कल्पना से कला और साहित्य-शास्त्र की नींव रखी। हमने अद्वैत और विज्ञानवादी तत्त्व-ज्ञान से 'आनन्द' का भी सर्व सामान्य अर्थ छोड़कर उसका केवल दार्शनिक अर्थ लिया और रस व आनंद को एक ही समझ कर 'रस' को आस्वाद रूप बनाकर उसे ब्रह्मपद दे दिया। मेरे विचार में मराठी भाषा में इस विचार-धारा का प्रभाव दो प्रकार से—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा। ब्रह्म को जीवन का सबसे ऊँचा तत्त्व मानने से साहित्य या कला-शास्त्र में भी सौंदर्य से 'परतत्त्व' का महत्त्व विशेष रूप से प्रकट हुआ जैसा कि श्री ज्ञानेश्वर जी ने कहा है—

'गये बरवे कवित्व । कवित्वी बरवे रसिकत्व ॥
रसिकत्वी परतत्त्व । स्पर्शु जैसा ॥

इसका मतलब यह है कि रस तत्त्व से (सामान्य दृष्टि से आनन्द या सौंदर्य तत्त्व से) परतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) श्रेष्ठ है। इसीलिये सारी कला या साहित्य इसी तत्त्व पर अधिष्ठित होना चाहिये। श्री ज्ञानेश्वर जी की यह विचार-सरणि श्री एकनाथ, श्री तुकाराम, श्री मोरोपन्त आदि सब ही श्रेष्ठ मराठी साहित्य निर्माताओं को स्वीकृत हुई। हमारे साहित्य की वेदान्त दर्शनों के एकमेव निष्कर्ष पर परीक्षा होने लगी। सौन्दर्य का स्वतन्त्र विचार न होने से प्रकृति में भी सौन्दर्य-दर्शन होता है इसकी भी विस्मृति होगई और कला या साहित्य के एक सामान्य निष्कर्ष के नाते हम सौन्दर्य तत्त्व को अपनाने लगे।

वेदान्त तत्त्व को संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों द्वारा स्वीकृति मिल जाने से मराठी साहित्य शास्त्र पर भी उसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। विशेषत: मम्मटाचार्य और श्री विश्वनाथ इन्होंने अपने ग्रन्थों में उपरि निर्दिष्ट तत्त्व को स्वीकार किया था। इनके ग्रन्थों का—'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का—मराठी पण्डितों में विशेष प्रभाव था। नाट्य शास्त्र पर लिखे हुए अभिनव गुप्त से पूर्व टीकाग्रन्थ नाम मात्र को ही थे।

वामन, दण्डी और भामह आदि लोगों का प्रभाव बहुत कम था। ध्वन्यालोक भी लोचन टीका के साथ पढ़ा जाता था और जगन्नाथ का भी अभ्यास बहुत कम लोग करते थे। इसीलिये रस सिद्धान्त केवल काव्य का ही नहीं, सब कला का ही प्राण समझा गया और इस सिद्धान्त को परतत्त्व या समाधि (मधुमती भूमिका) से एकाकार कर दिया गया। बीसवीं शताब्दी के लगभग दूसरे दशक तक यही स्थिति रही। काव्यशास्त्र का विचार संस्कृत के रस सिद्धान्त में ही सीमित हो गया।

इस स्थिति के कारण सौंदर्य-शास्त्र का स्वतंत्र अभ्यास मराठी भाषा में दिखाई नहीं देता। साहित्य-शास्त्र के पीछे-पीछे ही सौन्दर्यशास्त्र जा रहा था। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे पाश्चात्य कला और तत्त्वज्ञान भी मराठी लोगों पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। पाश्चात्य चित्रकारों के चित्रों से, कला से प्रभावित बनाये हुए राजा रविवर्मा के चित्रों से, एक नया सौन्दर्य विषयक विचार पण्डितों में उत्पन्न हुआ। हमारे देश में बिखरे हुए शिल्प का भी श्री आनन्दकुमार स्वामी और श्रीहॅवेल द्वारा किए गये अभ्यास से भी 'सौन्दर्य' के अभ्यास की एक नयी दृष्टि निर्मित हुई। इसी समय Truth, Beauty and Goodness सत्यं, शिवं सुन्दरम् इस त्रिमूर्ति का भी मराठी में आविष्कार हुआ। 'A thing of beauty is a joy for ever' यह Keats सरीखे सौन्दर्यवादी कवि का प्रभाव भी मराठी साहित्य पर पड़ना असम्भव नहीं था। कालिदास जैसे प्राचीन संस्कृत कवि के भी अभ्यास ने यही गीत फिर से दुहराया।

काँट, हेगेल, हर्बर्ट स्पेन्सर, ब्रैडले, बोसान्के, क्रोसे, बर्गसा, रिचर्डस् आदि पाश्चात्य दर्शनकारों की विचार-धारा से भी सौन्दर्य-शास्त्र के अभ्यास के लिये मराठी में नया वायु मण्डल निर्मित हो गया। फिर भी सौन्दर्य-शास्त्र के शास्त्रीय और व्यवस्थित वाङ्मय की अभी तक मराठी भाषा में बहुत कमी है।

पाश्चात्य और पौरस्त्य विचार-धारा का भय न करते हुए सौंदर्य शास्त्र का अभ्यास मराठी पण्डितों ने

किया नहीं ऐसा तो नहीं, किन्तु ऐसा अभ्यास करने के बाद भी बहुत कम लोगों ने मराठी में सौन्दर्य-शास्त्र पर विचार प्रगट किये। मराठी के सर्वश्रेष्ठ सौंदर्यशास्त्रज्ञ श्री मर्ढेकरजी की प्रमुख रचना भी अंग्रेजी में है (The Arts and the Man, और Two Lectures on Aesthetics)।

ऐसी परिस्थिति में भी मराठी भाषा में सौंदर्य-शास्त्र पर जो विचार प्रगट किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं। जिसे सौंदर्य-शास्त्र का विचार कह सकते हैं ऐसी दो पुस्तिकायें १९२५ के लगभग मराठी में प्रकाशित हुईं। उनमें से एक श्री आपटे जी ने लिखी थी और दूसरी प्रि० भाटे जी ने। श्री भाटे जी की पुस्तिका छोटी होने के बावजूद भी बहुत मूल्यवान है।

सांगली के महाराज के आश्रम में उनके ललित कला पर दिये हुए व्याख्यान 'ललित कला मीमांसा' नामक पुस्तक में एकत्रित किये गए हैं। इस पुस्तक में ललित कला के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने कला कैसे उत्पन्न होती है और उसका और सौंदर्य का सम्बन्ध किस प्रकार रहता है, इसका भी विचार किया है। श्री भाटे जी लिखते हैं—"यद्यपि भिन्न-भिन्न कलाएं कितनी ही विभिन्न क्यों न हों सब की आत्मा एक ही है और वह है सौंदर्यप्रत्यय। इसीलिये सौंदर्य क्या वस्तु है इसका विवेचन करना जरूरी होगा किंतु यह काम जितना आसान दिखाई देता है, उतना आसान नहीं है। 'सुन्दर' इस शब्द की व्याख्या करना कठिन है। वस्तु का सौंदर्य किस पर अवलम्बित है, इसका उत्तर देना बहुत ही कठिन है।" इस विवेचन द्वारा श्री भाटे जी **सौंदर्य** उपयोगिता से और सौंदर्य-दायकत्व से भिन्न है इस नतीजे पर आते हैं और 'सौंदर्य' केवल वस्तु का ही गुण नहीं वरन् उसका सम्बन्ध मन से भी है इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। सुन्दर वस्तु का अंतरंग और हमारी आत्मा का अंतरंग एक समान होने के कारण ही सुंदर वस्तु से आत्मा को आनंद मिलता है। इस प्रकार श्री भाटे जी ने सौंदर्य के स्वरूप का निरूपण किया है। और इसके आधार पर ललित कलाओं का विवेचन किया है।

डा० केतकर बामके मराठी भाषा के एक बहुत श्रेष्ठ पण्डित हो गये हैं। मराठी भाषा के ज्ञान-कोष (Encyclopaedia) निर्माण के लिये आपका नाम अतीव प्रसिद्ध है। सौंदर्य और सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप का प्रश्न भी आपकी दृष्टि में नहीं छूटा। ज्ञान-कोष में सौंदर्य के स्वरूप के बारे में आपका अति सुंदर निरूपण है।

मराठी साहित्य के दूसरे श्रेष्ठ विद्वान् श्री वामन मल्हार जोशी जी ने भी अपने साहित्य में कला और सौंदर्य का मौलिक विचार किया है। आपका एक छोटा सा प्रबंध अतीव विचार परिप्लुत है। फिर भी खास करके सौंदर्य-शास्त्र की ही स्वतंत्र चर्चा जिसमें हो ऐसा कोई प्रबंध आपके कर-कमलों द्वारा नहीं लिखा गया।

मराठी भाषा में "सौंदर्य-शास्त्र का इतिहास" खास करके साहित्य-शास्त्र में ही सम्मिलित है यह मैंने पहले ही कहा है। इसीलिये सौन्दर्य-शास्त्र का विचार करते समय साहित्य सम्राट नरसिंह चिंतामणि केलकर, डा० वाटवे, डा० रा० श्री जोग और प्राध्यापक द० के केलकर जैसे अधिकारी व्यक्तियों का उल्लेख किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। सौंदर्यतत्त्व का अधिष्ठान मानते हुए आपने रसतत्त्व का मंडन किया। रस और आनंद तथा आनंद और आत्मतत्त्व एक ही हैं। ऐसी उपरिनिर्दिष्ट विद्वानों की सामान्य विचार प्रणाली है। इन विद्वानों में इस विषय पर कुछ मतभेद भी हैं। जैसे श्री न० चिं० केलकर जी रस का स्वरूप सविकल्प समाधि है ऐसा मानते हैं। तथा डॉ० वाटवे जी, मैक्डूनल्ड आदि सहज प्रवृत्ति (Instincts) और (Sentiments) को ही रस और भाव का सिद्धांत स्पष्ट करने के काम लाते हैं। डॉ० रा० श्री जोग का 'सौंदर्यशोध और आनंदबोध' इस संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। सौंदर्य और आनंद के बारे में आपने मराठी में पहली बार कुछ सिद्धांतों का

निरूपण किया है । यद्यपि श्री जोग के सिद्धांत से मैं सहमत नहीं हूँ और मेरे मत से श्री जोगजी सौंदर्य शब्द का कभी कभी आनंद के अर्थ में उपयोग करते हैं तथापि श्री जोग की विद्वत्ता और उनके ग्रंथ का महत्त्व है।

डॉ० वालिंबे का नाम भी मराठी के सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में बहुत ही महत्त्व का है। 'साहित्य के संप्रदाय', 'ज्ञानेश्वरी की विदग्ध रसवृत्ति' और 'साहित्य मीमांसा' यह तीन सुन्दर ग्रंथ लिखकर अप्रत्यक्ष रीति से आपने सौंदर्य-शास्त्र को भी संपन्न बनाया है। श्री प्रभाकर पाध्येयजी का 'कला की क्षितिजे', श्री के. नारखेडेजी का 'काव्य-कला का अंतरंग', श्री द्रोणाचार्य जी के (वा. ना. देशपांडे) कला विषयक महत्त्वपूर्ण लेख और डा. भा. गो. देशमुख जी का मराठी का साहित्य-शास्त्र का भी उल्लेख मराठी सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास में आना जरूरी है।

दो और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मराठी सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास की संपत्ति हैं। एक है कै. श्री. दा. भालेराव जी का 'कला और कलास्वाद' नामक ग्रंथ और दूसरा है प्रा० ग० देशपांडे का 'संस्कृत साहित्य और सौंदर्य शास्त्र' पर लिखा हुआ ग्रंथ। ये दोनों ग्रंथ भी मराठी सौंदर्य-शास्त्र में खास स्थान रखते हैं।

लेकिन इन सब साहित्य सेवकों ने सौंदर्यशास्त्र की जो सेवा की है वह अप्रत्यक्ष है। उनकी विचार पद्धति पारंपरिक है। सौंदर्यतत्त्व का विचार न करते हुए ही इन व्यक्तियों ने उसका उपयोग किया है। इस दृष्टि से इस पारंपरिक विचारसरणि के विरुद्ध पहला क्रांतिकारी कदम श्री मर्ढेकर जी ने उठाया। सौंदर्यशास्त्र की मूलभूत समस्या का स्वरूप समझाने का पहला प्रयत्न यदि किसी ने किया होगा तो उन्होंने ही। इसीलिये प्रस्तुत लेखक ने श्री मर्ढेकरजी के "सौंदर्य और साहित्य" नामक ग्रंथ को मराठी साहित्य शास्त्र की गंगोत्री है ऐसा लिखा है।

श्री मर्ढेकरजी ने (Arts and the man) और (Two lectures on Aesthetics) यह पुस्तकें अंग्रेजी में लिखीं और "सौंदर्य और साहित्य" और 'वाङ्मयीन महात्मता' यह ग्रंथ मराठी में लिखे हैं। आपके अंग्रेजी ग्रंथों का अनुवाद भी अभी मराठी में हुआ है। यह सभी ग्रंथ बहुत ही अनमोल हैं। श्री मर्ढेकरजी 'सौंदर्य वाचक विधान' के स्वरूप निर्णय से प्रारंभ करते हैं। यह विधान अस्तित्ववाचक विधान से भिन्न किंतु अनुभव पर अधिष्ठित विधान है। अनुभवजन्य विधान व्यक्ति-निष्ठ होते हैं। किन्तु इस व्यक्तिनिष्ठ विधान से वस्तुनिष्ठ विधान प्राप्त करना यही सौंदर्यवाचक विधान की मूल समस्या है। ऐसा विचार श्री मर्ढेकरजी ने प्रगट किया है। अतः वस्तुनिष्ठ अहंनिरपेक्ष 'क्ष सुंदर है' ऐसा विधान करने के लिये हमें शुद्ध इंद्रिय संवेदना (Pure sense) का ही आश्रय लेना पड़ेगा। और ऐसी संवेदना जिस भावना से मिलती है उसी को सौंदर्य भावना समझना चाहिये ऐसी श्री मर्ढेकरजी की मान्यता है। शुद्ध इंद्रियसंवेदन की श्री मर्ढेकर जी वर्गवारी करते हैं। उनका सिद्धांत यह है कि 'सौंदर्य' संवेदन के आश्रय से रहने वाले संवाद, विरोध और समतोल लय आदि तत्त्वों पर निर्भर रहता है। और ऐसा सौन्दर्य वस्तु में ही रहता है।

श्री मर्ढेकर जी के विचार से सब ही सहमत होंगे ऐसा नहीं। प्रस्तुत लेखक का भी उनसे विरोध है। फिर भी श्री. मर्ढेकर जी का संशोधन अत्यंत मौलिक अतएव सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास में एक नई दिशा है। इसमें संदेह नहीं।

श्री. मर्ढेकरजी के साथ श्री दि. के० बेडेकर जी का भी नाम सौंदर्य शास्त्र के इतिहास में लेना अनिवार्य है। आपने नव भारत मासिक में 'रस सिद्धाँत' पर जो लेख-माला लिखी उसका विशेष महत्व है।

श्री मर्ढेकर जी और श्री बेडेकर जी के लेखन से मराठी सौंदर्य शास्त्र में एक नया पर्व ही शुरू हुआ। सौंदर्य-शास्त्र का नये दृष्टिकोण से अभ्यास शुरू हुआ। ऐसे प्रमुख अभ्यासकों में से नांदेड के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य नरहर जी कुरुंदकर एक हैं। पूना की वसंत-व्याख्यानमाला में और बंबई के मराठी साहित्य संघ के

व्यास पीठ से भी उन्होंने इस विषय पर बहुत ही प्रकाश डाला है। प्रा. नांदेडकर के कॉडवेल की सौंदर्य-दृष्टि और प्रा. धर्माधिकारी (नांदेड) के सौंदर्य शास्त्र पर प्रतिष्ठान में लिखे हुए लेख भी नये दृष्टिकोण से लिखे हुए लेखों में अग्रस्थान प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत लेखक ने भी इसी विषय पर नवभारत, सत्यकथा, प्रतिष्ठान और मराठवाड़ा नामक पत्रों में कुछ लेख लिखे जिन्हें मराठवाड़ा साहित्य परिषद् ने 'सौंदर्य का व्याकरण' नाम से प्रकाशित किया है।

प्रस्तुत लेखक का विचार इस प्रकार है।

'सौंदर्य वाचक विधान सामान्य तर्क शास्त्रादि विधानों से भिन्न होता है। कारण, एक दृष्टि से वह विधान ही नहीं होता। ऐसे सौंदर्य वाचक विधानों में विधेय (Predicate) के स्थान पर 'सुंदर' शब्द रहता है। इसी विधेय के कारण सौंदर्य वाचक विधान का स्वरूप तर्क शास्त्रीय विधान से भिन्न है।

(२) 'सौन्दर्य' यह शब्द संदिग्ध है। कभी सुंदर वस्तु के समानअर्थ में उसका प्रयोग होता है तो कभी सुंदर, इस विशेषण के समानार्थ में।

(३) सुंदर और सौंदर्य इनमें प्राथमिक शब्द उपयुक्त है। 'सौंदर्य' इस भाव वाचक नाम का ही प्रयोग करने के नाते 'सौंदर्य' किसी वस्तु में रहता है, ऐसा आभास उत्पन्न होता है।

(४) 'सुन्दर' यह विशेषण केवल विशेषण है। इसीलिये इसकी व्याख्या ही (Analysis on the same level) नहीं हो सकती। वह मन की भी अवस्था नहीं है।

(५) किसी सौंदर्यवाचक विधान में उद्देश्य अनेक घटक का हो सकता है और उसका विश्लेषण करना यही सौंदर्य-शास्त्र और कला-शास्त्र का अंतिम उद्देश्य है।

(६) श्री मर्ढेकरजी साम्य, विरोध, समतोल लय को सौंदर्य कहते हैं लेकिन यह वर्णन सौंदर्य वाचक विधान के उद्देश्य का है, विधेय का नहीं है। किसी भी सौंदर्य को, सौंदर्य होने के लिये सामान्य गुण के साथ २ उसमें कुछ विशेष गुण की भी आवश्यकता होती है। वस्तु सुंदर होने के लिये एक अवयव-अवयवी (part and the whole) का भी एक संबंध होना आवश्यक है। यह संबंध निश्चित अवयव (Fixed constant points) पर ही निर्भर है ऐसा समझना गलत है। अवयव-अवयवी सम्बन्ध और विशेष गुण की आवश्यकता, इससे यही सिद्ध होता है। 'सुन्दर' इस गुण के निर्माण के लिये अवयव का अवयवी होना जरूरी है। इसीलिये सुन्दर, यह कल्पना केवल और निरवयव समझना ही ठीक है। 'सुन्दर' यह गुण वस्तुनिष्ठ गुण नहीं है। इसीलिये सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ समझना भी ठीक नहीं है। वह आत्मनिष्ठ भी नहीं है। वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ यह दोनों भी अस्तित्व वाचक हैं।

(७) सुन्दर और आनन्ददायक एक नहीं हैं। आनन्ददायकत्व यह आत्मनिष्ठ है।

(८) इस प्रकार 'सौन्दर्यवाचक' विधान के उद्देश्य विधेय के स्वरूप का विचार प्रस्तुत लेखक ने 'सौन्दर्य' के व्याकरण में किया है। इस विषय पर भी प्रस्तुत पुस्तक एक स्वतन्त्र मत रखती है।

इस विचारधारा के अतिरिक्त सौन्दर्य विषयक विचार धारा डॉ. लंबदे द्वारा प्रस्तुत हुई है। डा. लंबदे दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान हैं। उन्होंने "वामन मल्हार जोशी' व्याख्यान माला में व्याख्यान देते हुए इसी विषय की फिर से चर्चा की है। उनका आशय यह है कि सौन्दर्य वाचक विधान के उद्देश्य विधेय पद बहु घटक हैं। दीपावली विशेषांक में भी उन्होंने इसी विचार को फिर से दोहराया है। मराठी पाठक उनके ग्रंथ की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनका ग्रंथ सौन्दर्य-शास्त्र के विकास में एक प्रकाश-स्तम्भ होगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं। प्रस्तुत लेख समाप्त करने के पहले और एक चीज स्पष्ट करना जरूरी है। मराठवाड़ा साहित्य-परिषद् और उसका मुखपत्र "प्रतिष्ठान" और मुंबई मराठी साहित्यसंघ व मासिक सत्यकथा इन्होंने सौन्दर्य शास्त्रीय प्रश्नों के विषय में विशेष परि-

(शेष पृष्ठ १०४ पर)

सौन्दर्य-शास्त्र और शब्द-विज्ञान

डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित एम० ए०, पी-एच० डी०

शास्त्र और विज्ञान की व्यवस्था में, कोई वास्तविक भेद मान ले अथवा आध्यात्मिक; परन्तु सिद्धान्तों में अभेद है—क्योंकि दोनों का मूलाधार संगति है। दोनों का अन्तिम ध्येय संगठित और संगत-ज्ञान का सम्पादन है।

ज्ञान और विज्ञान में प्राय: भारी भेद माना जाता है। ज्ञान अथवा सामान्य-ज्ञान से तात्पर्य है किसी विषय के स्वरूपमात्र से परिचय प्राप्त करना और इस प्रकार सन्तुष्ट हो जाना। परन्तु युक्ति-सहित-ज्ञान का नाम 'विज्ञान' स्वीकार किया गया है। उसके स्वरूप के कारणों का अनुसन्धान अथवा उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना ही विज्ञान है। वैज्ञानिक की दृष्टि उपयोगिता से हटकर ज्ञान-पिपासा की तृप्ति को लक्ष्य मानती है। पदार्थों, प्रमेयों आदि की तुलना, तद्विषयक ज्ञान की निश्चयात्मकता, यही विज्ञान है।

एक मान्यता यह भी है कि जिसमें ईश्वर या प्रकृति की कृतियों की मीमांसा होती है, उसे विज्ञान कहते हैं; यथा, भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि।

शास्त्र का कार्य है, भिन्न-भिन्न अङ्गों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण। विषयगतवस्तु का उद्गम, विकास, उसमें घटित-परिवर्तित उत्कर्ष तथा अपकर्षादि प्रमुख विषयों तथा उप-विषयों का अध्ययन, मनन, चिन्तन और मन्थन।

शास्त्र का ध्येय शैक्षणिक है। विषयगत तत्त्वों का स्पष्टीकरण, सैद्धान्तिक विवेचन और विश्लेषण, अन्तर के अनुभवों पर विचार और मनन। शास्त्र इसी मनन-क्रिया का पुत्र कहा गया है। उसका प्रत्येक निर्णय साधारण अनुभूति की ओर प्रवाहित होता है—इसी का नाम उपयोगिता है।

वास्तविक घटनाओं के निरीक्षण का अन्तिम सत्य ही विज्ञान है, तो आन्तरिक अनुभवों का मनन ही शास्त्रीय सत्य का आधार है या उसकी कसौटी है।

मेरी ऐसी मान्यता है कि निरन्तर अनुसन्धान के पथ पर चलने वाला शास्त्र है और राही जब अपनी मंज़िल पर पहुँच कर सफलता की श्वास भरता है, उसी का नाम विज्ञान है।

एक आलोचक का कथन है कि विज्ञान और साहित्य में मौलिक भेद है। उदाहरण के लिए एक वनस्पति शास्त्री किसी फूल के पटल, पराग, पौधे और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के सम्बन्ध, जन्म, स्थिति, भंग तथा पुनरुत्पत्ति की भौतिक प्रक्रिया के बौद्धिक विवेचन

(पृष्ठ १०३ का शेषांश)

श्रम उठाकर इस विषय पर लिखने के लिये लेखकों को प्रवृत्त किया है, इसीलिये ये संस्थाएं धन्यवाद की पात्र हैं। मराठी में सौन्दर्य शास्त्र, नया स्वरूप धारण कर रहा है इसका कारण ये संस्थायें हैं। और अभी भी प्रा. गो वि. करंदीकर, श्री माहुलकर, श्री अरविंद मगरूलकर आदि विद्वानों को लेखन में प्रवृत्त कर ये संस्थाएं एक महत्व का कार्य कर रही हैं। अभी अभी मौज-सत्य-कथा द्वारा प्रा. गो. वि. करंदीकर लिखित अरस्तू के काव्यशास्त्र का भाषांतर प्रकाशित हुआ है।

मराठी के सौन्दर्य शास्त्र में यह भी एक महत्वपूर्ण कदम है। इस प्रकार मराठी भाषा में सौन्दर्य शास्त्र का विकास होरहा है।

तथा विश्लेषण में ही व्याप्त रह कर शान्तिलाभ प्राप्त करता है। परन्तु कवि की निर्माणमयी अन्तर्दृष्टि उस प्रसून की सत्ता के मूल में पैठ कर, उसके जीवन के चरम-सार सौंदर्य्य को पीकर बाहर उभरती है, प्रसून के पटल और पराग शतधा मुखरित हो जाते हैं। भव्य-भावनाओं का सन्देश प्रदान करते हैं, जिनके लिए प्रत्येक हृदय लालायित रहता है। वैज्ञानिक की बुद्धि से प्रसून के पटल और पराग निर्जीव बन कर आए थे, कवि के क्षेत्र में वे सजीव सिद्ध होते हैं और उनसे सौरभपूर्ण सौंदर्य्य की उपलब्धि होती है।

इसलिए सौंदर्य्य का समभाव साहित्य के अन्तर्गत होता है और शब्द को साहित्य का मूलाधार मानते हैं।

भारतीय मनीषी की चेतना अन्तर्गामिनी रही है। वह सौंदर्य्य का सम्बन्ध 'आनन्द' अथवा 'रसानुभूति' से मानता है। पाश्चात्य देशों के विद्वद्जनों ने बहिर्मुख प्रभविष्णु आलम्बन के अन्वेषण में श्रेयस् माना, अतएव उन्होंने सौंदर्य्य का आकलन किया। एक ने कहा 'रसानुभूति, तो दूसरे ने पुकारा 'सौंदर्य्यानुभूति'

पण्डित-वर्ग सौन्दर्य और रमणीयता को परस्पर पर्याय अथवा पूरक मानते हैं। महाकवि कालिदास ने प्रायः 'रम्याणि' का प्रयोग ही किया है। पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में—रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। जिस शब्द के द्वारा रमणीय अर्थ प्रतिपन्न हो वही सुन्दर है। सौंदर्य्य की मूर्ति ही मंगलमयी मानी गई है।

वेद, ब्राह्मण आदि शब्द को ब्रह्म मानते हैं। वाक्शक्ति के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

भर्तृहरि ने भी शब्द को ब्रह्म माना है—अन्त से रहित अक्षर, जिसका अर्थरूप में विवर्त होता है और इस संसार का कार्य चलता है। यह विश्व छन्दोमयी वाक् से ही विवर्त को प्राप्त हुआ है। संसार शब्द का ही परिणाम है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इसकी तीन अवस्थाएं हैं। शब्द-ब्रह्म के कारण सृष्टि का लय और विकास होता है। वह सर्वग्राह्य ग्राहकाकार वर्जित पश्यन्ती वाणीरूप शब्द ब्रह्म रहता है। मायायुक्त होकर संकल्प करता है कि यह करूंगा। तब, स्वतन्त्र-शक्ति कला से युक्त होकर आकाशादि पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है, उससे पंचभूतों की सृष्टि होती है।

शब्द-शक्ति का व्यावहारिक जीवन से उपयोग सिद्ध करते हुए भर्तृहरि ने बताया है कि—'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्' अर्थात् जितना ब्रह्म व्यापक है, उतनी ही वाग्देवी भी। ऐतरेय, शतपथ, जैमिनीय, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ इसी वाक्शक्ति को ब्रह्म मानते हैं—क्योंकि वाक्शक्ति ही अर्थ को देखती है। अर्थ का आधार ही शब्द है। अतएव शब्द और अर्थ एक ही स्फोट (आत्मा) के दो रूप हैं। संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द ज्ञान से रहित हो। शब्द के द्वारा ही विवेचन और विभाजन सम्भव है। इसी वाक्शक्ति का दूसरा नाम चेतना है, जो प्राणियों में चैतन्यरूप से विद्यमान है।

महाकवि कालिदास ने, शिव-पार्वती की अभिन्नता स्थापित करते हुए, शब्द और अर्थ को बताया है—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥'

महाकवि तुलसीदास जी ने भी ऐसा कहा है—

"गिरा अरथ जल-वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

इस प्रकार शब्द और अर्थ का प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध स्थिर होता है। प्रकाशशीलता के कारण ही शब्द की गणना विश्व की तीन ज्योतियों में की जाती है। पहला प्रकाश जातवेदस् अर्थात् अग्नि है। दूसरा पुरुषों में निवसित आत्मा यानी आंतर प्रकाश और तीसरा प्रकाश शब्द है जो अप्रकाश को भी प्रकाशित करता है।

विश्व की सभी विद्याएं, शास्त्र, तथा कल्पनाएं शब्द से सम्बद्ध हैं। गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य आदि सब कुछ शब्द में सन्निहित हैं।

भर्तृहरि तो प्रविभाग तथा स्वप्नावस्था दोनों में शब्द शक्ति को प्रधानता प्रदान करते हैं। जाग्रतावस्था में प्राणी वाक्शक्ति के द्वारा गतिशील होता है तो स्वप्न

में वाक्शक्ति कार्य रूप में विद्यमान रहती है।

सबसे मनोरंजक बात यह है कि शब्द के द्वारा असत्य का बोध भी होता है—यही उसकी उभय-विधि-शक्ति है। यही अभिन्न में भिन्नता का बोध है। उदाहरण के लिए, राहु और उसका सिर पृथक् नहीं है, फिर भी "राहो: शिर:" का प्रयोग होता है। शशविषाण का परिचय शब्द के द्वारा ही सम्भव है।

शब्द का निवास वक्ता का हृदय है। शब्द जिस समय तक अविद्या के वशीभूत है, वह 'जीव' का रूप है और जिस समय अविद्या से रहित हो जाता है, शुद्ध ब्रह्म हो जाता है।

शब्द दो प्रकार का है। एक प्राण में अधिष्ठित और दूसरा बुद्धि में स्थित। उसकी प्राण और बुद्धि में जो शक्ति विद्यमान है, वही प्राणवायु के परिणामरूप घोष अर्थात् ध्वनि से हृदय, शिर, कण्ठ आदि स्थानों में विवर्त को प्राप्त होकर, अपने सूक्ष्म रूप का परित्याग करके, अन्त:करण परिणामरूपी विकार के कारण, मात्रा, स्वर और वर्ण के नामों से प्रख्यात होता है—यही शब्द है। प्राण और बुद्धि दोनों से अभिव्यक्त शब्द ही अर्थ का बोध कराता है। शब्द बुद्धिगत भाव को प्रस्तुत करता है, वही अर्थ है।

पतंजलि तो स्फोट के साथ ही साथ लोक प्रचलित ध्वनि को भी शब्द मानते हैं। शब्द के गुण को ध्वनि तथा शब्द का व्यंजक माना है। शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि के द्वारा होती है। इसलिए स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यंजक है। लघुता, वृद्धि, अल्पता, महत्ता ध्वनि (Sound) की विशेषता है। कैयट और नागेश ने भी पतंजलि के भाव को स्पष्ट किया है।

शिक्षाकार वायु को शब्द मानते हैं। जैनों के मतानुसार परमाणु अर्थात् पुद्गल ही शब्द रूप में परिणत होते हैं। वैयाकरण शब्द को ज्ञान का परिणाम स्वीकार करते हैं। सांख्य के अनुसार शब्द-तत्त्व रजस् और तमस् से युक्त है। नैयायिक और वैशेषिकों की सम्मत्यानुसार शब्द अनित्य हैं। बौद्ध लोग अपोह अर्थात् अन्य की निवृत्ति को शब्द मानते हैं। मीमांसक का कथन है कि शब्द ध्वनिरूप तथा वर्णरूप है। अनित्य है ध्वन्यात्मक शब्द और नित्य है वर्णात्मक शब्द। कुमारिल भट्ट शब्द को नित्य मानते हैं।

"शब्दो ध्वनिश्च वार्णश्च मृदंगादिभवो ध्वनि।
कण्ठ संयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मता:।।

(भाषा परिच्छेद १६४—१६५)

शब्द से आशय व्यक्त (वर्णात्मक) तथा अव्यक्त (ध्वन्यात्मक) दोनों का है—ऐसा भाषा वैज्ञानिक भी मानते हैं।

उच्चारण भेद से भी प्राय: शब्द के एकत्व में हानि नहीं होती। काम और 'काम'—का उच्चरित स्वरूप समान होने पर भी अर्थ की भिन्नता विद्यमान है, एक का आशय है कार्य और दूसरे का इच्छा। किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है और शब्द का तादात्म्य अर्थ के द्वारा तत्काल निर्णीत हो जाता है। प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से शब्द भाषा की चरम व्यक्ति है। आगे चलकर शब्द को वाक्य, पद, भाषा आदि के परिणत स्वरूप में भी देखा गया और साहित्य कहलाया। साहित्य की परिभाषा में आदर्शों की स्थिरता को प्रधान बताया गया है। स्थायी भावनाओं पर समय का प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए साहित्य में सत्य का होना आवश्यक है। साहित्य का अर्थ ही है समन्वय, साहचर्य। संस्कृत के सहित शब्द का अर्थ है 'साथ' और उसमें भाव-वाचक प्रत्यय लगा देने से साहित्य शब्द की सिद्धि हो गई। रस वाले वाक्य ही हमारे दृष्टिकोण से साहित्य हैं और ऐसे रसात्मक वाक्यों का रम्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

"अनित्य वर्णों के द्वारा नित्य स्फोट को और अनित्य प्रतीकों के द्वारा नित्य मौलिक तत्त्व को परस्पर सम्बद्ध करना और उन्हें उस रसमय रूप में पाठकों के सम्मुख रखना ही साहित्य अर्थात् साहचर्यास्थापक रचनाओं का प्रमुख लक्ष्य है।

"अपरि काव्य-संसारे कविरेव प्रजापति:।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

ध्वन्यालोककार का कथन है कि काव्यरूपी जो अनन्त जगत् है, उसमें कवि ही प्रजापति है। उस सृष्टि का कर्त्ता वही है। उसे जैसा जगत भला लगता है, संसार को उसकी इच्छानुसार परिवर्तित हो जाना पड़ता है।

यह दृश्यमान जगत, जब कवि को रुचने वाले प्रकार में परिवर्तित हो जाता है, तो साहित्य का सार बन जाता है और इसी प्रक्रिया को आचार्यों ने 'रस' कहा है।

"संसार में जितनी अधिक अधिकता है, उतना ही कठिन संयम भी है। उस केन्द्र की बहिर्गामिनी शक्ति अनन्त विचित्रताओं के द्वारा, अपने आपको चतुर्दिशि सहस्रधा करती है और उसकी केन्द्रानुगामिनी शक्ति, उद्दाम वैचित्र्य के उल्लास को पूर्ण सामंजस्य के साथ अन्तर में रखती है। अतएव, यह जो एक ओर विकास है और दूसरी ओर निरोध है, इसी के अन्तस् में सुन्दरता है। यही नित्य लीला आदित्यवर्ण होकर प्रकाशित है। विश्व-संगीत के नीरव छन्द, सुख-दुख, उत्थान-पतन, जीवन-मरण बनकर सामने आते हैं। इनमें विच्छेद नहीं है, सौंदर्य की न्यूनता नहीं है। समग्र रूप से, विश्व में सौन्दर्य को देखना ही सौन्दर्यबोध है। फिर चाहे वह सौन्दर्य भौतिक हो, अथवा भव्य और आध्यात्मिक।

कला-पक्ष को सुरूप बनाने में शब्दों की तथा शब्द विन्यास की प्राकृतिकता और स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि इन्ही के कारण यथार्थता स्वयमेव आ जाती है। इसी को कवीय सत्य और कवीय सौन्दर्य्य कहा जाता है।

सभी प्रकार से काव्य तब उत्तमोत्तम होता है, जब शब्द-सौन्दर्य्य से भरपूर हो। शब्द-सौन्दर्य्य से भाषा प्रांजल बनती है, क्योंकि भाव को रूप देना, अमूर्त को मूर्त बनाना ही तो सौन्दर्य्य है।

सुन्दर-वर्णन का आधार भी शब्द है। भाव तन्मयता की शक्ति शब्द में ही होती है।

भारतीय मनीषी के अनुसार कलाओं से हमें सौन्दर्य्यानुभूति होती है और उस अनुभूति का व्यापक-वर्णन प्रस्तुत करने की शक्ति शब्द में अन्तर्निहित है, जिसके कारण हम रसानुभूति तक पहुँच जाते हैं।

शब्द के द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सौन्दर्य्य का वर्णन रोचकता और रमणीयता से सम्पन्न हो सकता है, इसलिए 'शब्द-सौन्दर्य्य' साहित्यिक धरातल पर अत्यन्त वांछनीय है।

हमारे नए प्रकाशन

१. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन [थीसिस] —डा० द्वारिकाप्रसाद ६)

२. हिन्दी गद्य के निर्माता बालकृष्ण भट्ट [थीसिस] —डा० राजेन्द्र शर्मा ६)

३. हिन्दी नीति काव्य [थीसिस] —डा० भोलानाथ तिवारी ६)

४. कृष्णकाव्य में भ्रमर गीत [थीसिस] —डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ६)

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

सौन्दर्य-शास्त्र तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान

प्रो० नरेन्द्रसिंह चौहान

दर्शन के बाद, साहित्य के समान ही सौन्दर्यशास्त्र को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले तथा उसके निरन्तर विकास में सबसे अधिक सहयोग दान करने वाले सामाजिक विज्ञान हैं। इन सामाजिक विज्ञानों में, सबसे अधिक योग मनोविज्ञान ने दिया है। मनोविज्ञान मनुष्य के सभी व्यवहारों का विज्ञान है। मनुष्य क्या है? उसकी व्यक्तिगत भिन्नता क्या है? वह कहाँ तक दूसरे व्यक्तियों के समान है? उसकी व्यक्तिगत भिन्नता तथा समानता उसके कार्यों पर किस प्रकार तथा कितना प्रभाव डालती है? ये सब ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जो मनोविज्ञान की अपनी सम्पत्ति कहे जा सकते हैं। बाह्य अथवा आन्तरिक आवश्यकता अथवा परिस्थिति के कारण हमें सुख या दुःख का अनुभव होता है और सुख की पूर्त्ति या दुःख के निराकरण के लिए हम प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार कार्य ज्ञान तथा भावना के अन्तिम परिणाम हैं और ज्ञान, भावना तथा कर्म तीनों ही मनोविज्ञान में अध्ययन के विषय हैं।

मनोविज्ञान के उपर्युक्त स्वरूप को समझते हुए ही सौन्दर्यशास्त्र को उसका एक विशिष्ट अङ्ग माना गया है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र को प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र के नाम से पुकारा गया है। प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र, मनुष्य की भावनाओं तथा संवेगों के अध्ययन तथा उनके निर्णयों से सम्बन्धित है। भावनाएं सुख तथा दुःख की होती हैं और संवेग तो कई प्रकार के होते हैं। यही कारण है कि प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र की सीमाएं दूर-दूर तक हैं। उसमें केवल उन्हीं प्रतिक्रियाओं, कार्यों अथवा निर्णयों का ही अध्ययन नहीं होता जो सौंदर्यमूलक है, बल्कि उनका भी, जो दुःख, उत्साह, हास्य तथा करुणामूलक हैं। प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप को व्यक्त करते हुए डा० वुडवर्थ

(पृष्ठ ९८ का शेषांश)

लिये दूसरी तरह से कहना 'बन्धुता वा समग्रा' सब प्रकार के नातों का जिसमें एकीकरण हुआ है ऐसे सब गरीब धनहीन रिश्तेदार इकट्ठे होते हैं तो उनमें से क्या सुख मिलने की संभावना है? इसलिये' 'सर्वे कामाः।' आपकी सब मन कामनाएं इसमें ही केन्द्रित हो गईं हैं, ऐसा समझना चाहिए। मन कामनाएं तो द्रव्य के बिना सफल हो नहीं सकतीं। इसलिये "शेवधिः" संपत्तिभाण्डार है। संपत्ति-भाण्डार है किन्तु अपना प्रियतम व्यक्ति जीवित नहीं तो क्या? सब अन्धेरा है। इसलिये 'जीवित' जिसमें दोनों जीवों की एकात्मता भी अभिप्रेत है और जीवित के समान प्रिय ऐसा भी अर्थ मालूम होता है। सब मिलकर इसका तात्पर्यार्थ पत्नी को प्रियमित्र एकमेव बांधव, सर्व कामना की संप्राप्ति, सर्व संपत्ती का भाण्डार और अपने जीवित के समान समझना चाहिये। ऐसा ही है, किन्तु विशिष्टानुक्रम से इस अर्थ की सुन्दरता और बढ़ गई है।

काव्यानंद को संस्कृत साहित्य शास्त्र विषयक ग्रन्थों में "ब्रह्मानंदास्वादसहोदर" कहा गया है और उससे रसिकों की 'सविकल्प समाधि' लगती है ऐसी भी प्रतीति होती है। किन्तु सामान्य वाचकों के लिये काव्यों का काव्यात्म-विश्लेषण होना चाहिए। सौन्दर्य शास्त्र के अभ्यासक इस तरह सौन्दर्य दर्शन करेंगे तो काव्याभिरुचि अधिक सम्पन्न होगी और काव्यात्म-समालोचना का अपूर्व पथ प्रशस्त होगा।

सारांश, संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य शास्त्र की रचना के लिये बहुत सामग्री है जिसका दिग्दर्शन यहाँ किया है।

कहते हैं "मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में, प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र का अर्थ होता है उन प्रतिक्रियाओं का अध्ययन, जो सौंदर्य, आश्चर्य, करुणा, हास्य, दु:ख आदि के लिए की गई हों। वह भावना तथा संवेग के अति निकट है।"

उन्नीसवीं शती की आठवीं दशाब्दि में उत्पन्न हुआ यह प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र, आज ८० वर्ष से भी अधिक आयु का हो गया है। ८० वर्ष के छोटे से समय में, सैकड़ों ही प्रमुख विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसन्धानों की अमूल्य निधि इसके पास है जिसको देख तथा समझ कर कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि क्या सौंदर्य-शास्त्र का अध्ययन मनोविज्ञान के क्षेत्र में आ सकता है।

प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र का जन्म, प्रसिद्ध जर्मन मनोविज्ञान तथा विज्ञान-वेत्ता थियोडोर फैक्नर के हाथों से १८७६ ईसवी में हुआ। तभी से भावनाओं और संवेगों से सम्बन्धित मनुष्य के सभी प्रकार के अनुभवों में प्रयोगात्मक अध्ययन आरम्भ हुए। अब तक किए गए प्रयोगों—कुछ प्रमुख प्रयोगों को—उनके काल, प्रयोगकर्त्ता तथा पुस्तक या पत्र के हिसाब से, इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है।

(१) १८६२ हैल्महौज ऐच. व्ही. हैराडबूख डेयर फिजियोलॉजिशेन ऑप्टिक।

(२) १८७६ फैक्नर जी. टी. व्हॉरशूले डेयर एस्थेटीक।

(३) १८६३ जैस्ट्रॉ पौपुलर साइन्टीफिक मन्थली १८६७, ५०।

(४) १८६६ पियर्स. ई. फिजियोलॉजिकल रिसर्च १८६६, ३।

(५) १६०८ लालो. सी. लाएस्थेटीक एक्सपैरीमैन्टल कॉन्टेम्पोरेनी।

(६) १६२५ वॉन एलेश जी. टी. साइकॉलॉजी फार्श १६२५, ६-१-६१।

फैक्नर ने कहा था कि सौंदर्यशास्त्र को भी वैज्ञानिक बनाया जा सकता है। वस्तुओं को सुन्दर या असुन्दर आँकने की विधियाँ वैज्ञानिक होनी चाहिए। फैक्नर से पूर्व, सौन्दर्य-शास्त्र के जगत् में दूसरे ही ढङ्ग से कार्य होता था। वस्तुओं या अनुभवों के विषय में जो निर्णय दिए जाते थे, फैक्नर के अनुसार वे 'अधोगामी' विधि पर आश्रित थे। उपर्युक्त विधि से अभिप्राय है कि निश्चित आदर्शों तथा मापदण्डों के अनुसार, भावात्मक अनुभवों को नापा जाता था। सामान्य से व्यक्ति की ओर आने की परिपाटी थी, जैसे तर्कशास्त्र में निगमन विधि से, 'राम मरेगा या नहीं ?' इसके विषय में इस प्रकार जाना जायगा।

सभी मनुष्य मरणशील हैं।
राम एक मनुष्य है।
अत: राम मरणशील है।

तर्कशास्त्र में दूसरी विधि होती है 'आगमन' विधि। यह दोनों ही विधियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। सत्य तो यह है कि इन दोनों में भी 'आगमन' विधि अधिक महत्त्व की है, क्योंकि इसी की सहायता से हम 'व्यक्ति से सामान्य' तक पहुँचते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र में 'अधोगामी' विधि या निगमन विधि तो प्रचलित थी परन्तु फैक्नर ने 'आगमन' विधि पर बल दिया। इस विधि को उसने 'ऊर्ध्वगामी' विधि कहा। ऊर्ध्वगामी विधि के अनुसार, सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में, प्रत्येक मनुष्य की पसन्दी तथा नापसन्दी से चला जाता है। इस तरह के अनेकों निर्णयों के विश्लेषण से, पसन्दी तथा नापसन्दी के मापदण्ड ज्ञात हो सकते हैं। यह अवश्य है कि यह मापदण्ड सार्वभौमिक नहीं होंगे, किन्तु किसी समाज के लिए, किसी समय के लिए यह अवश्य ही मूल्यवान हैं। इस प्रकार के मापदण्ड, भावात्मक निर्णय, समाज की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति से अवश्य प्रभावित होते हैं।

वस्तुओं की सुन्दरता का मापक स्वयं मनुष्य है। सौन्दर्य-मापन उसकी अनुभूति पर आश्रित होता है

और बौद्धिक अनुभव पर भी। प्रयोगात्मक सौन्दर्य-शास्त्र में, इसलिए, अनुभूति तथा निर्णयों का विशेष महत्त्व है और इसे समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र में अधिकाँश प्रयुक्त विधि, प्रभाव पर आश्रित होती है। पात्र, उपस्थित वस्तु के प्रभाव को, निर्देशानुसार, व्यक्त करता है। 'अमुक वस्तु तुम्हें भली लग रही है या बुरी ?" या इन दो रंगों में से कौन अधिक आकर्षक है ?' आदि प्रश्नों के उत्तर में पात्र अपनी अनुभूतियों या भावनाओं को लिखता चला जाता है; किन्तु यदि प्रयोग देर तक चलता रहे और पात्र वस्तुओं का मूल्यांकन करे, तो उसके निर्णय शान्त तथा वस्तुगत होने लगते हैं, भावना या अनुभूति की मात्रा कम होने लगती है। लेडोवस्की (१९०८) तथा योकोयामा के अध्ययन-परिणाम इस बात की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र के परिणाम 'निर्णय' हैं, भावना या अनुभूति-मात्र नहीं।

प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र की विधियाँ

प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र में मोटे रूप से पात्र के सामने कुछ वस्तुएं, विशेष क्रम से, उपस्थित की जाती हैं, जिन्हें देखकर वह भले, बुरे का निर्णय देता है। वस्तु-उपस्थिति को ध्यान में रखते हुए हम पाँच प्रमुख विधियों के विषय में बात करेंगे

(१) **सटाने की विधि**—उदाहरण के लिए पात्र से पूछा जाता है कि वह एक ऐसा चतुर्भुज खींचे जिसका आकार उसे सबसे अधिक पसन्द हो। खींचने की समस्या को सुलझाने के लिए एक ऐसा काला कागज दिया जा सकता है जिस पर विशेष चौड़ाई का लम्बा श्वेत चतुर्भुज बना हो। एक दूसरा काला कागज और दिया जाय ताकि पात्र जितना बड़ा चतुर्भुज चाहे उससे अधिक श्वेत स्थान को उस कागज से ढक दे।

(२) **चुनाव विधि**—पात्र के सामने मान लीजिये, १० चतुर्भुज रख दिए गए। इनमें एक ऐसा है जो वर्गाकार है और एक एकदम लम्बा, कुछ भी चौड़ाई नहीं। पात्र से कहा गया कि इन दस में से वह दो चतुर्भुज ऐसे चुने जिनमें एक सबसे सुन्दर तथा दूसरा सबसे खराब चतुर्भुज हो।

(३) **पद-दान विधि**—चुनाव-विधि में दस में से केवल दो ही चुने गए थे । यदि यह कह दिया जाय कि १० चतुर्भुजों को इस प्रकार रखो या उनके क्रमाङ्क को लिख दो ताकि ऊपर सबसे सुन्दर हो और उसके नीचे, उससे कम और अन्त में, सबसे नीचे वाला सबसे असुन्दर हो। इस विधि में प्रत्येक को एक पद प्रदान किया जाता है।

(४) **निर्णय-विधि**—पात्र के सामने वस्तुएं एक-एक करके उपस्थित की जाती हैं और प्रत्येक वस्तु पर वह अपना मत देता है। यह मत कभी दो भागों में बाँटा जा सकता है, यथा, अच्छा, बुरा। कभी तीन में, यथा, अच्छा, बुरा, उदासीन तथा कभी-कभी पाँच, तथा सात या उससे भी अधिक में।

(५) **युग्म तुलना विधि**—दो वस्तुएं एक साथ, पात्र के सम्मुख उपस्थित की जाती हैं और वह एक को पसन्द करने की सूचना देता है।

संगीतज्ञ लोग महान् रचनाकारों के गीतों को किस प्रकार पसन्द करते हैं ? इस समस्या पर १९३३ में, युग्म-तुलना-विधि द्वारा, फ्लॉगमैन ने प्रयोग किया। उन्होंने १९ महान रचनाकारों को चुन लिया और प्रत्येक के नाम को दूसरे के साथ युग्म में रख दिया। पात्रों के लिए निर्देश थे, ।

(१) प्रत्येक युग्म में उस रचनाकार के नीचे रेखा खींच दो जिसकी रचना तुम्हें पसन्द हो।

(२) रचना की मधुरता देखकर रेखा खींचो, रचनाकार का व्यक्तित्व देखकर नहीं।

(३) किसी किसी युग्म में तुम्हें चुनाव करने में कठिनाई होगी। किन्तु चुनाव अवश्य करो, किसी को छोड़ो मत।

इन पात्रों की संख्या ३०० थी। सभी वादक थे और फिलाडेल्फिया, बोस्टन, मिनीपोलिस तथा न्यूयॉर्क के निवासी थे। परिणाम इस प्रकार रहा।

महान रचनाकार	चुनाव प्राप्तांक (प्रतिशत)
विथूवेन	८७.२

ब्राह्मस	७६.८
वैग्नर	७७.४
मोज़ार्ट	७७.२
वैश	७४.८
शूर्वट	६५.०
हेडेन	५६.१
डीबुसी	५६.५
शूमैन	५२.७
मैन्डेल्सन	४७.६
त्सेकोवस्की	४२.२
वर्लियोज़	३६.६
सी. फ्रैन्क	३७.०
चौपिन	३५.७
वर्डी	३२.५
स्ट्राविन्स्की	३०.५
ग्रीग	२६.१
मैकडौवेल	१२.६
व्ही. हरबर्ट	१२. ८

परिणाम :—मतदान अपूर्ण रहा। (t^2 =५२.१६)

अन्य प्रयोगों के परिणाम

रंग-चुनाव, रंग-योग, साधारण आकार तथा अन्य क्षेत्रों में निम्न प्रयोग-परिणाम उपलब्ध हुए हैं।

(४) चार रंगों—लाल, हरा, नीला तथा पीला—में से अधिकाँश लोग नीले तथा लाल को पसन्द करते हैं।

(२) अधिकाँश रूप में, पुरुष को नीला तथा स्त्री को लाल रंग पसन्द होता है।

(३) कोई भी रङ्ग, न अच्छा है, न बुरा, बल्कि उसकी पसन्दी या नापसन्दी, काल तथा स्थान के अनुसार निर्धारित होती है।

(४) (रङ्ग-योग के क्षेत्र में) युग्मों की पसन्दी, उन के रङ्गों से सीधी तरह सम्बन्धित हैं किन्तु युग्म की सुन्दरता रङ्गों पर ही आधारित नहीं है।

(५) (आकार के क्षेत्र में) सरल अनुपात में सौन्दर्य होता है, क्लिष्ट में नहीं।

(६) सौन्दर्य के लिए कोई सामान्य अनुपात नहीं है। लोगों की पसन्दें कई अनुपातों में दिखाई देती हैं।

(७) सी. ओ. वेबर (१६३१) के अनुसार प्रत्येक चित्र, हमारे सामने, एक समस्या लेकर उपस्थित होता है। चित्र की यह अपनी माँग होती है कि उसे खण्डों में न देखकर, सम्पूर्ण रूप में देखा जाय। अत्यन्त सरलता तथा क्लिष्टता से चित्र में सौन्दर्य नहीं रहता।

(८) लालो (१६०८) के अनुसार सौन्दर्य बिल्कुल व्यक्तिगत वस्तु नहीं है, बल्कि वह विशिष्ट स्थान तथा समय के कलात्मक मापदण्डों से आँका जाता है।

विज्ञान के उपर्युक्त परिणाम नीचे के तीन प्रमुख प्रश्नों के उत्तर भली भाँति देते हैं। प्रश्न हैं :—

१ वस्तुओं की सुन्दरता कहाँ है ? ज्ञाता की भावना या केवल वस्तुओं में ही ?

२. क्या सौन्दर्यात्मक मापदण्ड, समाज तथा काल के प्रभावों से मुक्त हैं ?

३. मापदण्डों को निश्चित करने की क्या कोई शाश्वत विधि भी है ?

प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार सुन्दरता का अनुभव वस्तु तथा व्यक्ति दोनों पर आधारित है। स्त्री और पुरुष की अपनी अपनी रंग पसन्दी इस तथ्य का समर्थन करती है। साथ ही, इस तरह के निर्णय, बहुत बड़ी सीमा तक, समाज के रीति-रिवाजों पर आधारित होते हैं और इन्हीं से सौन्दर्य के मापदण्ड बनते हैं। समाज के परिवर्तन के साथ सौन्दर्य के मापदण्डों तथा विधियों में भी परिवर्तन होता है। फैक्नर की ऊर्ध्व-गामी विधि इस प्रकार वैज्ञानिक है। जो भी आदर्श, विधि या मापदण्ड आज सौन्दर्यशास्त्र में शाश्वत मान लिए गए हैं, वह दृष्टिकोण गलत है।

वस्तुओं को पहिले ही से सिद्ध तथा पूर्ण मानने वाला आदर्शवादी दृष्टिकोण, वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र के पूर्ण विरुद्ध है। 'कला कला के लिए' एक नितान्त अनुपयुक्त दृष्टिकोण है। ऐसे पुजारियों को प्रसिद्ध विद्वान प्लेखानोव की यह बात याद रखनी चाहिए।

(शेष पृष्ठ ११२ पर)

आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव की काव्य-शास्त्रीय मान्यताएँ

डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" एम० ए०, पी-एच० डी०

गुजराती साहित्य के मौलिक विवेचकों में आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव का महत्वपूर्ण स्थान है। आपने 'वसंत' के सम्पादक के नाते अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों पर भी विचार प्रकट किये और साहित्य, कविता तथा कला पर अपने चिन्तनात्मक निष्कर्ष भी दिए हैं। 'काव्य तत्व विचारक' नामक उनका ग्रंथ उनकी काव्य शास्त्रीय मान्यताओं की कुंजी है। उसी के आधार पर हम यहाँ साहित्य और काव्य कला पर उनके विचारों का परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

आचार्य ध्रुव ने कविता को भवभूति के उत्तर रामचरित के आरंभ में लिखित 'विन्देमदवेतां वाचममृतामात्मन: कलाम' के आधार पर अमृत स्वरूप, आत्मा की कला और वाग्देवी रूप माना है। कविता को अमृत स्वरूप मानने का अभिप्राय यह है कि कवि का जगत इस ऐहिक जगत की भाँति नश्वर नहीं है। यही क्यों, ऐहिक जगत कविता के जगत की तुलना में मृतवत् है। कारण, इस दृश्य जगत में अमुक अलौकिक बिम्बों के प्रतिबिम्ब मात्र ही भासित होते हैं। इन प्रतिबिम्बों में प्रकट बिम्बों का संग्रह, आलेखन और पाठक की आत्मा में उनका अवतरण करना कवि का कार्य है। उसकी सृष्टि ऐसे बिम्बों से ही बनी होती है। बिम्ब सामान्य, नित्य और अलौकिक हैं जबकि प्रतिबिम्ब व्यक्ति व्यक्ति के सम्बन्ध से युक्त हैं। फिर भी इन सबको एक सामान्य नाम दे सकते हैं केवल इसीलिये कि हमारे अन्त:करण में इन सबकी एक सामान्य भावना है। इन सामान्य भावनाओं का प्रदेश ऐसा अद्भुत और मनोहर है कि जैसे असली वस्तु को देखने के बाद उसकी नकल हमें अच्छी नहीं लगती वैसे उस दिव्यलोक की ही झलक पालेने पर यह मर्त्यलोक शुष्क लगता है। (काव्यतत्व विचार पृष्ठ ३-४)

इस सिद्धान्त के आधार पर आचार्य जी का कहना है कि विश्व की महान कृतियों में आलेखित अमर पात्र भले ही हमें देखने को न मिलें पर वे सत्य हैं। उर्वशी, वीनस, हर्क्यूलीज, हनुमान, रावण, शैतान, स्वर्ग नरक, आदि का निषेध नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि में कल्पना से खड़े किये गये पात्रों को झूठ ठहराना और सौंदर्यानुभव का दावा करना परस्पर विरोधी बातें हैं। उनका कहना है कि जिस स्त्री को हम प्रत्यक्ष देखते हैं वह झूठी हो सकती है पर काव्य में कल्पना द्वारा खड़ी की गई स्त्री-मूर्ति कभी झूठ नहीं हो सकती।

'कविता आत्मा की कला है', यह उनकी दूसरी मान्यता है। कविता का सम्बन्ध हृदय से न मानकर आत्मा से मानने का कारण यह है कि उसकी परिभाषा व्यापक हो जाती है। क्योंकि केवल हृदय को ही काव्य का उद्गम मानने से उसमें अन्य तत्वों का अभाव भी मानना पड़ेगा। आत्मा की कला कहने से हृदय के साथ बुद्धि, कल्पना, भावना, नीति आदि सभी का समावेश किया जा सकता है और यदि इन सबके साथ

(पृष्ठ १११ का शेषांश)

''शुद्ध सौन्दर्य का पुजारी, किसी भी तरह से, अपने आपको, जैविक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों से, जो उसकी सौन्दर्यमूलक रुचि को, निर्धारित करती है, मुक्त नहीं करता, प्राय: वह जान-बूझकर इन परिस्थितियों से अपनी आँखें बन्द कर लेता है।''

परिभाषा कुछ अस्पष्ट भी हो जाय तो आचार्य जी की दृष्टि में वह इसका गुण ही है, दोष नहीं। अस्तु, कविता आत्मा की कला है, कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें आत्मा के विशिष्ट गुण अर्थात् चैतन्य, व्यापन और अनेकता में एकता अवश्य होने चाहिए। कविता-गत चेतना का अर्थ कोरी जानकारी देने से नहीं वरन् अन्तर में प्रविष्ट होकर चेतना को उद्‌बुद्ध करने से है। गणित-ज्योतिष के पद्यबद्ध सिद्धान्त कविता नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें हृदय को उत्तेजित करने की शक्ति नहीं है। कविता में आत्मा के चैतन्य के साथ ही उसका व्यापन वाला गुण भी होना चाहिए। जिस प्रकार आत्मा बुद्धि, हृदय और कृति में व्याप्त रहती है और इनसे भी परे परमात्मरूप-स्वरूपानुसंधान—में अर्थात-धार्मिकता में विद्यमान रहती है उसी प्रकार कविता-कविता का—श्रेष्ठतम रूप प्रस्तुत करती है। कविता—बुद्धि (Intellectual) ऊहा (Emotional) कृति (Moral) और अन्तरात्मा अर्थात धार्मिकता (Religious. Spiritual) की आवश्यकता को पूर्ण करने वाली होनी चाहिए। (वही पृष्ठ ५) आत्मा की कला के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने बहुत बल देकर हृदय, बुद्धि, नीति और धार्मिकता का समन्वय श्रेष्ठ कविता में आवश्यक माना है। उनका कहना है कि शेयर बाजार, न्यायालय और श्मशान भूमि में भी उद्‌गार प्रकट होते हैं पर वे कविता नहीं होते; क्योंकि उनके पीछे बुद्धि का योग नहीं जबकि इलियड, हेमलेट, कादम्बरी आदि में, जो श्रेष्ठ काव्य कृतियाँ है, बुद्धि भी हृदय के साथ मिली हुई है। लेकिन कोरी बुद्धि का अतिरेक भी हानिकर है। चित्रकार इसका उदाहरण है। वे शृंगार का ऐसा वर्णन जो मर्यादा का उल्लंघन करे नीति-विरुद्ध मानते हैं। अभिप्राय यह कि जीवन में सदाचार की प्रेरणा ही कवितागत नीति है। धार्मिकता से उनका तात्पर्य परोक्षसत्ता के प्रति कला और कविता द्वारा संकेत मात्र करना है। यदि आग्रह-पूर्वक धार्मिकता का समावेश किया जाय तो कविता भक्ति या ज्ञान पूर्ण हो जायगी इसलिए उस सत्ता की ओर संकेत-मात्र ही होना चाहिए। डान्टे की बिअट्रिस, भवभूति की सीता, कालिदास की शकुन्तला और व्यास की सावित्री में वह संकेत मिलता है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि किसी अनुपात से ये सब बातें एक कृति में नहीं रखी जा सकतीं प्रत्युत किसी में कोई और तथा किसी में कोई और विशेष स्थान ग्रहण कर सकती है।

'कविता वाग्देवी रूप है' का अर्थ उसके दिव्यप्रकाश युक्त होने से है। वह परमात्मा की दिव्य जोति का भान कराने की सामर्थ्य रखती है। वह परमात्मा की साक्षात् मूर्ति है।

इन तीनों रूपों में से 'कविता आत्मा की कला है' वाला रूप आचार्य जी ने एक से अनेक स्थानों पर संस्कृत, अंग्रेजी और गुजराती के उद्धरण देकर प्रकट किया है। कहना न होगा कि यह काव्य की व्यापकता और गंभीरता को व्यक्त करने में समर्थ लक्षण है।

कविता के साथ-साथ कवि के सम्बन्ध में भी उनकी धारणा स्पष्ट होजानी चाहिए। उनका कहना है कि 'कवि' शब्द 'कु'—कूजना, गाना धातु से निकलने के कारण इसका अर्थ सामान्यत: 'गाने वाला'—'पक्षी' की भांति स्वच्छन्द होकर गाने वाला किया जाता है। कवि स्वच्छन्द रूप में गाने वाला होना चाहिए, सच्ची कविता अकृत्रिम होनी चाहिए, यह अभिमत सुप्रचलित है और एक दृष्टि से सही भी है लेकिन 'कवि: क्रान्तदर्शी' के अनुसार उसे वस्तु के पार देखने वाला भी होना चाहिए (वही पृष्ठ ३७)

कविता और कवि के सम्बन्ध में आचार्य ध्रुव की इस मीमांसा के पश्चात् साहित्य के सम्बन्ध में उनके विचारों का परिचय भी महत्व का होगा। वे भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को संस्कृत अलंकार शास्त्र का प्राचीनतम लक्षण मान कर उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर ऐसे मिल गये हों कि शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द अलग न किया जासके वह काव्य है। इस प्रकार वे अनुभूति और अभिव्यक्ति अर्थात् matter and form दोनों को

समान महत्व देते हैं। वस्तुत: वे समन्वयवादी आलोचक हैं इसीलिये शब्द और अर्थ की एकात्मता पर ही वे बल नहीं देते प्रत्युत काव्य में आनन्द और उपदेश का भी समन्वय करते हैं। वे लिखते हैं--"मम्मटाचार्य कहते हैं कि 'कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे'। लेकिन काव्य का कार्य मात्र उपदेश देना या आनन्द देना नहीं है वरन् जैसे कान्ता अपनी मीठी और हितकर वाणी में आनन्द और उपदेश दोनों का समन्वय करती है वैसे ही कवि भी करता है। हाँ, जैसे शब्द और अर्थ के विषय में कहा गया है कि दोनों का ऐसा एकात्म भाव ही काव्य को उत्तम बनाता है कि जिससे कहीं भेद न रहे वैसे ही आनन्द और उपदेश के विषय में भी समझना चाहिए। इतना होने पर भी शब्द और अर्थ की ही भांति अधिकांश काव्यों में किसी में उपदेश और किसी में आनन्द की अधिकता होती है। यह अनिवार्य है फिर भी जितना संश्लेषण संभव हो, करना चाहिए। अंग्रेजी में पोप आदि कवियों में उपदेश और स्विनवर्न आदि में मनोरंजन की अधिकता है। हमारे देश में कालिदास आदि के काव्य में आनन्द ही प्रमुख उद्देश्य लगता है, उपदेश को गौण स्थान भी प्राप्त नहीं जान पड़ता है। फिर भी शाकुन्तल में जीवन की उच्चता को आनन्द के साथ रखा गया है।" (वही पृष्ठ ४२-४३)

आचार्य ध्रुव, जैसा इंगित किया गया है, भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से समन्वय कर उनकी ऐसी व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो मौलिकता के साथ-साथ अपनी व्यापकता और गंभीरता में अद्वितीय है। उदाहरण के लिये उन्होंने अंग्रेजी के Beautiful और Sublime दो शब्दों के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के 'श्रीमत्' और 'ऊर्जित' शब्दों को प्रचलित करने की चेष्टा की है। कवि के क्रान्तदर्शी होने का उल्लेख करते हुए उन्होंने उसे मर्त्यलोक के पार जाकर अद्भुत दृश्यों का साक्षात्कार करने वाला और उस स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारने वाला कहा है। कवि के पास जो प्रतिभा के नेत्र हैं वे सांसारिक नहीं हैं, वे विश्व के परे के हैं इसीलिये उन नेत्रों से प्रत्यक्ष हुआ विश्व भी चर्म चक्षुओं से गोचर होने वाला न होकर दिव्य चक्षुओं से ही देखा जा सकता है। जिस स्वर्ग का साक्षात्कार कवि अपने प्रतिभा-नेत्रों से करता है उसमें परमात्मा की विभूतियों के दो रूप हैं---

एक सुन्दर (Beautiful) और दूसरा भव्य (Sublime) जिसे भगवद्गीता में श्रीमत् और ऊर्जित कहा गया है। जैसे श्रीमत् और ऊर्जित एक दूसरे से भिन्न हैं पर उनका समन्वय उनके अधिष्ठानभूत परमात्मा में होता है वैसे ही अपनी द्वैत सृष्टि में भिन्न भासित होते हुए वे परमात्मा की विभूति रूप कवि की प्रतिभा में भी समानाधिकरण प्राप्त करते हैं। एक का तत्व सम, सुडौलता में है तो दूसरे का विषम अप्रेमयता में। उदाहरणार्थ एक का सुन्दर उदाहरण गुलाब है तो दूसरे का कबीर। बड़े-बड़े उदाहरण लें तो एक का उदाहरण सुन्दर संध्या है दूसरे का नगाधिराज के ऊपर से गिरती गंगा की धारा। कलाशास्त्र का उदाहरण लें तो एक का उदाहरण वंशीवाला कृष्ण है तो दूसरे का ऊर्जस्वी मुद्रा से नृत्य करने वाला नटराज। दोनों का एकत्रित उदाहरण लें तो एक विश्वरूपी रास में शोभित कृष्ण भगवान का है तो दूसरा अनन्त समुद्र में शेष की शैया पर सोने वाले नारायण, बगल में पद्मा-लक्ष्मी जी और नाभिकमल से प्रकट होते ब्रह्माजी का है।" (वही पृष्ठ १८)

इसी प्रकार Classical और Romantic के सम्बन्ध में उन्होंने स्थान-स्थान पर विस्तार से विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि के कारण ही अंग्रेजी में इस प्रकार दोनों शब्द प्रचलित हुए हैं। जहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति का एकात्म हो--harmony हो वह classical अर्थात् ग्रीक और लेटिन के उच्च साहित्य के अनुकरण पर लिखा गया साहित्य है और जिसमें अभिव्यक्ति की उपेक्षा करके केवल अनुभूति के स्फुरण पर ही बल हो वह Romantic अर्थात् लेटिन और ग्रीक संस्कृति को अपदस्थ कर योरोप ने जो गतिशील जीवन पाया और उसके

परिणामस्वरूप जो जीवन का उल्लास अनुभव किया उस उल्लास से युक्त जो साहित्य है वह Romantic है। किसी काव्य या नाटक को उसके प्रधान स्वर के आधार पर विशिष्ट श्रेणी में रखा जा सकता है परन्तु एक ही कृति में कहीं एक और कहीं दूसरे की अवस्थिति रहती है इसलिये कोई उसे Classical कह सकता है और कोई Romantic।

इन दोनों में कौन अधिक सुन्दर है? उत्तर है जो समता के सिद्धान्त पर Classical शैली आधारित है उसी समता के सिद्धान्त को जो कुछ और ऊपर ले जाये और दोनों को एक करदे। अर्थात् संस्कृति का संयम और जीवन का उल्लास दोनों जिसमें समान हों वह काव्य उत्तम है। (वही पृ० ५) वे Classical को संस्कृति का संयम और Romantic को जीवन का उल्लास संज्ञा देते हैं। ऐसा उन्होंने योरोप में इन दोनों प्रणालियों के ऐतिहासिक विकास के आधार पर किया है। शब्द चुन-चुनकर रखना, उनकी सादगी और स्वच्छता में ही परम सौंदर्य देखना संयमी शब्द शैली है। शब्दों को इच्छानुसार सुन्दरता के स्रोत में बहने देना, उनके फूलों का ढेर लगा देना, यह उनका उल्लास है। वैसे ही, अर्थ भी जहाँ कला के नियमों से संयमित रहता है वहाँ संयमी अर्थ शैली है और जहाँ उसका भंग करके चलता है वहाँ उल्लासी शैली है। लेकिन अत्यधिक नियम पालन में जैसे कृत्रिमता है और जड़ता का भय रहता है वैसे ही अत्यधिक उल्लास से उच्छृंखलता, जंगलीपन और कुरूपता उत्पन्न होने का भय रहता है इसलिये उत्तम कविता वह है जिसमें शब्द और अर्थ की भाँति संयम और उल्लास का संश्लेषण हो। (वही पृष्ठ ५७)।

आचार्य ध्रुव आदर्शवाद को काव्य की आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं—"आदर्शवाद की सृष्टि मन को बहलाने के लिए कल्पना द्वारा निर्मित अयथार्थ सृष्टि का मनोराज्य नहीं, सत्य है। इस आदर्शवाद को बुद्धि ग्राह्य बनाने के लिए तार्किकों ने जो तर्क दिए हैं वे तार्किक बुद्धि के निश्चयार्थ है। ये तर्क यदि गले न उतरें तो भी आदर्शवाद को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं, क्योंकि आदर्शवाद का आधार बुद्धि की अपेक्षा विशाल आत्मा के स्वयंम्भू निश्चय पर अधिक है। कलाकार पत्थर को छाँटता-छाँटता रति (Venus) की मूर्ति बनाता है, सत्य और विशुद्धि से व्याकुल मानव-आत्मा इस स्थूल जगत को भेद कर इसके परे सत्य और विशुद्ध जगत देखता है, यही नहीं वरन् पूर्व जगत का मिथ्यात्व अनुभव करके उसके स्थान पर दूसरे का सत्यत्व अनुभव करता है। इस सत्यत्व को कविता पढ़ते समय ही मन में रखना और उतने समय तक भी पूर्ण निष्ठा से नहीं, यह उस सत्यत्व के प्रति अन्याय है।" (वही पृष्ठ १४७)।

साहित्य में वे श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न पर भी समन्वय दृष्टि से विचार करते हैं। वे मानते हैं कि कृति को पढ़ते समय कृतिकार के जीवन की ओर न देखा जाय। क्योंकि बुरे से बुरा व्यक्ति सृजन-क्षणों में अपने को ऊँचा उठा लेता है अत: उससे अच्छी रचना का जन्म हो जाता है। इतना होने पर भी श्रेष्ठ जीवन बिताने वाले व्यक्ति से श्रेष्ठ साहित्य की आशा अधिक की जा सकती है।

वैसे वे साहित्य को तीन श्रेणियों में बाँटते हैं—तत्कालीन, चिरन्तन और सनातन। प्रथम प्रकार के साहित्य में फोटोग्राफर की भाँति सतही जीवन का रूप प्रकट होता है। यह हमें अच्छा लगता है क्योंकि उसमें से बहुत कुछ अपना परिचित होता है, भले ही नवीनता न मिले। समाचार-पत्रों में देश विदेशों के समाचारों की भाँति ही उनमें नवीनता मिलती है। अंग्रेजी के वेल्स आदि कथाकार ऐसे ही हैं।

चिरन्तन साहित्य में सामान्य मनुष्य स्वभाव के विशाल ज्ञान का भण्डार होता है। यह तत्कालीन से अधिक टिकाऊ होता है और एक युग तक चलता है। चॉसर, शेक्सपीयर, डिकिन्स आदि इसी कोटि में आते हैं।

सनातन साहित्य में जीवन का ऐसा रूप व्यक्त

(शेष पृष्ठ ११६ पर)

रीति-परम्परा के कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि

प्रो० रमाशंकर तिवारी, एम० ए०

मनुष्य के मनोमय जीवन का प्रसार जिन अन्तर्वृत्तियों के सहारे सम्पन्न होता है, उनमें प्रमुख महत्त्व से समन्वित हैं आकर्षण एवं विकर्षण की वृत्तियाँ। जगत् के जो पदार्थ अथवा व्यापार उसे अपनी ओर खींचते हैं, उनसे उसकी प्रियताओं की सृष्टि होती है तथा जो अपने से उसको दूर हटाने का उपक्रम करते हैं, उनसे उसकी विरुचियों का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुत: मनुष्य का सम्पूर्ण आभ्यांतरिक जीवन उसकी प्रियताओं तथा विरुचियों का सामंजस्य है। सामान्यत: यह कहने में कोई बड़ी आपत्ति की बात नहीं होगी कि हमारी प्रियताओं की परिधि में प्रवेश करने वाली वस्तुएँ 'सुन्दर' हैं तथा जिन गुणों के कारण वे हमारी प्रिय बन सकी हैं, उन गुणों की संज्ञा ही 'सौन्दर्य' है। यह बिल्कुल दूसरी बात है कि प्रमाता के संस्कारों की सापेक्षता में प्रमेय के भीतरी धर्मों की प्रतीति अथवा स्वीकृति किस रूप एवं किस परिमाण में होती है। आकर्षण सौन्दर्य का प्राणतत्त्व है, ठीक वैसे ही जैसे विकर्षण विरूपता का।

संसार सौन्दर्य के सहारे जीवित है। सौन्दर्य अविनश्वर है, क्योंकि सुन्दर वस्तुएँ अलग-अलग नष्ट होती हैं, लेकिन 'सुन्दर' के प्रतीकों का जीवन निरन्तर प्रवहमान रहता है। मनुष्य ने अपने मानसिक संघटन के अनुरूप सौन्दर्य का त्रिविध स्वरूपों में साक्षात्कार किया है—प्रथम प्रकृति, द्वितीय जीवन और तृतीय कोई लोकातीत सत्ता। प्रकृति की नानारूपिणी रमणीयताएँ, जीवन की अर्थगर्भा मार्मिक छवियाँ एवं ब्रह्म की रसमयी आनन्दानुभूति, निर्गुण अथवा सगुण, किसी भी रूप में—काव्य-पुरुष के विचरण तथा आस्वादन के ये ही तीन प्रधान क्षेत्र रहे हैं। रीति-परम्परा के कवियों की सौन्दर्य-चयनी दृष्टि में सुन्दर का इतना विस्तृत, व्यापक संसार नहीं समा सका। वे तो वाणी का सार शृङ्गार को और शृङ्गार का सार किशोरकिशोरी को स्वीकार करते थे।[1] सुतरां, उनकी रचनाओं में दैहिक सौन्दर्य की हृदयावर्जक मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य कोटि के सम्मोहन की खोज करना अधिक समीचीन नहीं होगा। इसके लिए उन्हें दोषी ठहराना भी साहित्यिक अपराध

१ **"प्रीति महागुन गीत बिचार,**
बिचार की बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार,
सिंगार को सार किसोर-किसोरी॥"—देव

(पृष्ठ ११५ का शेषांश)

होता है, जिसे दार्शनिक पारमार्थिक कहते हैं। यह मनुष्य के परम पुरुषार्थ को लेकर चलने के कारण अधिक मूल्यवान होता है। व्यास का महाभारत और वाल्मीकि की रामायण ऐसे ही साहित्यिक ग्रन्थ हैं।

आचार्य ध्रुव के विचार बड़े प्रौढ़ हैं और उनकी मान्यताओं के पीछे गहन अध्ययन और मनन का बल है। देश-विदेश के नये-पुराने लेखकों का उन्होंने सार ग्राहिणी वृत्ति से अनुशीलन कर अपने सिद्धान्त निर्धारित किए हैं। उनकी विचार-सरणि इतनी सरल और सरस है कि सिद्धान्त और व्यवहार—आलोचना के दोनों रूप—समन्वित होकर प्रकट होते हैं। लम्बे-से लम्बे उद्धरण देकर अपनी बात का समर्थन करने में वे नहीं चूकते पर कहीं भी उनमें अस्पष्टता नहीं है। इससे बड़ी सफलता एक आलोचक की और क्या हो सकती है?

ही है क्योंकि युग "तंत्रीनाद कवित्त-रस, सरस राग रतिरंग" के मोहक आदर्श का अनुगमन कर रहा था। पुनश्च, "जातीय जीवन के गर्व और गौरव के प्रतिनिधि अंगों को जो गहरी चोटें लगी थीं, उसके लिए मधुर अवलेह और अंगूरी आसव की अपेक्षा थी।" रीति-युगीय कवियों के अनगिनत सौन्दर्य-चित्रों से यही कार्य सम्पन्न हुआ। अथच, इन कवियों ने रूप-चित्रण का जो प्रतिमान वा धरातल स्थिर कर दिया, उसका आकर्षण इतना शक्तिशाली सिद्ध हुआ कि बीसवीं शताब्दी की परिवर्तित राष्ट्रीय मनोभंगिमा में भी वह परम्परा, न्यूनाधिक रूप में, चलती रही है। अतएव, रीति-परम्परा के भीतर सन्निविष्ट सौन्दर्य यौवनमय शरीर का सौन्दर्य है, नवल "अलबेली छबीलियों" का सौन्दर्य है, "मदन-दरद की अमर मूरि" मयंकमुखियों का सौन्दर्य है।

रमणी-रूप के चित्रण की परम्परा हमारे राष्ट्रीय वाङ्मय में अत्यन्त पुरानी है। वास्तव में, रूप का आकर्षण हमारी प्रतिभा के लिए इतना सान्द्र एवं निविड़ रहा है कि हमने अखिलेश्वर ब्रह्म को भी कोटि-कोटि मनोजों को लज्जित करने वाला सौन्दर्य प्रदान कर दिया है। स्तोत्रकारों ने अपनी आराध्या की स्तुति में उसके नखशिख का नितान्त उल्लसित वर्णन किया है। वस्तुतः रूप का आर्वजन भारतीय प्रतिभा के निकट विशुद्ध एवं निष्कलुष राग का विषय रहा है। भरत ने समग्र शुचिता, मेध्यता एवं उज्ज्वलता को जो शृङ्गार की सीमा में समाहृत किया है,[1] वह सौन्दर्य के प्रति इसी दृष्टिभंगी का विद्योतक है। कालिदास ने भगवान शंकर के मुख से कहलवाया है कि रूप कभी पापवृत्ति की ओर उन्मुख नहीं होता।[1] 'वीर्यक्षोभ' उत्पन्न करने की क्षमता यद्यपि नाना-रूप में अंगीकृत की गई है, तथापि उसकी मौलिक कल्पना में पवित्रता का भाव भी स्वीकृत रहा है। परिस्थितियों के बदलने के साथ उत्तरकालीन संस्कृत कवियों ने नारी-रूप का अत्यन्त सूक्ष्म एवं मादक चित्रण किया। प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाओं में भी यह धारा प्रवाहित रही! विद्यापति ने अपने पदों में अनुराग-विह्वल कामिनियों की रूप-लक्ष्मी की तन्मय-तापूर्ण आरती उतारी। भक्त कवियों की सरस्वती का प्रसाद पाकर रूप चित्रण की यह विपुल परम्परा और भी अधिक समृद्ध हो गई तथा लौकिक प्रतीकों के ग्रहण होने पर भी, उसमें अलौकिक व्यंजनाएं प्रविष्ट हो गई। रीति-परंपरा के कवियों को, अतएव, सौन्दर्य चित्रण का समृद्ध उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। धरती के मनुष्यों का प्रणय, एक विशिष्ट सामाजिक माध्यम से, चित्रित करने के कारण उन्होंने जो सौन्दर्य मूर्तियाँ अंकित की हैं, उनमें सूर के अलौकिक संकेत एवं तुलसी की मर्यादा का दर्शन भले न हो, रमणीयता उनमें इतनी अवश्य है कि सामान्य पाठक अथवा भावक अपने ही धरातल पर, अपने ही परिवेश में, रूप रस की चर्वणा कर सकता है।

इन कवियों ने नारी-सौंदर्य के प्रति जो दृष्टि अपनाई है, वह 'मन के मोम" को पिघलाने वाली है। रमणी-रूप के घटक तत्त्वों के जिन धर्मों की प्रतिष्ठा भारतीय प्रतिभा ने चिर-काल से कर रखी है, उनका परिवर्तन न उन्हें अभीष्ट था, न शक्य। उन्होंने सौंदर्य को कल्पना की छाया में लपेट कर किसी आनन्द की प्रेतात्मा" (Phantom of delight) अथवा किसी "छुई-मुई" की सृष्टि नहीं की, अपितु नारी को वैसे स्वस्थ, मांसल रूप में सजा कर चित्रित किया है जो परम्परा की गरिमा से विभूषित है तथा साथ ही, हमें अपने परिवेश में, अपने ही परिवारों में; उपलब्ध होती और हृदय का अपहरण करती है। इन कवियों ने जिन रूपसियों का चित्रण किया है, उनके भिन्न-भिन्न

१—'बिहारी की काव्य-श्री' (लेखक-कृत, यंत्रस्थ पृ० ७६।

"तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभाव प्रभव उज्ज्वल वेषात्मकः।

यथा यात्किञ्चिल्लोके सुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छंगोरणानुमीयते।"—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६।

१—"यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तदवचः।"—कुमार संभव, ५।३६

अँगावयव दृश्य जगत् में उन्हीं वस्तुओं के समानधर्मा हैं जिनसे प्रत्येक काव्यानुरागी पूर्णत: परिचित है। मुख के लिए सरोज अथवा चन्द्रमा; नेत्र के लिये कमल, खंजन अथवा मृग या चकोर; ओठ के लिए बिम्बफल या विद्रुम; दाँतों के लिए हीरक, मोती अथवा दाड़िम के दाने; नाक के लिए शुक अथवा तिल-प्रसून; अलकों के लिए तिमिर, मेघ अथवा सर्पिणी; उरस्यों के लिए सरोज-संपुट, चक्रवाक्, कंचन-कलश, शंभु अथवा गिरिवर; नाभि के लिए कूप अथवा सरोवर; जंघों के लिए कदली; कटि-देश के लिए सिंह की कटि; चरणों के लिए कमल तथा तनद्युति के लिए कंचन, केसर, चाँदनी, दीप, चंपा, बिजली या भानु-किरण—ये ही चिरपरिचित प्रतीक रीति-परम्परा के रचयिताओं द्वारा नियोजित किए गए हैं। शरीरयष्टि के लिए स्वर्णलता अथवा कनक-छड़ी प्राय: प्रयुक्त हुए हैं। गति के लिए गयन्द तथा वाणी के लिए पिक, पीयूष, मिश्री, वीणा अथवा ऊख उपमान-रूप में लाए गए हैं। अत: इन कवियों ने कामिनी के साथ-साथ कविता का भी शृङ्गार किया है, अत: इनके सौन्दर्य-चित्रों में परम्पराप्रथित प्रतीक अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजाए गए हैं। एक ओर, अहि के भ्रम से मोर सुन्दरी की अलकों को पकड़ता है, उसकी वाणी सुनकर कोकिल शोर मचाता है, नाक से सुग्गा ईर्ष्या करता है, मोतियों की माला को मराल चुगने लगते हैं और मुखचंद के अमृतपान के हेतु चकोर चोंचें चलाते हैं। दूसरी ओर उस चन्द्रमुखी के आनन को देखकर शशि कलंकित होता है, नेत्रों को देखकर मृगी वन में शरण लेती है, बोली सुनकर कोकिल श्याम बन जाता है, वेणी को देखकर व्यालिनी विषावह बन जाती है, तनद्युति देखकर कुंदन दीप्तिहीन बन जाता है; इन सबकी विपत्ति देखकर वह रूपसी दया से आर्द्र बन जाती है तथा,

"हौं पछितातिं हहा सजनी,
रचि मोहि कहा बिधि पापिनी कीन्हीं।"
—(तोष—'सुधा निधि')

अपने रूप के प्रभाव पर ही अफसोस करने वाली यह सौन्दर्यशालिनी यथार्थ के प्रयोग में भले ही खरी न उतरे, सहृदयों के निकट तो वह नितान्त मूल्यवती है।

यद्यपि इन कवियों ने सौंदर्य को मांसल आयामों में निवद्ध किया है इस लिए कि वह स्पष्ट रूप से प्रतीति का भाजन बन सके, तथापि वे समझते हैं कि सब कुछ कह लेने के पश्चात् भी यह पूर्णतया व्यंग्य नहीं बन सकता। अतएव, उन्होंने अपनी नवेलियों को "रूप का उदधि" बताया है, उनसे रम्भा को परास्त कराया है, 'रति के भंडार से चुराई हुई रूप-राशि' कह कर रति से भी रमणीय ठहराया है[1] और देवी, दानवी अथवा मानवी उसे सबसे निराली बता कर ऐसी "बिधि की बनिता" बताया है जिसकी पुनर्रचना स्वयं विधाता के लिए भी दुष्कर है।[2] देव ने रूप की व्याख्या में उसकी सुखदता, दर्शनीयता एवं जग को दास बना लेने की क्षमता का वर्णन किया है। इस सौंदर्य में इतना निविड़ आकर्षण है कि अंग-प्रत्यंग में नयन बन्दी बन जाते हैं। घूँघट में जो दृष्टि उलझ गई थी, वह घूँघट खुलने पर भी सुलझ नहीं सकी, अपितु अधरों पर, लोचनों पर, नासिका पर, फिर गोरे कपोलों पर आकर उरझ गई है। यह विवक्षता कुछ दृष्टि की ही नहीं है, प्रत्युत मन भी उससे अधिग्रस्त है। काले, सटकारे केशों में वह कभी भटक जाता है, कभी "भरनन के पानिप-नीर" में उलझ जाता है, कभी अधरमधु के पान के लिए ललच उठता है, और जब ठोढ़ी के गड्ढे में पड़ जाता है, तब उसका वहां से निकलना ही दुस्साध्य हो जाता है।[3] इतना ही नहीं, इस रूप-जल में मन की स्वतन्त्र सत्ता भी लवण की नाँईं बिलीन हो गई है—

"प्यारी के रूप के पानिप में,
मन माइल मेरो बिलाइ गो लोन सो।" (गंग)

वास्तव में कवियों का यह सम्पूर्ण वाग्विलास उनकी इस प्रतीति की व्यंजना के निमित्त नियोजित हुआ है कि सौंदर्य, ज्ञात अथवा अज्ञात, सम्पूर्ण प्रतीकों के व्यंग्यार्थों को लांघ कर कुछ ऐसी अपूर्व विभूति है जो नेत्रों

१—रीति-शृङ्गार (नगेन्द्र), पृ० १८७, २०३
२—वही पृ० १५७,
३—वही, पृ० १५६, २०३,

के माध्यम से अन्तकरण को अधिकृत एवं अभिभावित कर लेता है। यूनानी आचार्यों ने औपचारिक सौंदर्य के के लिए सममातृत्व एवं सामंजस्य पर बल दिया था। एडमंड बर्क ने अपने ग्रन्थ 'Essay on the sublime and beautiful' में यूनानी कल्पना का परिष्करण करते हुए, आकार की लघुता, मसृणता, क्रमिक परिवर्तनशीलता, कोमलता, रंगों की दीप्ति तथा पवित्रता इन छः सौंदर्य-घटक तत्त्वों का निरूपण किया है।[1] हमारी दृष्टि से बर्क की स्थापना अधिक समीचीन एवं सुश्रृङ्खल है। गौड़ीय आचार्य रूपगोस्वामी ने विभावों के उद्दीपनों के अन्तर्गत लय, रूप, लावण्य, सौंदर्य, अभिरूपता, माधुर्य, मार्दव इत्यादि कायिक गुणों का उपपादन किया है। इनमें अंग-प्रत्यंगों के, उचित सुश्लिष्ट संधिबन्ध से युक्त सन्निवेश को 'सौन्दर्य' कहा गया है और मोतियों में छाया की आंतरिक तरलता के समान अङ्गों में चमकने वाली वस्तु को 'लावण्य' बताया गया है।[2] बर्क और रूपगोस्वामी के निरूपणों में घनिष्ट साम्य है। पहले की क्रमिक परिवर्तनीयता (gradual variability) तथा दूसरे का लावण्य एक ही पदार्थ हैं। माघ ने रमणीयता की परिभाषा में जो क्षणे-क्षणे नव्यता-ग्रहण की बात कही है, उससे भी सौन्दर्य का वही धर्म सूचित है जो वर्ण एवं आकार की सीमाओं का उल्लंघन कर, अपनी सूक्ष्मता एवं अग्राह्यता (Elusiveness) से प्रेक्षक को चमत्कृत करता है। रीति-परंपरा के कवियों को सौंदर्य के इस तत्त्व की स्पष्ट अनुभूति है। बिहारी की नवयौवना का चतुर चितेरों द्वारा भी जो चित्र अङ्कित नहीं हो सका, उसका भी कारण यही क्षणे क्षणे नवता-प्राप्ति का रहस्य था। दास के शब्दों में, 'आज भोर औरई, पहर होत औरई है, दुपहर औरई, रजनि होत औरई" वाली बात थी। मतिराम ने कुंदन के रंग को मात करने वाली अङ्गों की गुराई, नेत्रों में आलस्य, चितवन में विलास की मंजुल सरसता तथा बिना मोल खरीदने वाली मुसकान-मिठाई जैसे अभिधेय गुणों का कथन कर 'लावण्य' की ही यों व्यंजना की है—

"ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।"

कुलपति मिश्र ने 'रसरहस्य' में राधा के वय, रूप एवं "लुनाई" का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] मतिराम ने "छायायास्तरलत्वं" को ही अपने प्रसिद्ध सवैये में अत्यन्त मोहक रीति से ध्वनित किया है। बार-बार देखने से, और निकट से देखने से, वस्तुओं का आकर्षण घटता प्रतीत होता है। कोमलप्राण कीट्स् के लिए सुनी हुई स्वरलहरियों की अपेक्षा अनसुनी स्वरतरंगें अधिक मधुर सिद्ध हुई थीं। मतिराम की सौंदर्य-दृष्टि परिचिति की सान्द्रता में ही अधिकाधिक माधुरी का अन्वेषण कर गई है। तथ्य यह है कि इन कवियों ने हमारी सनातन जातीय सौन्दर्य-भावना की रक्षा करते हुए, अपने रूप-चित्रों की कनक-कटोरियों में प्रचुर मोहक मधु भर दिया है।

सौन्दर्य का मूलभूत प्राणतत्त्व 'लावण्य' ही रीति-परंपरा के कवियों द्वारा 'छवि' शब्द से अभिहित किया गया है। लगभग सभी कवियों ने रूपचित्रणों में "छवि की झलमलाहट', 'छवि की मरीचियों', 'छवि की तरंगों' इत्यादि का कथन किया है। 'ओप' तथा 'आभा' शब्दों से भी लगभग यही भाव ध्वनित है। उनका दूसरा प्रिय उल्लेख नायिका के अंगों की "जगरमगर" ज्योति है। ज्योति के 'जगरमगर' में जो व्यंजना सन्निहित है, उसे रूप-सौन्दर्य के साथ जोड़ देने पर तनद्युति की स्पन्दन-शील, लपलप करने वाली लघुर्मियों का बिम्बान्वय

१—दे० सितं०, ५७, के 'साहित्यकार' में लेखक का "पाश्चात्य सौंदर्य-चिन्तन का विकास" शीर्षक निबन्ध।

२—"अंगप्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टसंधिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते॥"
"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रातिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥"
—उज्ज्वलनीलमणि

१—'रीति-श्रृङ्गार' (नगेन्द्र), पृ० ७३

सहृदयों के अन्तर्मानस में हो जाता है, वे सचमुच इन कवियों की सौंदर्यानुभूति की प्राँजलता को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। नीचे के दो चित्र अङ्ग-ज्योति के 'जगरमगर' की भावना कराने के लिए यथेष्ट होंगे—

(१) "टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख-जोति।
लसति रसोई कैं बगर, जगरमगर दुति होति॥

(बिहारी)

(२) "थोरी-थोरी बैस की किसोरी तन गोरी-गोरी,
भोरी-भोरी बातन सों हियरो हरति है।
केतकी तैं सरस कही न परै कुन्दन-सी,
चंचला तैं चौगुनी मरीचिका धरति है।
जगरमगर होति इन्दु-बदनी की दुति,
सेखर अबास कों प्रकासित करति है।
मानो मँज्यो मंजुमैन-मुकुर-महल तामैं,
अमल अधूम महताब-सी बरति है॥"

(चन्द्रशेखर बाजपेयी)

ये कवि तनद्युति की लपलपहाट से इतने अभिभावित हैं कि इसके लिए 'जलचादर के दीप', आग की लपटें, दीपावली की दीपज्योति, मणिमहल की दीपमालिका, बिजली, मसाल एवं फानूस के दीपक—इन सब उपमानों का प्रयोग इन्होंने उन्मुक्त भाव से किया है।

रूपज्योति की भावना कराने के लिए इन कवियों ने चाँदनी का भी भरपूर उपयोग किया है। ऐसे चित्र शुक्लाभिसारिकाओं के संदर्भ में ही प्रायः अंकित हुए हैं। श्वेत साड़ी में सजधज कर नायिका प्रिय-मिलन के लिए निकली और उसकी तनद्युति चतुर्दिक विच्छुरित ज्योत्स्ना में ऐसी घुल-मिल गई जैसे दूध में दूध की धार मिल जाती है। जैसे क्षीरोदधि की सुता क्षीर-सिंधु में एकमेक भाव से अपने को विलीन कर देगी। राधिका पून्यों का चाँद देखने चौतरे पर चढ़ी और चाँदनी में ऐसे मिल गई कि केवल कुछ बालों से, कुछ भौंहों से, कुछ नयनों की छवि से ही पहचानी जाती है। ऐसे चित्रों में कहीं-कहीं चमत्कार-प्रियता के कारण, कवियों ने खिलवाड़ भी किया है। शरीर की स्वाभाविक सुगन्ध के कारण नायिका के पीछे भौंरों की भीड़ एकत्र करना भी इन्हें प्रिय रहा है। ऐसी रूढ़ियों का उल्लेख आज के सहृदय को हास्यास्पद प्रतीत होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तीर पर खड़ी तरुणी के हासोत्फुल्ल बदन तथा जल में खिले सरोज के बीच जो भ्रमरी की भीड़ को दौड़ा दिया है—

"तीरे तरुण्या वदनं सहासं
नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला।"—

यदि वैसे चित्र इन कवियों ने अङ्कित किये होते तो हम इन 'अलिपुंजों' के लिए उनकी सराहना ही करते।

'सुकुमारता' अथवा 'मार्दव' सौन्दर्य का एक आवश्यक स्पृहणीय गुण है। रूपगोस्वामी ने उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन प्रकार के मार्दव का उल्लेख किया है। रीति-परम्परा की रचनाओं में मार्दव के ललित चित्र अङ्कित हुए हैं। 'उज्ज्वलनीलमणि' में उत्तम मार्दव के उदाहरण-रूप जो पद्य दिया गया है, उसका अर्थ यों है—'राधा नवमालिका के नए कोमल प्रसूनों से निर्मित शय्या पर रात को सोई। इससे कुसुम की सेज रंचमात्र भी मलिन नहीं हुई, अपितु, उसके स्पर्श के अनुभव से राधा के शरीर में ही घाव पैदा हो गए।' स्पष्ट है कि ऐसे अंकनों में अत्युक्ति के प्रवेश का प्रचुर अवकाश रहता है। बिहारी की रूपसी भूषणों के भार से दबी जाती है; रसनिधि की नायिका की पलकें रूप-भार से बारंबार झुकी जाती हैं; देव की सुन्दरी भूषणों का भार न सह सकने के कारण उन्हें उतारती जाती है और पीछे से

सहेलियाँ उन्हें बटोरती जाती हैं; द्विजदेव की कोमलांगना जावक के भार से धीरे-धीरे पैर रखती है तथा गंध-भार से अलकें उसके कुचों पर बिखर गई है, बरौनियों के भार से दृगों पर पलकें आधी ढँप जाती हैं और कच-भार से कमर लच जाती है। तथापि, कुछ चित्रों में कोमलता की व्यंजना इस ढंग से हुई है कि भावक का हृदय चमत्कृत हो जाता है। आलम की वियोगिनी आग के समान झवाँती जाती है तथा उसकी सोने जैसी देह नमक की नाँईं गलती जाती है, अथवा बिहारी की अरुणवर्णा तरुणी की पादांगुलियों से बिछियों के चाप के कारण इंगुर जैसा रंग चूने लगता है। यह स्पष्ट है कि चमत्कार एवं वक्रोक्ति के मोह में पड़े होने पर भी, इन कवियों ने सहृदयता को अपनी मार्मिक पकड़ से बाहर नहीं जाने दिया है।

वय:संधि अथवा यौवन की उठान के प्रति सभी सौन्दर्यलिप्सु कवियों ने रसभरी दृष्टि दौड़ाई है। रीति-परम्परा के भीतर जो शृङ्गार-संवलित चित्र अङ्कित हुए हैं, उनमें वय:संधि वाले चित्रों का विशिष्ट स्थान है। आधुनिक मनोविज्ञान में इस संक्रान्ति का बड़ा महत्त्व स्वीकार किया गया है। बाला के भीतरी परिवर्तनों को साहित्यशास्त्रियों ने 'भाव', 'हाव' एवं 'हेला' के अभिधानों से 'अंगज अलंकारों' के अन्तर्गत परिगणित कराया है। रीति-कवियों ने ऐसे चित्रों में प्राय: शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के विकारों को साथ-साथ अङ्कित किया है। रात और दिन की मिलन-वेला, 'प्रभात की झाँईं' की कोमल आभा का प्रतीक सभी कवियों को, समान भाव से, वय:संधि की दैहिक 'ओप' के व्यंजनार्थ प्रिय रहा है। बिहारी ने अपनी रंगीन मस्ती में 'ताफता रँग' की चकमक का भी कथन किया है। मानसिक विकारों के सूचनार्थ 'यौवन-नृपति' या 'मदन-महिपाल' को नियोजित किया गया है। सेनापति ने "कामभूप सोवत सो जागत है" में मानों सम्पूर्ण मानसिक विकारों को समाहृत कर दिया है।

सौन्दर्य की मनस्परकता की अनुभूति भी इन कवियों को हुई है, यद्यपि ऐसे कथनों का परिमाण अधिक नहीं है। 'सहज रूप' के आकर्षण से ये परिचित अवश्य हैं। "सहज सुरूप सुघराई रीझो मन मेरो, डोलत हैं तेरी अद्भुत की तरंग में" मतिराम का यह कथन सौन्दर्य की आत्मपूर्णता की स्पष्ट स्वीकृति है। लेकिन, रीति-कवियों के विलास-वैभव वाले युग में इस "अव्याजमनोहर" रूप की प्रचुर मूर्तियाँ अङ्कित नहीं हो सकीं। संभवत: कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में विलासविभ्रम में पलने वाले सौन्दर्य को जो कान्तासम्मित चुनौती दी थी, वह परवर्ती कवियों को स्वीकार नहीं हुई। रीतिपरंपरा में रचित सौन्दर्य-चित्र मणि, माणिक्य, पुखराज, हीरा, नग, नीलम, चंदन, चोवा, अरगजा, कपूर, इत्र, गुलाब इत्यादि उपकरणों से दीप्तिमान और सुरभित हैं तथा इनके कारण इन चित्रों की 'अपील' बढ़ी ही है, घटी नहीं। कंचन-किनारी से युक्त जरीदार साड़ी तथा "पंचतोलिया" साड़ी को पहनने वाली सुन्दरियाँ, सामन्तीय कक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती हुई भी, भावक को अपनी रूप-समृद्धि से अभिभूत कर लेती हैं। ग्रामीण "गदराने" तनवाली "गोरटियों" के सामान्य परिधान एवं प्रसाधन के चित्र बिहारी ने 'सतसई' में चित्रित किये हैं।

रीति-परम्परा की सबसे बड़ी विशेषता रही है सौन्दर्य को पारिवारिक, गार्हस्थिक जीवन की मर्यादाओं के बीच प्रतिष्ठित करने का श्लाघ्य प्रयास। हिन्दी काव्य के लिए यह उनकी सर्वोत्तम देन समझी जानी चाहिए। विद्यापति ने वैभवनिष्ठ सौन्दर्य के बाहर झाँकने का विचार ही नहीं किया और सूर इत्यादि कृष्ण कवियों ने सौन्दर्य को अलौकिक व्यंजना से भरने का अपूर्व अनुष्ठान पूरा किया। तुलसी मर्यादा की रज्जु में इतने बंधे हुए थे कि वे सामान्य भावक की स्वाभाविक भूखों को परितृप्त कर ही नहीं सकते थे। रीति-कवियों ने, वैभव के चाकचक्य से प्रभावित होते हुए भी, अपने मनोरम चित्रों से हमें अपने घरों के भीतर ही, अपने कौटुम्बिक परिवेशों में ही, सौन्दर्य को खोजने के लिए प्रवृत्त कर दिया है। वस्तुत: उनकी सम्पूर्ण दृष्टि ही मुख्यतया गार्हस्थिक रही है। मरगजे चीर में इठलाने वाली, झीने पट में झिलमिल दिखाई पड़ने वाली, नीले अथवा

(शेष पृ० १२२ पर)

सौन्दर्य और रूप-तत्त्व

प्रो० मक्खनलाल शर्मा

सौंदर्यशास्त्र सौंदर्य की शास्त्रीय व्याख्या करता है, आनन्द मानव-जीवन की व्यापक अनुभूति है। मानव-जीवन के सारे प्रयत्न इसी आनन्द को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए होते हैं। सुन्दर वस्तु के अनुभव से आनन्द प्राप्त होता है। सुन्दर वस्तु के अनुभव द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है हमारे प्राचीन मनीषियों ने उसे 'रस' संज्ञा से अभिहित किया है। सौन्दर्यशास्त्र कला द्वारा उत्पन्न सौन्दर्य के इस 'रस' का विश्लेषण मुख्य रूप से करता है। इस आनन्द को प्राप्त कराने में वस्तु का वाह्य रूप विशेष रूप से सहायक होता है। इस वाह्य सौन्दर्य का विश्लेषण ही हमारा इष्ट है।

कला का वाह्य रूप जिसके माध्यम से भावाभिव्यक्ति की जाती है सौंदर्य का जनक माना जाता है। कार्ल मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद (Dialectics) के जिस सिद्धान्त को विकास का मूल नियम माना है सौंदर्य में भी हम उसी का चमत्कार पाते हैं। प्रत्येक पदार्थ में जो दो विरोधी शक्तियाँ सदैव रह कर प्रगति को जन्म

(पृष्ठ १२१ का शेषांश)

अरुण चीर के घूंघट में से अपनी छवि-किरणें प्रक्षिप्त करने वाली, रसोई-कक्ष में जगरमगर द्युति से चमकने वाली, लाज में लिपटी चितवन वाली, नैहर में पति-दर्शन की लालसा से सटपटाने वाली, विविध भाँति की वेंदियाँ लगाने वाली रूपशाली रमणियाँ हमारी परिचित परिधियों की "मनोज-मूर्तियाँ" हैं। नाइन और महावरी के चित्रों द्वारा नायिका की एड़ी की लाली तो व्यंजित हुई है, लेकिन उससे भी बढ़ कर, इनसे गृहस्थी की घिस-पिस में नया आकर्षण, नया आस्वाद पाने की लालसा से हम अनुप्राणित हो जाते हैं।

शृङ्गार की परम्परित परिपाटी का पालन करने के कारण इन कवियों ने रति-काल के तथा रत्यंत के चित्र भी अङ्कित किए हैं। किन्तु, श्रीहर्ष इत्यादि संस्कृत कवियों की तुलना में इनकी सौन्दर्य-दृष्टि संयमपूर्ण ही समझी जाएगी। परिवेश के अनुरूप, मलमल, मसाल, फानूस, जुलूस इत्यादि प्रतीकों का नया नियोजन भी हुआ है। बाजरे की कलंगी, बिछली घास जैसे अभिनव प्रयोग अवश्य उन्होंने नहीं किये। अन्तस्सौन्दर्य को उन्मीलित करने का प्रयत्न भी उनके द्वारा नहीं किया गया। तथापि, उनकी सौन्दर्य-भावना नितात प्रसन्न, उत्फुल्ल एवं लोकसुलभ बन गई है।

देती रहती हैं, सौंदर्य में भी यही सिद्धान्त कार्य करता है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से होती है। इस माध्यम का आधार शब्द, स्वर, रेखाएँ, रंग, प्रस्तर-खण्ड आदि कुछ भी हो सकता है किन्तु कलाकार जब इनकी सहायता से अपनी भावना को सजीव स्वरूप प्रदान करता है तो जितनी अधिक स्पष्टता के साथ वह अपने भावों के द्वन्द्व को हमारे समक्ष रख सकेगा उतनी ही उच्चकोटि की कला होगी और उसमें उतना ही अधिक सौंदर्य होगा। सौंदर्य हमें उस कला की अभिव्यक्ति के माध्यम में निहित परस्पर विरोधी तत्त्वों के सफल अङ्कन से प्राप्त होता है। बिना पृष्ठ-भूमि के कोई चित्र नहीं बनाया जाता। चित्र में परस्पर दो विरोधी भाव सदैव अङ्कित रहते हैं। उसकी Thesis पृष्ठभूमि में रहती है और Antithesis रेखाओं या रंगों द्वारा उभारी जाती है और Synthesis ही वह सौंदर्य है जो हमारे नेत्रों को सुखदायक प्रतीत होता है। यह नियम सभी कलाओं पर समान रूप से लागू होता है। यह द्वन्द्व जितना ही गहरा और स्पष्ट होगा उससे उत्पन्न सौन्दर्य भी उतना ही उच्च-स्तरीय होगा।[1]

कला के बाह्य रूप में प्राप्त सौंदर्य सभी प्राचीन और अर्वाचीन सौन्दर्य-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है। प्लेटो इस सौन्दर्य को स्वीकार करते हुए इसका कारण शिवत्व से जोड़ देते हैं।[2] उनके अनुसार नाप जोख और संतुलन ही सौंदर्य के आधार हैं। अध्यात्मवादी होने के कारण प्लेटो ने सौंदर्य और शिवत्व को पूर्ण माना है और कला को उसका अनुकरण (imitation)। जिन विद्वानों ने कला और सौंदर्य का सम्बन्ध पूर्ण तत्त्वर (ब्रह्म) से जोड़ दिया है उन्होंने आगे के लिए विचार-भूमि में रोक लगा दी है। अरस्तू (Aristotb) भी प्लेटो के शिष्य और अध्यात्मवादी ही थे किन्तु वह पहिले सौंदर्य-शास्त्री और पीछे अध्यात्मवादी होने के कारण अधिक औचित्य-युक्त सिद्ध हुए हैं। उन्होंने बुद्धिवादियों के समान विचार किया है। कला और सौंदर्य का विवेचन करने में उन्होंने बताया है कि सौंदर्य के प्रमुख अङ्ग शृंखला (Order) समता (Symmetry) और निश्चित सीमा (Definite limitation) हैं।[3]

१—"लौकिक अनुभूति के क्षेत्र में अनुभव-कर्त्ता अनुभूति के नीचे दब जाने के कारण अपनी स्वतंत्रता को भूल जाता है। किन्तु रसानुभूति के क्षेत्र में अनुभूति में आच्छन्न होते हुए भी साथ ही उस अनुभूति के आस्वादक के रूप में अपनी स्वतंत्र सत्ता की रक्षा करता है। रसानूभूति के इस द्वान्द्विक रूप को साधारण तर्क के द्वारा समझना सम्भव नहीं हैं, इसीलिए इस विषय में नाना प्रकार के वितर्कों की अवतारणा भी हुई है और रसानुभूति को "अलौकिक" तक करार देने की कोशिश की गई है किन्तु इस तर्क का निरसन नहीं हुआ ...... असल में गतिशील परिवर्तनशील वस्तुमात्र के अंदर द्वान्द्विकता और अन्त-र्विरोध विद्यमान है, गतिशील वस्तुमात्र ही किसी मुहूर्त में है भी और नहीं भी, यह परस्पर-विरुद्ध व्यापार साधारण युक्ति के लिए अनधिगम्य होने पर भी, वास्तव सत्य के क्षेत्र में इससे साधारण और प्राकृत व्यापार सम्भवत: और कुछ भी नहीं है........भाव के क्षेत्र में भी यदि भाव के (उपर्युक्त) द्वान्द्विक स्वरूप को मान लिया जाता तो रस-निष्पत्ति को लेकर इतने तर्कों की आवश्यकता न पड़ती" (मार्क्सवाद और साहित्य—महेन्द्रचन्द राय)

सौंदर्यानुभूति के सम्बन्ध में श्री राय के इस विश्लेषण पर विचार की आवश्यकता है। परतु उनकी सौन्दर्यानुभूति की यह द्वन्द्वात्मक व्याख्या वैज्ञानिक प्रतीत होती है।

2—"The principle of goodness has reduced itself to the law of beauty. For measure and proportion always pass into beauty and excellence". (Philebus, Marg, P. 64)

3—"The main species (elements) of beauty are order, symmetry, definite limitation, and these are the chief properties that the mathematical sciences draw attention to"
(Aristotle. Metaph. 1078 a.)

अरस्तू ने कला को प्रकृति का अनुकरण कहकर सौंदर्य के बाह्य रूप को प्रमुखता प्रदान की है। हमें प्रकृति में जो पदार्थ दिखाई देते हैं उनमें कुछ न कुछ सौन्दर्य निहित रहता है और मानव कल्पनाशील प्राणी होने के कारण उसमें कुछ अभाव भी खोज लेता है। कला में उस अभाव की पूर्ति कलाकार द्वारा होती है इसलिए कला को प्रकृति का अनुकरण-मात्र नहीं माना जा सकता है, वरन् वह अनुकृति (Recreation) है। ग्रीक विद्वानों की दृष्टि में सौन्दर्य को ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है। भारतीय विद्वानों की भाँति अरस्तू आदि ग्रीक सौन्दर्य-शास्त्री उसका सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़कर उसे पूर्ण आध्यात्मिक नहीं बना देते हैं वरन् उसे यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति-मात्र स्वीकार करते हैं।[1]

ग्रीस में सुन्दर (Beautiful) और 'उदात्त' (Sublime) का प्रश्न भी उठाया गया है। मानव-जीवन में जो पीड़ा है उसे आनन्द रूप में परिवर्तित करना ही 'उदात्त' है। 'उदात्त' को सर्वप्रथम इंगित करके लौंजाइनस ने हमें बताया है कि उत्कृष्ट कोटि का सौंदर्य जो कुछ काल के लिए हमारी समस्त वृत्तियों को रोककर स्थगित कर दे वही 'उदात्त' है।[2] साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ मूर्तिमती वेदनाएँ हैं। वेदना जब कला का रूप धारण कर लेती है तो उसके इस परिवर्तित रूप में दुख, क्लेश और वेदना का बवन्डर मिट जाता है और उसे जो सन्तुलित स्वरूप प्राप्त होता है वह सौन्दर्य-युक्त बनकर आस्वाद्य बन जाता है। वेदना जब तक भाव-लोक में रहती है तभी तक वह वेदना देती है। जैसे ही कलाकार बुद्धि की सहायता और कला के माध्यम से उसे अभिव्यक्त कर देता है वह सान्त्वना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यदि विचार-पूर्वक देखें तो प्रतीत होता है कि 'उदात्त' में भी वेदना और उस पर विजय पाने की भावना दोनों का युद्ध होता है और उससे प्रगतिशील तत्त्व (Synthesis) रूप में 'उदात्त' गुण उत्पन्न हो जाता है। जार्ज सान्तायन अपनी पुस्तक में बताते हैं कि मनुष्य जब समझ लेता है कि पीड़ा का उससे शाश्वत सम्बन्ध है और इसी कारण हम सदैव दुखी बने रहते हैं तो उसे सान्त्वना मिलती है।[1] कान्ट (Kant) जिसे आध्यात्मिक-स्फूर्ति (Spiritual reinvigoration) कहता है वह 'उदात्त' ही है। धर्म और 'उदात्त' दोनों की उत्पत्ति भय और कष्ट से हुई है। मार्क्स ने भी बताया है कि धार्मिक वेदना हमारे यथार्थ जीवन की वेदना की अभिव्यक्ति है।

सौन्दर्य और 'उदात्त' के विषय में भारतीय मत ग्रीक मत से भिन्न है। भारतीय सदैव रसवादी रहे हैं। उन्होंने संघर्ष से ऊपर उठकर अन्त में मिलने वाले 'आनन्द' की ओर दृष्टि रखी है इसीलिए भारतीय कलाओं में एक प्रकार की शान्ति और आनन्द की भावना ओत-प्रोत है।

यूनान का प्राचीन साहित्य देवताओं से पूर्ण है। ये देवता आध्यात्मिक शक्तियों के प्रतीक स्वरूप खड़े किये गये थे जैसा कि आज समझा जाता है; किन्तु उन्हें यह स्वरूप पूर्ण मानवता के आदर्श स्वरूप प्राप्त हुआ

1—"Beauty was regarded as essentially the sensuous expression—not of the beautiful, nor even of the good—but simply of the real".
(History of Aesthetic: B. Bosanquet)

2—'When a passage is pregnant in suggestion, when it is bard, nay impossible to distract the attention from it, and, when it takes a strong and lasting hold on the memory, then we may be sure that we have lighted on the true Sublime ?
(Longinns)

1—To know how just a cause we have for grieving is already a consolation, for it is already a shift from feeling to understanding.'
(Life of Reason: page 64.)

है। ईश्वर की कल्पना सर्वश्रेष्ठ मानव के रूप में स्वीकार की गई है। तत्कालीन मानवीय सभी गुण उनमें पूर्ण विकसित अवस्था में दिखाए गये हैं। ग्रीक देवता अपोलो और डियाना आदि को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। भारतवर्ष में भी शैव-दर्शन के प्रभाव-स्वरूप इसी प्रकार के प्रतीक स्वीकार किए गए और शैव मन्दिरों के शिखर भाग, मध्यभाग और अनेक मूर्त्तियाँ निर्मित हुईं। दक्षिण भारत के मन्दिरों में ग्रीक के समान आदिम-भावना के दर्शन होते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भारतीय मत 'अनुकरण' को विशेष महत्व नहीं देता है। वह तो रसवादी होने के कारण आन्तरिक भावों को कला में अभिव्यक्त करना मुख्य उद्देश्य रूप में स्वीकार करता है। भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला और भवन-निर्माण-कला (मंदिर) मानव-अनुभूतियों के विविध रूपों को चित्रित करती हैं। केवल बाह्य पदार्थों का ही अनुकरण हमारा इष्ट नहीं रहा है। ग्रीक के अपोलो की मूर्ति में शरीर की माँस पेशियों को उभारने का प्रयत्न मुख्य है जबकि भारतवर्ष की गौतम बुद्ध की मूर्ति में एक प्रकार की शान्ति और सौम्यता अंग अंग से झलकी पड़ती है। यह अन्तर केवल मूर्ति-कला तक ही सीमित न होकर सभी कलाओं में व्याप्त है। जीवन में संघर्ष को प्रधानता देकर यथार्थवादी कलाकार ग्रीक में दुखान्त की Tragedy को सुखान्त की Comedy से विशिष्ट स्थान देते हैं।

प्लेटो और अरस्तू के मत का विरोध हीगेल (Hegel) ने किया है। हीगेल के अनुसार सौंदर्य निम्नस्तरीय और निर्जीव पदार्थों में नहीं पहचाना जा सकता है। एक गंदे लोहे के टुकड़े की अपेक्षा सूर्य के गोले में और उससे भी अधिक नक्षत्रों में सौंदर्य होता है। पौधों में इन सबसे अधिक सौंदर्य पाया जाता है। मानव अपने चारों ओर प्रकृति में जो सौंदर्य पाता है कला द्वारा उससे भी बड़ा सौंदर्य निर्मित करता है और इस प्रकार कला प्रकृति से श्रेष्ठ है।[1]

कला के अभिव्यक्त रूप का विश्लेषण करने पर उसके तीन अंग किये जा सकते हैं जिन्हें 'भोग' 'रूप' और 'अभिव्यक्ति' संज्ञा दी गई है।[2] भोग से तात्पर्य उस पदार्थ (material) से है जिसकी सहायता से किसी भाव को मूर्त्त स्वरूप देने में सफलता प्राप्त होती है। किसी भवन या मूर्ति के निर्माण में हमें जिस प्रस्तर-खंड और प्लास्टर आदि के लिए सीमेंट की आवश्यकता होगी उसे 'भोग' कहा गया है। यह कला का वह भौतिक भाग है जिसको आधार मानकर ही कलाओं का वर्गीकरण तथा स्थान निर्धारण किया गया है। जिस कला में जितना ही सूक्ष्म भौतिक पदार्थ प्रयुक्त होगा वह उतनी ही सूक्ष्म और उच्च कोटि की समझी जायगी।

दूसरा तत्त्व 'भोग' तत्त्व कहलाता है। जितने सुन्दर पदार्थ हैं सभी के आकार, प्रकार और अवयव-संस्थान में एक प्रकार की विशेषता पाई जाती है। 'भोग' तत्त्व दो स्थानों पर समान हो सकता है किन्तु इस विशेष आकार की भिन्नता के कारण उससे निर्मित दो कलाभिव्यक्तियाँ अलग अलग हो सकती हैं। सफेद पत्थर से ही मंदिर और उसी से कोई मूर्ति बनाई जा सकती है—केवल आकार की भिन्नता ने दोनों को अलग अलग विभागों में रख दिया। सुन्दर वस्तु का आकार ही 'रूप' कहलाता है।

तीसरा तत्त्व 'अभिव्यक्ति' है। भोग और रूप तत्त्व के समन्वय से ही हमें आनन्द आने लगता है किन्तु वह आनन्द अपनी चरम कोटि पर बिना अभिव्यक्ति के पहुँच नहीं पाता और 'रस' दशा का अनुभव चरमावस्था में ही स्वीकार किया गया है अतः यह स्वीकार किया

1—'Man creates more adequate forms of beauty than he finds already existing in the world about him. Art is superior to Nature.' (Hegel)

२—द्रष्टव्य—सौन्दर्य-शास्त्र
—डा० हरद्वारीलाल शर्मा

गया है कि मन्दिर, मस्जिद, मूर्त्ति, चित्र, संगीत और काव्य आदि—सभी कलाभिव्यक्तियों में गंभीर मानव अनुभूतियाँ हमें सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। किसी मानव-भाव को व्यंजित न करने वाली अभिव्यक्ति कला की सीमा में नहीं आती है। महात्मा गौतम बुद्ध के उज्ज्वल मुख पर जो पवित्र भाव-प्रदर्शन कराया गया है वही उस मूर्त्ति का सर्वस्व है और वही हमारे आनन्द का मूल कारण है तथा कला की श्रेष्ठता सिद्ध करने में उसका मुख्य हाथ है। इसी तत्त्व को 'अभिव्यक्ति' कहा जाता है।

सौंदर्य-शास्त्र के अनुसार यदि हम रूप-तत्त्व के गुणों का विवेचन करें तो हमें चार तत्त्व मुख्य रूप से दिखाई देते हैं (१) सापेक्षता (Proportion) (२) समता (Symmetry) (३) संगति (Harmony) और (४) सन्तुलन (Balance)

सापेक्षता रूप का वह गुण है जिसमें भौतिक पदार्थ (पत्थरों के टुकड़े, ईंटें, शब्द आदि) एक दूसरे से सम्बन्धित बने रहते हैं। इनका यह जोड़ सापेक्ष होता है इस लिए इस गुण को सापेक्षता का गुण कहा गया है। भौतिक पदार्थ को सजाने में एक योजना के अनुसार कार्यशील होकर उन्हें यथास्थान सजाना होता है। अवयवों के समूह को एक स्थान पर योजना-हीन स्वरूप में एकत्र कर देने से ही कला का पूर्ण रूप उपस्थित नहीं हो सकता। सारे भवन के सौंदर्य में प्रत्येक ईंट का अपना एक विशिष्ट स्थान तथा भाग है। कला का प्रत्येक खंड अङ्गी का अङ्ग समग्र का महत्वपूर्ण अवयव होता है। 'समग्र' में अवयवों का यह चमत्कार ही 'माधुर्य' कहा जाता है। यदि किसी सुन्दरी के सभी अंग सुन्दर और सापेक्ष हैं तो निश्चित रूप से वह परम सुन्दरी कही जायगी। यद्यपि सभी अंग अलग अलग हैं किन्तु मिलकर एक परम सुन्दर और 'लावण्यमयी' स्त्री का रूप धारण कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार ज्यामितिक आकारों में भी हमें तरंगायित करने का गुण उसके अवयवों के गुंफन से ही उत्पन्न होकर 'उदारता' नामक संज्ञा ग्रहण करता है। लावण्य और उदारता आदि गुण रूप तत्त्व में सहृदय को 'सजीवता' (जीवन) का अनुभव करा देते हैं। महाकवि हर्ष ने दमयन्ती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए उसके इन्हीं गुणों को सराहा है—

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतःस्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धि मप्युत्तरलकिरोति।

Claritas महोदय भी कहते हैं कि सुव्यवस्थित अंग-विन्यास से ही सौंदर्य का जन्म होता है।[1]

जिस प्रकार सौंदर्य-भावना के लिए प्रभाव की अन्विति का होना आवश्यक है ठीक उसी प्रकार रूप तत्त्व में 'समता' का होना अनिवार्य है। सौन्दर्य की व्यापकता 'समता' की अत्यन्त आवश्यकता होती है। बिना 'समता के सापेक्षता का भी कोई मूल्य नहीं है। 'समता' के लिए ही हम पहिले ज्योमेट्री में कोई रेखा, बिन्दु या कोण आदि मूल रूप में स्वीकार कर लेते हैं और अन्य रेखाएं उसी 'समता' में खींची जाती हैं। सुन्दर शरीर के सभी अंग 'समता' को दृष्टि में रखते हुए होने चाहिए। ठिगने शरीर पर बड़ा सिर कितना अरुचिकर प्रतीत होता है। जहाँ 'सापेक्षता' और 'समता' मिल जाती हैं वहाँ कोई साधारण पदार्थ (Object) भी सुन्दर बन जाता है। Plotinus ने भी समता में सौन्दर्य कहा है ?[2]

तीसरा तत्त्व सँगति विरोध का शमन करता है। विरोध को समाप्त करने के साथ साथ अनेक में एकता उत्पन्न करना इस गुण का प्रमुख कार्य है। इसी को unity in diversity कहते हैं।[3] इसके रूप तत्त्व

1—The beauty of any material is congruence of parts together with a certain sweetness. (Claritas)

2—'Beauty is rather a light that plays over the symmetry of things. (Plotinus)

3—This may be described as the principle that beauty consists in the imaginative or sensuous expression of unity in Variety. (B. Bosanquet)

का प्रमुख गुण होने का कारण सामंजस्य और समन्वय उत्पन्न करना है। काव्य, नाटक, चित्र, संगीत और मूर्ति आदि में जहाँ कहीं रूप है वहाँ 'संगति' भी है। बिना संगति के 'रूप' भी 'कुरूप' हो जायगा। यदि किसी चित्र को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उसमें अनेक रेखाओं की 'संगति' ही रूप तत्त्व को जन्म देती हैं। यदि रेखाओं की या रंग की 'संगति' न बिठाई गई होती तो क्या चित्र में सौन्दर्य उत्पन्न हो सकता था ! कविता के कला-पक्ष का विश्लेषण करने पर भी ज्ञात होता है कि शब्द अर्थ अलंकार आदि की संगति ही कवि के भाव का द्योतन कराती है। संगति न होने से कविता न सुन्दर होगी और न उससे 'रस' की 'चर्वणा' ही सम्भव है।

'भावना के रूप में अनेक अँगों का विन्यास, सहकारी भावनाओं का समावेश, तथा अन्य तत्त्वों की योजना जिस नियम के अनुसार की जाती है, उसे हम 'संतुलन' कहते हैं।' ह्वाइटहैड नामक विद्वान ने 'सन्तुलन' की व्याख्या की है और बताया है कि जब अनेक तत्त्व एक योजना में आवद्ध होकर एक दूसरे को आघात नहीं पहुँचाते वरन् सौंदर्य को उत्पन्न करते हैं वहीं सन्तुलन के दर्शन होते हैं। ह्यूम नामक दार्शनिक भी कहते हैं कि सौंदर्य की उत्पति वहीं होती है जहाँ सभी तत्त्वों को हम एक संतुलित रूप में प्राप्त करते हैं। इसी से हमें एक प्रकार का आनन्द या संतोष मिलता है।[1] मथुरा के म्यूजियम में रखी हुई गौतम बुद्ध की मूर्ति में सभी अंगों का विन्यास इस प्रकार का है जिससे उनके मन की शान्ति और अहिंसा की भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। यदि यह सन्तुलन बाहर और भीतर का उसमें न होता तो क्या वह उतनी आनन्ददायी हो सकती थी ? कविता में भी भाषा और भाव के सन्तुलन पर ही कविता की श्रेष्ठता आधारित होती है। रीति-काल में बिहारी की कविता इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है कि उसमें भाव और भाषा दोनों का उच्चस्तरीय सन्तुलन स्थापित किया गया है। भवन, चित्र, मन्दिर, मस्जिद तथा काव्य सर्वत्र जहाँ सौन्दर्य पाया जायगा वहाँ अवयवों का परस्पर सन्तुलन तथा भाव और रूप सन्तुलन अवश्य होगा।

सभी कलाओं में इन गुणों के प्रयोग तथा सौन्दर्यानुभूति से उसका सम्बन्ध निश्चित करना आवश्यक है। काव्य में शब्द और अर्थ का समन्वय, अर्थों की परस्पर संगति, सन्तुलन, सापेक्षता, शब्द चयन में ओज, माधुर्य आदि अनुभूतियों को जगाने वाली ध्वनि तथा गति में संगति और लय सौंदर्य को जन्म देते हैं। कविता की किसी पंक्ति के शब्दों को बिखेर कर अलग अलग कर दिया जाय तब क्या उन शब्दों को अलग अलग पढ़कर भी वही आनन्द आ सकेगा जो उस पंक्ति को उसके मूल रूप में पढ़कर आता है—उत्तर है कदापि नहीं। इससे सिद्ध हो जाता है कि कला के उपकरणों में सौंदर्य न होकर उसके कलाकार द्वारा निर्मित स्वरूप में ही सौन्दर्य होता है।[1] कवि बिना माध्यम (शब्द) के भावाभिव्यक्ति नहीं कर सकता, अत: रूप कला की रीढ़ है। साहित्य में अर्थ भी रूप युक्त होता है। साहित्य की अनेक विधाएं अनेक साहित्यक मूर्त्तियाँ हैं। यदि कहें तो कह सकते हैं कि ये अर्थ के अनेक व्यक्त रूप हैं। अपनी अनुभूतियों को मूर्त्त रूप देकर कलाकार कला का स्वरूप निर्माण करता है। नाटक में बीज से लेकर फल तक एक रूप विकसित होता चलता है। साहित्य में रूप का सौंदर्य महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

1—'Beauty is such an order and construction of parts as either by the construction of parts, as either by the primary constitution of our nature, by caution or by caprice, is fitted to give a pleasure and satisfaction to the soul.

(Treatise of Human nature)

1—Beauty is only in the form not in the materiel.' (Creuzer, P. 1003)

संगीत का वाहन स्वर है। इसमें गति आवश्यक है। इस गति पर ही सारे संगीत का आनन्द निर्भर है। अत: इस गति में संतुलन बना रहना चाहिए। लय और सुर की संगति बनी रहना अनिवार्य है। मधुर ध्वनियों में उतार-चढ़ाव का तारतम्य सदैव बना रहता है। गायकों ने नीचे से उठकर ऊपर तक पहुँचने के तारतम्य को खंडों में बाँट दिया है। भारत में ये २२ श्रुतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिन श्रुतियों के भेद हम अपने कानों द्वारा अनुभव कर लेते हैं उन्हें 'शुद्ध स्वर' कहा गया है। ये सात हैं—'सा रे ग म प ध नी'। इनमें 'स' और 'प' का रूप ज्यों का त्यों रहता है और पांच अपने मूल रूप से विकृत होकर अन्य पांच स्वरों का सृजन करते हैं इस प्रकार कुल १२ स्वर कहे जाते हैं। ये स्वर संगीत की वर्ण-माला हैं। जिनसे संगीत व्याकरण के नियमों के अनुसार अभ्यास करने पर मानव मन को सहज ही आनन्दित किया जा सकता है। संगीत में हमें भोग, रूप और अभिव्यक्ति तीनों तत्त्व मिलते हैं। भोग में मधुर और मन को द्रवित कर देने वाला नाद गृहीत होता है। संगीत में धीरे धीरे आरोह-अवरोह के द्वारा सहृदय में एक प्रकार की तन्मयता आ जाती है जिससे श्रोता लोकोत्तर आनन्द में डूब जाता है, यही रसावस्था है। संगीत का प्रभाव दो कार्य करता है (१) वह हमें जड़ता से हटा देता है तथा (२) जीवन में प्रवाहित करता है। संगीत का रूप देखा नहीं जा सकता उसे सुना जा सकता है। इसमें रूप के सभी गुण रहते हैं। संगीत में स्वरों का विन्यास जब तक उपयुक्त न होगा, तब तक सौंदर्य की उपलब्धि न होगी। गति, माधुर्य और लय का समन्वय संगीत को सभी कलाओं से अधिक व्यापक और पशुओं तक पर प्रभाव डालने वाला बनाता है। उक्त तीनों गुण (गति, माधुर्य और लय) काव्य ने भी संगीत से ग्रहण किए हैं। शब्द और अर्थ के साथ जब ये गुण मिल जाते हैं तो काव्य का सौंदर्य अगणित हो जाता है जिससे 'रस' की उत्पत्ति होती है। संगीत स्वरों का काव्य है और काव्य शब्दों का संगीत है। कलाओं में काव्य और संगीत का निकटतम सम्बन्ध है।

रेखाओं और वर्णों के सामंजस्य का फल चित्र होता है। इसका वाहन 'दृश्य' या 'स्थानिक' होता है। 'दृश्य-संगीत' का जो नाम चित्रकला को दिया गया है वह यथार्थ है। स्थानिक होने के कारण चित्र में गत्यात्मकता उत्पन्न करने के लिये रेखाओं को उतारचढ़ाव देकर संगति बिठाई जाती है। वर्णों में भी घनता और विरलता को स्थापित करके अनेक भावदशाओं को मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया जाता है। चित्र में अनेक रंगों और रेखाओं का प्रभाव हमें एक नवीन भावलोक में पहुँचा देता है और उस भाव में मग्न होकर जब पुन: चित्र पर दृष्टि जाती है तो जो नवीन भावोत्कर्ष की अवस्था आ जाती है वही रस दशा है और उसी को उत्पन्न करना चित्रकार का इष्ट होता है। चित्र की रेखा-भाषा संगीत के स्वर का कार्य करती है। स्वरों से जहाँ चित्त द्रवित होता है वहाँ रेखाओं से चित्ताकर्षण होता है। यदि चित्र में आकृति और भाव की संगति का अभाव हो तो चित्र की उत्कृष्टता ही अस्वीकृत नहीं होगी वरन् वह कला के उच्च स्तर से भी गिर जायगा, उसे असुन्दर कहा जायगा। साहित्य के समान चित्र में कोई भाव भी निहित रहता है जिसकी अभिव्यक्ति कलाकार का उद्देश्य है। एक सुन्दर चित्र सुन्दर काव्य है। भरत ने प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के लिए रंगों का चयन भी किया है।[1] रङ्गों का प्रभाव मनुष्य की मूलभूत भावनाओं से सम्बन्धित कुछ मनोविज्ञान-शास्त्री भी मानते हैं। हमारा मुख प्रसन्नता में लाल, दुख में पीला, पवित्र भावों के उदय होने पर उज्ज्वल और श्वेत रङ्ग का हो जाता है। रङ्गों की सहायता का उपयोग रूप निर्माण में किया जाता है। सुन्दर चित्र में रङ्गों के सामंजस्य से व्यापक प्रभाव उत्पन्न होता है जो रसमग्न कर देता है। चित्र का उद्देश्य दर्शक की कल्पना को जागृत करना होता है। रेखाओं के संकेत-मात्र से अनेक कल्पनाएँ सजीव होकर दर्शक को कल्पना-लोक में ले जाती हैं। अनेक ऐसी परिस्थितियों का दर्शक स्वयं सृजन कर लेता है जो वहाँ

१ श्यामो भवति श्रृङ्गारःसितो हास्यो प्रकीर्तितः। (भरत नाट्यशास्त्र)

उपस्थित नहीं हैं और इस प्रकार एक 'अन्तर्भावना' के जागृत हो जाने से वह चित्र उसकी प्राण शक्ति से अनुप्राणित होने लगता है। उस स्थिति में दर्शक आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। कीट्स के उदाहरण से हम इस सत्य को समझ सकते हैं। ग्रीस के कुछ पात्रों पर बने हुए प्राचीन चित्रों को लन्दन में देखकर उन्नीसवीं शती का सुप्रसिद्ध स्वच्छन्दतावादी कवि कीट्स अत्यन्त भावुक हो उठा था और एक कविता जिसमें उसने कल्पना शक्ति द्वारा उन चित्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर दिया था, कहता है—

'हे सुन्दर युवक! (जो चित्र में अङ्कित है) तुम जिन पेड़ों के नीचे खड़े हो उन्हें त्याग नहीं सकते हो। तुम्हारा संगीत स्वर कभी मध्यम न होगा और पेड़ों में कभी पतझड़ न आएगा!'[1]

इस प्रकार कीट्स ने बताया कि चित्रकला में शाश्वतता का बड़ा भारी गुण होता है। इस चित्र द्वारा जिस भूत-कालिक सत्य को स्थिर स्वरूप प्रदान किया गया है यही कला है और यही सौन्दर्य है। इसी आधार पर अन्त में कीट्स महोदय सत्य और सुन्दर की एकता स्थापित कर देते हैं। इनके अनुसार सौंदर्य ही सत्य है और सत्य ही सौंदर्य है।[2]

नृत्य का माध्यम गति है। गति में लय होती है। गति का अध्ययन करने वाले आधुनिक वैज्ञानिक बताते हैं कि प्रत्येक पदार्थ और अणु अणु तक गतिशील है। सभी में परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन ही विकास है। गति से जड़ता का नाश और जीवन प्रवाह में सरसता आ जाती है। भरत की नृत्य शैली के अनुसार नृत्य में अनेक भावों की अभिव्यक्ति गति और मुद्राओं द्वारा की जाती है। नृत्य की गतियाँ चित्र के रंगों की भांति मानव भावों की प्रतीक मानी जाती हैं। यदि नर्तक या नर्तकी अपनी सभी गतियों और मुद्राओं से एक ही भाव का अनुभव कराती है तो प्रेक्षक के हृदय में वही भाव जागृत हो उठता है। इसका विवेचन करते समय भरत ने बताया है कि 'सुनने की अपेक्षा देखने से रसानुभूति शीघ्र और व्यापक होती है', इसीलिए उन्होंने रस-विवेचन में नाट्य को दृष्टिगत करते हुए विश्लेषण किया है। भरत के अनुसार कला का मूल उद्देश्य सुख और विश्रान्ति है, क्योंकि सभी सुख की इच्छा रखते हैं।[1] सुख का मूल स्थान स्त्री है।[2] अतएव नृत्य के इस प्रकार को 'लास' कहा जाता है। स्त्रीत्व की अपेक्षा पुरुषत्व अधिक गतिशील और ओजवान होता है। अतः पुरुष के नृत्य को ताण्डव कहते हैं।

जीवन एक प्रवहमान सत्य है जिसमें वर्तमान कालीन प्रत्येक क्षण अगले क्षण भूतकालिक स्वरूप धारण कर लेता है। इस क्षण को पुनः लौटाया जा सकना संभव नहीं होता है। कलाकार इस क्षण को कला के माध्यम से शाश्वत स्वरूप प्रदान करता है। इसी माध्यम को मूर्ति संज्ञा से अभिहित किया गया है। कलाकार अपनी कल्पना और शिल्प के सामंजस्य द्वारा काल के गाल में गए हुए क्षण को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान कर देता है! एक क्षण का अनुभव होने के कारण मूर्त्ति का रूप स्थिर और अचल प्रतीत होता है किन्तु वह क्षण भी एक तरङ्ग की भाँति चंचल है। यदि हम कल्पना के सहारे उस क्षण का साक्षात्कार करते हैं तो उससे पूर्व तथा पश्चात् के अनेक क्षण साकार हो उठते हैं और वह मूर्ति हमें ऐसे कल्पनालोक का दर्शन कराती है जहाँ

1—Fair youth, beneath the trees, thou canst not leave.
The song, nor ever can those trees be bare;
(Keats : Ode on a Grecian urn)

2—Beauty is Truth, Truth Beauty'—that is all.
Ye know on earth and all ye need to know. (वही)

१—सर्वः प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा।
(भरत)

२—सुखस्य च स्त्रियो मूलं, नानाशील धराश्चताः
(वही)

जीवन तरल और उल्लसित होकर प्रवाहित होने लगता है। कलाकार ने जिसका मूर्ति में एक क्षण अंकित किया है उसका सारा जीवन हमारे सामने आजाता है और उसके आनन्द में हम तन्मय हो जाते हैं। आयाम, रंग, आकार आदि की संगति दर्शक के हृदय में अनेक भावनाओं को साकार स्वरूप प्रदान कर विशिष्ट को साधारणीकृत कर देती है। अन्य कलाओं में घन और आयतन का प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, जो मूर्तिकला की विशेषता है। मूर्तिकला के माध्यमों में लोच भी अधिक होता है। इसमें कलाकार अर्थ, स्वर, रंग आदि के अधीन नहीं रहता। 'गुरुता' जैसा गुण पत्थर में ही पाया जाता है। इसीलिए भारत में ईश्वर की अधिकाँश मूर्तियाँ पत्थर की ही पाई जाती हैं। इसमें कलाकार को सबसे अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव होता है। मूर्तियों द्वारा अद्भुत रस की व्यंजना बहुत सुन्दर होती है। शिवजी के वाहन, वृषभ, शूकर, कच्छप और सिंह आदि की मूर्तियाँ आज भी चमत्कृत कर देती हैं। अजन्ता की मूर्तिकला आज भी हमें रसमग्न कर देती है। कला के सौन्दर्य का विश्लेषण करते हुए अरस्तू और लौंजाइनस सभी ने आश्चर्य (wonder) और भय (awe) को विशेष महत्व प्रदान किया है। Sublimity में आश्चर्य का भाव होता ही है। मूर्तिकला में आश्चर्य के भाव को तृप्ति मिलती है।

मूर्तिकला जहाँ जीवन की गतिशीलता का स्थिर चित्र है वहाँ स्थापत्य या भवन-निर्माण-कला जीवन के शुद्ध शाश्वत तत्त्वों का मूर्तिकरण है। कला में रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होती है, दर्शन बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ भावना का स्थान नगण्य है; किन्तु जब बुद्धि तत्त्व को राग का आश्रय प्राप्त हो जाता है तभी वह तरल होकर कला का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। 'चिरंतन शाश्वत और अवाङ्मनसगोचर' तत्त्व को व्यक्त करने के लिये जहाँ अनेक अन्य माध्यम स्वीकार किए गए हैं वहाँ ज्यामितिक आकारों को भी स्थापत्य कला के माध्यम से यह पद प्राप्त हो गया है। साहित्य में इस तत्व का निर्देशन जब कोरे तर्क के आधार पर किया जाता है तो वह कला के क्षेत्र से बाहर की वस्तु होकर दर्शन की संज्ञा ग्रहण कर लेता है किन्तु जब यही दर्शन भाव-तत्त्व से तरलित होकर मधुर भाव मय मन्दिर का स्वरूप प्राप्त कर लेता है तो सौन्दर्य कहा जाने लगता है। 'भवन का सौन्दर्य' भी तदनुरूप भाव-समन्वय आदि पर आधारित होता है। उस तत्त्व में आरोपित गुणों के आभास की संगति जितनी अधिक कुशलता से शिल्पी बिठा सकेगा, उसमें उतना ही अधिक सौंदर्य उत्पन्न हो जायगा और वह उतनी ही उच्चकोटि की कला स्वीकार की जायगी।

ज्यामितिक आकारों में सीधी रेखाएँ अच्छी मानी जाती हैं और भवन-निर्माण में भी सीधी दीवारें इसी आधार पर बनाई जाती हैं। इसका कारण बताते हुए प्लेटो ने कहा है कि सामान्य ज्यामितिक आकृतियाँ हमें सबसे अधिक सुन्दर लगती हैं।[1] इसका विवेचन करते हुए बुशांके महोदय अपने इतिहास में बताते हैं कि ये आकृतियाँ एकता के शुद्ध उदाहरण हैं जो जीवन में सादगी, समता और क्रम की व्यंजना कराती हैं।[2]

भवन निर्माण में गोल खम्भे इसलिए लगाए जाते हैं कि प्रकृति में पेड़ों के बोझ को आश्रय देने वाले तने गोल होते हैं। सारी प्रकृति में सर्वश्रेष्ठ प्राणी नारी के स्तन गोल होते हैं और मानव के बोझ को उठाने

(शेष पृष्ठ १३१ पर)

1—Elementary geomatrical forms, even the straight line, and more particularly certain triangles, are set down as absolutely beautiful (Plato: Philebus)

2—We have interpreted this to mean that they are among the purest examples of unity in the form of simple, regular and symmetrical shape. (B. Bosanquaet : History of Aesthetic. P. 35)

आलोचना की मूल दृष्टि : सौन्दर्य-दृष्टि

प्रो० तारकनाथ बाली

सौंदर्य काव्य का एक अनिवार्य उपकरण माना है—भारतीय काव्य-शास्त्र में ही नहीं वरन् प्राचीन ग्रीक-काव्य-शास्त्र में भी। एक ओर तो यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

'सौंदर्यमलंकार: । काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्,'

और दूसरी ओर सत्यं शिवं, सुन्दरं का भी बोल-वाला है। इसलिए काव्य और सौंदर्य का घनिष्ट सम्बन्ध सभी को स्वीकार्य हैं। हीगेल ने कलाओं का जो वर्गीकरण किया है उसमें भी ललित तथा उपयोगी कलाओं के विभाजन के मूल में काव्य का एक प्रधान तत्व—सौंदर्य ही परिलक्षित होता है।

सौन्दर्य और काव्य के घनिष्ठ सम्बन्ध पर तो किसी को सन्देह नहीं हो सकता, किन्तु सौंदर्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कुछ सन्देह अंकुरित हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि काव्य-शास्त्र के सम्यक ज्ञान में सौंदर्य मीमांसा का क्या स्थान एवं महत्व है ? तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र में जो स्थान अलं-

---

(पृष्ठ १३० का शेषांश)

वाले पैरों की जंघाएं भी गोल ही होती हैं। ग्रीक और मिश्री कला के समान भारतीय कला में भी गुम्बदों और मेहरावों का बड़ा महत्व है। गोलवृत्त अपने में पूर्ण होता है तथा उसमें पूर्णता और महानता की भावना भी है इसीलिए ब्रह्म की पूर्णता को प्रदर्शित करने के लिये मन्दिरों आदि के भवनों में गुम्बद बनाए जाते हैं। इस माध्यम से कलाकार हमें उस परम-तत्व का अनुभव कराता है।

अन्त में निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि सभी कलाएं सौन्दर्य को आदर्श स्वीकार करती हैं और उद्देश्य एक ही होने के कारण अन्य अनेक संचालक तत्त्वों में भी सादृश्य है। सभी कलाओं के रूप तत्त्व में समान गुण पाए जाते हैं। कलाकार अपने भाव को अभिव्यक्त करने के लिए रूप का आश्रय ग्रहण करता है और उसमें अनेक गुण उत्पन्न कर उसे सुन्दर बनाता है। कलाकार कला के माध्यम से सौंदर्य को जन्म देता है और यह सौन्दर्य रूपतत्त्व के माध्यम से प्रस्फुटित होता है।

श्री 'महेन्द्रचन्द्र राय' ने ठीक ही कहा है कि "कला-सृष्टि भाव व कल्पना के वाह्य रूपायन के अलावा और कुछ नहीं है। रूपायन ही शिल्पकला का प्रथम और प्रधान व्यापार है। इसीलिए क्या साहित्य में और क्या अन्य किसी कला में सौंदर्य का अर्थात् सुसंगत रूप का प्रश्न एक मौलिक और अपरिहार्य प्रश्न है।"[1]

आज हिन्दी साहित्य में सौन्दर्य-सृष्टि-प्रक्रिया में काव्य, कथा, नाटक आदि रूपों में सौन्दर्य के रूप-नियमों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। खेद का विषय है कि प्रयोगवादी काव्य में भाषा, भाव, कल्पना, छन्द आदि के सामञ्जस्य, संगति, सुसम्बद्धता की ओर कम ध्यान दिया जाता है।

---

१ **मार्क्सवाद और साहित्य—महेन्द्रचन्द राय**
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
१९५७

कार-शास्त्र एवं छन्द-शास्त्र आदि को प्राप्त है वही स्थान सौंदर्य-शास्त्र का भी है।

यहाँ दो बातें स्पष्ट होनी चाहिए। प्रथम सौंदर्य अलंकारों तथा छन्दों से कहीं अधिक मूल भूत काव्य-गुण है। अलंकारों तथा छन्दों की उपयोगिता पर विचार करते समय हम यही कहते हैं कि अमुक रस के लिए अमुक छन्द अधिक उपयुक्त, अनुकूल या सुन्दर है तथा अमुक कविता में अलंकारों से उसकी सौंदर्य-वृद्धि या सौंदर्य-हानि हुई है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है; क्योंकि इस बात को समझ लेने पर यह मानना पड़ता है कि सौंदर्य काव्य का एक प्रधान तत्त्व ही नहीं वरन् वह काव्य-मीमांसा की एक **मूल दृष्टि है**, एक मूल कसौटी है तथा काव्य के अन्य उपकरणों का—छन्द-अलंकारादि का—मूल्यांकन इसी मूल दृष्टि या मूल कसौटी पर कस कर किया जाता है।

साहित्य-शास्त्र में दिए गए काव्य-दोषों के सामान्य ज्ञान से यह मान्यता और भी पुष्ट होती है। श्रुति कटुत्व, ग्राम्यत्व आदि दोष क्यों दोष हैं? क्योंकि वे काव्य के सौंदर्य को क्षति पहुँचाते हैं।

द्वितीय, सौंदर्य अलंकारों तथा छन्दों से कहीं अधिक व्यापक है। अलंकारों में भी सौंदर्य होता है, छन्द में भी सौंदर्य होता है, तथा शब्द-योजना आदि में भी सौंदर्य होता है। काव्य में सौंदर्य के इस व्यापक प्रसार एवं महत्व के विषय में भी किसी को सन्देह नहीं रह जाता।

भारतीय काव्य-शास्त्र की समृद्धि के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता है। किन्तु यह प्रश्न आ सकता है कि जब सौन्दर्य काव्य-मीमांसा की एक मूल दृष्टि है तो हमारे प्राचीन आचार्यों ने उसका विवेचन क्यों नहीं किया या इतना कम क्यों किया? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस पर सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है।

पहली बात तो यह है कि किसी को भी यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में सौंदर्य-मीमांसा नहीं के बराबर है। किसी ने भी काव्य-शास्त्र की मूल दृष्टि के रूप में सौंदर्य को स्वीकार नहीं किया है। इस पर भी कुछ लोग भारतीय सौंदर्य-शास्त्र की बात करते सुनाई पड़ते हैं। इसका एक कारण है। और वह यह कि वे लोग सौंदर्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के सूक्ष्म भेद को नहीं समझ पाते। और वह सूक्ष्म भेद यही है कि सौंदर्य मूल सूक्ष्म दृष्टि है जो काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के रूप में प्रतिफलित होती है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब सौंदर्य काव्य-शास्त्र की मूल दृष्टि है और उसका विवेचन हमारे काव्य-शास्त्र में नहीं हुआ तो फिर हमारे काव्य शास्त्र की क्या उपयोगिता रह जाती है? तब उसे किस आधार पर समृद्ध कहा जाए?

इस प्रश्न के उत्तर में पहली बात तो यह है कि संस्कृत के आचार्यों की मूल दृष्टि सौंदर्य की ही रही; किन्तु उन्होंने इस दृष्टि का विवेचन नहीं किया। जब औचित्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई और जब यह कहा गया कि अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का अन्य कोई कारण नहीं है, तो स्पष्टत: इस सिद्धान्त के मूल में सौंदर्य-दृष्टि ही कार्य कर रही थी। अनुचित असुन्दर एवं अग्राह्य है, उचित सुन्दर एवं ग्राह्य है। ऊपर दिए गए दोषों के संकेत में यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि संस्कृत के परवर्ती आचार्यों की दृष्टि सौंदर्य की नहीं वरन् रस की है। बाद के आचार्यों ने काव्य के प्रत्येक उपकरण का मूल्यांकन **रस-दृष्टि** से ही किया। जो तत्त्व रसोत्कर्ष में सहायक है वह वांछनीय एवं सुन्दर है और जो तत्व रसोत्कर्ष में बाधक है वह त्याज्य एवं असुन्दर है। उदाहरण के लिए अलंकार वहीं काव्य हैं जहाँ वे रसोत्कर्ष में सहायक हैं, और जहाँ वे रसोत्कर्ष में सहायक नहीं, बाधक हैं वहाँ वे सर्वथा त्याज्य समझे जाते हैं। प्रथम रूप में अलंकार सुन्दर है और द्वितीय रूप में असुन्दर।

अब यहाँ एक अन्य जटिल समस्या उपस्थित होती

हैं। संस्कृत के परवर्ती काव्य शास्त्रियों की दृष्टि रस-दृष्टि है और मैंने ऊपर यह कहा है कि काव्य-शास्त्र की मूल दृष्टि सौन्दर्य-दृष्टि है। इन दोनों में से कौन सी मूल दृष्टि है? सौंदर्य एवं रस में क्या सम्बन्ध है?

जिस कविता में रस होता है वह कविता सुन्दर होती है इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता। सरस रचनाओं में तो रस और सौंदर्य दोनों हैं। उन रचनाओं में यह निश्चय करना चाहिए कि वे रस के, भाव के कारण सुन्दर हैं या सौंदर्य के कारण सरस हैं?

स्पष्टत: रस तो बाद की चीज है। जब काव्य के अन्य सारे तत्त्व—भाव, कल्पना, विचार एवं शैली सुन्दर एवं समरस रूप में संगठित होते हैं तभी वह सरस बनता है। इन सब तत्त्वों का सौंदर्य मिलकर ही रस की सृष्टि करता है। इसलिए काव्य में सौंदर्य के कारण ही रस की सर्जना होती है। काव्य-योजना की दृष्टि से सौंदर्य रस से अधिक मूलभूत तत्त्व है।

किन्तु उपर्युक्त तथ्यों से एक दूसरा निष्कर्ष भी निकलता है। भाव आदि तत्त्वों के सौंदर्य का प्रयोजन क्या है? उनकी सत्ता किसके लिए है? स्पष्टत: उनका सौंदर्य रस के लिए है। इसलिए रस सौंदर्य की अपेक्षा प्रधान है, क्योंकि सौंदर्य की सत्ता रस के लिए है, रस की सत्ता सौंदर्य के लिए नहीं है।

अब हमारे सामने दो सिद्धान्त हैं। प्रथम, सौन्दर्य काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि है एवं रस काव्य-शास्त्र (भारतीय) की प्रधान दृष्टि है। इन दोनों सिद्धान्तों में किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। हम इन दोनों को स्वीकार कर सकते हैं। दोनों ही सत्य हैं।

यह शंका हो सकती है कि क्या मूल दृष्टि ही प्रधान दृष्टि नहीं हो सकती? उत्तर यह है कि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। और प्रस्तुत विवेचन में ये दोनों दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि मूल दृष्टि का सम्बन्ध कारण से या व्यंजक से है और प्रधान दृष्टि का सम्बन्ध कार्य से या व्यंग्य से है।

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-शास्त्र की प्रधान दृष्टि रस दृष्टि का तो विस्तृत विवेचन किया है किन्तु उसकी मूल दृष्टि—सौन्दर्य दृष्टि—का विवेचन नहीं किया, **यद्यपि** उनके सारे विवेचन का आधार यही सौंदर्य दृष्टि है।

अब एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपर्युक्त विवेचन से सामाजिक को क्या लाभ होता है? चाहे उसे ये सब बातें ज्ञात हों चाहे ज्ञात न हों उसे तो सरस रचना में सौन्दर्य एवं रस दोनों की अनुभूति होगी ही। और यदि यह सत्य है तो उपर्युक्त विवेचन का क्या लाभ?

साहित्य के अतिरिक्त तीन अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व उससे सम्बद्ध होता है। एक साहित्यकार, दूसरा साहित्यालोचक और तीसरा सामाजिक! अनेक सिद्धांत ऐसे हैं जिनके ज्ञान के अभाव में सामाजिक की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु साहित्यकार तथा आलोचक के लिए उसका विशेष महत्व होता है।

परिभाषा की समस्या—अब सौन्दर्य की परिभाषा की जटिल समस्या आती है। किन्तु सौन्दर्य की परिभाषा की समस्या को उठाने के पूर्व परिभाषा की समस्या पर थोड़ा विचार करना अनिवार्य है।

विज्ञानेतर क्षेत्रों में परिभाषा की समस्या बड़ी जटिल है। परिभाषाओं का वास्तविक स्वरूप एवं महत्व तो विज्ञान में ही दिखाई देता है; क्योंकि किसी वस्तु की परिभाषा में उसका वह गुण दिया जाता है जो उस वस्तु में हो और साथ ही अन्य किसी भी वस्तु में न हो, ताकि अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता का ज्ञान भी हो जाये। एक त्रिकोण की परिभाषा में उसके जो गुण दिए जाते हैं वे किसी अन्य आकृति में नहीं होते।

परिभाषा की परिभाषा जान लेने पर अब यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाओं के क्षेत्र में किसी भी वस्तु की सही परिभाषा करना असंभव है। किन्तु फिर भी सुविधा के लिए प्राय: सभी वस्तुओं की परिभाषा की जाती है। किन्तु यह ध्यान रहे कि कला के क्षेत्र में एक ही वस्तु की कई परिभाषाएं हो सकती हैं और होती हैं।

किसी भी वस्तु या तत्त्व की परिभाषा तीन पहलुओं

से की जा सकती है : प्रथम उसकी उत्पत्ति की दृष्टि से जैसे (Poetry is spontanious overflow of powerful emotion) द्वितीय उसके स्वरूप की दृष्टि से (जैसे वाक्यं रसात्मकं काव्यं) और तृतीय उसके प्रभाव की दृष्टि से (जैसे कविता मनोभावों का परिष्कार करती है।)

सौन्दर्य की परिभाषा भी इन्हीं तीनों पहलुओं से की जा सकती है।

१—उत्पत्ति की दृष्टि से—कलाकार की अनुभूति का सहज उच्छलन सौन्दर्यमय होता है।

२—स्वरूप की दृष्टि से—सौन्दर्य एक संश्लिष्ट गुण है।

३—प्रभाव की दृष्टि से—सौन्दर्य सामाजिक को तल्लीन कर देता है।

१—कलाकार की साधना केवल शैली की ही साधना नहीं होती वरन् वह विषय की साधना भी होती है। शब्दों को आत्मसात करने के साथ-साथ वह नाम-रूपात्मक संसार के विविध दृश्यों को भी आत्मसात कर लेता है। शब्दों तथा दृश्यों को आत्मसात करने का यह प्रयास ही कलाकार की साधना है। जिसके फलस्वरूप उसमें अनुभूति का मानस लहरा उठता है जिसमें अभिव्यक्ति के विविध मनोरम कमल स्वयमेव खिल उठते हैं। मानसरोवर में खिलने वाले कमल सहज सौन्दर्य से विभूषित होते हैं। कलाकार की अनुभूति का उच्छलन भी सहज सौन्दर्य से अलंकृत होता है।

२—प्रत्येक वस्तु के समान काव्य में भी अनेक तत्त्व होते हैं। काव्य में अलंकार भी है, छन्द भी है, शैली भी है, भाव भी हैं, विचार भी है और इन सब तत्त्वों का अपना सौन्दर्य होता है। किन्तु काव्य का सौन्दर्य न तो केवल अलंकार का सौन्दर्य है और न केवल छन्द का, वह तो सभी तत्त्वों के गुणों की पूंजी है, सभी के सौन्दर्य की अविच्छिन्न राशि है, सभी के सम्मिलन से बना एक अखण्ड गुण है।

एक अन्य उदाहरण लें। ताजमहल के सौन्दर्य में उसके आकार का, उसके रूप का, अमर प्रेम का सभी का ही सौन्दर्य तो मिला हुआ है। फिर भी वह सौन्दर्य अविभाज्य है, अखंड है, समग्र है। इसी प्रकार संगमरमर के एक टुकड़े का सौन्दर्य उसके सफेद रंग, तेज चमक, कोमल स्पर्श आदि गुणों की अखंड सृष्टि है।

३—किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर द्रष्टा अपने आपको भूल जाता है। वह उस वस्तु के प्रभाव में बह जाता है। उसे स्व--पर का ज्ञान नहीं रहता। यह तल्लीनता की अनुभूति जितनी ही गम्भीर होगी दृश्य-वस्तु का सौंन्दर्य उतना ही उत्कृष्ट होगा। चेतना का आकाश सौन्दर्य की सुगन्धि में लीन हो जाता है।

अब हमारे सामने काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि, सौन्दर्य दृष्टि की मीमांसा का सवाल आता है। सौन्दर्य-दृष्टि पर विचार करते समय जो उलझन आती है उसका मूल कारण यह है कि हम सुन्दर शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में करते हैं। इस प्रयोग की व्यापकता के साथ-साथ उसमें धुंधलापन भी रहता है। ताजमहल में चमक है। किन्तु उसका सौन्दर्य गुण और यह चमक का गुण एक ही स्तर के नहीं। हम उस चमक को आँखों द्वारा देख सकते हैं। किन्तु सौन्दर्य को हम इस प्रकार किसी इन्द्रिय-विशेष से देख नहीं सकते। सौन्दर्य ताजमहल के सभी गुणों का संश्लिष्ट गुण है। इसे यों भी कह सकते हैं कि सौन्दर्य की अनुभूति में व्यक्ति की सभी इन्द्रियाँ सहायक होती हैं। इन्द्रियाँ ही नहीं व्यक्ति का मन एवं मस्तिष्क भी।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का रथ भाव (हृदय) तथा विचार (बुद्धि) दोनों चक्रों के आधार पर बढ़ता रहता है। ये दो शक्तियाँ मानव की मूल शक्तियाँ हैं, उसकी मूल संपत्ति है जिससे समाज के जीवन की समृद्धि के उपकरणों का संग्रह होता है। सौन्दर्य-दृष्टि में भी मानव चेतना के ये दोनों उपकरण या तत्त्व होते हैं।

सौन्दर्य-दृष्टि का एक पहलू रागात्मक पहलू है और दूसरा बौद्धिक पहलू है। उसमें भाव तथा विचार दोनों का सामंजस्य होता है। उसमें जहाँ एक ओर विचार की सूक्ष्मता होती है वहाँ दूसरी ओर भाव का उद्वेलन भी

होता है, जहाँ एक ओर सम्बद्धता होती है वहाँ दूसरी ओर समरसता भी होती है। किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन करते समय हम उसकी विचारात्मक समीक्षा भी करते हैं, जो वैज्ञानिकता के धरातल तक पहुँचती दिखाई देती है और साथ ही उसकी सरसता की भी परख करते हैं।

उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट हो जाने पर साहित्य एवं कलाओं सम्बन्धी विविध प्रकार की मूल्याङ्कन धाराओं की पारस्परिक भिन्नता का रहस्य भी समझ में आ जाता है। जहाँ तक आलोचक की सौन्दर्य-दृष्टि के रागात्मक पहलू का सवाल है उसमें अधिक भिन्नता की गुंजायश बहुत कम है और विरोध का तो सवाल ही नहीं पैदा होता। किन्तु भिन्न-भिन्न आलोचकों की सौन्दर्य-दृष्टि के बौद्धिक पक्ष में भिन्नता भी हो सकती है और विरोध भी। बुद्धि तत्त्व भिन्नता एवं विरोध को और अन्ततः संघर्ष को जन्म देता है। किसी आलोचक की सौन्दर्य-दृष्टि पर आध्यात्मिकता का रङ्ग गहरा होता है और किसी अन्य की सौन्दर्य-दृष्टि पर भौतिकता इत्यादि का।

उत्कृष्ट कोटि की सौंदर्य-दृष्टि वही है जिसमें विचार एवं भाव का सामंजस्य हो, किन्तु किसी की सौंदर्य दृष्टि में बौद्धिकता और किसी में रागात्मकता की प्रधानता भी होती है। यह भी भिन्नता का एक प्रधान कारण है।

सौंदर्य-दृष्टि के यही दो तत्त्व सौन्दर्य-गुण में भी पाए जाते हैं। सौन्दर्य एक साथ मानव के हृदय और उसकी बुद्धि को स्पर्श करता है। व्यक्ति की बौद्धिक एवं रागात्मक चेतना को एक साथ झंकृत कर देता है और उन गहराइयों को उभार देता है जहाँ हृदय और बुद्धि दोनों एकलय हो जाते हैं। जहाँ इनका द्वैत लीन हो जाता है। कलाओं के सौन्दर्य के प्रभाव की यही अनन्य विशेषता मानव सभ्यता में उन्हें अत्यंत ऊंचा स्थान दिलाने का कारण है।

प्रसाद जी ने काव्य को संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति माना है। इस संकल्पात्मक अनुभूति का जरा विश्लेषण तो कीजिए। संकल्प बुद्धि की चीज है और अनुभूति हृदय की। इन दोनों की समरस अवस्था ही संकल्पात्मक अनुभूति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के क्षेत्र में व्यक्ति की बुद्धि एवं हृदय का सामंजस्य है। आज के संसार के संघर्षों का प्रधान कारण बौद्धिकता एवं रागात्मकता का संघर्ष बताया जाता है, हृदय पर बुद्धि का प्रभुत्व बताया जाता है। ऐसी अवस्था में कलाओं का उनके गुण-सौन्दर्य के कारण कितना अधिक महत्व हो जाता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सौंदर्य वस्तुतः मानव शक्तियों को समरस कर देता है और यह सामरस्य की अवस्था ही आनन्द की अवस्था है जिसे व्यक्ति सामान्यतः प्राप्त नहीं कर सकता। यह अवस्था तल्लीनता की अवस्था तो कही जाती है। लेकिन स्पष्टतः यह समझना चाहिए कि यह आत्मविस्मृति की अवस्था नहीं वरन् आत्म-जागरण की अवस्था है, प्रबोधन का संकेत है जो सामाजिक चेतना को परिपुष्ट कर उसे निर्माण की ओर प्रेरित करता है। यही समाज में साहित्य के कृतित्व एवं उपयोगिता का मूल रहस्य है। इस जागरण और इस प्रेरणा की शक्ति एवं सफलता का मूल कारण यही है कि वह केवल बौद्धिक ही नहीं रागात्मक भी है।

इतिहास इस बात की गवाही देता है कि प्रत्येक युग के सत्य ने तब तक जनता को ऊर्जस्वित् नहीं किया जब तक साहित्य ने उसे सौंदर्यमय अभिव्यक्ति नहीं दी, जब तक साहित्यकार ने उसे बुद्धि और हृदय के समन्वति धरातल पर पहुँचाने की कोशिश नहीं की। कबीर और तुलसीदास में जो भेद बताया जाता है उसका प्रधान कारण यही है।

—:o!!o:—

हिन्दी कथा साहित्य : मर्यादा और मान्यताएँ

श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी

जादू वह; जो सिर चढ़ कर बोले। साहित्य कला की पहली शर्त है कि उसमें एक सम्मोहन हो, जादू हो। जादू इस अर्थ में कि वह पाठक, श्रोता अथवा दर्शक को अपने प्रभाव से अभिभूत कर ले, उनके मन-प्राण पर छा जाय, उसमें एक आवेगमय आकर्षण हो। यह एक ऐसी अत्यन्त ही साधारण एवं प्राथमिक, किन्तु अनिवार्यतः श्रेष्ठतम कसौटी है जिस पर हम न केवल कथा-साहित्य वरन् सम्पूर्ण काव्य के विविध अंग-उपाङ्गों को कस कर उनके खरे और खोटेपन की परख कर सकते हैं।

किन्तु यदि प्रश्न हो कि, हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति हमारी मान्यताएं क्या हों ? तो निश्चित रूप से हमारे निर्णय के लिए उपरोक्त कसौटी एकांगी, सीमित और अपर्याप्त सिद्ध होगी। साहित्य की मर्यादा और मान्यता निर्धारित करने के लिए हमारे मूल्यांकन की आधारशिला अत्यन्त ही व्यापक एवं विशाल होनी चाहिए। कारण, यह कि सृजन-प्रक्रया एक प्राणशक्ति (Living force) है। वह स्वर्ण की भाँति कोई मृतभार (Dead weight) नहीं है, जिसके खरे और खोटेपन की परख एक ही निकष द्वारा हो सके। हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति अपनी एक सुनिश्चित मान्यता निर्धारित करने के पूर्व हमें, उसे सृजनात्मक गल्प साहित्य की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने वाले अनेक निकषों पर कस कर उसके मूलभूत गुणों को ढूंढ़ना होगा।

वैसे, जब हम वस्तु और शिल्प के सूक्ष्म विस्तार में जाकर किसी साहित्यिक कृति का विवेचन और मूल्यांकन करते हैं, तो हमें कई प्रकार के आलोचनात्मक मापदण्डों का उपयोग करना पड़ता है जिनका एक शास्त्रीय महत्व होता है। लगभग वैसा ही महत्व जैसा कि शरीर विज्ञान के ज्ञाता के लिए ऑपरेशन के महान औजारों तथा एक्सरे आदि का होता है। किन्तु साधारणतः किसी मनुष्य के स्वास्थ्य का अनुमान डॉक्टर उसकी नाड़ी की धड़कनों के आधार पर ही लगा लेता है। एक सुनिश्चित क्रम, अनुपात और गति से नाड़ी का धड़कना बलिष्ठ और निरोग शरीर की पहली शर्त है। किन्तु व्याधि-हीन शरीर की एक अन्य अनिवार्य आवश्यकता भी है। वह है रुधिर शिराओं में नियंत्रित वेग से उष्ण रक्त का संचार। साहित्य के श्रेष्ठत्व की एक दूसरी मर्यादा है। और वह है,—उसमें पाठक, श्रोता अथवा दर्शक को जीवन के प्रति एक दृष्टि और दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य। आवश्यक नहीं, कि यह दृष्टि अथवा दिशा प्रदान करने की शक्ति सीमित, संकुचित उपयोगितावाद की समर्थक ही हो।

विश्व के 'दस श्रेष्ठतम उपन्यास' शीर्षक पुस्तक की भूमिका में सोमरसेट मॉम ने एक स्थान पर लिखा है—"उपन्यास वह, जो आनन्द से पढ़ा जा सके। यदि उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती तो वह दो कौड़ी का है। इस तरह प्रत्येक पाठक स्वयं अपना आलोचक होता है क्योंकि केवल वही जानता है कि किस कृति से वह आनन्दित होता है और किससे नहीं....." मॉम के प्रस्तुत कथन को हिन्दी कथा साहित्य के सन्दर्भ में एक सैद्धान्तिक एवं निरपेक्ष सत्य के रूप में स्वीकार कर सकने में हमें एतराज हो सकता है। किन्तु औपन्यासिक कला के जिस महत्वपूर्ण अंग की ओर उपरोक्त पंक्तियाँ संकेत करती हैं, उसकी गुरुता को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। निर्विवादित रूप से कथा-साहित्य के लिए सरस होना एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। किन्तु सरस होना ही सब

कुछ नहीं। यह एक सोपान-मात्र है। ऊपर अन्य अनेक सीढ़ियाँ हैं जिन्हें पार करके ही श्रेष्ठ-कथा-साहित्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

यदि सरसता को प्रथम सोपान मान लिया जाय तो विश्व के प्रतिनिधि कथा-साहित्य का हवाला देकर हम कह सकते हैं कि इस विशिष्ट सृजन यात्रा का अन्तिम सोपान जीवन के प्रति एक दृष्टि अथवा दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य की उपलब्धि है। इस सोपानद्वय की सीमा रेखाओं के बीच अन्य अनेक सीढ़ियाँ हैं जिनकी उपयुक्तता एवं औचित्य के सम्बन्ध में साहित्यिक मनीषियों में मतैक्य नहीं रहा है, किन्तु, जहाँ तक कथा साहित्य के इन दो मूलभूत गुणों का प्रश्न है, कुछ सूक्ष्म शाब्दिक हेर-फेर के साथ विश्व के सभी महान साहित्य-साधक, इनकी अनिवार्यता के सम्बन्ध में एक मत हैं। ऑस्कर वाइल्ड के कला सम्बन्धी सिद्धान्त एक अपवाद अवश्य प्रस्तुत करते हैं। किन्तु हिन्दी कथा साहित्य में इस एकाँङ्गी सिद्धान्त के आधार पर की गई रचनाएं कोई साहित्यिक महत्व प्राप्त कर सकने में असमर्थ रही हैं। उनका एक ऐतिहासिक महत्व अवश्य रहेगा।

पूर्व इसके कि हम हिन्दी-कथा साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को स्पष्ट निर्णयात्मक रूप प्रदान करें, यह आवश्यक है कि इस विशिष्ट कला-रूप से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन कर लिया जाय। विश्व-कथा साहित्य की पृष्ठभूमि में यदि सृजन-प्रक्रिया की प्रेरणात्मक शक्तियों पर विचार किया जाय तो इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से हमारे समक्ष तीन सिद्धान्त आते हैं। वैसे सांस्कृतिक संक्रमण के वर्तमान युग में प्रत्येक दर्शक अपना एक अभिनव 'वाद' प्रस्तुत कर रहा है। कथा-साहित्य ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण काव्य के शिल्प और वस्तु के सम्बन्ध में, सूक्ष्म तर्क-मंडित, एवं चमत्कारपूर्ण नूतन सिद्धान्तों का जन्म होता जा रहा है। किन्तु सृजनात्मक गल्प की मूलभूत प्रेरक प्रवृत्तियों का सफल प्रतिनिधित्व उन तीन सिद्धान्तों द्वारा हो जाता है। वे सिद्धान्त, क्रमशः आदर्शवाद, यथार्थवाद, तथा सौन्दर्यवाद अथवा कलावाद नामों से अभिहित किए जा सकते हैं। इन तीन प्रतिनिधि सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही अन्य अनेक सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए ज़ोला का तादृश्यवाद या प्रकृतवाद (नैचुरैलिज्म), बालज़क अथवा डिकेन्स का स्थूल यथार्थ-वाद, मार्क्सवादियों का सामाजिक यथार्थवाद, तथा फ्लाबेयर की वस्तुपरकता आदि सिद्धान्त यथार्थवाद के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं।

जाँ. पॉल-सार्त्र (Jean Paul Sartre) के अस्तित्ववाद (Existentialism) में दर्शन का पुट आ जाने के कारण सैद्धान्तिक स्तर पर वह यथार्थ-वाद से कुछ कटा-कटा नजर आता है। किन्तु इस अभिनव सैद्धान्तिक विचारधारा की छत्र-छाया में की गई गल्प-रचनाओं का जब हम निरीक्षण करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद भी यथार्थवाद की एक उपशाखा-मात्र है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस 'वाद' विशेष के आधार पर की गई रचनाओं में वस्तुतत्व के प्रति लेखक की चिन्तन-दृष्टि, उसका आधार-भूत मानसिक-धरातल, एवं सामाजिक यथार्थ की एक दार्शनिक उद्‌भावना आदि नवीनताओं में व्यापकता और गहराई की मात्रा अधिक है। किंचित् भिन्न शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि अस्तित्ववाद के आधार पर की गई रचनाओं में यथार्थ को एक नूतन परिवेश और आयाम के साथ उपस्थित किया जाता है।

सामाजिक यथार्थवाद के समर्थक मार्क्सवादियों की भाँति ही जाँ-पॉल-सार्त्र भी स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि ईश्वर तथा परलोक, दोनों ही झूठ हैं; इनका कोई अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार केवल मानव ही वास्तविक है, उसके लिए पलायन का कोई अन्य स्थान नहीं, अपनी विषम परिस्थितियों के विरुद्ध उसे ही संघर्ष करना होगा। 'Man is only what he makes of himself' जाँ-पॉल-सार्त्र का यह प्रिय वाक्य है। यहाँ तक तो सार्त्र के अस्तित्ववाद और मार्क्सवादियों के सामाजिक यथार्थवाद में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु यथार्थ के धरातल पर टिके हुए दोनों सिद्धान्तों के दार्शनिक निष्कर्षों में

जमीन, आसमान का अन्तर है। मार्क्सवादी सामाजिक यथार्थवाद जहाँ पर मानवता की प्रगति में दृढ़ विश्वास रखता है और मानव-प्रगति-विरोधी किसी भी व्यक्ति के व्यवहार उसकी भर्त्सना एवं उग्र विरोध के पात्र बनते हैं, वहाँ अस्तित्ववादी विचारधारा मानव प्रगति में अविश्वास करती है और व्यक्ति स्वातन्त्र्य को इतना अधिक महत्व देती है कि उसके समक्ष अच्छे, बुरे का विवेक, कनफ्युज्ड (Confused) अस्पष्ट और धुँधला पड़ जाता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं यहाँ पर जाँ-पॉल-सार्त्र के शब्दों को ही उद्धृत करूँगा। वे एक स्थान पर कहते हैं—"If any one says to me: And what if I have chosen to do evil ?' I will reply: 'There is no reason, why you should act otherwise." सार्त्र का यह कथन उनके अनियंत्रित स्वातन्त्र्य की विचारधारा का ही परिणाम है। उनका विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य परम स्वतंत्र है—सत्कर्म के लिए और कुकर्म के लिये भी। गनीमत है कि ऐसे दार्शनिक अथवा उनके मतानुयायी, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के हिमायती कोई महोदय न्यूरेम्बर्ग ट्रायल में न्यायाधीश नहीं थे वर्ना मार्शल गोरिङ्ग जैसे नाजी युद्ध-वर्बरों (War criminals) को अपनी शहादत-सफाई के लिए वकील करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक अन्य स्थान पर जाँ-पॉल-सार्त्र ने लिखा है कि वे प्रगति में विश्वास नहीं करते। उनके मतानुसार मनुष्य प्रत्येक युग में एक सा ही रहा है। उनके ये विश्वास (Nausea), (Reprieve) तथा (Raods to Freedom) जैसे उपन्यासों में प्रतिविम्बित हैं जिनमें उन्होंने जीवन को एक अस्तित्ववादी दार्शनिक किंवा साहित्यिक की निगाहों से देखा है।

यथार्थवाद के अन्तर्गत जाँ-पॉल-सार्त्र की विचार-धारा पर जरा विस्तार से विचार करने के विशेष रूप से दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि कथा-साहित्य के क्षेत्र में नई पीढ़ी के कलाकारों को आकर्षित एवं चमत्कृत करने वाला यह नवीनतम सिद्धान्त अथवा 'वाद' है। द्वितीय महायुद्ध का समसामयिक यह वाद आज भी अपने जन्म स्थान फ्राँस में पुराना नहीं पड़ा है और इस समय सारे यूरोप के तरुण साहित्यिकों का ध्यान द्रुतगति से आकर्षित कर रहा है। दूसरे यह, कि हिंदी साहित्य में भी सैद्धान्तिक स्तर पर यह वाद विशेष चर्चा का विषय बन चुका है। रचनात्मक क्षेत्र में भी इस विचार-धारा का प्रभाव कई गल्पकृतियों पर स्पष्ट है। सन्तोष का विषय है कि इस अभिनव सिद्धान्त का भारतीय संस्करण ही हिन्दी साहित्य में आ रहा है। यदि पेरिस-ब्रान्ड-अस्तित्ववाद अपने विशुद्ध एवं साँगोपाङ्ग रूप में हिन्दी कथा-साहित्व में आता तो निश्चय रूप से खतरे की बात होती।

वर्तमान युग में आदर्शवादी कला-सिद्धान्त आउट-आफ-डेट हो गया है। आदर्शवादी साहित्यकारों के अनुसार कला का विषय अथवा वस्तुतत्व ही ऐसा होना चाहिए जो महान और भव्य हो, मानवता का प्रगतिकामी हो, शिव एवं मंगलमय हो। समानता के वर्तमान युग में वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में, (जिसमें कथा के पात्र भी सम्मिलित हैं) किसी भी विचारधारा का अनुयायी साहित्यकार, आदर्शवाद द्वारा अनुमोदित विशेषाधिकार की नीति का समर्थन नहीं कर सकता। 'प्राकृत जन कीन्हे गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' वाले गोस्वामी तुलसीदास जी के सिद्धान्त का आज के साहित्यकार के लिए केवल इतना ही महत्व है कि किसी भी साहित्यिक कृति में उसके वस्तु-तत्व (Content) की भी पर्याप्त उपयोगिता होती है। हिन्दी कथा-साहित्य में यथार्थ और आदर्श का समन्वय प्रस्तुत करने वाला प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यहां पर किसी प्रकार के विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु यह बहुश्रुत कला सिद्धान्त भी प्रेमचन्द के जीवन-काल में ही ह्रासोन्मुख हो चुका था। उनकी अन्तिम रचना गोदान, आदि से अन्त तक यथार्थवाद की कंटकाकीर्ण भूमि पर टिकी हुई है।

तीसरा, 'सौन्दर्यवादी' अथवा 'कला-कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी एकाङ्गी है। इसके अनुसार कला का

मूलतत्व उसके शिल्प-सौंदर्य में निहित है। सौन्दर्यवादी, यह विचार धारा एक ओर तो नैतिक मूल्यों की अवहेलना करती है तथा दूसरी ओर रूप (Form) पर अत्यधिक बल देकर वस्तुगत संवेदना की तीव्रता को भी कुण्ठित कर देती है। केवल उक्ति की वक्रता अथवा चमत्कार के माध्यम से ही प्रथम श्रेणी का साहित्य नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। योरप में इस सिद्धान्त की छत्र छाया में साहित्य-सृजन करने वाले साहित्यकार हैं ऑस्कर वाइल्ड। वाइल्ड के मतानुसार कोई कलाकृति नैतिक अथवा अनैतिक नहीं हुआ करती। वे घोषणा करते हैं कि—'Books are well written or badly written.' कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी कथा-साहित्य में इस विचार-धारा की समर्थक रचनाओं को 'घासलेटी' साहित्य करार दे दिया गया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्यवादी एवं आदर्शवादी कला सिद्धान्त एकाँगी तथा युग सत्य के पोषक भी नहीं हैं। अतः हिन्दी कथा-साहित्य की मर्यादा एवं मान्यता निर्धारित करने के लिए हम इनका आँशिक उपयोग कर सकते हैं किन्तु ये सिद्धान्त हमारे आदर्श कदापि नहीं हो सकते। आज के साहित्यकार का सबसे बड़ा आग्रह यथार्थ-चित्रण पर है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यथार्थवाद दोष रहित है। वास्तविकता यह है कि यथार्थ के परिवेश और आयाम इतने व्यापक हैं कि इस क्षेत्र में उतरते ही कथाकार के समक्ष अपनाने और छोड़ने (Pick and choose) की समस्या उपस्थित हो जाती है और जब वह इस प्रक्रिया द्वारा अपनी कला को यथार्थ के धरातल पर लाने का प्रयास करता है तभी यथार्थवाद की अनेक शाखाओं तथा उपशाखाओं का सूत्रपात होता है। जब साहित्यकार इनमें से किसी विशिष्ट शाखा का दामन थाम कर उसके कला सम्बन्धी सिद्धान्तों की छत्रछाया में साहित्य-सृजन करने लगता है तो यथार्थवाद भी पूर्वाग्रहयुक्त और एकाँगी हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप हम सामाजिक यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद को ले सकते हैं। दोनों ही धाराओं के सृजनात्मक कथा-साहित्य में हमें मनुष्य के रागात्मक बोध का, उसके मानव पक्ष का प्रामाणिक चित्रण पर्याप्त मात्रा में नहीं प्राप्त होता है। यद्यपि, "एक ने मनुष्य को केवल अर्द्धविक्षिप्त, कामुक, विकृत, रोगी की स्थिति तक उतार दिया और दूसरी ने मनुष्य की वैयक्तिकता छीनकर उसे बने बनाए साँचे में ढाल कर कठपुतली में परिवर्तित कर दिया," वाली घोषणा से मैं सहमत नहीं हूँ किन्तु फिर भी उक्त अभियोग को हम सर्वथा निराधार भी नहीं कह सकते। हिन्दी कथा-साहित्य में दोनों प्रकार के उदाहरण मौजूद हैं।

चूँकि कथा-साहित्य से सम्बन्धित कोई भी सिद्धांत; चाहे वह आदर्शवाद हो, सौन्दर्यवाद हो अथवा यथार्थवाद के अन्तर्गत सामाजिक यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, स्थूल यथार्थवाद अथवा अस्तित्ववाद या कोई अन्य वाद हो—स्वतः संपूर्ण नहीं हैं और वे पूर्वाग्रहयुक्त एवं एकाङ्गी ही हैं इसलिए एक स्वाभाविक प्रश्न हमारे समक्ष अनिवार्य रूप से आता है—उत्कृष्ट कथा-साहित्य का आदर्श मापदण्ड क्या हो ? इस प्रश्न का उत्तर यदि हम एक वाक्य में देना चाहे तो कह सकते हैं कि जिस मापदण्ड के आधार पर हमने टाल्सटाय, डिकेन्स, दास्तावास्की, बालज़क, चेखव, फ्लावेयर, एमिल ब्रोन्टे, शरद, प्रेमचन्द आदि कथाकारों की रचनाओं का मूल्यांकन किया है वही मापदण्ड हमारा आदर्श होना चाहिए। किसी बड़े आलोचक अथवा साहित्यकार के सैद्धान्तिक मत का चश्मा न लगाकर यदि हम साधारण पाठक की हैसियत से विश्व की प्रथम श्रेणी की कहानियों और उपन्यासों को पढ़ें तो उनकी श्रेष्ठता के समर्थक दो श्रेष्ठतम तत्त्व हमें प्रमुख रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम तो यह कि विश्व कथाकारों की महानतम कृतियाँ पाठकों को अपने प्रभाव से अभिभूत कर लेती हैं, उनके मन-प्राण पर छा जाती हैं। उनमें एक आवेगमय आकर्षण होता है। दूसरे यह कि उनमें जीवन के प्रति एक दृष्टि अथवा दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य होती है। आवश्यक नहीं कि यह शक्ति स्थूल उपयोगितावाद की समर्थक ही हो किन्तु इतना तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि

श्रेष्ठ साहित्य का यही पक्ष मानवता के शाश्वत मूल्य-मर्यादाओं के योग-क्षेम का संरक्षक (Custodian) होता है।

हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को निर्धारित करने के लिए हमें विश्व कथा-साहित्य की उपरोक्त दो प्रतिनिधि विशेषताओं को, सैद्धान्तिक स्तर पर मार्ग दर्शन के निमित्त प्रकाश-स्तम्भ के रूप में स्वीकार करना होगा। इस दिशा में स्वतन्त्र रूप से कोई भी वाद सही निर्णय करने में हमारा सहायक नहीं हो सकता।

यहाँ, एक प्रश्न और उठता है। सृजन-प्रक्रिया के व्यावहारिक स्तर पर हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति हमारी मान्यताएँ क्या हों ? आज के विशृङ्खलता, बिखराहट एवं व्याकुलता के इस युग में यह समस्या और भी जटिल हो जाती है जब हम देखते हैं कि विश्वकथा-साहित्य के परदे पर कथाकारों का एक ऐसा दल उभर कर प्रकाश में आ रहा है जिसे इस बात की किंचित् परवाह नहीं है कि उनकी रचनाओं को कोई 'उपन्यास' की संज्ञा प्रदान करता भी है या नहीं। औपन्यासिक से कहीं अधिक कथाकार मनोवैज्ञानिक हैं। ऐसे उपन्यासकारों में वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, आन्द्रे जीद, प्रुस्ट, टामस शैन, तथा फॉकनर इत्यादि हैं। ये लेखक अपने कथा-प्रवाह के बीच में हठपूर्वक ऐसे अवसर उत्पन्न करते हैं जहाँ उन्हें अपनी विशिष्ट कला की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने तथा अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के कलासम्बन्धी दोषों की व्याख्या करने की स्वतन्त्रता हो। ये कथाकार मनुष्य के अन्तर्जगत की एक चित्रात्मक प्रतिलिपि (Photographic Copy) को सूक्ष्मतम विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए वे कला-सम्बन्धी नई शिल्पविधियों का प्रयोग करते हैं, जिनमें से मुख्य हैं—काल-विपर्यय (Time-Shift) पूर्व दीप्ति (Flash back) तथा चेतन-प्रवाह (Stream-Consciousness)। मानव जीवन का सांगोपाङ्ग प्रतिनिधित्व करना इन कथाकारों का दावा है।

ऐसी अवस्था में हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति वस्तु एवं शिल्प के व्यावहारिक स्तर पर सुनिश्चित मर्यादा और मान्यताओं को निर्धारित करना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दी कथा-साहित्य की उपलब्धियाँ, भाषा, वस्तु तथा शिल्प के स्तर पर अंग्रेजी, रूसी अथवा फ्रांसीसी कथा-साहित्य की तुलना में अभी बहुत कम हैं। इसलिए ऐसा कहने का तो हम अधिकार नहीं रखते कि पाश्चात्य देशों के लेखक कथा-साहित्य में जो प्रयोग कर रहे हैं वे निरर्थक हैं। किन्तु वहाँ के नए प्रयोगों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा। अभिव्यक्ति के इन नवीनतम माध्यमों को अच्छी तरह पचा कर ही हमें हिन्दी कथा-साहित्य में लाना होगा अन्यथा लाभ की जगह हानि की ही अधिक सम्भावना है।

हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति हमारी मान्यताएँ वस्तु और शिल्प के व्यावहारिक स्तर पर क्या हों ? इस प्रश्न का सही उत्तर पाने के लिए हमें पुनः विश्व के महान कथाकारों और उनकी कथाकृतियों से सहायता लेनी होगी। शिल्प एवं वस्तु सम्बन्धी नूतन सिद्धान्तों का प्रयोग अपने स्थान पर दुरुस्त है। किन्तु हिन्दी कथा साहित्य जब तक विश्वकथा-साहित्य की "महानतम सफलताओं का सुयोग्य अधिकारी नहीं बनता तब तक न तो वह उस परम्परा में अपनी कोई स्थिति ही बना सकता है और न उस परम्परा को आगे ही बढ़ा सकता है।" अतः शिल्प और वस्तु के व्यावहारिक स्तर पर हिंदी कथा-साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को विश्व के श्रेष्ठतम कथा-साहित्य के मूलभूत रचनात्मक गुणों के आधार पर ही हम निर्धारित कर सकते हैं। इस दिशा में सोमरसेट मॉम की निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारा उपयुक्त मार्ग-दर्शन कर सकती हैं। व्यावहारिक स्तर पर कथा साहित्य की आवश्यकताओं का निर्देश करते हुये मॉम लिखते हैं–'It should have a widely interesting theme...the story should be coherent and persuasive, it should have a begining, a middle and an end, and the end should be the natural consequence of the begining, the episodes

should have Probability and should not only develop the theme, but grow out of the story. The creatures of the novelists invention should be observed with individuality, and their actions should Proceed from their characters."

मॉम की उपरोक्त पंक्तियों के उद्धृत्त करने का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी कथा-साहित्य में अथवा विश्व-कथा-साहित्य में जो नए प्रयोग हो रहे हैं उनका कोई महत्व ही नहीं है। किन्तु विशेष रूप से हिन्दी में ये कथा प्रयोग अपने में साध्य नहीं, बल्कि भविष्य के सर्वाङ्गीण विकास की भूमिका-मात्र हैं। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले योरोपीय कथाकारों का उल्लेख हो चुका है। हिन्दी में जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेय की त्रिमूर्ति ने इस दिशा में मार्ग-दर्शन का कार्य किया है। किन्तु पिछली पीढ़ी के इन मान्य लेखकों के अतिरिक्त नई पीढ़ी के तरुण कथाकारों ने भी अपनी नवीनतम कृतियों में कथा के वस्तु एवं शिल्प सम्बन्धी नए प्रयोग किए हैं, जिनमें साहित्यिक उपलब्धि सम्भवत: उच्चकोटि की नहीं है किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है हिन्दी कथा-साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास की भूमिका के रूप में उनका विशिष्ट स्थान और महत्व है। ऐसे कथा प्रयोगों में मुख्य रूप से, सर्वश्री अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी', फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल', शिवप्रसाद 'रुद्र' का 'बहती गंगा', धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेलाल', गिरधरगोपाल का 'चाँदनी का खंडहर', नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'वाणभट्ट की आत्मकथा' आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्दी कथा साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को निर्धारित करते समय इन कृतियों को आदर्श नहीं मान सकते । औपन्यासिक कला के शाश्वत एवं अनिवार्य उपकरणों के सापेक्ष्य सन्दर्भ में निश्चित रूप से ये कृतियाँ एकाँगी सिद्ध होती हैं। अस्तु,

प्रस्तुत विषय के सैद्धान्तिक विवेचन के प्रकाश में अब हिन्दी कथा-साहित्य की प्रतिनिधि रचनाओं पर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। वैसे तो लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' से 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' तक हिन्दी कथा-साहित्य की विस्तृत सीमारेखाएं फैली हुई हैं किंतु यदि हम विषय प्रतिपादन की दृष्टि से थोड़ी देर के लिए हिंदी कथा-साहित्य का प्रारम्भ प्रेमचन्द से मानें तो भी काम चल सकता है। यथार्थ के प्रति एक प्रवल आग्रह प्रेमचन्द को अपने पूर्ववर्ती कथाकारों से अलग करता है। किन्तु प्रेमचन्द भी अपनी प्रौढ़तम रचना गोदान के पूर्व आदर्शवाद का दामन एकदम नहीं छोड़ सके थे। प्रेमाश्रम, रंगभूमि, सेवासदन आदि उनके सभी उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही सैद्धान्तिक स्तर पर उनकी सृजन प्रक्रिया का प्रेरणास्रोत है। किन्तु गोदान में आकर उन्होंने आदर्शवाद का दामन छोड़ दिया। प्रारम्भ से अन्त तक यथार्थ की निर्मम भावभूमि पर दृढ़तापूर्वक टिके रहने के बावजूद भी इस कृति में इतनी 'अपील' और सामूहिक जीवन के प्रति एक विद्रोही दृष्टि प्रदान करने की प्रेरणा है कि उसे तत्कालीन कृषक जीवन का महाकाव्य कह कर ही सन्तोष नहीं होता। सैद्धान्तिक स्तर पर सामाजिक यथार्थवाद का प्रतिनिधित्व करने वाली हिन्दी कथा साहित्य की यह प्रथम रचना है। दूसरा स्थान कौनसी कृति प्राप्त करेगी, यह अभी विवादित एवं अनिर्णीत ही है। वैसे सामाजिक यथार्थवाद के अतिरिक्त भी अन्य कला सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करने वाली कई कथा-कृतियाँ प्रतीक्षा-सूची में हैं जिनके लिए उनके हिमायती आलोचकों द्वारा जोरदार तर्क उपस्थित किया जा रहा है कि गोदान के बाद दूसरे नम्बर पर उन्हें रक्खा जाय।

गोदान के बाद हिन्दी कथा-साहित्य ने एक ऐसा मोड़ लिया जो निश्चित रूप से प्रेमचन्द-युगीन सामाजिक यथार्थवाद की परम्परा से भिन्न था। प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई मान कर, उसे अपने साहित्य का उपकरण बनाया था किन्तु नई साहित्यिक

चेतना से प्रभावित कथाकारों ने अपनी कृतियों से यह घोषणा की कि व्यक्ति स्वयं में एक इकाई है। इस विचार-धारा के प्रमुख लेखक हैं—सर्व श्री जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा स० ही० अज्ञेय। हिन्दी कथा-साहित्य में यह त्रिमूर्ति मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद से प्रेरणा ग्रहण करने वाले पहले खेवे के सफल कथाकारों की है। निश्चित रूप से 'शेखर : एक जीवनी', 'सन्यासी', 'सुनीता' और 'त्याग पत्र' ऐसी कथा कृतियाँ हैं जो अपनी एक विशिष्ट दिशा में मील के पत्थर गाड़ने की क्षमता रखती हैं अथवा कह सकते हैं कि गाड़ चुकी हैं।

मनोविश्लेषण तथा अन्तश्चेतनावाद के सूक्ष्म-सिद्धान्तों के प्रकाश में की गई उपरोक्त रचनाओं ने यद्यपि अपनी नवीनता, मौलिकता और आयाम की गहराई से हिन्दी पाठकों को चौंकाया तथा द्रुतवेग से उनका ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया; किन्तु इस प्रकार के समूचे कथा-साहित्य में एकाँगीपन था। जीवन के बहुमुखी एवं विविध छटामय विभिन्न पक्षों का साक्षात्कार हमें ये रचनाएँ नहीं करा सकीं। प्रेमचन्द के बाद काफी अरसे तक हिन्दी कथा-साहित्य एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक कुहासे से आच्छादित हो गया था।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी कथा-साहित्य में मानसिक कुण्ठा और मनोवैज्ञानिक कुहासे का युग समाप्त हो गया क्योंकि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के हिमायती लेखकों की साहित्य सर्जना अनवरुद्ध गति से चल रही है। अज्ञेय का 'नदी के दीप' तथा इलाचन्द जोशी का 'जिप्सी' मान्य लेखक द्वय की नवीनतम कथा-कृतियाँ हैं। वैसे जैनेन्द्र जी का 'विवर्त' शीर्षक एक उपन्यास अभी हाल में प्रकाशित हुआ है किन्तु उसमें वस्तुतत्व और रूप विधान किसी भी दृष्टि से ऐसी कोई नई बात हमें नहीं प्राप्त होती जो उनकी पूर्व अर्जित प्रतिष्ठा में कोई नया अध्याय जोड़ सके। वास्तव में इधर जैनेन्द्र जी दर्शन की ओर अधिकाधिक उन्मुख होते जा रहे हैं।

इन तीन लेखकों के अतिरिक्त भी मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद को सैद्धान्तिक रूप में अपना कर कथा-सृष्टि करने वाले दूसरे खेवे के तरुण कथाकारों की एक परम्परा हिन्दी में बन रही है किन्तु उनकी रचनाओं का विवेचन इस लेख में नहीं किया जा सकता वैसे, ऐसे तरुण कथाकारों का प्रतिनिधित्व करने वाले लगभग सभी लेखकों का नाम और उनकी एक एक कथा कृतियों का उल्लेख प्रयोगात्मक कथा साहित्य के प्रसंग में हो चुका है।

प्रेमचन्द के बाद सामाजिक यथार्थवाद का चित्रण करने वाले पहले खेवे के सफल कथाकारों में सर्व श्री यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और पहाड़ी के नाम आदर के साथ लिए जाते हैं। वैसे पहाड़ी जी ने अपनी प्रतिभा को कहानियों तक ही सीमित रक्खा है। सामाजिक यथार्थवाद को मार्क्सवादी वर्दी में पेश करने के बावजूद भी यशपाल में इतनी प्रतिभा है कि उनकी कथाकृतियाँ साहित्यिक गौरव प्राप्त करने में पूर्णरूपेण सफल रही हैं। अश्क जी का आग्रह यद्यपि सामाजिक यथार्थवाद पर बहुत अधिक है किन्तु उन्होंने अपने उपन्यास और कहानियों मेंमानव जीवन के निराशाजनक अवसादमय तथा कुत्सित एवं हेय पक्ष का ही अधिक चित्रण किया है। अश्क की कथा कृतियों में चित्रित अवसाद और वेदना तथा जैनेन्द्र अथवा अज्ञेय के उपन्यासों में चित्रित अवसाद एवं वेदना में धरती आकाश का अन्तर है। जैनेन्द्र और अज्ञेय के पात्रों की वेदना पाठक को एक दृष्टि प्रदान करती है किन्तु अश्क के पात्रों का अवसाद पाठक के हृदय में एक रुग्ण एवं अस्वस्थ भावना को जगाता है। 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'बड़ी-बड़ी आँखें' तथा उनकी अनेक कहानिओं में यह प्रवृत्ति आपको मिलेगी।

सामाजिक यथार्थवाद के समर्थक उत्साही लेखकों में डॉ० रांगेय राघव का नाम उल्लेखनीय है। श्री भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के उत्तर में लिखा हुआ 'सीधे सादे रास्ते' शीर्षक उनका उपन्यास काफी ख्याति अर्जित कर चुका है। इधर अभी

हाल में प्रकाशित "कब तक पुकारूं" शीर्षक उनका उपन्यास वस्तु तत्त्व की दृष्टि से अपने ढंग का अकेला है ।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री तथा ऋषभ चरण जैन के उपन्यास और कहानियाँ समाज के उपेक्षित, घृणित, एवं कुत्सित अंगों को उभार कर प्रकाश में लाती हैं । यद्यपि 'उग्र' जी का दावा है कि वे ऐसे चित्रण द्वारा सामाजिक सुधार करना चाहते हैं किन्तु उनकी रचनाओं का प्रभाव एकदम इसके बिपरीत होता है ।

श्रीभगवतीचरण वर्मा की रचनाओं को हम सीमित अर्थ में किसी कला सम्बन्धी सिद्धान्त अथवा वाद से प्रभावित नहीं पाते हैं । उनकी रचना 'चित्रलेखा' को हिन्दी साहित्य में अन्यतम स्थान प्राप्त है । क्रमश: सामाजिक यथार्थवाद तथा भले वैज्ञानिक यथार्थवाद के समर्थक कथाकर श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी के नाम भी उल्लेखनीय हैं ।

ग्रामीण और शहरी सामाजिक जीवन के बहुमुखी चित्रण की जो यथार्थवादी स्वस्थ परम्परा हमें प्रेमचन्द द्वारा प्राप्त हुई थी वह गोदान के बाद सहसा टूट सी गई । एक दशक से भी अधिक अवधि तक प्रेमचन्द परम्परा का विकास अवरुद्ध रहा । किन्तु अब नई पीढ़ी के तरुण कथाकारों ने प्रेमचन्द परम्परा में नई कड़ियाँ जोड़ना प्रारम्भ कर दिया है । विशेष रूप से ग्रामीण जीवन का चित्रण तो इन नए लेखकों के उपन्यास और कहानियों में सराहनीय ढंग से आ रहा है । नई पीढ़ी के इन आंचलिक कथाकारों में मुख्यरूप से, सर्व श्री फणीश्वर रेणु, नागार्जुन, डॉ लक्ष्मी नारायण लाल, उपन्यास के क्षेत्र में, तथा द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निगुण', शिवप्रसादसिंह और मार्कण्डेय के नाम कहानी के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं । रेणु का 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', नागार्जुन का 'बलचनमा', 'नई पौध', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेश्वर नाथ' तथा 'वरुण के बेटे' और डा० लाल का 'बया का घोंसला और साँप'—ये कथा कृतियाँ ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित नवीनतम आंचलिक उपन्यासों की प्रथम पंक्ति में आती हैं । निगुण जी के ग्यारह कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । इनमें से आधे से अधिक कहानियाँ शहरी मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित हैं । शिवप्रसाद सिंह का पहला कहानी संग्रह 'आर पार की मारम्भ' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है । मार्कण्डेय जी के तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । ये हैं क्रमश:—'पानफूल', 'महुए का पेड़' और 'हंसा जाई अकेला' । मार्कण्डेय जी की कहानियों में हमें ग्रामीण जीवन के गलत, अस्वाभाविक तथा अति रंजना पूर्ण चित्रण मिलते हैं । लेखक की बहुसंख्यक कहानियाँ ग्रामीण अंचल के जीवन का एक विद्रूप मजाक बन कर रह गई हैं ।

किसी बड़े शहर के 'सबर्ब' अथवा मुहल्ले को कथांचल रूप में लेकर लिखे गए आंचलिक उपन्यास भी हिन्दी कथा साहित्य में हैं । ऐसे उपन्यासों में श्री उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' तथा श्री अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' अपना विशेष स्थान रखते हैं । शहरी पात्रों के माध्यम से सामाजिक यथार्थवाद को मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार अनावृत ढंग से चित्रण करने वाले लाल उपन्यासों की परम्परा में सम्भवत: अमृतराय का 'बीज' पहली रचना होगी ।

हिन्दी कथा साहित्य के आधुनिकतम कथाकारों और उनकी कथाकृतियों का अत्यन्त ही संक्षिप्त विवेचन कर लेने के पश्चात यदि हमारे समक्ष यह प्रश्न रक्खा जाय कि क्या उपरोक्त कथाकारों की कोई भी ऐसी रचना है जिसे हम 'गोदान' के समकक्ष रख सकते हैं तो निर्णयात्मक स्वर में कुछ कहना असम्भव सा लगता है । सम्भवत: ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रख कर कुछ मनीषी आलोचकों द्वारा हिन्दी साहित्य में गतिरोध का स्वर उठाया गया था ।

हिन्दी कथा साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को निर्धारित करने में कोई 'वाद' विशेष हमारे सहायक नहीं हो सकते । शिल्प विधान एवं वर्ण्य वस्तु के व्यावहारिक स्तर पर निश्चित ही किसी भी कला सम्बन्धी

(शेष पृष्ठ १४४ पर)

सौन्दर्य और साहित्यिक समीक्षा

डा० दि० के० बेडेकर

साहित्य कृति के सम्बन्ध में हर एक की अपनी-अपनी पसंदगी होती है। मतमतान्तर होते हैं। इन सभी मतों की चर्चा करना सम्भव हो इसलिए साहित्य के निर्माण एवं समीक्षा के सम्बन्ध में कुछ सर्व सामान्य बातों पर सोचा विचारा जाना अपरिहार्य है। ऐसे एक शास्त्र की आवश्यकता है जिसमें इन विचारों का अंतर्भाव तथा एकसूत्रीकरण हो। इस शास्त्र के सिद्धान्त अगर पर्याप्त मात्रा में व्यापक एवं लचीले हों तो वह शास्त्र साहित्य ही की तरह चित्र, शिल्प, संगीत-नृत्यादि सभी कलाओं का भी शास्त्र बनेगा। फिर उसे 'कला-स्वरूप शास्त्र' जैसा सार्थक नाम भी दे सकते हैं। बल्कि ऐसा एक शास्त्र प्राचीन समय से अस्तित्व में है ही। हमारी सारी साहित्य समीक्षा की भित्ति यही शास्त्र हो इस बात की नितान्त आवश्यकता है। मेरे प्रतिपादन का यही प्रमुख सूत्र है।

इस पर पहले ही कोई यों आक्षेप कर बैठेगा—जब आप इस शास्त्र की आवश्यकता बतलाते हैं तब आप समीक्षा की आवश्यकता स्वीकार कर ही लेते हैं। लेकिन साहित्य के रसास्वादन के लिए समीक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। अच्छा नाटक पढ़ा, अच्छी कविता पढ़ी या कोई सुन्दर शिल्प देखा तो रसिक को अपने आप ही कलात्मक अनुभूति प्राप्त हो ही जाती है। उसके लिये किसी मध्यस्थ की—मतलब समीक्षक की—आवश्यकता नहीं होती। उलटे, समीक्षक के विश्लेषण से सौन्दर्य का सपना टूट जाने का डर रहा करता है। अथवा इसके असुन्दर को सुन्दर सिद्ध करने के लिये पारिभाषिक शब्दों का आडम्बर खड़ा करने की समीक्षकों की चतुराई डरावनी होती ही है।

दुर्भाग्य से हमारे यहां आज ऐसी परिस्थिति उपस्थित है कि किसी को भी स्वाभाविक रूप से लगता है कि ऊपर के आक्षेप में अवश्य कुछ तथ्य है। मैंने खुद ही अनेक बार बड़े अजीब अनुभव प्राप्त किए हैं। एक बार मैंने अपने एक नव साहित्य प्रेमी मित्र से कहा, "वामन पण्डित की 'भीष्म प्रतिज्ञा' में अथवा 'वनसुधा' में क्या ही कलात्मकता है। 'सत्राणें उड्डाणें हूंकार वदनीं। करि डलमल भूमण्डल। सिंधूजल गगनीं।' श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के इन उद्गारों में क्या ही सामर्थ्य है।" उसको लगा मैं कुछ अंट संट बक रहा हूँ या व्यंग्य कर रहा हूँ। किसी और समय मेरे एक बुजुर्ग मित्र ने मुझसे कहा, "मर्ढेकर की कविता में इतना

(पृष्ठ १४३ का शेषांश)

नूतन सिद्धान्त का स्वागत होना चाहिए किन्तु ऐसे सिद्धान्तों का सानुपातिक उपयोग विवेकपूर्ण ढंग से करना होगा। मनोविश्लेषण तथा अन्तश्चेतनावाद के नाम पर, कलावादी सिद्धान्त के नाम पर, तथा सामाजिक एवं मार्क्सवादी यथार्थवाद के नाम पर भी, हिन्दी कथा साहित्य में इस ढंग की अनेक रचनाएं आई हैं जो कथा साहित्य के मूलभूत गुणों का परिहास मात्र प्रस्तुत करती हैं। जैसा कि श्रेष्ठ कथा साहित्य की अनिवार्य आवश्यकताओं के सैद्धान्तिक विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है, इस सम्बन्ध में हमारी मान्यताओं का आधार वे ही मूलभूत शाश्वत उपकरण होंगे।

भोंडापन और बनावटीपन है; फिर भी आप उनके कायल बनते हैं इसी पर हमें बड़ा अचरज होता है। बकरे को कंधे पर उठा ले चलने वाले ब्राह्मण को अन्त में जाकर जैसे विश्वास होने लगा कि कंधे पर बकरा नहीं कुत्ता है, ठीक वही हालत हमारी भी हो जाती है। नये और पुरानों में मतभिन्नता है। केशव सुत को लेकर झगड़े हैं, यहाँ के पैदा हुए और परकीय भाषाओं से उधार लिए गए 'वाद' बतंगड़ मचा रहे हैं, नये-नये पारिभाषिक शब्दों की विभीषिका मुँह बाये खड़ी है। इस सारे हो हल्ले से समीक्षा के बारे में एक प्रकार की नफरत पैदा होना स्वाभाविक है।

लेकिन हाँ, इस प्रकार की नफरत पैदा होना उसूलन सही नहीं है।

क्या सबों को बिना प्रयत्न के एक ही प्रतीति ला देने वाली कलाकृति हो सकती है? बेशक नहीं! फिर मतभेदों से हैरान होकर काम नहीं बनेगा; न समीक्षा के प्रयत्नों से उकता जाना शोभा देगा। हम मानव प्राकृतिक रीति से ही समूह-प्रवृत्ति के संकेत पर चला करते हैं। स्वयं को जो पसन्द आता है, उसे दूसरों पर प्रकट किया करते हैं और मनमें अभिलाषा रखा करते है, कि उसे भी वह पसन्द आ जाये। इस आपसी आदान-प्रदान से ही कला के विषय में समीक्षा का जन्म होता है। जब मुझे कोई शिल्प या काव्य सुन्दर लगता है तब मैं, मुझे वह क्यों सुन्दर लगा, इस बात को दूसरे पर स्पष्ट करने लगता हूँ। इसमें बेजा तो कुछ है ही नहीं, उलटे यह व्यवहार मनुष्य को शोभा देने वाला एवं अति आवश्यक व्यवहार है।

तब यह सिद्ध होता है कि समीक्षा बिल्कुल स्वाभाविक रीति से अर्थात् मनुष्य के प्रकृति धर्म के कारण ही पैदा होती है। आनन्दोपभोग को सिर्फ अपने तक ही सीमित रखना मनुष्य का स्वभाव ही नहीं है। विषय की समीक्षा कीट्स् जैसे कवि की मृत्यु का कारण बनी और आज पाया जाता है कि उसी प्रकार की आलोचना केशव सुत से लेकर मर्ढेकर तक सबों के भाग्य में बदी रह चुकी है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि इस प्रकार की कामसी आलोचना से कला के पंखों के काटे जाने का खतरा रहा करता है। तिस पर भी मुझे लगता है कि सिर्फ मैं ही नहीं, हम सब सात्विक समालोचना की आवश्यकता से सहमत होंगे।

यहाँ विषयांतर का दोष स्वीकार करते हुये भी मैं कला के विषय में कुछ और विवेचन आपकी सेवा में प्रस्तुत करने जा रहा हूँ क्योंकि मुझे विश्वास है कि यह विवेचन हमारी आगे की चर्चा में काम आयेगा।

आजकल कहीं-कहीं एक बात उठायी जाती है कि साहित्य में अन्न-क्षुधा तथा लैंगिक-क्षुधा की परितृप्ति का वर्णन क्यों न हो? इस प्रश्न के उत्तर से अभी-अभी तो मुझे कुछ मतलब नहीं, लेकिन मैं सिर्फ एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्रत्यक्ष जीवन में जिस प्रकार भाँति-भाँति की क्षुधाएँ और प्यासें हैं, और जीवन में जैसे हम उनके क्षोभ एवं उपशम को अनुभव किया करते हैं उसी प्रकार साहित्य में भी क्षुधाओं का क्षोभ एवं उपशम हो। शायद यही बात ऊपर उठाई हुई बात की तह में हो। क्षुधा शब्द के साथ-साथ भावना, भावतृप्ति वगैरा शब्दों को भी लिया तो यही कल्पना अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट होगी। इस कल्पना में किसी श्रद्धा के दर्शन होते हैं कि भावनाओं का क्षोभ (कम से कम उद्दीपन) और उनका उपशम ही कलावृति का कार्य एवं सार्थकता है।

यहाँ भावना और क्षुधा की अभिज्ञता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। ऊपरी तौर पर ऐसा मालूम होगा कि क्षुधा शब्द में देहात्मकता की गंध है और भावना शब्द में मनोव्यापारात्मकता की छाया है। फिर भी मैं कहूँगा कि दोनों में दिखायी देने वाला यह फर्क बुनियादी नहीं है। हमने सुविधा के लिये एक ही मानवी व्यापार के देहात्मक, मनात्मक जैसे विभाग किये हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये, कि किसी अपत्यहीन स्त्री में वात्सल्य भावना रहा करती है। वह एक रूप में मातृत्व की क्षुधा भी होती है। उधर मन नाम की अधर में तिरने वाली मंजूषा में बन्द पंछी जैसी 'भावनाएँ' छटपटाया करती हैं और इधर देह की नस-

नस में क्षुधाओं की घुड़दौड़ जारी रहती है। क्या हम इसे स्वीकार कर सकते हैं ? हमारी भाषा में तथा अन्य भाषाओं में भी भावना तथा क्षुधा की अभिन्नता को ही माना गया है। छाती पर साँप लोटना, खून खौलना, हृदय धक से होना जैसे देह व्यापार का वर्णन करने वाले शब्दों के प्रयोग ही करुणा, क्रोध, प्रेम, भीति आदि भावनाओं का भी वर्णन करते हैं।

ऊपर के जैसे प्रश्न तब तक, सच कहूँ तो, खड़े भी नहीं हो सकते जब तक हम इस संकेत को स्वीकार भी नहीं करते कि क्षुधाओं का (अथवा भावनाओं का) उद्दीपन एवं उपशमन साहित्य के द्वारा हो। पाया यह जाता है कि ऐसे संकेत को माना जाता है और समीक्षा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि यह संकेत ग्राह्य है या नहीं ? मेरी राय में वह संकेत (अथवा उसे तत्त्व कहिये) अग्राह्य माना जाना चाहिये। सिर्फ दिल-बहलाव की रचनाओं में वह संकेत ग्राह्य मानना होगा, लेकिन कलाकृति में हम उसे कदापि ग्राह्य नहीं समझ सकते।

ऊपर की बात को स्पष्ट करने के लिये मैं रक्त पिपासा का ही उदाहरण लेता हूँ। प्रणय, वात्सल्य, वीरता जैसी जीवन को समृद्ध बनाने वाली भावनाओं के साथ-साथ इनकी विरोधी क्रोध, मत्सर, भय जैसी भावनाएँ मानव मन में हुआ करती हैं। इन तामसी भावनाओं के अतिरेक एवं विकृति से रक्त पिपासा की विकराल भावना (अथवा भाववृत्ति) का निर्माण होता है। रोमन साम्राज्य के या संस्कृति के गिरावट के दिनों में यह भावना बहुत जोरों पर थी और एक मैदान में हिंस्र पशुओं द्वारा गुलामों को खिलाने का खेल देखने का शैतानी शौक रोमन नागरिकों पर हावी था। रक्त पिपासा की यही राक्षसी भावना हमारे देश के राजनैतिक एवं साम्प्रदायिक झगड़ों-फसादों में दिखाई दे चुकी है। योरप में भी फासिज्म के शासन में, जेलों में और महासमर में रणक्षेत्र पर इसी भाववृत्ति का तांडव पाया जा चुका है। इस अघोरी भाववृत्ति का उद्दीपन एवं उपशमन आज भी कई चित्रपटों और साहित्यिक रचनाओं द्वारा हो चुका दिखाई देता है। इनमें तथाकथित रसिक रक्त पिपासा के प्रत्यक्ष क्षोभ एवं उपशम को उपभोग नहीं कर सकता पर सामने निर्माण की गई मानवी प्रतिकृति के साथ वह 'सहानुभूति' कर सकता है। पर चेष्टाओं से वह अपनी भाववृत्ति के क्षोभ एवं उपशम को अनुभव कर लेने का सुख प्राप्त कर लेता है। मढेंकर ने लिखा है—"भोग शून्य कर्ता है भोग व्यथा का लिंग गण्ड प्रच्छन्न प्रदर्शन।" यही वर्णन कुछ-कुछ अंशों में परचेष्टाओं से उपभोग की हुई सुख व्यथा पर लागू होता है।

साहित्य या चित्रपट के संबंध में 'न अतिचरामि' "बाह्यात् चलूँगा नहीं' जैसा मेरा बाणा है। तिसपर भी रक्तपिपासु सुखव्यथा का निर्माण करने वाले चित्रपट देखना या साहित्य पढ़ना अनेक बार मेरा भाग्य (दुर्भाग्य) रहा है। उनको देखते या पढ़ते देह-मनका क्षोभ हो उठता है अथवा साफ साफ शब्दों में कहना हो तो मतली आने लगती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बड़ा पुर असर साहित्य रहा करता है। उसकी लंबाई, चौड़ाई और गहराई, तात्पर्य उसके त्रिपरिमाण बड़े विराट होते हैं। वह बड़ी जीवन्त और प्रखर अनुभूति प्रदान करता है—क्योंकि जिंदा आदमियों को आपकी आँखों के सामने मर्मान्तिक पीड़ाएँ दे दी जाती हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसी कृतियाँ कलाकृति कही जा सकती हैं ?

इस विषय में मैं निस्संदिग्ध रूप से कहना चाहता हूँ कि ऐसी भावनोत्तेजक रचनाएँ कलाकृतियों में एक भी छोटा या बड़ा स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। फिर भले ही उत्तेजित की हुई भावनाएँ भली हों या बुरी हों। परचेष्टाओं से देहमनात्मक व्यापारों के उपभोग मनुष्य को कराए जा सकते हैं और ऐसे प्रक्षिप्त उपभोगों में मनुष्य रम भी जाता है। बात सही है लेकिन ऐसे उपभोगों का भोग लगाए रहना, कला की उपासना या साधना नहीं है। ऐसी भोगसाधना में रम जाने वाला मनुष्य अपनी अनुभूतियों को आनंदमयी मानेगा और कहेगा कि "इस आनंद में भले ही मैं और किसी से

सहभागी हो जाऊं या न हो जाऊं, वह मेरा अपना निजी सवाल है।" समीक्षक के लिये उससे सम्बन्ध रखने का कोई कारण नहीं। न समीक्षक उस रसिक की इस स्वानंद समाधि का भंग करने का पाप करेगा। जहाँ कला के निर्माण एवं प्रतीति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, उस क्षेत्र में समीक्षक कभी क़दम ही नहीं रखेगा। समीक्षक होने के साथ साथ समाज के मानसिक स्वास्थ्य की चिंता वहन करने वाला वह अगर हो तो वह अवश्य यह कहेगा कि इस तथाकथित साहित्य से होने वाली तामसी भाववृत्तियों की प्रक्षिप्त एवं परभृत तृप्ति समाज को अधःपतन की ओर ले जाने वाली है।

भावनोत्तेजक साहित्य (और उसी प्रकार की अन्य कारीगरी) को ऊपर बताये अनुसार वहिष्कृत करने के बाद प्रश्न उठता है कि समीक्षक या रसिक के सामने क्या सवाल रहता है? इस प्रश्न का जवाब देते समय क्षुधाओं या भावनाओं की तृप्ति को लाँघकर और आगे बढ़ना पड़ता है। प्राचीन एवं नवीन समीक्षकों ने जिसे 'सौंदर्य तत्त्व' की अनुभूति या 'रस' तत्त्व की प्रतीति कहा है उस प्रकार के किसी व्यापक तत्त्व तक पहुँचना पड़ता है। 'सौंदर्य' अथवा 'रस' इन शब्दों में विशिष्ट देशकाल का संदर्भ है लेकिन उनमें अभिप्रेत होने वाला तत्त्व कोरा भोगात्मक नहीं रहता। एक ही समय अनेक रसिकों को जिस काव्य में रस की प्रतीति होगी उस रसात्मक काव्य की चर्चा प्राचीन साहित्याचार्यों ने की है। उसी प्रकार आधुनिक 'सौंदर्य' तत्त्व के उपासक भी यही मानते आये हैं कि कलाकृति का सौंदर्य चिरंतन आनंद की प्रतीति देता है। वह प्रतीति किसी व्यक्ति के उपभोग जैसी अथवा मत के समान व्यक्ति विशिष्ट नहीं होती बल्कि वह सर्वजनीन एवं चिरंतन होती है। गरज़ यह कि सारी कला समीक्षा की नींव इस बात में है कि सभी मानवों को सौंदर्य की प्रतीति देने की क्षमता रखने वाला सौंदर्य कलाकृति में होता है।

इस 'सौंदर्य' अथवा 'रस' 'अथवा 'कांतात्मक गुण' का निर्माण करते हुए कलाकार कुछ विशिष्ट रचना किया करता है। साहित्य के संबंध में ही कहना हो तो वह नाटक के चरित्रों एवं घटनाओं का निर्माण करके उन्हें एक रचनानुबंध में गूंथ देता है। इन चरित्रों तथा भावनोद्दीपन के खेल के लिए निर्माण की हुई गुड़ियों में बड़ा भारी फर्क रहता है। उन गुड़ियों का काम आसान होता है। उन गुड़ियों का करतब इसी में सीमित होता है कि वे रसिकों के क्रोध या कामवासना का भोग साधन बनें। मिथ्याचार के लिए, क्षणिक उपभोग के लिए सामग्री बनने लायक लौकिक का स्वांग सजाया कि गुड़ियों का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है तथा रसिक भी सफल काम बन जाते हैं। पर कलाकृति के चरित्रों का यह कर्त्तव्य नहीं होता कि वे ऐसे मिथ्याचार का साधन बनें, न उन्हें लौकिक के स्वांग सजाने से मतलव रहता है। और इसीलिए ये पात्र गुड़ियां न होकर 'यथार्थ' होते हैं, फिर भी लौकिक दुनिया के जीवित पात्रों से भिन्न ही रहते हैं। शिल्प और चित्र के मानवदेह प्रत्यक्ष शरीर रचना से नपीतुली हूबहू समानता न रखते हुए भी जीवित और शक्तिशाली दिखाई देते हैं केवल कला की किमया के कारण ही।

अभी कुछ ही दिन हुए मैंने एक जगह शंकर पार्वती का कलेण्डर देखा। कामुकता का भावनोद्दीपन करने की आवश्यकता कलेण्डर बाँटने वालो कम्पनी और चित्रकार की नसनस में समायी हुई थी। हाथ में त्रिशूल था इसलिए शंकर और शंकर की बगल में खड़ी थी इसलिए पार्वती का अनुमान होता था। अन्यथा सारा मामला 'न भयं न लज्जा' ठाठ का था। हाँ इतना अवश्य सत्य है कि उस चित्रकार ने मानुषी देह का (खासकर स्त्री देह का) चित्रन बड़े वस्तु निष्ठ गौरव के साथ किया था। अब, दूसरी ओर, धारापुरी की गुफाओं का शिवपार्वती विवाह के शिल्प से साक्षात् कीजिए। न वहाँ वस्तु निष्ठ देह शिल्प है न गुलाबी रंग हैं। लौकिक से पूर्ण संबंध विच्छेद है। फिर भी उस काले ऊबड़ खाबड़ पत्थर की मूर्तियों के खण्डहरों की कलात्मकता आज भी आंखों को चौंधियाती है, हृदय को वरवस अपनी ओर खींच लेती है।

अब बिलकुल ही भिन्न प्रकार का एक दूसरा

उदाहरण हम ले लें। एक बार हम शतरंज का खेल खेल रहे थे। एक जिज्ञासु लड़का उसे ध्यान से देख रहा था। 'घोड़े को मारा' शब्द उसके कानों में पड़ते ही उसे बड़ा अचरज हुआ। घोड़े जैसी दिखाई देने वाली एक भी वस्तु बिसान पर नहीं थी। पेटी में फेंके हुए घोड़े को उठाकर वह बोला, "यह काहे का घोड़ा ? न इसके मुँह है, न टाँगें।" मेरे मित्र ने उसे जबाव दिया "अजी ! वह ढाई खाने की दौड़ा लगाता है इसलिए उसे घोड़ा कहते हैं।" जाने वह बेचारा कहाँ तक इस उत्तर से संतुष्ट हुआ होगा। पर मेरे मित्र ने बात समझा देने के इरादे से पूरी संजीदगी के साथ उत्तर दिया था।

शतरँज के रण मैदान का सारा व्यूह ध्यान में लाये तो उसका हर एक मुहरा उस घमासान में जी जान से हिस्सा ले रहा था। उसमें काल्पनिक कुछ भी नहीं था। ऊँट, हाथी, घोड़ा वगैरह सारे जानवर उस व्यूह की सीमा तक सच्चे ही थे, पर असली ऊँट, हाथी घोड़े से आकार में समान होने की उनके लिए आवश्यकता नहीं थी; न उस समानता के अभाव में कुछ बिगाड़ पैदा होना था। पर मान लीजिए, कोई कारीगर सच्चे समर क्षेत्र की भावनोद्दीपक प्रतीति देना चाहता है। अगर वह सेसिल बी डेमिल जैसा करोड़पति चित्रपट निर्माता हो तो वह क्या करेगा ? वह असली जीवित प्राणियों को सेट पर लायेगा और समर क्षेत्र की विकरालता का अपने भरसक आभास पैदा करेगा।

बिसान के मुहरों के विषय में लौकिक से होने वाला उनका संबंध विच्छेद बहुत बड़े स्वरूप का है। पर इस प्रकार के थोड़े बहुत संबंध विच्छेद की पद्धति का अवलंब करने पर कलाकार मजबूर ही है। कलाकार जिसका निर्माण करना चाहता है उसकी सूचना एवं सामग्री उसे प्रकृति से या जीवन से मिलती है। पर उन सूचनाओं में जो आकार और लय उसे प्रतीत होते हैं उनमें से वह एक व्यूह को सप्राण और अन्विति युक्त रचना करना चाहता है। उदाहरण के तौर पर कह सकते हैं कि नाट्य के व्यूह में उसके पैदा किए हुए चरित्र जीवित रूप में बिहार करते हैं। उस व्यूह के नियमों के मोटे ढाँचे की कैद भले ही उन पर हो फिर भी वे जीवित पात्र उसमें अपने दाँव घात पूरी आजादी से खेलने लगते हैं।

इस प्रकार की इस व्यूह रचना से और उसमें घूमने-फिरने वाले घटकों के जीवन्त और स्वाधीन जीवन से कलाकार एक अनोखा ही नया विश्व निर्माण करता है। फिर हम रसिक भी उस व्यूह में घुस जाते हैं।' 'एकच प्याला' का व्यूह हम लें तो उसमें सिंधु और सुधाकर के चरित्र हमें सच्चे प्रतीत होते हैं और उनकी प्रकृतियों, कृतियों तथा भाग्य गति के अनुभव हमें प्राप्त होने लगते हैं। इसी रूप में, राम और सीता, हेमलेट, नोरा या मर्ढेकर जी का गणपत वाणी ये सारे व्यक्ति रक्त मांस के व्यक्ति हैं। न ये गुड़ियाँ हैं, न किसी जीवित आदमियों की प्रतिमाएँ हैं।

कलाकार के निर्माण किये हुए व्यूह तथा उसके घटकों को हम लौकिक जीवन के व्यक्तियों एवं घटनाओं की परछाँही नहीं कह सकते हैं। ये कल्पना, प्रसूत हैं जरूर फिर भी हम उन्हें अयथार्थ नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार को तर्क की कसौटी पर कसें तो हेत्वाभास मालूम देगा। लेकिन कला की प्रक्रिया में ठीक यही घटित होता रहता है। और इसीलिए इसे न हेत्वाभास, न किसी और प्रकार का आभास कह सकते हैं। इस प्रकार के बिलक्षण फिर भी सत्य एवं जीवित विश्व का निर्माण करने का जादू मानवी प्रज्ञा में है अवश्य। यह सत्य है कि इस कला निर्माण की सामर्थ्य बिलकुल गुफा मानव से लेकर सभी मानवों में पायी जाती है और इसीलिए उसे निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए।

हाँ यह सत्य है कि कला की यह सामर्थ्य कुछ कम वेश के परिमाण में पायी जाती है। ग्रीकों में वह सामर्थ्य बड़ी भारी थी लेकिन लोगों में लगभग नहीं के बराबर थी। महाकाव्यों के निर्माण की शक्ति भारतीय संस्कृति की एक अवस्था में पायी जाती है। लेकिन आगे चलकर दिखाई देता है कि वह क्षीण होती गयी!

अन्य विषयों में पिछड़े हुए रूस के कलाकारों में गोगोल, दास्तोव्हस्की और टॉलस्टॉय पैदा हुए और इंग्लैण्ड में एक जमाना ऐसा आगया कि शेक्सपियर का निर्माण हुआ। हमारे यहाँ भी एलोरा की गुफाएं खोदने वाले शिल्प की परंपरा आगे चलकर धीरे धीरे क्षीण होती गयी और आज तो वह लगभग नाम शेष ही रह गयी है।

इस प्रश्न को हल करना आसान नहीं है कि कला-निर्माण की प्रक्रिया यह रूप क्यों पकड़े। यों कहकर हम इस प्रश्न का उत्तर देना टाल सकते हैं कि किसी व्यक्ति की आकस्मिक, रहस्यमय और अनाकलनीय प्रतिभा का यह आविष्कार है। लेकिन, उलटे हमारा यों कहना भी उतना ही भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध होगा कि सांस्कृतिक समृद्धि एवं वर्धिष्णु प्रवृत्ति से कदम से कदम मिलाकर कला अपनी प्रगति करती रहती है।

यहां हम इतना ही कह सकते हैं कि व्यक्तिगत और समुदायगत अनेक संमिश्र कारणों से भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में कला के विराट दर्शन के उज्ज्वल क्षण प्राय: होते रहते हैं। इस समय जन्म लेने वाले कलाकार जिस व्यूह की रचना करते हैं और जो नवसृजन करते हैं वह अतीत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल में भी जीवन तथा उस संस्कृति के सभी अंगों को स्पर्श करते हैं। रामायण जैसे महाकाव्य, एलोरा की गुफाओं जैसे महाशिल्प और टॉलस्टॉय के उपन्यासों जैसे गद्य महाकाव्य इसी स्वरूप के हैं। उनका कलात्मक व्यूह हमारी संदर्भ रूप संस्कृति को तथा सभी मानवी जीवन को अपने में समाये हुए हैं। उनकी तुलना में अन्य कलाकृतियों का जीवन स्पर्श क्या ही तुच्छ और ओछा प्रतीत होता है।

हम भले ही सभी कृतियों को कलात्मक व्यूह के रूप में स्वीकार करें। फिर भी उनमें तारतम्य भाव रखना ही पड़ता है। और अन्त में जाकर इसी बात का निर्णय करना पड़ता है कि प्रत्येक कृति में अंकित मानवी जीवन का दर्शन कितना बड़ा अथवा कितना छोटा है।

अब हम 'सच्ची समीक्षा से क्या मतलब है?' इस प्रश्न का थोड़ा-बहुत उत्तर देने की कोशिश कर सकते हैं। समीक्षक का कार्य होता है हर एक साहित्यिक कलाकृति के व्यूह में घुसकर उसमें घूमने-फिरने वाले पात्रों की स्वतन्त्र गतिविधि का निरीक्षण करते रहना। बाद में वह इस व्यूह की तथा गतिविधियों की जानकारी अपने पीछे आने वाले रसिक को करा देता है। उसे इस बात का निर्णय करना पड़ता है कि वह व्यूह द्रोणाचार्य का अभेद्य व्यूह है या किसी विराट पुत्र का बचपना है और फिर वह अपने इसी निर्णय के औचित्य को ज़ाहिर कर देता है। व्यूह का कुल घेरा बतलाकर उसके विभागों तथा रथी-महारथियों का परिचय भी उसे करा देना पड़ता है। समीक्षक के साथ-साथ रसिक को भी उस व्यूह में घुसने के कष्ट उठाने पड़ते हैं। लेकिन उतने कष्ट उठाये तो सिर्फ भावनोद्दीपन की ही प्राप्ति नहीं होती बल्कि कला के साक्षात्कार की व्यापक एवं श्रेष्ठ अनुभूति प्राप्त होती है।

सारांश यह कि प्रत्येक कलाकृति की जड़ में होने वाला व्यूह दृढ़ और भव्य है या अस्तव्यस्त और ओछा है इस रहस्य को खोलकर प्रकट करना समीक्षक का काम होता है। यहीं से आगे बढ़कर प्रत्येक कलाकार के व्यक्तित्व की टोह पाकर कुल कलाकृति की जड़ में होने वाला विस्तृत व्यूह समीक्षक को नजर आने लगता है और तब वह कहने लगता है कि अमुक उपन्यासकार या कहानीकार जीवन का टेढ़ा-मेढ़ा नटखट भोलाभाला या विक्षिप्त दर्शन कराते हैं, अमुक कवि के काव्य में प्रकृति के सौन्दर्य में रम जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रत्येक कलाकृति को पार करके कलाकार के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की ओर बढ़ते रहने पर समीक्षक मजबूत होता है और एकेक कलाकार से एकेक संस्कृति के अथवा देशकाल के कलाव्यूह की ओर बढ़ जाना समीक्षाशास्त्र का धर्म ही है क्योंकि अंशों से सम्पूर्ण और व्यापक तत्व की ओर जाना, आकस्मिक प्रतीत होने वाली घटनाओं से कार्यकारण भाव की ओर बढ़ना यही तो प्रत्येक शास्त्र विचार की दशा है।

साहित्य समीक्षा के सम्बन्ध में कला कल्पित व्यूह दर्शन के उद्देश्य को स्वीकार किया तो फिर धीरे-धीरे सभी कलाओं के बारे में इस प्रकार के व्यूह की कल्पना साहित्यकारों के मन में दृढ़मूल होने लगेगी और सभी कलाओं को अपने में समा लेने वाले व्यूहदर्शी 'कला-स्वरूप-शास्त्र' की धुंधली क्षितिज रेखा उन्हें दिखायी देने लगेगी, इस तरह अन्य कलाओं से परिचित होकर व्यापक कला-स्वरूप शास्त्र की ओर मोड़ना जरूरी है। सौन्दर्य शास्त्र या रस शास्त्र जैसे संदिग्ध और अपर्याप्त नाम के बदले मैंने इस शास्त्र के लिये 'कला स्वरूप शास्त्र' जैसा सीधा-सादा और अर्थवाही नाम क्यों पसन्द किया इसके विस्तृत विवेचन में न फंसते हुए इस शास्त्र से क्या अपेक्षाएं रक्खी जायँ इसकी मोटी रूपरेखा आपके सामने रखकर मैं अपना निवेदन समाप्त करूंगा।

शास्त्र शब्द के उच्चारण के साथ-साथ ही नपी-तुली नियम-बद्धता, ढाँचे की कैद तथा तंत्र का रूप अवश्यम्भावी है यह कल्पना मन में उठेगी पर इस कल्पना के कारण शास्त्रीय विचार से विमुख होना शोभा नहीं देता, क्योंकि वह कल्पना सही नहीं है। यों तो प्रत्येक शास्त्र का सिर्फ विषय ही मर्यादित रहता है और उस विषय की सीमाएं भी नपी-तुली नहीं होती, उलटे संबद्ध विषय की सीमाओं के अभेद रूप से मिली हुई होती हैं। उदाहरण के लिए रसायन विज्ञान और पदार्थ विज्ञान जैसे निसर्ग विज्ञान लेंगे तो उन्हें बांटने वाली सीमा-रेखा आगे चल कर धुंधली होती जाती है, अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्र उसी प्रकार मानसशास्त्र और नीति-शास्त्र के बीच विभेद की दीवारें खड़ी करना मुश्किल हो जाता है। जो बात विषयों के बारे में सत्य है वही स्थिति सिद्धान्तों पर ही लागू है। भौतिक विज्ञानों में भी बढ़ती हुई जानकारी के साथ-साथ पुराने सिद्धान्त अपर्याप्त सिद्ध होने लगते हैं और न्यूटन के पीछे-पीछे आइन्स्टाईन की श्रेणी चलती रहती है। मानवी-समाज और मन के सम्बन्ध के शास्त्रों में भी जिस प्रकार की परम्परा हुआ करती है और उनके ही समय सिद्धान्तों की अनेक रूपता सम्पन्न होते हुये पाई जाती है।

कला स्वरूप शास्त्र का भी रूप इस प्रकार व्यापक बढ़ता हुआ और लचीला होना जरूरी है और उसी प्रकार उसका होना अवश्यम्भावी भी है।

पहले अगर हम इस शास्त्र के विषय विस्तार के स्वरूप को उठायें तो उसमें अनेक विविध विषयों का समावेश करना होगा। पहले मैं लिख ही चुका हूँ कि भावनोद्दीपन के उद्देश्य को लेकर की गई कृतियों को कलात्मक समीक्षा से बाहर हटाना होगा। पर उसे करना उतना आसान नहीं है। उदाहरण के तौर पर अगर हम प्राचीन काल से ठेठ आज के आधुनिक काल तक की यूरोपीय एवं भारतीय कला लें तो हमें उसके मूल में धर्म भावना के उद्दीपन का उद्देश्य स्पष्टतया दिखाई देता है। अति प्राचीन काल में बाजीगरी का उद्देश्य पाया जाता है। यों तो 'कला के लिए कला' वाला सिद्धान्त अभी रेंगता हुआ बच्चा ही है। संक्षेप में कहना होगा कि हमें समीक्षा शास्त्र की परिधि में बाजीगरी एवं धर्मोद्दृष्टि कला का समावेश करना ही होगा।

इसी सिलसिले में कलात्मक आविष्कार के साधनों एवं तंत्र का इतिहास 'कला-स्वरूप-शास्त्र' का जरूरी अंग बने यह स्वाभाविक ही है। साहित्य-समीक्षा में हमें इस बात की जाँच करनी होगी कि प्राचीन महाकाव्य से लेकर आज के स्फुट काव्यों तक के परिवर्तन क्यों और कैसे होते गये। उपन्यास जैसा गद्य कलात्मक आविष्कार अपने समय में ही क्यों प्रचलित हुआ एवं प्रगल्भावस्था को पहुँचा इसे भी ढूंढ़ना होगा। इन प्रयत्नों में देश काल की एवं संस्कृति की सापेक्षिकता हमें आधार स्वरूप स्वीकार करनी होगी।

इस शास्त्र के विषयों में जो सम्मिश्रपन तथा विविधता है उसे ध्यान में लाते हुए सहज ही प्रतीत होगा कि इस शास्त्र की व्याप्ति मानवी जीवन के सभी अंगों-उपाँगों से सम्बद्ध है। इसीलिए जब हम इस शास्त्र के मर्म की ओर जाने लगते हैं तब भी हमें यही संबद्धता प्रतीत होने लगती है। कलात्मक रचना के व्यूह

की थाह लेने लगते हैं तब कलाकार और उसका व्यक्तित्व आंखों के सामने नाचने लगते हैं। उसकी अनुभूति की चिकित्सा में पैठें तो मानस शास्त्र दर्शन एवं समाज शास्त्र की कक्षाएं कला स्वरूप शास्त्र की कक्षा से हिल-मिल जाती हैं। फिर दो परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ समीक्षकों में पैदा हो जाती हैं। कुछ समीक्षक कला स्वरूप शास्त्र का स्वतंत्र कार्य और अस्तित्व खो देते हैं और उसे मानस शास्त्र या समाज शास्त्र में विसर्जित करके नष्ट कर डालते हैं। मॅक्डूगल और शॅन्ड अथवा फ्रॉइड और मार्क्स के सिद्धान्तों में कलात्मक समीक्षा के आसान हिसाब लगाने वाले 'वादों' से हम परिचित ही हैं। मजा यह है कि इन वादों को स्वीकार करने वालों की यह धारणा होती है कि हम मानवी अन्तर्मन तक या जीवन की मूलभूत प्रेरणा तक जाकर फिर वहां से कला की प्रेरणा का उद्गम बताते हैं। फ्रॉइड का सहारा लेने वाले, मार्क्सवादियों को साँचे बाज और कला हीन दृष्टि वाले कह कर गालियाँ देते हैं तो मॅक्डूगल का सहारा लेने वाले दोनों पर ही नाक भौंह सिकोड़ते हैं।

समीक्षकों का एक और वर्ग है। उसकी कोशिश यह रहती है कि कला के शास्त्र तथा क्षेत्र को और सभी बातों से अलग एवं अछूता रखें। कोई कहते हैं कि कलाकार की अनुभूति अपने ढंग की अनोखी होती हैं और वह अपने आप आविष्कार के रूप ग्रहण कर सकता है। यह अनुभूति सच्ची एवं आत्मनिष्ठ होती है कहकर उस अनुभूति के बाहरी याने व्यक्तिगत तथा समुदायगत जीवन के संदर्भ के सूत्रपाश काट डालने का प्रयत्न ये लोग करते हैं।

कलाकार की स्वाधीनता, कला निर्माण की अहेतुकता, कला कृतियों की अन्य दृष्टियों से निरुपयोगिता आदि बातें ऐसी हैं जो सबों को ग्राह्य हो सकती हैं। लेकिन इन समीक्षकों के लिए कला की अहेतुकता के मानी यह नहीं होते हैं कि कला एक सहज स्फूर्त तथा अकृत्रिम निर्माण है। बल्कि मानवी जीवनोद्देश्यों की भर्त्सना करने वाली अहेतुकता उन्हें प्रिय होती है। इतना ही उन्हें अभिप्रेत नहीं होता कि कला कृति का उपयोग सामाजिक या नैतिक प्रचार के लिए न किया जाए बल्कि कलात्मक रीति से जीवन दर्शन कराना कला का अंगभूत धर्म तथा कार्य है यह भी उन्हें अस्वीकार होता है। कलाकार के स्वातंत्र्य से मतलब कला-विषयक गम्भीर कर्तव्य से मुकरना है यही उनका लाड़ला दर्शनशास्त्र रहता है। 'अनुभूति', 'सभी उपाधियों से मुक्त कोरी अनुभूति', 'अपना रूप आप ही निश्चित करने वाली अनुभूति' हम किया करते हैं और हमारे हाथों वही अनुभूति मानों कला के विश्व का निर्माण करती है, इस प्रकार का दावा ऊपर वाली श्रेणी के कलाकार और समीक्षक किया करते हैं।

'अनुभूति' के इस देवता का आडम्बर नये सिरे से कुछ और मचाया जा रहा है इसलिए इस देवता की कुछ खोज खबर लेना जरूरी है। अभी हाल ही में लिखे गये समीक्षा लेखों में 'अनुभूति का अपने आप ग्रहण किया हुआ रूप' या 'अनुभूति की अपनी आपकी भाषा' जैसे शब्द प्रयोगों का प्रचार पाया गया है। इनके क्या मानी होते हैं। जहाँ स्वयं देवता भी भक्त का दिया हुआ रूप अपना लेते हैं वहाँ इस अनुभूति को स्वयंभू रूप प्राप्त करने की सामर्थ्य कहाँ से आयी? सच कहना हो तो कलाकार ही अनुभूति को रूप प्रदान करता है और उसे भी देने की सामर्थ्य कलाकार को देश काल संस्कृति के सहारे प्राप्त हुई होती है। ठीक यही सहारा इन्हें अमान्य होता है। सभी बाह्य संस्कारों का निषेध करके कोरी 'अनुभूति' से हम अपना संसार सजाते हैं, इस प्रकार का थोथा दावा कुछ कलाकारों का होता है और इस वायवी नन्दन वन की ओर कुछ समीक्षक टकटकी बांधे हुए पाये जाते हैं।

साराँश यह है कि या तो एक ओर अन्य शास्त्रों से एकरूपता स्वीकार कर 'कला स्वरूप शास्त्र' का स्वतंत्र अस्तित्व ही न बचने देना है या ठीक दूसरी कोटि पकड़ कर उस स्वतंत्र अस्तित्व को ऐसा खोखलापन प्रदान करना है कि जिससे वह शून्यवत् हो जाय। यही दशा

(शेष पृष्ठ १५२ पर)

सौन्दर्य-चेतना और नीति

डा० रामरतन भटनागर

सौन्दर्य-चेतना और नीति का द्वन्द्व कला के क्षेत्र का एक प्रमुख प्रश्न है जो प्लेटो के समय से आज तक बराबर चला आ रहा है, परन्तु आज भी जिसका समाधान नहीं हो सका है। कारण यह है कि सौन्दर्य-चेतना की प्रकृति, उसके स्वरूप और जीवन-परिष्कार में उसके योगदान के संबंध में मतैक्य नहीं है और "नीति" के संबंध में भी यह निश्चय नहीं हुआ है कि उसका कोई समाज-निरपेक्ष व्यक्तित्व है भी या नहीं। सौन्दर्य और नीति अन्योन्याश्रित अथवा परस्पर पूरक न माने जा कर विरोधी और स्वतंत्र तत्त्व मान लिए गए हैं। फल यह हुआ है कि जहाँ एक ओर प्लेटो और सेंट आगस्टाइन कला को यौनचेतनामूलक और निदंनीय मानते हैं, वहां दूसरी ओर वाल्टर पेटर जैसे कला-समीक्षक नीति को कला के क्षेत्र से बहिष्कृत करने को तैयार हैं। इस तरह कला और नीति को लेकर दो विरोधी अखाड़े ही खड़े हो गए हैं जिनमें समझौता असंभव जान पड़ता है।

सौन्दर्यमूलक आनंद की प्रकृति क्या है, सौन्दर्य व्यक्तिगत है या व्यक्तिनिरपेक्ष, कला-संवेदन का स्वरूप और उसकी प्रेरणा क्या है, ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो सौन्दर्य-शास्त्र से संबंधित हैं। इनके साथ ही प्रश्न उठता है कि असुन्दर और अकलात्मक क्या है और

(पृष्ठ १५१ का शेषांश)

आज की हमारी समीक्षा में प्रचलित है। इससे बचने का एक ही चारा है और वह यह कि 'कला-स्वरूप-शास्त्र' का अन्तर्बाह्य स्वरूप स्वतन्त्र और साथ ही साथ अन्य शास्त्रों से अनुबद्ध रखना होगा। इस प्रकार का दोहरा परहेज रखना टेढ़ी खीर है बल्कि या तो इस कोटि को अथवा उस कोटि को पकड़ कर अड्डा जमाना आसान लेकिन घातक विकल्प है। आज समीक्षकों को पूरी सचेतना के साथ इस विकल्प से बचना होगा। हम सब अगर अनाग्रही एवं सहिष्णु प्रवृत्ति रख कर साहित्यिक समीक्षावाद की पुनर्जांच करने का निश्चय करें तो आज की वादों की रुकावटें अपने आप दूर होंगी और साहित्य समीक्षा के कार्य में एक नये उत्साह के साथ एकाग्र चित्त से हम श्रीगणेश करेंगे।

हमारे सामने भाषाओं का संचित भण्डार बहुत बड़ा है और नव-निर्माण भी द्रुतगति से हो रहा है। इस साहित्य धन की निधि सर्व सामान्य रसिक के लिये खुली रखने का कर्तव्य आज समीक्षकों को पूरा करना है। उसे निबाहने के बदले एकांतिक वृत्ति से वादों की चहार दीवारी हम खड़ी करें, पारिभाषिक शब्दों का आडम्बर मचायें तो कला की दुर्बोधता, ढकोसले बाजी और मजबूरी बढ़ती जाएगी और इसका दोष कोई भी हमारे सिर मढ़ देगा।

मेरी इसीलिए यही आशा तथा अपेक्षा है कि 'कला-स्वरूप-शास्त्र' का अवलंबन करके समीक्षा का कार्य गंभीर कर्तव्य बुद्धि से करने का निश्चय हम समीक्षकों को करना होगा और उसे पूरा करना होगा। तभी समीक्षा के बारे में सामान्य रसिक के मन में आत्मीयता निर्माण होगी जिसका आज अभाव है और तभी हम सभी अपनी-अपनी मातृ भाषाओं का ऋण चुका सकेंगे।

कला-श्रेष्ठता के मापदण्ड क्या हों। यह मान लिया गया है कि कला में मनुष्य की "क्रीड़ा-प्रवृत्ति" स्वरूपान्वित होती है और मनुष्य के कामकाजी जीवन से इस प्रवृत्ति का कोई संबंध नहीं है। फलस्वरूप कला को इन्द्रियगत और कल्पनाविजड़ित बता कर लांछित किया गया है, क्योंकि मनुष्य के दैनंदिन कार्यव्यापार में भावना और कल्पना का सम्यक मूल्य आंका नहीं जा सका है। व्यावहारिक मनुष्य ने कला संवेदना को निरर्थक भावोन्मोचन और उत्पादन शून्य कुशलता समझा है। उसे पलायनशील कहा गया है। राजनीतिज्ञ, संत और धर्मप्राण कलासंबंधी सौन्दर्य-चेतना को बराबर अग्राह्य मानते और संदेह की दृष्टि से देखते रहे हैं।

परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह मालूम होगा कि कलासृजन और कलाजन्य आनंद के मूल में अव्यभिचारी जीवन की वही सात्विकता अंतर्हित है जो संत और धर्मप्राण का उपजीव्य है और उसमें उसी कौशल की पराकाष्ठा है, जो व्यावहारिक मनुष्य का लक्ष्य है। कल्पना के योग से कला में सात्विकता का प्रवेश होता है। कल्पना के द्वारा ही कला महार्घ और महिमामयी बनती है। कदाचित् कल्पना के इसी महत्व को ध्यान में रखते हुए शेली ने कविता को मानव-जाति का नियामक माना है। 'पौइट्री इज द अनएक्नालैज्ड लैजिस्लेटर आव मेनकाइन्ड।' परन्तु कलासंवेदन के पीछे भावना के जो तार बजते हैं उनसे ज्ञानी त्रस्त भी रहे हैं क्योंकि कलाकार जन-मन के भावुक तारों को छू कर प्रथित मान्यताओं, परंपराओं, तर्क-संगतियों और बौद्धिक संहिताओं को झकझोर सकता है। इसी से कवि के उन्मुक्त गीतों और नाटककारों के स्वच्छंद भावविलास से राजधर्मियों का बराबर विरोध रहा है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज से संगीत, साहित्य और कला को निर्वासित कर दिया है और आज भी यह प्रश्न अबूझा खड़ा है कि साहित्य और कला पर सरकारी नियंत्रण का क्या रूप हो और इस नियंत्रण की सीमा क्या हो।

नीतिवादी और सौन्दर्यशास्त्री दोनों इस बात से अभिज्ञ हैं कि कलासंबंधी सौन्दर्य-चेतना इन्द्रियजन्य और इन्द्रियग्राह्य है। प्लेटो और टाल्सटाय जैसे नीतिवादी कला को इसीलिए संशय की दृष्टि से देखते हैं। इन्द्रियजन्य वासनाओं पर आधारित मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना क्या उसे पतन के गर्त्त में नहीं ढकेल देगी? मनुष्य की वासनाओं की क्या कोई सीमा निश्चित की जा सकती है? स्वस्थ बौद्धिक चेतना के लिए क्या भाव-विस्फोट घातक सिद्ध नहीं होंगे? नीति और कला के द्वन्द्व का यह स्वरूप मनुष्य की जाग्रत चेतना में निरंतर क्षोभ उत्पन्न करता रहा है। फ्राइड के यौन-चेतनामूलक मनोविश्लेषण-शास्त्र के जन्म से बहुत पहले ही नीतिवादियों ने यह घोषित कर दिया था कि मनुष्य की पंचेन्द्रियों पर यौनसंवेदना का सूक्ष्म और तरल आवरण चढ़ा हुआ है और इन्द्रियजन्य आनन्द से संवेदित होने का अर्थ है यौनजन्य आनंद से संवेदित होना। इसमें संदेह नहीं कि कलात्मक सौन्दर्य-चेतना की चमक-दमक बहुत कुछ यौनचेतना की देन है। टाल्सटाय ने अपनी जीवनानुभूति से इस रहस्य को समझा था और बड़ी शक्ति तथा मुखरता के साथ कला की वासनामूलकता का उद्घोष किया था। उनके अनुसार कलाकार खतरनाक व्यक्ति है क्योंकि उसकी रचना से पाठक के अंतर्सन्योजित और आत्मविश्वासी व्यक्तित्व का विघटन होता है। मध्ययुग के मर्मी और प्लेटो जैसे नीतिवादी भी यही बात कहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र ने इस तथ्य की पुष्टि की है। कलासंवेदन के पीछे मन का अर्द्धचेतन, अर्द्धस्फुट तथा परोक्ष यौनसंवेदन अंतर्निहित है और कलाकार के विषय, प्रतीक और अभिव्यंजनात्मक उपकरण उसके मन की यौन-क्रीड़ा मात्र हैं, ऐसा अब सिद्ध हो गया है। यौनप्रतीक किस सरलता से कला-प्रतीक बन जाते हैं, यह किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की रचना में देखा जा सकता है यदि हम उसके अंतर्मन में झांक सकें।

मध्ययुग के लिए नीति और कला का द्वन्द्व जितना महत्वपूर्ण था उतना महत्वपूर्ण वह आज नहीं है।

मध्ययुग परलोकवादी और परोक्षजीवी था और वासनाओं के दमन पर ही उसका समस्त जीवनदर्शन आधारित था। परन्तु आज हम जीवन की इहलोकमूलकता के प्रति विश्वासी हैं। मनुष्य ही आज हमारा देवता है। ऐसी स्थिति में कला को यौनचेतनामूलक कहना आज कोई लांछा की बात नहीं है। जीवनानुभूति की विविधता, तरलता और व्यापकता से हम श्रेष्ठतर मानव-संस्कृति के निर्माण की बात आज सोच रहे हैं। कलाएँ हमारी जीवनानुभूति को तीव्र बनाती हैं और हमारे जीवन को अधिक सप्राण करती हैं। रंग-रूप भरे इस संसार के प्रति जो जितना अधिक भावुक और चेतन होगा, उतना ही अधिक वह संसार को सुन्दर बनाने में योग देगा। यदि ऐसा है तो आज यौनचेतना को लांछनीय नहीं कहा जा सकेगा।

सच तो यह है कि नीति और सौन्दर्य दो एकदम विभिन्न और स्वतन्त्र स्तरों की चीज़ें नहीं हैं। भावना, व्यवहार और कल्पना का परिष्कार ही नैतिकता का लक्ष्य है और इस परिष्कार का आरम्भ इन्द्रियजन्य संवेदना के संस्कार से ही होगा। कला द्वारा हमारे इन्द्रियजन्य संस्कार ही परिष्कार को प्राप्त होते हैं। अत: मूलरूप में कला हमारी जीवन-चेतना की संवर्द्धक है और सूक्ष्म तथा सौन्दर्यमयी जीवन-चेतना ही 'नीति' है। क्या हम ऐसी मानव-संस्कृति की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें एन्द्रिक सौन्दर्य-चेतना, भावुकता और बौद्धिकता का स्वरूप संगीत के श्रेष्ठतम और ऊर्ध्वगामी तत्वों के अनुरूप हो? क्या कलाएं नैतिक संयम का प्रेरणा-स्रोत और माध्यम नहीं बन सकतीं?

कला के सामाजिक दायित्व की बात भी बराबर उठती रही है, परन्तु इस दायित्व को नीतिवाद, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य अथवा पाप-पुण्य के संकीर्ण घेरे में बाँध कर हम कलाकार के महत्व और उसकी कृति के प्रभाव को छोटा ही करेंगे। कला का उद्देश्य है अतीन्द्रिय आनन्द जिसे भारतीय परिभाषा में 'रस' कहा गया है। परन्तु यह आनन्द हमारे आध्यात्मिक आदर्शों की अभिव्यंजना-मात्र है। कलाकार इस आनन्द के द्वारा समष्टि से अपना संबंध जोड़ता है। कृति का आनन्द ही कलाकार का आत्मदान है और यह आत्मदान अन्त:-स्फूर्ति होने पर भी निष्प्रयोजन नहीं है। सच्ची कला का प्रयोजन नैतिक होता है, परन्तु यह प्रयोजन अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म होता है। उसके द्वारा सन्तुलन, संयम, साहस, न्याय अथवा धर्म का ही प्रसार होता है। कलाकार किसी प्रबुद्ध भावना या विचार को इस प्रकार अभिव्यंजित करता है कि उसे अनायास ही सामाजिकता की उपलब्धि हो जाती है। समाज के अनेक प्रबुद्ध प्राणियों में कलाकार की संवेदना प्रतिध्वनित हो उठती है। कला सामाजिक चेतना के प्रसार का एक प्रमुख और शक्तिशाली साधन है। और इस क्षेत्र में उसके आनन्ददायी तत्वों और संदेशवाही उपकरणों में कोई विरोध नहीं है। श्रेष्ठ कलाकार की सौन्दर्य-चेतना 'नीति' को पुष्ट करती है और 'नीति' सौन्दर्य-चेतना द्वारा कलात्मक अभिव्यंजना को प्राप्त होती है। निचले स्तर की कला-कृतियों में नीति और कला का द्वन्द्व इसलिए सामने आता है कि उनमें कलाकार का व्यक्तित्व अन्तर्योजन और ऋषि दृष्टि को प्राप्त नहीं होता। कलाकार यदि अपने प्रति उत्तरदायी है तो वह जीवन के प्रति अनिवार्यत: उत्तरदायी है। इस प्रकार कलाकार के अपने व्यक्तित्व और उसकी कला-साधना में सौन्दर्य की अन्तरंगी मांग और समाज की बहिरंगी माँग का गठबंधन हो जाता है। कला में व्यक्तिगत और समष्टिगत, अथवा सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों का एक साथ और एक ही स्तर पर समाधान संभव है।

परन्तु कलाकार यदि हमारी जीवनानुभूति को सक्षम और तीव्र ही बनाता है तो भी वह सामाजिक दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कला द्वारा हमारी बिखरी हुई जीवनानुभूति और स्पष्टता को प्राप्त होती है क्योंकि जीवन तथ्य-मात्र है, गति-मात्र है, उसमें अपनी ओर से न कोई सार्थकता है, न उसे कोई निजी दिशा प्राप्त है। कलाकार बहिर्जगत की दुग्राह्य अनेकरूपता और निरर्थक गतिशीलता को अन्तरंगी रूप-रंग देकर महार्घ बनाता है। कवि, चित्रकार और मूर्त्तिकार वस्तुओं को और कथाकार तथा नाटककार घटनाओं को अपनी अनु-

भूतियों में रङ्ग कर ऐसी एकान्विति देते हैं कि उनका रूप ही बदल जाता है। विधाता की सृष्टि से होड़ करने वाला कलाकार वस्तुओं और घटनाओं को नयी वास्तविकता प्रदान करता है। कला को पलायनशील कहा गया है, परन्तु यह पलायनशीलता उस तटस्थता में सन्निहित है जो कलात्मक प्रेरणा का मूल स्वरूप है। कला हमारे दैनंदिन जीवन से बाधित नहीं है, उसमें शाश्वत और चिरंतन क्षण मूर्त्तिमान किये जाते हैं अथवा कला के द्वारा हमारे सामान्य और चिरपरिचित अनुभव को चिरंतनता की उपलब्धि होती है। इसमें कला की पराजय नहीं, विजय है। भावना, कल्पना और सौंदर्यचेतना के द्वारा कलाकार जीवन को गहन, सुस्पष्ट और विचारणीय बनाता है। कला जीवन की व्याख्या है और इसी व्याख्या में पुनर्निर्माण के तत्त्व भी छिपे हैं। यह व्याख्या अनिवार्यत: नीतिमूलक है और यह पुनर्निर्माण आदर्शप्राण है। परन्तु स्थूल अथवा उपदेशात्मक नीतिमत्ता और थोथे आदर्शवाद से यह भिन्न है। 'हेमलेट' और 'अन्नाकरीना' में हमें मानव-जीवन की सुपरिचित वास्तविकताओं का गहन, तरल और केन्द्रित स्वरूप दिखलाई पड़ता है। इसी गहनता, तरलता और केन्द्रवर्त्तिता में वह सूक्ष्म जीवनबोध छिपा रहता है जो साधारण परिभाषा में नीतिमत्ता कहा जाता है। इस प्रकार श्रेष्ठ कलाकृतियों में सुन्दरम् और शिवं के विरोध का परिहार हो जाता है। श्रेष्ठ कला आदर्शवादी रहती है चाहे उसके उपकरण वस्तुवादी ही क्यों न हों क्योंकि वस्तुवादी अनुभूतियाँ कला के द्वारा सुव्यवस्था, चिरंतनता और प्रेक्षणीयता प्राप्त कर भविष्यत् का दर्पण बन जाती हैं। उसमें मानव-जीवन अपने परिवेश से मुक्त होकर संभावनाओं में केन्द्रित हो जाता है।

यह कहा जाता है कि 'कला कला के लिए' है, अर्थात् कलाकार की अनुभूति स्वयं अपने में पूर्ण है, उसे मूल्यगत चेतना पर आधारित करना कला का अपमान करना होगा। परंतु मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि हमारा कोई भी अनुभव संवेदन मात्र नहीं है क्योंकि प्रत्येक संवेदन के साथ निष्कर्ष और मूल्य स्वत: आ जाते हैं। मानवीय चेतना देहिक संवेदनाओं और प्रेरणाओं को मूल्यों से मंडित करने में समर्थ है। फलस्वरूप कला के रूप, रंग, शब्द, भाव, जीवन चित्र महत्वपूर्ण और व्यंजनायुक्त बन जाते हैं। कला में जीवन की अनुरूपता जीवन की व्याख्या अथवा समीक्षा बन कर ही सार्थक होती है। श्रेष्ठ कलाकार की रचना में जीवन-चित्रण जीवन-समीक्षा बन कर ही सामने आता है। इसके लिए उसे स्वतंत्र रूप से कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। उसकी अन्तर्दृष्टि में वस्तुजगत मूल्यों से मंडित हो जाता है और अन्तर्जगत प्रगतिशील सामाजिक मूल्यों से धनी बनता है। बाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, होमर, गेटे, और टाल्सटाय में कलाकार की ऐसी ही समन्वित अन्तर्दृष्टि हमें मिलती है। उनकी कला कला के लिए होते हुए भी जीवन के लिए है क्योंकि उसमें प्रगतिशील जीवन के तत्व सौन्दर्य-चेतना से मंडित हो गए हैं। दांते की 'डिवाइन कामेडी' अथवा गेटे के 'फ़ास्ट' में समस्त मानव-जीवन और उसके भविष्य की रूपरेखा उभर आई है। कला की यही सार्वभौमिकता और सर्वग्राह्यता उसे जीवन की प्रगतिशील शक्तियों के प्रति उत्तरदायी बनाती है। यहीं सुन्दरम् शिवम् के आलिंगन में बंधता है और दोनों मिलकर जीवन के सत्यम् के व्यंजक बनते हैं। सौन्दर्य-चेतना और नीतिमत्ता सत्य के ही दो मुख हैं। सत्य के लिए ही उनकी उपासना कलाकार का धर्म है। कलाकार प्रकृत्य: सौन्दर्य-शिल्पी होकर भी सत्यं-शिवं का उपासक और संवर्द्धक है, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है। कला के प्रति उसके दायित्व में जीवन के प्रति उसका दायित्व आप ही आ जाता है और उसकी रचना सुन्दर होने के साथ मूल्यगर्भित भी बन जाती है। वस्तुजीवन के बदलते परिवेश में चिरंतन मूल्यों की खोज श्रेष्ठतम कलाधर्म है, और चिरंतन मूल्य जीवन की दैनंदिन संवेदना में ही खोजे जा सकते हैं। यह हम जान लें तो कलाचेतना और युगचेतना का विरोध समाप्त हो जाय और हमारी कलाकृतियों को युगधर्म का श्रेष्ठ संबल प्राप्त हो।

———

भारतीय साहित्य-शास्त्र में सौन्दर्य-तत्त्व

श्री भगवतस्वरूप मिश्रा

भारत का सम्पूर्ण चिन्तन-स्रोत आत्मा के अनुसंधान की ओर ही उन्मुख रहा है। सब प्रकार की साधनाओं का एकमात्र उद्देश्य आत्मा की प्राप्ति है। अगर हम यह कहें कि साहित्यानुशीलन का मूल प्राप्तव्य भी अन्ततोगत्वा रसनिष्पत्ति या 'रसो वै सः' का साक्षात्कार रूप आत्मलाभ ही मान लिया गया तो कुछ अत्युक्ति नहीं है, अपितु यही प्रतिपादन सत्य के निकटतम् है। सौन्दर्यानुभूति के माध्यम से 'धर्मार्थ काममोक्ष' की प्राप्ति "सद्य : परनिवृत्ति" या 'रसब्रह्म' का साक्षात्कार ही काव्य और कला का प्राप्तव्य है। यही उनकी साधना का लक्ष्य है। व्याकरण साहित्य-शास्त्र, संगीत-शास्त्र आदि न्याय, वेदान्त आदि अन्य दर्शनों की तरह परमतत्व का विशद विवेचन तथा खण्डन-मण्डन में अधिक प्रवृत्त नहीं होते। प्रमाण-प्रमेय की लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया अथवा कोई स्वतन्त्र-तर्क की प्रणाली उनके पास नहीं है। इसके लिए वे अन्य दर्शनों के मुखापेक्षी ही हैं। परमतत्व के "स्वरूप-निरूपण" गोचर जगत को सत्य मिथ्या या भ्रम आदि बनाकर "ख्याति-निरूपण" अथवा अन्य दर्शनों के खण्डन-मण्डन में उन्होंने शब्द-व्यय नहीं किया है, यह उनका प्रकृत क्षेत्र नहीं है। इसमें वे "वेदान्तिपु पातनीयो दण्ड:" की नीति अपनाकर ही चले हैं। विभिन्न दर्शनों के कुछ मूलभूततत्व अथवा प्रक्रियायें केवल विषय के विश्लेषण के लिए अपनाली गई हैं। रसानुभूति के स्वरूप के विवेचन में आचार्यों ने न्याय, मीमांसा, सांख्य, प्रत्यभिज्ञा वेदान्त आदि के सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। अपनी दार्शनिक मान्यता के अनुकूल ही रस की उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति या अभिव्यक्ति हैं अन्त में 'रस' को 'ब्रह्मानन्दस्वादसहोदर' मानने अथवा उसे 'भग्नावरण चिति आनन्द····हि रस:' कहने में भी रस के आध्यात्मिक स्वरूप की ही प्रतिष्ठा है। रस का यही स्वरूप मान्य भी हुआ है। काव्य-साधना का प्रयोजन भी यही आध्यात्मिक अनुभूति, 'रसो वै स: रूप 'रसब्रह्म' का साक्षात्कार ही है। इस प्रकार काव्य भी सौन्दर्य के माध्यम से उसी परमतत्व के साक्षात्कार का एक साधन है, यह मानने में पर्याप्त कारण हैं। उस अनुभूति के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला काव्य-शास्त्र भी दर्शन की कोटि में मान लिया जाय तो कुछ अनुचित नहीं है।

व्याकरण, साहित्य, संगीत आदि की आध्यात्मिकता प्राचीन ऋषियों तथा आधुनिक विद्वानों—दोनों ही के द्वारा स्वीकृत हो चुकी है। उपनिषद् में भाषा को 'ओंकार' की ही अभिव्यक्ति कहा गया है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'स्फोट' नित्य है। वही परमतत्व है। अर्थ तथा उससे प्रतिपादित सम्पूर्ण वस्तु, जगत इसी 'शब्द-ब्रह्म' का विवर्तमात्र है।[1] काव्य, नाटक, संगीत चित्रकला आदि विद्याओं में भी पूर्ण सौन्दर्य के आगार अथवा सम्पूर्ण सौन्दर्य रूप परमब्रह्म की अभिव्यक्ति एवं उसी को प्राप्त करने के साधनमात्र माने गये हैं।[2] वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, मन्त्र, और अर्थवाद—ये सब इस परमात्मा के ही निश्वास हैं।[3] व्याकरण का अध्ययन सम्पूर्ण ऐहिक एवं परमार्थिक कल्याण का हेतु है।[4] सभी कलाओं के जिनमें काव्य नाटक आदि भी सम्मिलित हैं, अनुशीलन को आनन्द कुमारस्वामी ने 'कामधेनु' कहा है।[5]

१—२—विष्णुपुराण १-२२-८४

३—बृ० ३-२-४-१०

४—एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति

5--The Hindu view of art.

शारङ्गधर ने 'संगीत' के द्वारा उस परमतत्व की ही उपासना मानी है।[1] भक्ति, धर्म एवं कला के समन्वय के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत रामस्वामी शास्त्री ने भारतीय सौन्दर्य भावना की विशेषताओं का प्रतिपादन करते हुए किया है।[2]

भारत में उस परमतत्व के साक्षात्कार की जितनी प्रकार की साधनायें मानी गईं, उनमें से एक भावयोग भी है। इस 'भावयोग' का चरम विकास ही 'भक्तियोग' है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के रूप में मानी गई तीन प्रधान साधनाओं में से एक 'भावयोग' भी है। काव्य, नाटक, संगीत आदि 'भावयोग' की अन्य साधनायें भी 'भक्तियोग' की सहयोगी ही हैं। चित्रकला आदि को 'ध्यानयोग' तथा अन्य योगों के समान माना गया है। कलाकार के लिए पाँचों मतों से नियुक्त तथा मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की वृत्तियों से युक्त होना आवश्यक है। कला की सृष्टि के लिए जो मानसिक स्थिति आवश्यक है वही सतोगुणप्रधान वृत्ति भावक की भी होनी चाहिए। काव्य के अनुशीलन का भी यही प्रभाव होता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचमवेद कहा है[3] और उसका प्रयोजन भी वेद की तरह धमार्थ, काम, मोक्ष ही माना है। इस प्रकार कलाओं को तत्व के साक्षात्कार का एक साधन मानने में पर्याप्त प्रमाण हैं। जब आयुर्वेद का 'रस' तथा हठयोग की विन्दु साधनाओं को जिनका स्थूल देह से ही सम्बन्ध हैं, परमतत्व की प्राप्ति का माध्यम माना गया है, तो काव्य के 'रस' तथा संगीत के 'नाद' की तो बात ही क्या है। ये तो सीधे ही अन्तःकरण की सात्विक वृत्ति पर ही आधारित हैं। इसमें तो आत्मा का आनन्द पूर्णतया प्रतिबिम्बित अथवा अभिव्यक्त होता ही है। कवि तथा संगीतज्ञ तो समाधि-अवस्था में स्वयं पहुँचता है तथा इनका रसास्वादन करने वाले को भी ले जाता है। इसलिए 'सविकल्प समाधि' के साथ इन अनुभूतियों की तुलना भी की जाती है। योगी और कलाकार दोनों ही समाधि-क्षणों में तत्व का साक्षात्कार करते हैं, पर कवि की समाधि क्षणिक होती है तथा योगी की स्थायी। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि अन्य सङ्गीत आदि चित्त को स्थायी रूप से सतोगुणी बनाने में तथा स्थायी रूप से मानवीय दृष्टिकोण प्रदान करने में कितने सहायक हैं? कम से कम श्रेष्ठ काव्य एवं सङ्गीत का प्रधान प्रयोजन तो अन्तःकरण को सात्विक करने तथा मानवीय दृष्टिकोण प्रदान करने में ही है।

ऊपर के विवेचन का तात्पर्य काव्यशास्त्र, व्याकरण अथवा सङ्गीत-शास्त्र को वेदान्त आदि दर्शनों के समकक्ष बनाने में नहीं अपितु उनकी दार्शनिकता की ओर संकेत करने तथा उनके महत्व को स्पष्ट करने में है। प्रधानतः ये शास्त्र ही हैं, दार्शनिक तत्वों का तो इनमें थोड़ा आभास भर ही मिलता है। इन विद्याओं की व्यवहारिक उपयोगिता में आध्यात्मिकता का स्पर्श है। अन्तःकरण को सत्याविष्ट करने के कारण ये विद्याएं भी प्रकारान्तर से 'मोक्ष' की साधन हैं। परमतत्व के प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष साधन अवश्य है। भारत में ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनों को परमतत्व की प्राप्ति के साधन मानते हुए भी इनमें से प्राधान्य तो 'ज्ञान' का ही है। यही बात 'भावयोग' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पर फिर भी सौन्दर्यानुभूति लौकिक इन्द्रियज सुखानुभूति नहीं है। वह एक आध्यात्मिक अनुभूति है। भारतीय आचार्यों ने उसका 'भग्नावरणाचिति' रसो वै सः माना है। काव्य तथा अन्य कलाएं सौन्दर्य के माध्यम से तत्व वस्तु का साक्षात्कार कराती हैं। वह तत्त्व 'आनन्द' अथवा रस है। इस प्रकार काव्य, सङ्गीत आदि का विवेचन करने वाले ग्रन्थ एक तरफ तो शास्त्र

१—चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानादमद्वितीयमुपास्महे॥
शारङ्गधर, संगीत रत्नाकर

2—"Art is the perfume, and religion is the camhpor, lighted in our worship of God." K. S. Ramaswamy Shastri, Indian Aesthetics P. 58

३—भरत—नाट्यशास्त्र १-१५

हैं, पर दूसरी ओर उनमें भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन अथवा सौन्दर्य-दर्शन (Aesthetics) की मौलिक मान्यतायें भी सुरक्षित हैं।

भारतीय शास्त्र पाश्चात्यों की तरह वस्तु के बाह्य पक्ष के वर्णन की शैली न अपनाकर उसमें मूलभूत तत्व अथवा आत्मा के साक्षात्कार कराने वाले लक्षणों की उद्भावना कराते हैं। भारतीय चिन्तनदृष्टि वस्तु की आत्मा, उसके वस्तुतत्व के साक्षात्कार की ओर रही है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है। यही कारण है कि एक ही तत्व के अनेक लक्षणों में आपाततः भेद होने पर भी मूलतः उनमें एक स्पष्ट अभेद तत्व रहता है। यह भेद भी विभिन्न दृष्टियों से उसे देखने, अनेक मार्गों से उस मूल तत्व तक पहुँचने के प्रयास के कारण हैं। यह भेद भी इन मार्गों के कारण ही प्रतीत होता है। 'काव्य-शास्त्र' भी विभिन्न मार्गों से काव्य की आत्मा तक पहुँचने, उस आत्मतत्व के साक्षात्कार के लिए अपनाई गई विभिन्न दृष्टियों का परिणाम ही है। भारतीय साहित्य-चिन्तन काव्य की आत्मा के साक्षात्कार के लिए प्रारम्भ से ही आतुर दीख पड़ता है। अन्त में 'रमणीयता' के सिद्धान्त में उसे काव्य की आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार हुआ है। यही काव्य की आत्मा है, उसी से रसो वै सः। 'भग्नावरणाचिति' का साक्षात्कार होता है। इसी आनन्दांश के साक्षात्कार के लिए ही काव्य का सृजन या रमणीयता की सृष्टि एवं अनुशीलन होता है। यही परमतत्व भी है। काव्य के माध्यम से प्राप्त होने के कारण इसी को 'रस ब्रह्म', सङ्गीत से प्राप्त होने पर 'नाद ब्रह्म' तथा चित्र, वस्तु आदि कलाओं के माध्यम से प्राप्त होने पर 'वस्तु ब्रह्म' कहते हैं। एक ही तत्व है और उपाधि-भेद से नाम भेद है। काव्य के आत्मभूत इस आनन्दतत्व की सर्वाङ्गिक प्रतिष्ठा तथा उसके स्वरूप का साक्षात्कार तो 'रमणीयता' के सिद्धान्त में ही होता है। इससे अलंकार गुण आदि सभी को 'रमणीयता' का रूप मानकर आनन्द के सभी स्वरों का इस शब्द में आकलन हो जाता है। पर पूर्ववर्ती चिन्तन का आधार भी आनन्द तत्व ही है। वहाँ पर भी आनन्द तत्व ही अपने वास्तविक स्वरूप की झलक देता हुआ या किसी अन्य रूप में भी भासित होता है। अलंकार, गुण रीति के मूल में भी यही आनन्दतत्व है जो अपने सच्चे स्वरूप अर्थात् रस या रमणीयता रूप में मूल सत्तावत् अभिव्यक्त होने के साथ ही इन उपाधियों के आवरण में प्रतिभासित होने के कारण किसी एक उपाधि का गुण अपने ऊपर आभासित कर लेता है तथा उसी नाम से अभिहित होने लगता है। काव्य की आत्मा को अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि कहने का एक मात्र तात्पर्य वस्तुतः इन उपाधियों के आवरण से अभिव्यक्त होने वाले आनन्द में ही है। पर उपाधि पर ही दृष्टिनिबद्ध होने के कारण ये अलंकार आदि एकांगी दृष्टिकोण हो गये हैं। 'रस' को पूर्ण परिपक्व रूप में ही काव्य की आत्मा मानने में भी दृष्टि संकुचित ही रही। यही कारण है कि पण्डितराज ने 'रमणीयता' के सिद्धान्त की उद्भावना करके सौन्दर्य के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले आनन्दरूप काव्य के उस आत्मतत्व का साक्षात्कार कराया है जो अलंकार आदि सभी तत्वों का आधार है, जिसमें इन सब के सौन्दर्य एवं आनन्दांश का अन्तर्भाव है। गुण अलंकार आदि को आत्मा कहने वाले भी काव्य में, एक तत्व का साक्षात्कार करने के लिए आतुर हैं।

सौन्दर्य भी उन वस्तुओं में से एक है जिनका कोई सर्व सम्मत लक्षण देना कठिन है। मानव की मूल एवं सरलतम अनुभूति होने के कारण उसको शब्दों में पूर्णतया बांधना संभव नहीं। फिर भी समझने समझाने के लिए कोई एक लक्षण मानकर चलना हीं पड़ता है। जिस माध्यम से इस आनन्द अंश की सात्विक अभिव्यक्ति हो वही 'सुन्दर' है। जिस वस्तु के संन्निकर्ष से उस परम तत्व के आनन्दांश का साक्षात्कार होता है, वही सुन्दर है। इस अनुभूति या साक्षात्कार में रसिक के व्यक्तित्व का रज एवं तम का आवरण निर्गलित हो जाता है। उसका सात्विक अंश मात्र रह जाता है। यही सौन्दर्य का प्रभाव है। इस अनुभूति में

सुन्दर वस्तु एवं रसिक की मानसिक स्थिति दोनों का सहयोग है। यह कहना भी समीचीन है कि इन दोनों का अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। 'रस' की अभिव्यक्ति का कारण होने से 'वस्तु' सुन्दर कही जाती है। 'रस' या 'आनन्द' ही वस्तु को 'सुन्दर' नाम से अभिहित कराने का हेतु है। काव्य और कला इसी आनन्दतत्व की, इसी परमतत्व की "मानव सृष्ट-सौन्दर्य" के विभिन्न स्वरूपों एवं उपादानों से अभिव्यक्ति के प्रयास हैं। उपादानों का भेद काव्य तथा अन्य कलाओं के पारस्परिक भेद एवं नाम तथा उपादानों की अभिव्यंजन-क्षमता ही सौन्दर्य एवं आनन्द के विभिन्न स्तरों की कल्पना के कारण हैं। 'आनन्द' एवं 'सौन्दर्य' दोनों ही अखण्ड एवं निरपेक्ष अनुभूति है। पर माध्यम की उपाधि एवं सहृदयता की क्षमता के भेद के कारण ही उसमें तारतम्य एवं सापेक्षता आजाती है।

भारतीय साहित्य-चिन्तन में सौन्दर्य-दृष्टि तथा साहित्य-भावना के विकास शील रूप के स्पष्टीकरण तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन करने से पूर्व यह बता देना भी आवश्यक है कि भारतीय चिन्तकों ने स्वयं कविता पर 'सौन्दर्य' की दृष्टि से विचार किया है। यह पाश्चात्य विचार-धारा से प्रभावित होकर उनके चिन्तन में इन तत्वों के खोज निकालने अथवा उन पर इस भावना के आरोप की चेष्टा मात्र नहीं है। चमत्कार, चारुता, चारुत्व, सुन्दर, रमणीयता आदि इस अर्थ के द्योतक कई एक शब्दों का प्रयोग भारतीय-साहित्य-शास्त्र में प्रारम्भ से लेकर परम्परा के अन्त तक मिलता है। जिन आचार्यों ने इस प्रकार के किसी 'सौंदर्य वाची' स्पष्ट शब्द का प्रयोग नहीं भी किया है उनके विवेचन से यह निष्कर्ष भी सहज रूप से निकल आता है कि उनको भी 'सौन्दर्य' कविता के मूलतत्त्व के रूप में ग्राह्य है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य तथा अभिनवगुप्त का संस्कृत-साहित्य शास्त्र के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। समन्वयवादी उस आधारभूमि को जिस पर संस्कृत साहित्य-शास्त्र के द्वारा उद्भावित गुण, अलंकार आदि काव्य-तत्वों की नई, प्रौढ़ एवं सर्वसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की जा सकी—ध्वनि, रस एवं औचित्य के द्वारा निर्मित उस आधार भूमि को प्रस्तुत करने का श्रेय वस्तुतः इन्हीं दो आचार्यों को है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती सम्पूर्ण चिंतन का एक संक्षिप्त इतिहास सा प्रस्तुत करते हुए उन सबका अपने 'ध्वनि' सिद्धान्त में आकलन एवं समन्वय किया है। ध्वनिकार तथा लोचनकार ने काव्य के स्वरूप तथा उसके निर्मापक तत्वों की अन्तरात्मा का साक्षात्कार करने और कराने का सफल प्रयत्न किया है। 'सहृदय श्लाघ्यत्व' ही उनकी प्रधान कसौटी है जिसके आधार पर वे काव्य को अकाव्य से, अलंकार को दूषण से तथा गुण को दोष से पृथक करते हैं। यह 'सहृदय श्लाघ्यत्व' दूसरे शब्दों में 'सौन्दर्यानुभूति' ही है। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों के विवेचन का सार यह है कि वे काव्य तथा उसके सम्पूर्ण तत्वों के प्राण को एक 'सुन्दर' शब्द से अभिहित करना चाहते हैं। यह सौन्दर्य-भावना केवल इन आचार्यों द्वारा ही सम्मानित नहीं हुई अपितु इनके पूर्व के आचार्यों द्वारा भी हुई। समन्वय का आधार ही तब निकल पाया जब सब आचार्य एक तत्व पर सहमत हो गये। वह था 'सौन्दर्यानुभूति' या सहृदयश्लाघ्यत्व, चमत्कार, अलौकिक आह्लाद द्वारा व्यंजित भावना। यही आज की शब्दावली में 'सौन्दर्यानुभूति' है। 'ध्वनि' 'वक्रोक्ति', 'औचित्य' आदि तो 'सौन्दर्य' की विशेष व्याख्या थी, अर्थात् कोई सौन्दर्य को वक्रता रूप, कोई ध्वनि रूप आदि मानना चाहते थे। यही भेद का आधार है।

उनके इस विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि उनसे पूर्व के आचार्यों ने शब्द, अर्थ, अलंकार, गुण, रीति आदि सौन्दर्य का संकेत किया है। वास्तव में सौन्दर्य के कारण ही अलङ्कार अलङ्कार है तथा गुण गुण है। दण्डी ने 'काव्य-शोभाकरान धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' कहा है। वामन ने भी 'सौन्दर्यालंकार' कहा है। अप्पय दीक्षित ने चित्र मीमांसा में 'सर्वोऽधिह्य-लंकार कवि समय-प्रसिद्धयनुरोधेन हृधतया काव्य-शोभा कर एव अलङ्कारतां भजते। अतः गो सदृशः गवयः इति

नोपमा' कहा है। अलंकार आदि[१] काव्य के शरीरगत या बाह्य तत्वों का आधार ही सौन्दर्य नहीं माना गया है, अपितु काव्य की आत्मा या अन्तरंग तत्व 'ध्वनि' के लिए भी सौन्दर्य का आधार अपेक्षित है। आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हुए 'चारुत्व' का महत्व स्वीकार किया है।[२] अभिनवगुप्त ने इसी स्थल की व्याख्या करते हुए सौन्दर्य के अभाव में काव्य की ध्वनि की सम्भावना का ही खण्डन कर दिया है।[३] अभिनव गुप्त ने तो सौन्दर्य को काव्य की आत्मा ही घोषित कर दिया है।[४]

इस प्रकार जैसे अलङ्कारवादी आचार्य 'सौन्दर्य' को ही अलङ्कार कहता है, उसी प्रकार 'ध्वनिवादी' आचार्य अलङ्कार, गुण आदि को तो 'चारुत्व' रूप मानता ही है, इसके साथ ही ध्वनि को भी सौन्दर्य का ही एक विशेष रूप कहता है। इसमें 'रस' तथा अन्य सभी काव्य-जनित आनन्दों का अन्तर्भाव भी स्पष्ट है। इससे यह भी निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि काव्य के सम्पूर्ण आनन्द का अभिव्यंजक कारण "मानव-सृष्ट-सौन्दर्य" ही है। 'रमणीयता' के सिद्धान्त में इन सभी प्रकार के सौन्दर्यों तथा आनन्द के विभिन्न स्तरों का अन्तर्भाव है। गुण, अलंकार और वक्रोक्ति के मूल में विराजमान सौन्दर्य तथा 'ध्वनि और रस' के सौन्दर्य दोनों मूलतः एक ही नहीं हैं। इन दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी है। पहले का सम्बन्ध काव्य के शरीर एवं शैली-पक्ष से तथा दूसरे का उसकी आत्मा एवं अभिव्यंजना से है। यद्यपि दोनों में सौन्दर्य के विषयी एवं विषय पक्षों का मिश्रण है। फिर भी प्राधान्य की दृष्टि से पहले प्रकार वस्तुपरक सौन्दर्य के अन्तर्गत तथा दूसरे विषयिगत सौंदर्य के अन्तर्भूत माने जा सकते हैं।'रमणीयता' में इन दोनों का पूर्ण समन्वय हो गया है। उसमें 'चमत्कार' एवं अलौकिक आह्लाद—दोनों भावनाओं का पूर्ण सामंजस्य है, इसीलिये उसमें काव्य के सम्पूर्ण रूपों को अपने में अन्तर्भूत करने तथा काव्य को अकाव्य से पृथक करने की पूर्ण क्षमता है।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि 'सौन्दर्य' काव्य का 'व्यावर्त्तक गुण है तथा गुण अलंकार आदि इसी के विभिन्न स्वरूप के नामकरण हैं। यही भारतीय सिद्धान्त है।

१—गुणलंकारौचित्य सुन्दर शब्दार्थ शरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्य रूपता व्यवहार ध्वन्यालोक : लोचन पृष्ठ १७।

२—विविध विशिष्ट वाच्यवाचक रचना प्रपञ्च चारुण : काव्यः (ध्वन्यालोक १–५)

३—तेन सर्वयापि न ध्वनन सद्भावेऽपि तथा व्यवहार : (लोचन)

४—'चारुत्व प्रतीति स्तर्हि काव्यस्य आत्मा 'स्यात्' इति तदङ्गी कुर्म एव नास्ति खल्वयं विवाद इति" (लोचन)

कलाओं का वर्गीकरण

श्री राजनाथ शर्मा

क्रोचे का मत है कि कला एक अखंड अभिव्यक्ति है इसलिए उसका विभाजन असम्भव है। कला जब मूर्त रूप में उपस्थित होती है तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। इन रूपों की भिन्नता में तात्विक भिन्नता न होकर केवल वाह्य भिन्नता होती है। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसलिए तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव नहीं।

कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भारत व पाश्चात्य देशों में विस्तार से विचार हुआ है। भारतीय विचारकों ने काव्य (साहित्य) को 'कला' (६४ कलायें, जिनमें छन्द पूर्ति भी सम्मिलित है) से भिन्न माना है। उन्होंने काव्य की गणना विद्या में तथा कलाओं की अविद्या में की है। स्थापत्य, मूर्ति निर्माण तथा चित्र—ये कला के क्षेत्र में आते हैं जब कि साहित्य (काव्य) और संगीत की चर्चा एक साथ की गई है—

"साहित्य संगीत कला विहीनः,
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः"

इस प्रकार के विभाजन का आधार क्या है? विद्या (काव्य, संगीत) में 'रस' को लक्ष्य माना गया है, जबकि अन्य कलाओं में "कौशल" के द्वारा वाह्य-सौंदर्य की सृष्टि को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। काव्य और संगीत में विषय व विषयी का जो तादात्म्य पाया जाता है, वह कलाओं में कम मिलता है। परन्तु कला—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि में 'रस' का अभाव नहीं है अतएव इन कलाओं का लक्ष्य भी रसानुभूति ही निर्धारित किया गया है। इस विषय पर यथा स्थान विचार किया जायगा।

प्रसाद ने काव्य और अन्य कलाओं के दो स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय में लिखा है—"आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प और विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वांगमय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभयपक्ष प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" कला को उपविद्या मानने से वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध रखती है। प्रसाद की उपरोक्त धारणानुसार काव्य को कला नहीं माना जासकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी प्रसाद के मत का समर्थन करते हुए काव्य को कला मानने की प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं। उनका दृढ़ मत है कि काव्य का कला और सौंदर्य-शास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे कहते हैं—"सौन्दर्यशास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों पर विचार होने लगा उस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढङ्गी बात तो यही हुई।" शुक्ल जी का मत है कि काव्य को कला मानने की भ्रांत धारणा के ही कारण हिन्दी-समीक्षा में अभिव्यंजनावाद, सौन्दर्यवाद और रहस्यवाद आदि का विवेचन होने लगा। यदि ऐसा न होता तो काव्य में इनके विवेचन की आवश्यकता ही न पड़ती क्योंकि इनका काव्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

प्रसाद और आचार्य शुक्ल के उपरोक्त मतों को ही यदि प्रामाण्य या अन्तिम मान लिया जाय तो हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओं के विभाजन पर विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। काव्य को विद्या तथा अन्य कलाओं को उपविद्या मानने का प्रश्न ही हीगेल के सम्मुख न था क्योंकि वह समस्त कला को आइडिया (भाव) का माध्यम मानता था। हमारा मत है कि हिन्दी के उक्त दोनों विद्वानों के समय तक हिन्दी में

हीगेल के कला-विभाजन वाले सिद्धांत का सही विवेचन नहीं हो सका था। इधर परवर्ती विद्वानों ने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है।

पाश्चात्य कलाशास्त्रियों की विचार प्रणाली भारतीय विवेचकों की विचार प्रणाली से भिन्न रही है। इसलिए हमें पहले योरोप में हुए कला विषयक विचारों को देखना पड़ेगा।

भारत की तरह योरोप में कला व विद्या का विभाजन नहीं मिलता, यही कारण है कि कला-विभाजन में वहाँ के विचारकों को अनेक असुविधाओं और असंगतियों का सामना करना पड़ा है। ग्रीस में पाँचवीं शती ईसा पूर्व से ललित कलाओं और उपयोगी कलाओं (Craft) का भेद स्वीकृत हो चुका था परन्तु फिर भी सामान्य भाषा में इस अन्तर को स्पष्ट नहीं किया गया था।१ क्रमश: वहाँ उपयोगी व ललित कलाएं भिन्न होती गईं। प्लेटो व अरस्तू में यह भेद स्पष्ट रूप से स्वीकृत है। इस भेद का आधार है 'पुनर्प्रस्तुति' (Representation) का सिद्धांत। जहाँ वस्तु को शब्द, रंग, रेखा आदि के माध्यम से पुन: प्रस्तुत किया जाय वहीं सौंदर्य होता है। उपयोगी कलाओं में दारुकार, लौहकार, कुम्भकार आदि का ध्यान वस्तु की पुनर्प्रस्तुति पर न होकर केवल 'उपयोग: की सार्थकता पर होता है अर्थात् सौंदर्य गौण और उपयोग प्रधान होता है।

ग्रीक विचारकों के पश्चात् 'कांट' के पूर्व तक कल्पना व भाव की 'एन्द्रिक अभिव्यक्ति' को कला का लक्षण माना जाता रहा अतएव उपयोगी कलाओं को ललित कलाओं से भिन्न मान लेने पर भी यह विचार न हो सका कि क्या भाव, कल्पना अथवा माध्यम के आधार पर काव्य, संगीत, चित्रादि कलाओं का विभाजन हो सकता है।

सर्व प्रथम 'कांट' ने कलाओं का विभाजन इस आधार पर किया कि कला एक अभिव्यक्ति (Expression) है और सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति वागाभिव्यक्ति (Speech) है क्योंकि वाक् के द्वारा विचार, प्रत्यक्ष तथा भाव तीनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। वाक् में शब्द, चेष्टा (gesture) तथा स्वर संघात (accent) रहते हैं, अतएव कलाओं का विभाजन इस प्रकार हो सकता है—

१—वाक्-कला (Arts of speech)

२—रूप-कला (Arts of form)

३—संवेदन-क्रीड़ा-प्रधान कला (Arts of play of sensation)

इस विभाजन में कांट ने वक्तृत्व-कला (Art of Oratory) तथा Landscape gardening को भी सम्मिलित कर लिया है जो सर्वथा अनुपयुक्त है। वक्तृत्व कला में व्यावहारिकता अधिक रहती है और द्वितीय में अभिव्यक्ति की प्रधानता नहीं है अत: इन्हें ललित-कला से बाहर ही रखना चाहिए था।

काँट ने कलाओं में श्रेष्ठता का भी निर्णय किया है। काव्य सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति की शक्ति सबसे अधिक है। काव्य में सादृश्य (Semblence) तथा क्रीड़ा (Play) दोनों विद्यमान हैं जबकि चित्रकला में केवल 'सादृश्य' रहता है, क्रीड़ा नहीं। मूर्त्ति तथा स्थापत्य कलाओं में "एन्द्रिक सत्य" (Sensuous truth) ही रहता है, समता व क्रीड़ा नहीं। 'सादृश्य' का अर्थ भ्रम या प्रवंचना नहीं है, यही विशेषता है। उदाहरण के लिये काव्य में चन्द्र, पर्वत, सरितादि की अभिव्यक्ति होने पर जो सादृश्य उत्पन्न होता है वह भ्रम में नहीं है परन्तु फिर भी सादृश्य है अत: काव्य व चित्र दोनों में "भ्रम रहित सादृश्य" मिलता है; जबकि स्थापत्य व मूर्त्ति कला में "एन्द्रिक सत्य" की प्राप्ति होती है। इनमें वस्तु का वास्तव रूप चित्र व काव्य से कहीं अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होता है, तभी उसे 'सत्य' कहा गया है। किंतु यह स्मरणीय है कि स्थापत्य में भी पूर्ण सत्य नहीं रहता यद्यपि उसमें सादृश्य रहता अवश्य है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि 'संगीत' को इस विभाजन में स्थान नहीं मिला। संगीत स्वर पर आधारित

1—History of Aesthetics—B. Bosanquet, Page 38.

है। संगीतात्मक अभिव्यक्ति में स्वर के ज्यामितिक (Mathematical) सम्बन्ध से मिश्रित विचारों व भावों की अभिव्यक्ति होती है। स्वरों द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति में भावों का बाहुल्य अत्यधिक रहता है अत: इस अभिव्यक्ति में अस्पष्टता व धूमिलता इतनी अधिक रहती है कि वह व्यक्तिगत रुचि की वस्तु बन जाती है।

सौन्दर्य प्रसाद (Pleasentness) व शिव (Good) दोनों से भिन्न है जो अन्य कलाओं द्वारा तो अभिव्यक्त होता है परन्तु संगीत में 'प्रसादता' की ही प्रधानता रहती है, अभिव्यक्ति गौण हो जाती है (अपनी धूमिलता के कारण)। 'प्रसादता' की दृष्टि से संगीत सर्वश्रेष्ठ है परन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह स्थापत्य से भी निम्नकोटि की कला है।

ग्रीक विचारक संगीत का महत्व समझते थे परन्तु कांट ने ग्रीक विचारकों की उपेक्षा की थी, अत: १९ वीं शती तक संगीत की प्राय: उपेक्षा ही होती रही। कान्ट ने इतना अवश्य किया था कि उक्त विभाजन में संगीत को अभिव्यक्ति की दृष्टि से न सही, चित्त प्रसादन की दृष्टि से अवश्य महत्व दिया था।

हीगेल ने ऐतिहासिक दृष्टि से भी कलाओं का विभाजन किया है। हीगेल के अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य में वस्तुओं को देखकर कल्पनाएँ व दिवास्वप्न उत्पन्न हुए होंगे। विचार, भाव, कल्पना, फैन्सी आदि मानसिक शक्तियाँ सम्बद्ध रूप में ही आदिम युग में कार्य करती रही होंगी अत: प्रारम्भिक युग की कला को "प्रतीकात्मक कला" कहा जा सकता है। यहाँ प्रतीक का विशेष अर्थ है। अस्पष्ट मानसिक स्थिति में जो अभिव्यक्ति होती है, हीगेल उसे ही 'प्रतीकात्मकता' कहता है। इस प्रकार की कला में अभिव्यक्ति पंचायती और बुद्धि विरोधी (Irrational) होती है।[1]

'क्लासिकल कला' ऐतिहासिक विकास के द्वितीय सोपान में उदित होती है। इसमें विचार, भाव, मानवीय सम्बन्ध आदि स्पष्ट रूप से व्यक्त होने लगते हैं।[2]

रोमान्टिक कला—ऐतिहासिक विकास के ऊर्ध्व सोपानों में जब समाज संकुल और मिश्रित हो जाता है तो प्राचीन आदर्शों, निश्चित नियमों, अभिव्यक्ति के शास्त्र द्वारा निश्चित विधानों और रूपों का विरोध होने लगता है और मानवीय आत्मा अपनी पूर्ण स्वच्छन्दता, वेग और शक्ति के साथ अभिव्यक्त होती है। विचार तत्व पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है परन्तु भाव और कल्पना की इस कला में उपेक्षा नहीं होती। प्राचीन क्लासिकल कला साधारण (Simple) और स्थिर (Fixed) होती है, जबकि रोमांटिक कला मिश्रित व गतिशील होती है। रोमान्टिक कला में विषयीगतता (Subjectivity) अधिक रहती है। क्लासिकल कला में वस्तुपरकता की प्रधानता रहती है।

वस्तुत: हीगेल के विभाजन का आधार 'आइडिया' (भाव) है। 'आइडिया' का अर्थ समझ लेने से हीगेल के विभाजन का रहस्य भी समझ में आ जायेगा।

"आइडिया" कला का वस्तुतत्व (Content) है। 'आइडिया' की अभिव्यक्ति इन्द्रिय ग्राह्य कल्पनाओं के द्वारा होती है। 'आइडिया' मूर्त्त (Concrete) होना चाहिए, अमूर्त्त (Abstract) नहीं। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि "ईश्वर एक है" तो यह अमूर्त्त आइडिया हुआ। इस विचार में न वर्णन है और न बौद्धिक स्पष्टता। निराकार वादी धर्म इसीलिये श्रेष्ठ कला को जन्म नहीं दे सके। परन्तु ईसाई धर्म में विचार मूर्त्त रूप में भी स्वीकृत है। अत: उसमें कला का श्रेष्ठ विकास हुआ है। हिन्दू धर्म में सत्ता को मूलत: निराकार मानने पर भी त्रिदेवों की कल्पना हुई, फिर नाना देवी,

---

१—हीगेल ने प्रतीकात्मक कलाओं के उदाहरणों में प्राचीन हिन्दू कला को रखा है जिसमें देवता की महानता, बल और सामर्थ्य को उसकी अनेक भुजाओं और शस्त्रों द्वारा संकेतित किया गया है। प्राचीन कथायें (Fables) समासोक्ति (Allegory), वर्णनात्मक व शिक्षात्मक कविताएं भी प्रतीकात्मक कला में आती हैं।

२—क्लासिकल कला के उदाहरणों में हीगेल ने ग्रीक स्थापत्य तथा मूर्त्ति कला को रखा है।

देवताओं के रूप, वाहन, वेशभूषा, मुद्रादि की कल्पना हुई अतः इनकी अभिव्यक्ति कला द्वारा सम्भव हो सकी। इससे यह सिद्धांत निश्चित हुआ कि कला का विषय सर्वदा मूर्त्त (Concrete idea) ही होता है, अमूर्त्त सिद्धान्त या विचार नहीं। यदि आइडिया मूर्त्त और स्पष्ट होगा तो 'रूप' भी स्पष्ट और मार्मिक होगा अतः जहाँ रूप या अभिव्यक्ति में दोष दिखाई पड़ता है वहाँ समझना चाहिये कि कलाकार का आइडिया अमूर्त्त और अस्पष्ट है।[1] चूँकि प्रागैतिहासिक युगों में विचार अमूर्त्त और अस्पष्ट था इसलिये उन युगों की कला का रूप भी प्रतीकात्मक रहा। क्लासिकल व रोमान्टिक कला में विचार तत्व मूर्त्त रूप में व्यक्त हुआ है। परन्तु क्लासिकल कला में ऐन्द्रिकता (Sensuousness) की अधिकता रहती है क्योंकि आइडिया अभी 'बौद्धिक आन्तरिकता' के रूप में विकसित नहीं हो पाया। रोमान्टिक कला में भाव, कल्पना व एन्द्रिकता के साथ एक 'बौद्धिक आन्तरिकता (Intellectual inwardness) भी रहती है। कला का यही सर्वश्रेष्ठ रूप है।

हीगेल का प्रसिद्ध कला-विभाजन आइडिया की मूर्त्तता के आधार पर ही किया गया है जिसमें माध्यम की दृष्टि से कला की श्रेष्ठता तथा हीनता निर्धारित की गई है। परन्तु इस विभाजन के सम्बन्ध में आलोचकों को प्रायः यह भ्रम रहा है कि हीगेल ने माध्यम को ही आधार माना है जबकि हीगेल 'आइडिया' को आधार बनाता है। उपर्युक्त विवेचन इसका प्रमाण है।

हिन्दी में बाबू श्यामसुन्दरदास आदि ने माध्यम को ही आधार मान कर कला-विभाजन का विवेचन किया है जो ग़लत है।

हीगेल के अनुसार स्थापत्य (Architecture) प्रथम ललित कला है। इस कला में अचेतन (Inorganic) प्रकृति का सादृश्य प्रस्तुत किया जाता है। अतः इसका माध्यम भी स्थूल जड़ पदार्थ है—पत्थर, ईंट आदि। इसमें ज्यामिति के बाह्य नियमों (वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार आदि) से काम चल जाता है। प्रकृति की स्थूल बाह्य वस्तुओं में जो गुण होते हैं उसी स्थूलता तथा आकारादि का सादृश्य इस कला में मिलता है। इसमें चूंकि आइडिया अमूर्त रूप में अभिव्यक्त होता है अतः भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। कला का निम्नतम रूप इसी कारण स्थापत्य को माना गया है। इसमें मूर्त्त आइडिया की अभिव्यक्ति असम्भव है। यह अपनी आइडिया की अमूर्त्तता के कारण हीन है न कि केवल माध्यम की स्थूलता के कारण जैसा कि प्रायः कहा गया है। हीगेल द्वारा वर्णित 'माध्यम' विचार के साथ सम्बद्ध है। हीगेल आइडिया की अमूर्त्तता और (इसलिए) माध्यम की स्थूलता के कारण इस कला को निम्नतम कोटि की कला मानता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कला का नाम 'प्रतीकात्मक' कला है। यह कला आइडिया का अनुभव (अमूर्त रूप में) सर्व प्रथम कराती है। जिस भवन में विचार अमूर्त्त रूप में भी अभिव्यक्त नहीं होता वह कलाहीन होता है। उसका निर्माण केवल उपयोग की दृष्टि से ही किया जाता है।

इस कला से केवल इतना ही लाभ होता है कि यह स्थूल वस्तु को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न कर प्रकृति की उग्रता से बचाने का साधन बनाती है। चैत्य, स्तूप, मन्दिर, सुन्दर भवन आदि इस कला के सुन्दर उदाहरण हैं। इनमें 'रूप' का कारण सामंजस्य (Symmetry) है। मूर्त्ति कला के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इसमें आइडिया अपेक्षाकृत मूर्त्त रूप में अधिक व्यक्त होता है। मन्दिरों के निर्माण में स्थापत्य एवं मूर्त्ति दोनों कलाओं का सम्मिश्रण रहता है क्योंकि मन्दिरों में ही प्रायः मूर्त्तियों की स्थापना की जाती है। मूर्त्तिकला में स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप मानव आकृति में ढाला जाता है। इस प्रकार भाव और ऐन्द्रिक आकृति में सामंजस्य हो जाता है।

चित्रकला—इसमें स्थापत्य तथा मूर्त्ति कला की भाँति स्थान (Space) का उपयोग तो होता है परन्तु प्रस्तर, मिट्टी आदि के स्थान पर रेखा व रङ्गों का

I—Defectiveness of form arises from defectiveness of form.

प्रयोग होता है। अतः इसका माध्यम अधिक विकसित है क्योंकि इसमें आइडिया अधिक मूर्त होकर अभिव्यक्त होता है। मानव हृदय में उत्पन्न प्रत्येक स्पन्दन–भाव, विचार, कल्पना आदि चित्र द्वारा व्यक्त हो सकता है। सूक्ष्मतम कल्पनाओं से स्थूलतम वस्तुओं का इस कला द्वारा चित्रण सम्भव है।

संगीत चित्र से भी अधिक सूक्ष्म कला है। इसमें आइडिया की अभिव्यक्ति माध्यम (स्वर) की सूक्ष्मता और अन्तर्मुखता के कारण अधिक सफलता के साथ होती है।(१) संगीत स्थान (Space) को अतीत कर केवल 'काल' में व्यक्त होता है। चित्र में स्थान के उपयोग के कारण अन्तर्मुखता नहीं आ पाती यद्यपि सांकेतिकता अवश्य आ जाती है। स्थूल जड़तत्व (जिसे भवन, मूर्त्ति में प्रयुक्त किया गया था) यहाँ गति (Motion) में बदल जाता है। 'गति' स्थूल जड़तत्व से अधिक विकसित और 'सत्य' के निकटतर होने के कारण संगीत चित्रादि से उच्चतर कोटि की कला (Idea) बन जाता है। संगीत आइडिया को स्थूल जड़तत्वों—स्थान, दिक् तथा स्थूल माध्यमों से मुक्त कर देता है। संगीत में मानसिक अन्तर्मुखता इसीलिए अधिक है। संगीत में ईश्वर (Idea) अधिक अप्रच्छन्न रूप में व्यक्त होता है जबकि स्थूल कलाओं में उसका रूप प्रच्छन्न और अस्पष्ट रहता है। परन्तु फिर भी संगीत में भाव व उद्वेग की अधिकता के कारण आइडिया पूर्णरूप से अप्रच्छन्न और वास्तविक रूप में व्यक्त नहीं हो पाता। संगीत कला में अनिश्चितता का कारण यही है। दूसरी बात यह कि स्थापत्य कला की भाँति ज्यामिति के नियमों से अनुशासित होने के कारण इसमें पूर्ण स्वच्छन्दता भी नहीं रहती।

काव्य कला—काव्य सर्वश्रेष्ठ ललित कला है। मस्तिष्क पर इसका प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। संगीत में केवल हार्दिक स्पर्श रहता है। काव्य में भी केवल 'स्वर' ही माध्यम के रूप में ग्रहीत है परन्तु इसमें स्वर-सौन्दर्य नहीं रह जाता अपितु 'स्वर' संकेतों में बदल कर 'शब्द' बन जाते हैं। संकेत स्वतः अपने में असमर्थ वस्तु है किन्तु यही संकेत आइडिया के मूर्त्तीकरण में सबसे अधिक समर्थ रहते हैं। संगीत में रहने वाली स्वरों की अनिश्चितता काव्य में शब्दों की निश्चित शक्ति में बदल जाती है। काव्य में भाव व कल्पना संगीत की तरह अनिश्चित रूप में व्यक्त न होकर निश्चित रूप में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार काव्य स्वर (Sound) को शब्द (word) में बदल देता है। शब्द 'विचार' को संकेतित करता है और शब्द के अतिरिक्त विचार को मूर्त्त रूप में अन्य कोई माध्यम व्यक्त नहीं कर सकता। 'शब्द' स्थान, दिक्, काल सब को अतीत कर जाता है और किसी भी प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार तत्व को मूर्त्त कर देने की शक्ति रखता है। काव्य का शुद्ध रूप यही है। परन्तु व्यवहार में काव्य संगीत, चित्र एवं मूर्ति से भी सहायता लेता है। अतः काव्य को गाया भी जा सकता है, उसमें चित्र-पद्धति पर वस्तु का 'चित्रण' भी हो सकता है। परन्तु यह काव्य का मुख्य धर्म नहीं है। संगीत व चित्र के बिना भी काव्य की स्वतंत्र सत्ता है।

इस प्रकार काव्य देश, काल और स्थान से अतीत एक सार्वदेशिक, सार्वकालिक कला है जिसमें 'आत्मा' बिना बाह्य स्थूल माध्यमों के स्वच्छन्द होकर अभिव्यक्त होती है। काव्य 'विचारतत्व' को एन्द्रिक (sensuous) रूपों में अभिव्यक्त कर पूर्णता की उपलब्धि कराने में समर्थ है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि

---

(१) शॉपेन हावर को कान्ट की तरह संगीत को अन्य कलाओं के साथ रखने में कठिनाई हुई है। उसके अनुसार अन्य कलायें विचारों व भावों को अभिव्यक्ति देती हैं जबकि संगीत विचारों की पृष्ठभूमि में स्थित "इच्छा" को प्रकाशित करता है। मनुष्य की यह प्रकृति है कि उसमें "इच्छा" नित्य जाग्रत रहती है और कभी सन्तुष्ट नहीं होती। संगीत द्वारा यह इच्छा कुछ समय के लिए अन्य कलाओं से कहीं अधिक सन्तुष्ट होती है। अतः संगीत कला अन्य ललित कलाओं से कुछ विशिष्टता रखती है।

स्थापत्य एक बाह्य कला (external art) है, मूर्तिकला वस्तुपरक (objective) कला है, तथा चित्र, संगीत व काव्य अन्तर्मुखी (subjective) कलाएँ हैं। चित्र संगीत तथा काव्य को समष्टि रूप से रूमानी कला कहा गया है। काव्य रूमानी कला की अन्तिम परिणति है। माध्यम की दृष्टि से स्थापत्य से काव्य कला तक क्रमशः माध्यम सूक्ष्म होता चला जाता है और काव्य में अमुख्य हो जाता है। जिस कला में माध्यम जितनी सीमा तक अनिवार्य रहता है, वह कला उसी सीमा तक निम्न कोटि की कला होती है क्योंकि कलाकार माध्यम की अनिवार्यता के कारण अपने को स्वच्छन्द रूप में व्यक्त नहीं कर पाता।

हीगेल के अनुसार प्रतीकात्मक कला की पूर्णता स्थापत्य कला में मिलती है। क्लासिकल कला मूर्त्ति कला में पूर्णता प्राप्त कर लेती है। रोमन्टिक कला में चित्र, संगीत व काव्य को चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है। काव्य के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इसमें अन्य ललित कलाओं के सभी "सौन्दर्य प्रकार" मिलते हैं और सभी कलाओं में यह कला 'अनुभूत' रहती है। क्योंकि कल्पना इसका मुख्य सहायक तत्व है। कल्पना से ही सभी प्रकार की सौन्दर्य सृष्टियां सम्भव होती हैं। काव्य में ही मानवीय आत्मा की अनुभूति पूर्ण रूप में व्यक्त होती है।

हीगेल का विभाजन योरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र में सबसे अधिक व्यवस्थित और पूर्ण माना जाता है। हम पहले कह आये हैं कि भारतीय विचारकों ने काव्य व संगीत को विद्या तथा चित्र, मूर्त्ति एवं स्थापत्य को 'कला' माना है। माध्यम की दृष्टि से हीगेल का विभाजन वैज्ञानिक हो सकता है जैसा कि प्रसाद जी का मत था। परन्तु आनन्द की दृष्टि से भारतीय दृष्टि उक्त विभाजन को स्वीकार नहीं कर सकती। काव्य, संगीत, चित्रादि प्रत्येक कला का लक्ष्य हमारे यहाँ 'रसानुभूति' माना गया है अतः विभिन्न माध्यमों से एक ही लक्ष्य की पूर्त्ति मानी गई है। भारतीय सौन्दर्य शास्त्र यह स्वीकार नहीं करता कि स्थापत्य, चित्रादि कलाओं में 'विचार' तत्व की अपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। भाव को रूप में बदल देना ही कला है और भवन, मूर्ति आदि से भी भावाभिव्यक्ति होती है, इसे प्रत्येक सहृदय स्वीकार करता है। माध्यम की विशिष्टता के अनुसार आनन्द भी विशिष्ट रूप धारण करता है। उदाहरण के लिए हीगेल की यह बात सही है कि कोमल माध्यमों–रंग, स्वर, शब्द द्वारा विचार को अधिक सुविधा के साथ मूर्त्त किया जा सकता है परन्तु यह भी मानना पड़ता है कि स्थापत्य व मूर्त्ति कला में कठोर माध्यमों के द्वारा रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इन्द्रियों के लिए अधिक स्पष्ट होता है। चित्र, संगीत व काव्य में सांकेतिकता के साथ-साथ अस्पष्टता और अस्थिरता भी अनिवार्य रूप से आजाती है। इसके विपरीत स्थापत्य व मूर्ति कला में स्पष्टता और स्थिरता अधिक रहती है। (१) अतः वस्तुतः ललित कलाओं में प्रत्येक कला की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। इनमें हीनता और उच्चता के निर्धारण के स्थान पर इनकी विशिष्टताओं का विचार ही अधिक वैज्ञानिक होगा अन्यथा विभाजन पंचायती होगा। हीगेल के विभाजन में यही दोष है कि वह कला की विशेषताओं पर जोर नहीं देता।

माध्यमों में कुछ "चल" तथा कुछ "अचल" होते हैं अतः 'चल' माध्यम वाली कला में रसिक को "अचल" होना पड़ता है। यथा संगीत में स्वरों के आरोह-अवरोह का आनन्द लेने के लिए चित्त को स्थिर करना पड़ता है। "अचल" माध्यमों वाली कला में रूप का विन्यास स्पष्ट होता है, अतः रसिक को इसका आनन्द लेते समय अपने में "चलता" लानी पड़ती है। मूर्त्ति दर्शन में रसिक नेत्रादि के 'चालन' से गति की खोज करता है। (२) यहाँ भी विशिष्टता दृष्टव्य है। प्रत्येक कला का सौन्दर्य सब कलाओं में एक सीमा तक सामान्य होने पर भी कुछ 'विशिष्ट' भी रहता है जो दूसरी कला में नहीं मिलता। अतः प्रत्येक कला इस दृष्टि से

१—सौन्दर्य-शास्त्र —डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १४६

२—वही, पृष्ठ १४७

दूसरी से श्रेष्ठ होती है।

हीगेल ने कहा है कि संगीत में 'स्थल' की जगह 'काल' रह जाता है परन्तु भारतीय दृष्टि काल के 'चल' और 'स्थिर' दो रूप मानती है। स्थापत्य में इसी स्थिर काल तत्व का आनन्द है। हीगेल 'आइडिया' के केवल मूर्त्त रूप को महत्व देता है जबकि भारतीय दृष्टि से उसका अमूर्त रूप भी भारतीय कलाओं द्वारा व्यक्त हुआ। मन्दिर, मूर्त्ति स्थिर काल तत्व के व संगीत, काव्य प्रवहमान काल तत्व के व्यंजक कला रूप हैं। शॉपेन हावर भी संगीत कला को अन्य कलाओं से विशिष्ट मानता है।

भवन कला से स्थिरता, सुरक्षा और दृढ़ता का अनुभव होता है।[1] हमारी बुद्धि को अचल सत्यों का बोध इसी कला द्वारा हो सकता है। इसमें विचार के चिरन्तन तत्व की स्थूल अभिव्यक्ति होने से यह अन्य कलाओं से विशिष्ट होती है। इसी प्रकार 'आकार' की सम्पूर्णता सबसे अधिक इसी कला में होती है।

इसी प्रकार मूर्तिकला में प्रस्तर अथवा धातु से उसी दिव्य आनन्द की सृष्टि होती है, उसी सांकेतिकता का जन्म होता है जो काव्य व संगीत में होता है। अर्थ, स्वर, रंग आदि के अधीन न रहकर कलाकार मूर्ति-निर्माण में अधिक स्वतंत्रता का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध में डा० हरद्वारीलाल शर्मा का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि, "पत्थर में अव्यक्त, शून्य अवस्था इसे कला के लिये उपयुक्त माध्यम बनाती है। अव्यक्त में प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का अविर्भाव ही कला-सृजन है; किन्तु हीगेल आदि दार्शनिकों ने माध्यम के इस गुण पर ध्यान न देकर पत्थर आदि को कला का नीची श्रेणी का माध्यम माना है।"[1] कठोर माध्यम से स्थिरता और चिरन्तनता की अभिव्यक्ति में जो सहायता मिलती है वह अन्य किसी माध्यम से नहीं मिल सकती। भारत में कोमलता-प्रियता के कारण ही मूर्तिकार को शिल्पकार माना गया न कि इसलिए कि मूर्तिकला हीन कला है। हमारे यहाँ शैवों, वैष्णवों व बौद्धों ने मूर्त्तियों में जिस सौन्दर्य का अंकन किया है वह हमारे महाकाव्यों से कम सुन्दर नहीं हैं। कामायनी व ताजमहल में कौन अधिक सुन्दर है—भारतीय दृष्टि से दोनों में अपना-अपना विशिष्ट सौन्दर्य है अत: हीगेल का विभाजन विवादास्पद है।[2]

मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का भोग कला द्वारा एक उच्च स्तर पर करता है। इनके साथ ही सारा मानसिक जगत भी संयुक्त होकर कला में व्यक्त होता है अत: स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्र में 'रूप' का आनन्द नेत्रों को अधिक आकर्षक लगता है और संगीत व काव्य में शब्द हमारी कर्णेन्द्रियों को अधिक आकर्षित करते हैं गन्ध व रस व स्पर्श की तृप्ति भी

(शेष पृष्ठ १७५ पर)

१—हीगेल के पश्चात् शॉपेनहावर ने भी स्थापत्य में कुछ सत्यों की व्यंजना सम्भव स्वीकृत की है। उसके अनुसार 'स्थापत्य' में गाम्भीर्य (gravity), स्पष्टता (cohesion), स्थिरता (rigidity), कठोरता (hardness) को अभिव्यक्ति मिलती है। शॉपेनहावर मनुष्य के दुख का कारण 'इच्छा' (will) को मानता है। ज्ञान भी इच्छा के अधीन रहता है। 'कला' में हम कुछ समय के लिये 'इच्छा' से स्वतंत्र हो जाते हैं। स्थापत्य को यद्यपि वह निम्नकोटि की कला मानता है तथापि स्थापत्य हमें 'इच्छा' से मुक्त करता है। अतः हीगेल से कहीं अधिक शॉपेनहावर ने स्थापत्य का महत्व स्वीकार किया है।

१—सौन्दर्य शास्त्र —डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १६६

२—हीगेल के अनुसार मूर्तिकला क्लासिकल कला है, प्रातः स्थापत्य से उच्चतर होने पर भी उसमें स्वच्छन्दता नहीं है। शॉपेनहावर के अनुसार यद्यपि मूर्तिकला स्थापत्य से श्रेष्ठ है परन्तु उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मूर्तिकला में 'इच्छा' की अधीनता नष्ट होती है और हमारा ध्यान रूप से विचारों और भावों की ओर जाता है। अतएव शॉपेनहावर ने इस कला को भी हीगेल से अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक कला जगत के दुखों को दूर करने में सहायक है।

सूफी कवियों की सौन्दर्यानुभूति

श्री उदयशङ्कर शास्त्री

तैंतीस कोटि देवताओं के प्रति नाना प्रकार की आस्थाओं से भरे इस भारतवर्ष में जब सूफी लोगों का आना जाना आरम्भ हुआ तो यहाँ के लोगों के लिए उनके आचार-विचार, धार्मिक आचरण एवं उनकी साधना पद्धति को सीधे-सीधे अंगीकार कर लेने में काफी सोच-विचार से काम लेना पड़ा। कारण यह था कि सूफी लोग अपनी जिस आस्था को प्रमुख रूप से प्रगट करते थे या उसके अनुसार आचरण करते थे वह यहाँ के लिए नई थी। सूफियों की आस्था एकमात्र प्रेम पर अवलम्बित थी। यहाँ के लोग किसी भी वस्तु में आसक्ति को प्रश्रय इसलिए नहीं देते थे कि उसके कारण उन्हें निवृत्ति मार्ग के पाने में बाधा आती थी। इसलिए कोमल एवं सुन्दर अथवा मोहक वस्तुओं और उपादानों की ओर से मुंह फेर कर चलने को अच्छा समझते थे। स्वच्छन्दतावादी लोकायतों को न तो समाज में अच्छा स्थान ही प्राप्त था न उनके प्रति अधिक लोग श्रद्धा ही व्यक्त करते थे। मन की सहज प्रवृत्तियों को उनके स्वाभाविक एवं स्वच्छन्द मार्ग से मोड़कर कठिन तपश्चर्या की ओर ले जाना इसी वृत्ति का परिणाम है। "योगश्चित्तवृत्ति निरोध:" पतंजलि के योग का पहला सूत्र ही इसी आस्था का मूल है। आगे चलकर तो इसके आधार पर साधना की एक विशेष पद्धति ही चल पड़ी और हठयोग का पूरा शास्त्र बनकर तैयार हो गया। किन्तु सूफियों का प्रेम भी धीरे-धीरे असर करता रहा। इस असर का मुख्य कारण यह था कि सूफी, प्रेम के द्वारा परमात्मा को पाने की जो राह बताते थे वह हठ योगियों के खट करम (षट् कर्म) से सरल, मोहक एवं मृदु थी। प्रेम का अन्तिम ध्येय प्रेम की उसकी वास्तविकता को जानना है। यह वास्तविकता ही सूफियों के अनुसार ईश्वरीय तत्व है। इब्नुल अरबी के अनुसार प्रेम का मूल कारण सौंदर्य ही है। और सौन्दर्य की प्रशंसा के लिए जो प्रेम किया जाता है यथार्थ में उसी में रति की सार्थकता है। इसीलिए सांसारिक सौन्दर्य की प्रशंसा प्रेम के परिपाक का कारण होती है। यही सांसारिक प्रेम, अलौकिक प्रेम का निमित्त हो जाता है। इसीलिए रहस्यवादी प्रणयमूला भक्ति को भी आश्रय मिलता था। और इन प्रेमी साधकों के बीच में हमें यह तत्व भी करीब-करीब एक युग में साथ ही साथ दिखाई पड़ता है। जहाँ अन्य प्रकार की आसक्तियों की चर्चा है वहीं एक कान्तासक्ति की भी चर्चा नारद के भक्ति सूत्रों में मिलती है। गोपियों की कृष्ण भक्ति भी जिसे आगे चलकर परकीया भक्ति के रूप से बहुत महत्व दिया गया इसी प्रकार की वस्तु है। वल्लभाचार्य ने गोपी बनना मानव जीवन का लक्ष्य माना है।[१] इतना ही नहीं चैतन्य ने स्वयं अपने को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में उपस्थित किया है। और अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट ही कहा है कि कृष्ण उनके प्रियतम हैं। प्रियतम के प्रत्येक भाव के प्रति प्रेमी भक्त की आसक्ति होना सहज एवं स्वाभाविक है।

सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होना प्राणिमात्र के लिए सुगम ही नहीं वरन् स्वाभाविक है। कारण कि मानव स्वयं ईश्वर का अंश माना जाता है, (ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी—तुलसी) अत: उसमें जो प्रेम की भावना है वह भी ईश्वर की ओर से ही प्रदत्त है और वह दिव्य एवं सुन्दर मानव ही प्रेम

१—यच्च दुःखं यशोदायाँ नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यात् मम् क्वचित्।
षोड़शग्रन्थ, पृ० २

रूप है।[1] इसीलिए मनुष्य के मन में एक ही प्रेम वात्सल्य, स्नेह, अनुरक्ति, आसक्ति एवं भक्ति के रूप में निवास करता है। परन्तु ऐहिक प्रेम में स्वार्थ और ममत्व की भावना प्रधान होती है जो आधि व्याधियों के रूप में अनेक बाधाएं खड़ी करती हैं। इसके विपरीत दैवी प्रेम वास्तविक प्रेम होता है जिसमें स्वार्थ की भावना तनिक भी नहीं होती है। यह भावना सौंदर्य के माध्यम से मानव में एक प्रकार का ऐसा जादू करती है कि प्रेमी प्रेम की अग्नि में झुलस झुलस कर सदैव प्राण देने को प्रस्तुत हो जाता है। अल् हल्लाज ने अपने वध के समय शिब्ली से कहा था, ओ शिब्ली ! प्रेम का आरम्भ जलाने वाली आग है और अन्त शान्ति देने वाली मृत्यु है। यही कारण है कि सच्चा प्रेमी सदा प्रेम के नशे में धुत्त् बना रहना चाहता है, उमर खैयाम ने लिखा है कि प्रेम की मदिरा से हमारे शरीर और प्राण को शक्ति मिलती है। यह प्रेम की मदिरा मन में माधुर्य का संचार करती है। इसीलिए प्रेमी एवं साधक संसार के तमाम कालकूट को अमृत समझ कर पीता रहता है। और जब इस प्रकार की भावना अपनी चरमावस्था को पहुँच जाती है तब जो कुछ हर्ष विषादमय कहा जाता है वह सब का सब उसे प्राप्त हो जाता है। इन कठिनाइयों से गुजरने के बाद उसे अपना प्रियतम अवश्य मिलता है। मौलाना हाफिज ने कहा है "आशिक कि शुद के यार बहालश नजर न कर्द" अर्थात् कोई ऐसा भी प्रेमी हुआ है जिसके हाल पर उसके यार (प्रियतम) ने दया न की हो। इसी माधुर्य भाव के कारण संसार में सौन्दर्य का वाह्य प्रेम आन्तरिक सौन्दर्य के प्रेम का कारण बन जाता है यही सूफियों का इश्क हकीकी और इश्क मजाजी है। जब इश्क मजाजी इश्क हकीकी में परिणत हो जाता है तो फिर उसे वाह्य पदार्थों का सौन्दर्य तुच्छ लगने लगता है और ईश्वरीय सौन्दर्य के प्रति वह इतना आकृष्ट हो जाता है कि उसे फिर न और कुछ दिखाई पड़ता है और न सुनाई ही देता है और अपने यार के साथ उसका ऐसा तादात्म्य स्थिर हो जाता है कि वह अपना अस्तित्व तक भूल कर उसी का हो रहता है। जामी ने कहा है कि "बर ऊदे दिलम नबाख्त यक जमजमा इश्क। जाँ जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क।[1] अर्थात् मेरे हृदय रूपी सितार पर प्रेम ने एक ऐसी गत वजा दी है कि जिसके प्रभाव से मैं सिर से पैर तक प्रेम ही प्रेम हो गया हूँ।

सूफियों की साधना में रति का आलम्बन ईश्वर ही होता है। उनकी आस्था के अनुसार ईश्वर साकार नहीं है अत: वे उसके प्रतिबिंब की कल्पना के निमित्त किसी ऐसे हुस्न की खोज करते हैं जो अपने रूप सरूप की चका चौंध से उनके भीतर उजाला कर दे। फिर सूफी लोग उसी साकार प्रियतम की भाँति ईश्वर का विरह जगाते, नाम जपते और ध्यान करते हैं। अनेक नाम-धारी सूफियों ने आलम्बन की अलक्ष्यता के कारण प्रिय को आलम्बन मान कर परोक्ष रूप से परम प्रिय के रति भाव को अभिव्यक्त किया है। इन सूफियों का प्रधान भाव रति है और रति का मुख्य उद्दीपन है सुरा। इसमें रति का आलम्बन सुरा का दाता (जिसे साकी कहते हैं) होता है। माशूक ही साकी का काम करता है और प्रेम मदिरा पिला पिला कर प्रेमी को इतना छका देता है कि वह उसी में ऊभचूभ होने लगता है। माशूक का हुस्न अल्लाह का जमाल है जो किसी हसीन को अल्लाह का प्रतीक बनाता है।[2] जायसी ने इसी अवस्था में पद्मावती से कहलाया है :—

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ ।
ओहि देखहुँ सब ठावँहि ठाऊँ ॥
नैन माँह है उहै समाना ।
देखौं तहाँ नाहि कोउ थाना ॥

जा. ग्रं. पृ. १६३

इतना ही नहीं अनेक सूफी कवियों ने इसी प्रकार

१—'The basis and the cause of all love is beauty"
(The mystical philosophy of Muhiuddin Ibnul Arbi P. 173.)

१—ईरान के सूफी कवि, पृ० ४००
२—तसव्वुफ अथवा सूफी मत पृ० १०२

के तादात्म्य में लीन होकर कहा है—

एही रूप बुत अह्यो छिपाना।
एही रूप सब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकतीं औ सेवउ।
एही रूप त्रिभुवन नर होवउ॥
एही रूप परगट बहु भेसा।
एही रूप जग रंक नरेसा॥
एही रूप त्रिभुवन वर असि महि पाताल अकास।
सोई रूप प्रगट तहँ मानहि देख्यौं कहाँ हवास॥
एही रूप परगट बहु रूपा।
एही रूप है भाव अनेका॥
एही रूप सब नैनन्ह जोती।
एही रूप सब सागर मोती॥
एही रूप सब फूलन्ह बासा।
एही रूप रस भँवर बेरासा॥
एही रूप शस्त्र औ सूरा।
एही रूप जग पूरा पूरा।
एही रूप जल-थल महि भाव अनेग देखाव।
आपु को आपु जो देखै सो कछु देखै पाव॥

मंझन (मधुमालत)

प्रेमी और प्रेम के अतिरिक्त न तो कोई दूसरी वस्तु है और न उसका कोई अलग रूप सरूप ही है—

सब वहि भीतर वह सब माँही।
सबै आपु दूसर कोउ नाहीं॥
आपु अमूरति मुरति उपाई।
मूरति माँटी तहाँ समाई॥
है सब ठाँउ नाहिं कोउ ठाँई।
मुनिगन लखहिं कि अलख गोसाँई॥
सोई करता रमि रहा रोम रोम सब माँहि।
तिन सब कीन स्रिस्टि वह गाहक कीन्हा नाँहि।

चित्रावली—पृ० २

उसमान के विचार से उसकी कुदरत ही इस सृष्टि का सौन्दर्य है। उसके बिना सारा संसार सूना और सारी चीजें फीकी हैं। उसी का सुन्दर रूप इस सारे जगत में व्याप्त है। इस संसार की शोभा, सौंदर्य आदि में उसी ईश्वर का रूप समाया हुआ है अत: वह ईश्वर रूप ही है। यह नाम और रूप तो उसी के पुकारने के लिए हैं—

तुम वसन्त लै सोवहु बारी।
तुम्ह बिनु खाँखरि सब फुलवारी।
तुमही डारि औ तुमही सूआ।
तुमहीं ते सर फूल अछूवा।
तुम्ह सरीर पुनि चम्पक फूला।
आध गुलाल मधुमती फूला।
तुमहीं आप जो सरस अमोला।
तुमहीं ते जो कोकिल बोला।
तुम बिनु सूनी चितसरी चित्र सबै बिनु रंग।
जल थल सोभा उठि चलहु सखी सहेली संग।

चित्रावली, पृ० ४६

नूर मुहम्मद ने इस भावना से ओतप्रोत होकर उस पाक परवरदिगार की सत्ता एवं सौंदर्य की सराहना की है। वह स्वयं ही फूल है और फूल की रक्षा करने वाला भी है और स्वयं ही फूल पर मुग्ध होने वाला भ्रमर भी है। वही सौंदर्यशाली है और वही उस अपार रूप पर मोहित होने वाला प्रेमी भी है।

आपुहिं माली आपुहिं फूला।
आपुहिं भँवर फूल पर भूला।
आपुहिं रूपवन्त सो होई।
प्रेमी होइ रिझत है सोई।
आपुहिं परगट गुपुत अकेला।
गुरु होइ कहूँ कहुँ होइ चेला।
आपुहि दाता करता होई।
द्रिस्टा स्रोता बकता होई।

इन्द्रावती पृ० ५४

इन प्रतीकात्मक बातों के अतिरिक्त सूफियों ने रूप सौंदर्य के भीतर हर प्रकार से उसी एक परमतत्त्व की झाँकी पाई है जिसका वर्णन करने के लिए शब्दों का अभाव देखकर पण्डितों ने 'अनिर्वचनीय' कहा है। कबीर ने भी उसे बेचून कहा है,

खोजत खोजत खोजिया भया सो गूना गून।
खोजत खोजत ना मिला तब हारि कहा बेचून।

शेख रहीम ने अपने प्रेम रस में लिखा है—

वहै नूर लखिकै मन मोहे।
वहै नूर मानुख बिच सोहे।
वहै नूर सब रूप सोहाना।
वही नूर का मन ललचाना।
नर नारिन के अंग मा वहै नूर परकास।
सब जग मोहेउ नूर वह बनिकै लोहू मास॥
देखा रूप प्रेम मन आवा।
रूप प्रेम कहँ खीचि बोलावा।
जहाँ रूप तहँ प्रेमकी बासा।
जहाँ प्रेम तहँ रूप प्रकासा।
रूप प्रेम नर नारिन माँहीं।
संग रहत जस घामा छाँहीं।
कहियो रूप नर के संग रहई।
नारी निरखि प्रेम बस दहई।
जस यूसुफ के रूप जुलेखा।
प्रेम के बस होइकै दुख देखा।
कहियो नारि के अंग विराजे।
नर लीभाय प्रेम बहु साजे।
जस मंजनू लैला पर सोहा।
नल दमयंत रूप जस सोहा।
शीरीं सर फरहाद लोभाना।
प्रेम पंथ जिउ लोभ न माना।
रूप प्रेम की यक कथा और सुनाऊं फेरि।
जो रहीम मन प्रेम है रूप मिलत नहिं देर॥

सूफी कवियों ने सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों में सौंदर्य की झलक देखी है उन सबको किसी न किसी प्रकार अपने वर्ण्य-विषय में एकत्र कर दिया है। जिस प्रकार कमल, चन्द्र, हंस आदि अनेक पदार्थों से सौंदर्य लेकर तिलोत्तमा का रूप विधान किया गया था उसी प्रकार, कुतुबन, जायसी आदि सूफी कवियों ने अपनी-अपनी नायिकाओं में रूप निवेश किया है। जायसी ने तो पद्मावती के रूप का इतना भरपूर वर्णन किया है कि उसके आगे कई शतियों तक नखशिख के वर्णन फीके लगते रहे। जायसी ने पद्मावती के रूप सौंदर्य का दो स्थानों पर विशेष रूप से वर्णन किया है। एक बार तो हीरामन तोता रत्नसेन के सामने चर्चा करता है, दूसरी बार राघव चेतन अलाउद्दीन के सामने पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करके उसे लुभाने की चेष्टा करता है। पद्मावती के ऐसे सटीक वर्णन के पश्चात् उसने लिखा—

विहंसि झरोखे आइ सरेखी।
निरखि साह दरपन महँ देखी।
होतहि दरस परस भा लोना।
धरती सरग भयउ सब सोना।

अर्थात् अलाउद्दीन ने दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिंब मात्र देखा। उसकी ज़रा सी झलक से ही सारा जग जगमगा उठा, जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहा, सोना हो जाता है।

जायसी ने पद्मावती के रूप सौंदर्य के जैसे दृश्य उपस्थित किए हैं उनके भीतर भी वही भावना प्रायः सर्वत्र झाँकती रहती है। उसने दो स्थानों पर पद्मावती का नख-शिख वर्णन उपस्थित किया है। सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों में सौंदर्य की झलक मिलती है, पद्मावती की रूप योजना के लिए जायसी ने सब को एकत्र किया है। जिस प्रकार संसार की श्रेष्ठतम वस्तुओं से तिलोत्तमा का रूप संवारा गया था उसी प्रकार पद्मावती को बनाया गया है। और वह इतना सटीक बन पड़ा कि उसे देखने की कौन कहे सुनने मात्र से श्रोता अपने को उसकी ओर आकृष्ट होने से बचा नहीं पाता। पहिले जब हीरामन तोते ने राजा के सामने पद्मावती का वर्णन किया तो उसके श्रवण मात्र से राजा बेसुध हो गया और उसकी दृष्टि संसार की ओर से हटकर उसी रूप-सागर में मग्न हो गई, फलतः वह जोगी बन गया। दूसरे स्थान पर जब राघव चेतन ने अलाउद्दीन के सामने वर्णन किया तो उसकी भी वही गति हुई और वह भी एक झलक तक पाने के लिए आकुल, व्याकुल हो उठा। जायसी ने लिखा है—

भै उनन्त पद्मावति बारी।
रचिरचि बिधि सब कला संवारी
जग बेधा तेहि अंग सुबासा।

भंवर आइ लुबधै चहुँ पासा।
बेनी नाग मलय गिरि पैठी।
ससि माथे दूइज होइ बैठी।
भौंह धनुक साधे सर फेरैं।
नयन कुरंग भूलि जनु हेरैं।
नासिक कीर कंवल मुख सोहा।
पद्मिनि रूप देखि जग मोहा।
मानिक अधर दसन जनु हीरा।
हिय हुलसे कुच कनक जंभीरा।
केहरि लंक गवन गज हारे।
सुर नर देखि माथ भुइँ धारे।

इन पंक्तियों में पद्मावती के रूप का चित्र आँकने में, फूली हुई लता, वेणी-नाग भाल या ललाट, द्वितीया का चन्द्रमा, भ्रू-धनुष, बरुनी-सर, नयन-कुरंग (मृग), नासिका-कीर, मुख-कमल, अधर-माणिक्य, दशन-हीरा, कुच-कनकजंभीर, कटि-केहरि लंक, गति-मत्त गजराज आदि को यथा स्थान जुटाया गया है। इन पंक्तियों में श्लेष की सहायता से स्पष्ट ही दो अर्थ प्रकट होते हैं। एक तो पद्मावती रूपी बागी दूसरा यौवन भार से नमित पद्मावती। इस प्रकार का वर्णन करते समय भी सूफी सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से जायसी ने अवसर का उपयोग किया है। परम सत्ता के रूप-सौंदर्य के चराचर व्यापी प्रभाव तथा उसकी अलौकिक शोभा के द्वारा परम प्रियतम की सत्ता के साक्षात्कार की ओर यह इंगित किया है—

सहसौ रूप रूप मन भूला।
जहँ जहँ दीठ कवँल जनु फूला।
तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
पेम छाँड़ि नहि लोन किछु जो देखा बूझि।

कुतुबन, जायसी, मंझन, उसमान, नूरमुहम्मद, शेखनबी, कासिमशाह आलम, शेख निसार; रहीम, नजीर आदि सूफी कवियों ने कथानकों का आधार लेकर जो बातें जग में जाहिर की हैं, उनमें पात्रों की कल्पना किसी न किसी कहानी का आधार लेकर की गई है, जिससे पाठक एवं श्रोता को स्पष्ट यह भासित होने लगता है कि राजा की चित्रसारी कैसी होगी? सतमहले पर राजकन्या अपनी अलबेली सखियों के साथ किस प्रकार हँस खेल कर दिन बिताती होगी? किन्तु कुछ ऐसे भी सूफी हो गए हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा से कथा का ऐसा ताना-बाना बुनकर तैयार कर दिया है जिसमें नायक, नायिका, देश, नगर आदि सब के सब खयाली (काल्पनिक) हैं। फ़ानी (नाशमान) दुनियाँ के करिश्मों में खुदाई नूर को लखने परखने में जिस आँख की आवश्यकता होती है उसकी पूरी कसौटी तो रूप में अरूप लखने और उसका वर्णन करने में ही है। संसार को फानूस के समान उमर खैयाम ने भी साबित किया है, एक अन्य सूफी ने भी इसी फानूस की चर्चा इस प्रकार की है।

जग फानूस की शकल बनाया, आपको चातुर होय जताया।
हाथी घोड़े वामें बनाये, दीपक बल सब सैर कराये।
जब दीपक हो वामें आया, वह मंदिर सब जग को भाया।
दीपक हो जब आया अंदर, सूझे तारे सूझे चंदर।
जब लग दीपक वामें रहे, हँसी खुशी जग वाको कहे।
जब दीपक फानूस से जावे, काहू को फानूस न भावे।

कहीं बुलबुल कहीं फूल हो आया,
कई भाँति अपना रूप देखाया।
कहीं लैली कहीं मजनूं हुआ,
कहीं कली कहीं मधुवन हुआ।
कहीं रोवै कहीं खिलखिल हँसे,
वह प्यारा कई रंग में बसे।
कही अल्ला कहीं राम कहाया,
कहीं बंदा बन पूजन आया।
आप ही गंग से तीर बहाया,
फिर सेवक हो पूजन आया।
आप अनलहक आप पुकारा,
किया बदनाम मंसूर बिचारा।
फिर काजी हो कायल कीना,
और वाको सूली पर दीना।
कौन चढ़ा और कौन चढ़ाया,
आप ही यह कई रूप में आया।

हि० सू० कवि और काव्य, ३२३

अर्थात इस फानूस में परमात्मा दीपक रूप से वर्तमान है। जब तक दीपक फानूस में वर्तमान रहकर प्रकाश देता रहता है तब तक फानूस शोभायमान होता है। दीपक रूप परमात्मा ही इस सारे जगत की शोभा है। फूल, बुलबुल, कली और उपवन, प्रिय और प्रेमी सब में एक उसी दीपक का उजियारा है।

पछाहीं सूफियों की कविता एवं उनकी विचारधारा ने अपने वातावरण के अनुसार ईरान-तूरान में जिस प्रकार की फ़िज़ाँ तैयार की थी, भारत के सूफियों ने सिद्धाँत रूप से उसे सकारने पर भी उसका अंधानुकरण नहीं किया। इन लोगों ने भारत में प्रचलित आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि को भली-भाँति देख सुनकर उसका उपयोग किया और उन्हें अपनी रचनाओं में अच्छी तरह पिरो दिया। इन्होंने शास्त्रों से जो कुछ लिया सो तो लिया ही, लोक से भी पर्याप्त सामग्री एकत्र की। इन लोगों की लोक दृष्टि बड़ी सचेत थी। इसीलिए जीवन के विविधि पक्षों के सजीव रूप उपस्थित करने में इन्हें सामग्री की कमी नहीं रही। प्रेम और रूप का ढाँचा खड़ा करने में इनको आवश्यक सामग्री के लिए कभी भटकना नहीं पड़ा। कारण प्रेम और रूप का चिर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही खुदा की कुदरत से प्रतिभासित है। उसका रूप ही सारे जगत में व्याप्त है। रूप स्वयं प्रेम को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। शेख रहीम ने अपने प्रेम रस में लिखा है :—

मन की दुविधा छाँड़ि के जो धावे धर भेख।
निरमल अमर सँवारि के दरस आरसी देख।।

इस प्रेम का उद्भावन गुण श्रवण, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन, साक्षात् दर्शन से प्रारम्भ होता है। सूफी कवियों ने इसीलिए अपने काव्यों में इनकी प्रधानता रखी है। लगभग सभी नायक नायिका की (जो परमात्मा का स्वरूप भी होती है) छवि का वर्णन सुनकर या स्वप्न में देखकर उसके विरह से आकुल व्याकुल होकर संसार त्यागकर जोगी बन जाते हैं। और फिर "किंगरी लिहे बियोग बजावा" हाथ में किंगरी लेकर उसी (परमात्मा और नायिका) के वियोग के गीत गाते अलख जगाते सात समुन्दर पार तक चले जाते हैं। राह में कहीं यदि कोई 'गुरु' मिल गया तब बेड़ा पार हो जाता है नहीं तो गर्क ही होता है।

मुख्य रूप से रूप में अरूप को प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण साधना थी। सूफी काव्य में नारी रूप का जो वर्णन मिलता है वह कहीं भी अपूर्ण नहीं है। बत्तीसों लक्षणों से संयुक्त नारी का पूरा चित्रण सूफियों ने इस दृष्टि से किया है कि उन्होंने स्त्री को प्रेम का प्रतीक माना है। अरबी सा मनीसी का कहना है कि अल्लाह कभी अमूर्त रूप में दर्शन नहीं देता और स्त्री रूप में ही उसका साक्षात्कार श्रेष्ठ होता है।[1] यह पहिले ही कहा जा चुका है कि सौन्दर्य का मुख्य आधार रति (अनुराग) है। यही कारण है कि किसी रूप को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक हो जाता है। उसी रूप की ओर चरम सीमा का आकर्षण हमें भव सागर से पार करता है। जामी और रूमी जैसे सूफियों ने इसीलिए किसी से प्रेम करने की सलाह दी है। उनकी दृष्टि में बिना किसी हसीन से दिल लगाए हमारा मन परमात्मा की ओर जा नहीं सकता। इसी प्रकार कुतुबन ने चित्र को देखकर चितेरे की खोज करने की बात कही थी।

'चित्र देखि कै खोजु चितेरा। खोज करहु तो मिलै सबेरा!'

यही सूफियों का परम रहस्य है। वे इस जगत के सौंदर्य के भीतर उस अपार सौंदर्य को खोजने का प्रयास इसलिए करते हैं कि उनका विश्वास है कि ईश्वर का अंश भूत जीव ईश्वर से बिछुड़ कर इस संसार में आता है सही, पर उसे अपने मूल स्वरूप की स्मृति भी आती रहती है। किसी किसी को वह स्मृति स्वतः ही प्राप्त होती है, किसी-किसी को किसी के सहारे से। अपार और अनंत सौंदर्य का बोध जहाँ (ईश्वर) से उन्हें प्राप्त होता है उसीको खोजने के लिए सूफी हमेशा अलख जगाते रहते हैं। जायसी ने कहा है :—छोंड़ि जमाल जलालहिं रोवा। कौन ठाँव ते देउ बिछोवा।" अर्थात् ईश्वरीय सौंदर्य और ईश्वर प्रताप को खोकर यह मन पछताने

---

१ तसव्वुक सूफी मत १०५

लगता है। इस पछतावे की तड़पन वह वस्तु है जो जोगियों की किंगरी से निकल संपूर्ण सुनने वालों को मुग्ध ही नहीं करती वरन् मूर्च्छित तक कर देती है। मुल्लादाउद की चंदायन में एक स्थान पर आया है कि 'जेइ रे सुना सो गा मुरझाई'। यह प्रेम की तड़पन अपने आप भी जगती है और जगाने से भी जगती है। और एक बार जब जग जाती है तब फिर किसी बात की चिंता नहीं रह जाती। सारा अन्तर बाहर उसी की एक आभा से जगमग करने लगता है। उस अवस्था का वर्णन नहीं हो सकता है, वाणी मूक हो जाती है। शब्द उसको अपने भीतर बाँध नहीं पाते हैं—इसी भाव की चर्चा करते हुए सहज सनेही ने कहा है :—

बात आजु की सुनो सहेली।
जइसे बीते प्रेम पहेली।
जिह रसु बीच पर्‌यो मनु जाई।
सुधि न रही सुधि हूँ की माई।
सुधि भूले जे बतिया होई।
सोइ समझे जिन बैठे सोई।
केलि कला कहिवे की नाहीं।
सोई समझे जिन अवगाही।
मिले परस पर भाषे वैना।
ते रस बतिया जानहि नैना।
अदभुत गति यह प्रेम की जामहि रीति अनेक
बहुतन की काहू सुनी परछाहीं है एक॥

आनंद के अतिरेक के कारण जब मन की वृत्ति चरमावस्था तक पहुँच जाती है तब अरूप में रूप ऐसा खो जाता है कि फिर कहने सुनने या किसी प्रकार की चेष्टा संभव ही नहीं रह जाती है। सौंदर्य की भीतरी रेखा में पहुँचने के लिए तड़प तड़प कर काया को होमने वाले सूफियों की वही तो साधना है। शाह बरकतउल्ला प्रेमी के यह वचन इसके प्रमाण हैं।

बैकुण्ठा हम में बसे नरक बसे हम संग।
पुन्न पाप जोइ चाहिए ढूढ़ि लेइ सोइ रंग॥
तू मैं मैं तू एक हैं और न दूजा कोइ।
मैं तू कहना जब छुटै वही वही सब होइ॥
जम जनि बौरा होइ तूं डौरत घेरत आन।
हम तौ तब ही दे चुके प्राननाथ को प्रान।[१]

इस स्थिति में पहुँच कर जिस वस्तु की ओर दृष्टि जाती है, वह सब का सब सौंदर्यमय ही दिखलाई पड़ता है। सभी सूफी कवियों ने प्रायः इसी दृष्टि से हर रूप को देखा है और उसका वर्णन किया है।

लौकिक पक्ष से उनके इस प्रकार के वर्णन को देख कर कहा जा सकता है कि यह तो अस्थिचर्ममय देह के प्रति एक आसक्ति की ही भावना है, जिसे अध्यात्म का जामा पहना दिया जाता है। इसका यह भी प्रभाव हो सकता है कि पाठक पर अध्यात्म का प्रभाव कम पड़े, वासना जन्य विकार का अधिक। तब ऐसी स्थिति में यह प्रेम की पीर क्या परिणाम उपस्थित करेगी इसका निश्चित प्रमाण किसके पास है। इस प्रकार के खतरे की गुंजाइश होते हुए भी कोई बहुत भय की बात नहीं है; वह इसलिये कि सौंदर्य के प्रति आसक्ति प्राणिमात्र के स्वभाव का अङ्ग है, कहीं-कहीं कुछ अपवाद भले ही दिखाई पड़े, नहीं तो कुरूप से कुरूप के प्रति आकृष्ट होते लोग देखे जाते हैं, तब "जाका मन रम जाहि सन ताहि ताहि सन काम" कहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। इसीलिए इस परम्परा का सिद्धान्त ही यह स्थिर किया गया है कि सांसारिक दुःखों एवं वासनाजन्य विकारों को मिटाने के लिए अपनी वृत्ति को ईश्वरोन्मुख बनाया जाय। ईश्वरीय प्रेम के माधुर्य में मन के रम जाने से फिर उसके इधर-उधर भटकने की न तो आशंका ही रहती है न उतनी छूट ही। मोटे तौर पर सूफियों की दृष्टि से इस पीर की यही उपयोगिता है। काव्यगत विशेषताओं के साथ अध्यात्म का गंभीर दर्शन सामने रखकर ही सूफियों ने सारी सृष्टि के सौंदर्य को देखा परखा है और उसमें से अपने लिए राह भी खोजी है। मंझन ने अपने मधुमालत में कहा है :—

निर्मल दर्पन होइ रहा यह परगट संसार।
तामें मुख करतार को देखत देखन हार।

१—प्रेम प्रकाश, पृ० २३–२४

सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास

डा० रामविलास शर्मा

सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है। साधारणतः सौन्दर्य-शास्त्र के विद्वान् जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं, वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है। प्रकृति और मानव जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या किये बिना कलात्मक सौन्दर्य का विवेचन करना संभव नहीं है। इसलिये वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव जीवन तथा कलाओं में विद्यमान होता है। सौन्दर्यशास्त्र दर्शन का एक अङ्ग है। ज्ञान को कर्म से पृथक् करके देखने वाले दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र को भी निष्क्रिय ज्ञान की वस्तु बना लेते हैं; उनकी समझ में सौंदर्य की अनुभूति अथवा सुन्दर वस्तुओं की रचना से सौन्दर्य शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए ई. ऐफ. कैरिट ने "सौंदर्यशास्त्र की भूमिका" (E. F. Carritt : An Introduction to Aesthetics) में लिखा है, "तब सौंदर्यशास्त्र हमारे लिये क्या कर सकता है ? वह हमारे सौंदर्य से प्राप्त आनन्द को बढ़ा

(पृष्ठ १६७ का शेषांश)

वस्तुओं में वर्णन व चित्रण द्वारा मिलती है। अतः कलाओं के विभाजन में न तो माध्यम को आधार बना कर श्रेष्ठता निश्चित हो सकती है और न विचार या आइडिया को लेकर। क्योंकि विचार का जो अर्थ हीगेल लेता है वह विवादास्पद है। ऐतिहासिक विचार का आध्यात्मिक अर्थ करके हीगेल ने विकास के आधार पर जो कला का वर्गीकरण किया है वह इसलिए अमान्य है कि "विचार" का आध्यात्मिक अर्थ हमें स्वीकृत नहीं है और विचार का सामान्य अर्थ करने पर सभी कलाओं से विचार, भाव व कल्पना की अभिव्यक्ति होती है। ताजमहल को देखकर अनेक भाव लहरियों से हृदय उर्मिल हो उठता है; नटराज की मूर्त्ति कितने भावों और विचारों से हमारे मानस को तरंगित कर देती है; अजन्ता, एलोरा एलीफेन्टा की मूर्त्तिकला को देखकर हमें जो अनिर्वचनीय रसानुभूति होती है वह क्या काव्य व संगीत से उत्पन्न रसानुभूति से हीन कोटि की होती है। अतएव ललित कलाओं में माध्यम की दृष्टि से विभाजन करना मात्र व्यावहारिक है। अनुभूति और आनन्द की दृष्टि से सभी ललित कलायें जिस प्रकार अपने माध्यमों की विशिष्टता रखती हैं, वैसे ही अपने सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द में भी विशिष्ट हैं। सभी कलाओं का लक्ष्य रसानुभूति है। यह भारतीय दृष्टि है और यही हमें अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है। योरोप में तर्क की रक्षा में विचारक वास्तविक अनुभव से बहुत दूर चले जाते हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ 'अनुभव' को ही सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। 'अनुभव' सभी ललित कलाओं को समकक्ष रखता है। सरस्वती के 'मन्दिर' में सरस्वती की 'मूर्त्ति', सरस्वती के 'चित्र', सरस्वती की पूजा के समय के 'संगीत' तथा सरस्वती के 'काव्यमय' वर्णन में से उपासक किसे हीन तथा किसे श्रेष्ठ माने ? और किस आधार पर ? जब कि सभी से कला की अधिष्ठात्री देवी की आनन्दमय अभिव्यक्ति हो रही है, होती आ रही है।

नहीं सकता और मेरी समझ में उसे इस बात की छूट न देनी चाहिये कि वह हमारे इस आनन्द को विभिन्न वस्तुओं की ओर प्रेरित करे किन्तु उन्हें समझने में वह हमारी सहायता कर सकता है। शेष सभी दर्शन के समान उसका उद्देश्य उत्सुकता को शान्त करना है और यदि ऐसे विषयों के प्रति हमारी उत्सुकता नहीं है तो उससे हमें कुछ भी सन्तोष न मिलेगा।" उत्सुकता के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु मानव-कर्म से ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं कि कर्म के बिना ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है, यह भी सत्य है कि ज्ञान की परिणति मानव-कर्म में होती है। अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों का सम्बन्ध ललित कलाओं से नहीं के बराबर होता है; इसलिए सुन्दर कृतियों से बहिष्कृत उनका सौन्दर्यशास्त्र महा असुन्दर होता है। कलाकारों से भिन्न सौन्दर्यशास्त्री दार्शनिकों के बारे में कौलिंगवुड ने "कला के सिद्धान्त" (R. G. Collingwood : The Principles of Art) में लिखा है, 'वे बेसिर-पैर की बातें न करें, इससे तो सुरक्षित रहते हैं लेकिन इसका निश्चय नहीं है कि वे जिसके बारे में बातें करेंगे, उसे जानेंगे भी। इसलिये उनकी सिद्धान्त-चर्चा, अपने में चाहे जितनी योग्यतापूर्ण हो, वस्तुस्थिति का आधार कमज़ोर होने से दूषित हो सकती है।" इस दोष की सम्भावना सौन्दर्य शास्त्रियों में ही नहीं, उन सभी दार्शनिकों में रहती है जो कर्ममय जीवन से दूर रहते हैं और दर्शन को उससे अलग करके देखते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि सौन्दर्यशास्त्र और मानव-जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त प्रकृति और मानव जीवन का सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य और उसकी अनुभूति का विवेचन उत्सुकता की शान्ति के लिये ही नहीं है; उसका उद्देश्य हमारी सौन्दर्य-चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करना, मानव जीवन और उसके सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश को और भी सुन्दर बनाना है।

सौन्दर्य किसे कहते हैं ? प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है। इस स्थापना पर आपत्ति यह की जाती है कि कला में कुरूप और असुन्दर को भी स्थान मिलता है; दु:खांत नाटक देखकर हमें वास्तव में दुख होता है; साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है; उसे सुन्दर कैसे कहा जा सकता है ? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुन्दर विवादी स्वरों के समान हैं जो मुख्य राग को निखारते हैं। वीभत्स का चित्रण देख कर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते; हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है। वीभत्स से घृणा करना सुन्दर कार्य है या असुन्दर ? जिसे हम कुरूप, असुन्दर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौन्दर्य में होती है। दु:खान्त नाटकों में हम दूसरों का दुख देखकर द्रवित होते हैं। हमारी सहानुभूति अपने तक, अथवा परिवार और मित्रों तक सीमित न रह कर एक व्यापक रूप ले लेती है। मानव-करुणा के इस प्रसार को हम सुन्दर कहेंगे या असुन्दर ? सहानुभूति की इस व्यापकता से हमें प्रसन्न होना चाहिये या अप्रसन्न ? दु:खान्त नाटकों अथवा करुण रस के साहित्य से हमें दु:ख की अनुभूति होती है किन्तु यह दु:ख अमिश्रित और निरपेक्ष नहीं होता। उस दु:ख में वह आनन्द निहित होता है जो करुणा के प्रसार से हमें प्राप्त होता है। इसके सिवा इस तरह के साहित्य में हम बहुधा मनुष्य को विषम परिस्थितियों से वीरतापूर्ण संघर्ष करते हुए पाते हैं। संघर्ष का यह उदात्त भाव दुख की अनुभूति को सीमित कर देता है। वीर मनुष्यों का यह संघर्ष हमें अपनी परिस्थितियों के प्रति सजग करता है, उनकी पराजय भी प्रबुद्ध दर्शकों तथा पाठकों के लिये भविष्य में चुनौती का काम करती है। उनकी वेदना हमारे लिये प्रेरणा बन जाती है। आनन्द को इस व्यापक रूप में लें, उसे इन्द्रियजन्य सुख का पर्यायवाची ही न मान लें तो हमें करुण और वीभत्स के चित्रण में सौन्दर्य के अभाव की प्रतीति न हो।

सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न जुड़ा हुआ है, सौन्दर्य कहाँ है, दर्शक, श्रोता या पाठक के मन में अथवा उससे भिन्न सुन्दर वस्तु में। कैरिट का कहना है कि मनुष्य उस वस्तु को सुन्दर

कहता है जो उसके लिये उन भावनाओं को व्यक्त करती है जिनके योग्य वह अपने स्वभाव और पिछले इतिहास से बना है। उसके मत से "सौन्दर्य गोचर वस्तुओं में नहीं होता वरन् उनके महत्व पर निर्भर होता है और भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए उनका महत्व भी भिन्न होगा, संभवतः बहुत ही भिन्न कोटि के लोगों के लिए यह महत्व भिन्न कोटि का होगा।" भाववादी (आइडियलिस्ट) दार्शनिकों के तर्क इस स्थापना के अनुरूप होते हैं। उनके लिए सौंदर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर आत्मगत होती है। इस तरह के दार्शनिकों को लक्ष्य करके स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था, "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊंची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।" शुक्ल जी ने इन वाक्यों में भाववादी और वस्तुवादी दर्शनों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है; उन्होंने भाववादी मान्यता का खण्डन किया है, वस्तुवादी मान्यता का समर्थन किया है।

प्रचलित धारणा यह है कि यूरोप भौतिकवादी है और भारत अध्यात्मवादी। भारत और यूरोप के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह धारणा खण्डित हो जाती है। न तो अध्यात्मवाद पर भारत का एकाधिकार है, न भौतिकवाद पर यूरोप का। कुल मिलाकर यूरोप के विचारकों पर भाववादी दर्शन का प्रभाव यहाँ की अपेक्षा गहरा है। प्लैटो से लेकर हेगल तक यूरोप के अनेक प्रमुख दार्शनिक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि सौंदर्य की सत्ता सुन्दर वस्तु से पृथक् है। प्लैटो के लिए संसार की सुन्दर वस्तुएं परोक्ष सौन्दर्य-सत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; कला इस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब है, इसलिए दार्शनिक सत्य की तुलना में क्षुद्र है और आदर्श समाज-व्यवस्था से कलाकारों को बहिष्कृत रखना चाहिए। प्लैटो के समान ही हेगल के लिए कला एक निरपेक्ष विचार व्यंजित करती है। महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने "यूरोपीय दर्शन" में दिखलाया है कि हेगल ने कला को ज्ञान और धर्म से निम्न स्तर का माना है। निरपेक्ष सत्ता की प्राप्ति में कला पहली सीढ़ी है; उसके बाद धर्म मनुष्य की सहायता करता है। "जिसकी छायामात्र कला और धर्म ने दिखलाई थी, वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुँचता है, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत स्वप्रमितिक ज्ञान ही केवल सब रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है।" रामावतार शास्त्री की इस व्याख्या से पाठक देखेंगे कि हेगल की विचारधारा और भारतीय भाववाद में कितना साम्य है।

आधुनिक काल में यूरोप और अमरीका में प्रमुख विचारधारा उन लोगों की है जो सौन्दर्य का उद्भव, विकास और परिणति, सब कुछ व्यक्ति के मन में मानते हैं। इन्हीं का एक प्रतिनिधि आचार्य क्रोचे था जिसकी विस्तृत आलोचना शुक्ल जी ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नाम के निबन्ध में की थी। इस तरह के विचारकों के लिये व्यक्ति का मन एक निरपेक्ष सत्ता बन जाता है। हेगल के लिए इस भौतिक जगत् से निरपेक्ष विचार का सम्बन्ध भी था, इनके लिये व्यक्ति का मन भौतिक जगत् से विच्छिन्न हो जाता है। कला के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्त जगत् के रूपों को किसी न किसी प्रकार अपनाये बिना वे सौन्दर्य की अभिव्यंजना कर नहीं पाते। कला-शास्त्रियों के एक गिरोह का कहना है कि कलाकार के लिए सामाजिक जीवन अथवा संसार के अन्य रूपों को चित्रों आदि में अङ्कित करना आवश्यक नहीं है। सौन्दर्य की सूक्ष्म आत्मा मूर्त रूपों से परे है। इसलिये चित्रकला के नाम पर वे ज्यामिति की रेखाएं प्रस्तुत करते हैं और उन सूक्ष्म रेखाओं द्वारा अपने निरपेक्ष मन का सौन्दर्य व्यंजित करते हैं। कलाकार के कर्म और उसकी विचारधारा-कला और सौन्दर्य शास्त्र—का घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है। यूरोप और अमरीका का चरम व्यक्तिवाद अनेक कलाकारों को उस सीमा तक खींच ले गया है जहां कला अपनी सारी विशेषताएं खो बैठती है। इसी व्यक्तिवाद से प्रभावित हिन्दी के अनेक कवि हैं

जिनका मन सभी तरह की सामाजिकता से मुक्त हो गया है; छिन्न लय, प्रच्छन्न अर्थ, विच्छिन्न शब्दावली से अलंकृत रचनाओं में अपनी कुण्ठा, घुटन और व्यक्तित्व के विघटन के चित्रण में ही इन्हें कला और सौन्दर्य की इति दिखलाई पड़ती है। इस कविकर्म के मूल में यह धारणा है कि सौन्दर्य, रस, भावना आदि का एक मात्र और निरपेक्ष स्रोत व्यक्ति का मन है।

व्यक्ति के मन में सौन्दर्य की सत्ता मानने वालों का मुख्य तर्क यह है : एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर अथवा असुन्दर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ बहुत सुन्दर लगते हैं; दूसरों के लिये वे साधारण पर्वत मात्र हैं। माँ को अपना बच्चा बहुत सुन्दर लगता है; दूसरों के लिये वह अन्य साधारण बच्चों जैसा ही है। सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत है कि शेक्स-पियर या तुलसीदास को पढ़ने वाले दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं हो सकती।

इस तरह के तर्कों में पहला दोष यह है कि उनमें इन्द्रियबोध और भावों को एक ही वस्तु मान लिया गया है। दूसरा दोष यह है कि भावों और इन्द्रियबोध की सामान्य भूमि को अस्वीकार किया गया है। यदि हमें अपने ही देश के पर्वत अच्छे लगें तो दूसरे देशों के पर्वतों को हम कभी भी सुन्दर न कहें। यदि किसी को ऐल्प्स और हिमालय दोनों सुन्दर लगते हैं, तो इससे यह सिद्ध होगा कि व्यक्तिगत सम्बन्धों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की कोई सामान्य भूमि है। यदि पर्वतों का रूप साधारणतः लोगों को प्रिय हो, यदि वे अपने देश के अतिरिक्त अन्य देशों के प्राकृतिक सौन्दर्य पर भी मुग्ध हो सकते हों, और वे मुग्ध होते हैं, तो इससे इन्द्रिय बोध की सार्वजनीनता सिद्ध होती है। इस इन्द्रिय-बोध के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक के मन में मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से उत्पन्न अनेक प्रकार के भाव भी उदय हो सकते हैं। इन भावों की सत्ता मनुष्य के मन में होगी, किन्तु जिस गोचर सौन्दर्य से ये भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी सत्ता तो प्रकृति में ही है।

सब से पहले इस गोचर सौन्दर्य की बाह्य सत्ता स्वीकार करनी चाहिये। मनुष्य के इन्द्रियबोध का संसार बहुत विशाल है; उसमें एक से अधिक वर्गों और देशों के लोग भाग लेते हैं। ललित कलाओं की सार्व-जनीन लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण इन्द्रियबोध के संसार की विशालता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति में मनुष्य एक दूसरे से उतने पृथक् नहीं हैं जितने भावों और विचारों के संसार में। यह इन्द्रियबोध एक बाह्य, प्रत्यक्ष जगत् का अनुभव है; इन्द्रियों से इस जगत् का बोध होता है; इन्द्रियाँ उसकी सृष्टि नहीं करतीं। इसीलिये इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है, बाह्य जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता है। इन्द्रियाँ सौन्दर्य की परख का साधन हैं, उसका कारण नहीं—जहाँ तक बाह्य जगत् के इन्द्रियबोध का संबन्ध है।

इस इन्द्रियबोध के साथ मनुष्य का भावजगत् है। अपने सामाजिक विकास के साथ मनुष्य ने इस भावजगत् को परिष्कृत और समृद्ध किया है। व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं; व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, समाज के बिना व्यक्ति—एक सामा-जिक प्राणी के रूप में—असंभव है। भावजगत् व्यक्ति के मन में ही होता है किन्तु उसका परिष्कृत और समृद्ध रूप सामाजिक विकास और सामाजिक जीवन से ही संभव हुआ है। भावजगत् का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही कोटि की अनुभूतियाँ हैं। इन दोनों ही कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामा-जिक जीवन है। यह वस्तुगत आधार होने से ही हम एक दूसरे के अनुभव को जानते-पहचानते हैं; भिन्नता के होते हुए भी इस वस्तुगत आधार के कारण हम एक दूसरे के निकट आते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र ने साधा-रणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इस भाव जगत् की सामान्य अनुभूति-भूमि की ओर संकेत किया, यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। शुक्लजी ने उस प्राचीन स्थापना को नवीन रूप देते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा था, "सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"

यूरोप के व्यक्तिवादी विचारक और उनका अनुकरण करने वाले भारतीय लेखक इस सामान्य हृदय की स्थापना को अस्वीकार करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रान्स के व्यक्तिवादियों ने अपने मन में गहरे पैठ कर जो हीरे-मोती निकाले थे, उन्हीं की आभा रूस और इंगलैण्ड के पतनशील कवियों और कलाकारों में देखी गई। आज टी० ऐस० इलियट और उनके भारतीय शिष्यों में गहरी समानता दिखाई देती है यद्यपि परम्परा के पालन का नारा पुराना पड़ गया है, उसकी जगह प्रयोग और व्यक्ति की स्वाधीनता ने ले ली है। नारे बदल गये हैं लेकिन जिस कुण्ठा, घुटन और विघटन के गीत इलियट ने गाये थे, वे अनेक प्रयोगशील कवियों को आज भी प्रिय हैं। व्यक्ति के निरपेक्ष मन से एक ही तरह के हीरे-मोती क्यों निकलते हैं? इन चरम व्यक्तिवादियों, शुद्ध कलावादियों, सामाजिक दायित्व को बारबार अस्वीकार करने वाले इन कवियों की अनुभूति में मौलिक अन्तर क्यों नहीं होता? इसलिये नहीं होता कि व्यक्ति की स्वाधीनता की निरन्तर घोषणा करने पर भी इन कलाकारों का मन नितान्त पराधीन है। वे एक सामाजिक परिवेश, उससे भी अधिक सांस्कृतिक परिवेश के दास बन गये हैं। वह सामाजिक दायित्व से अलग रह कर, मुक्ति पाने की आकाङ्क्षा करके भी, मुक्त नहीं होपाये। उन्होंने दायित्व और मुक्ति का परस्पर सम्बन्ध नहीं समझा; सामाजिक दायित्व के निर्वाह द्वारा ही उनका विकास, अतः मुक्ति, संभव है, यह न मानकर वे एक समाज-विरोधी भावधारा के दास बने हुए हैं। यह मार्ग उनके आत्मघात का मार्ग है।

चरम व्यक्तिवादी भी अपने कर्म से व्यक्ति के मन की निरपेक्षता सिद्ध नहीं कर पाते। इसका कारण, शुक्लजी के शब्दों में, यह है, "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है।" इस लोक में अनेक वर्ग, देश, जाति के भेद हैं; ये भेद भी कालक्रम में परिवर्तित होते रहते हैं। लोक स्थायी और जड़ इकाई नहीं है; वह गतिशील और विकासमान है। इसलिये मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति में समानता के साथ भिन्नता भी होती है; यह अनुभूति सापेक्ष रूप में स्थायी होने के साथ परिष्कृत और विकसित भी होती है।

मनुष्य अपने भावजगत् की रचना स्वयं करता है किन्तु वह इस कार्य को देशकाल की किन्हीं परिस्थितियों में ही संपन्न करता है और ये परिस्थितियाँ उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होतीं। भावों की व्यक्तिगत अनुभूति के कारण उसके लिये उनकी वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करना कठिन होता है। इन्द्रिय-बोध का बाह्य जगत् और मनुष्य के मन का भावजगत् एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव-चेतना के बारे में जो नयी खोज की है, उससे भी यह परिणाम निकलता है कि यह चेतना जितने स्तरों पर अथवा जितने रूपों में कार्य करती है और जिन नियमों से परिचालित होती है, उन्हें बहुधा मनुष्य स्वयं नहीं जानता। कलाकृति का वस्तुगत सौन्दर्य और भी असन्दिग्ध है। कवि घोषित करता है एक उद्देश्य, उसकी रचना का आन्तरिक तत्व कुछ दूसरा ही बन जाता है। मिल्टन ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य "पैरेडाइज़ लौस्ट" इस घोषित उद्देश्य से लिखा कि वह आदम और हव्वा की कहानी में ईश्वर के व्यवहार को न्यायपूर्ण ठहरायेगा। महाकाव्य का आन्तरिक तत्व मिल्टन के संघर्षमय जीवन और इंगलैण्ड के नवजागरण युग का प्रतिबिम्ब बन गया; यह कार्य मिल्टन के न चाहने पर भी कार्य-रचना के वस्तुगत कारणों द्वारा संभव हुआ। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुधा मनुष्य करना कुछ चाहता है, होता कुछ और है। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी वह परिस्थितियों, कला के उपकरणों पर पूरी तरह हावी नहीं हो पाता, उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं और कलात्मक सृष्टि के वस्तुगत नियमों में सदा मेल नहीं हो पाता। इसलिये उसके कार्य का फल उसकी इच्छाओं से भिन्न अथवा उनसे विपरीत भी होता है।

मनुष्य के ज्ञान से उसकी भावानुभूति का गहरा सम्बन्ध है। जिन वस्तुओं से उसका परिचय ही न होगा, उनसे प्रभावित होना उसके लिये संभव न होगा। विज्ञान और कलात्मक सौन्दर्य एक दूसरे के विरोधी न

होकर परस्पर सहायक हैं। विश्व से मनुष्य का परिचय निरन्तर बढ़ रहा है। परिचय का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, साथ ही उसकी गम्भीरता भी बढ़ रही है। मनुष्य वस्तुगत संसार का अङ्ग है, उस संसार का मानवीय ज्ञान निरन्तर बढ़ रहा है और इस प्रगति की कोई सीमा नहीं है। इस ज्ञान से यांत्रिक रूप में मनुष्य के भाव-जगत् का प्रसार नहीं होता किन्तु उस प्रसार की संभावना अवश्य उत्पन्न होती है।

कलाकृति से जो सौन्दर्यबोध होता है, वह भी दर्शक, पाठक या श्रोता के ज्ञान पर निर्भर होता है। कलाकृति का सम्यक् ज्ञान न होने पर वह उस पर अपने भाव आरोपित करता है और समझता है कि सौंदर्य कलाकृति में नहीं, उसके मन में है। इससे सिद्ध यह होता है कि उसकी सौंदर्यानुभूति में अवास्तविकता का अंश मिला हुआ है। इससे कलाकृति के सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता असिद्ध नहीं होती। इटली के कवि दान्ते पर अपने निबन्ध में इलियट ने इटालियन भाषा के न समझ पाने पर या कम समझ पाने पर दान्ते की कविता पढ़ कर प्रसन्न होने की बात लिखी है। इसका कारण दान्ते की रचना में इलियट के अपने भावों का आरोपण हो सकता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि काव्य-सौंदर्य इलियट के मन में है, न कि दान्ते के काव्य में।

इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक कौडवेल ने "सौन्दर्य" पर अपने निबन्ध में सौंदर्य क्या है, इस प्रश्न के सिलसिले में लिखा है, "सब से सीधा उत्तर यह है कि सभी वस्तुओं [कौडवेल का तात्पर्य सुन्दर वस्तुओं से है] से मनुष्य का सामान्य संबन्ध है; इसलिये सौंदर्य मनुष्य 'में' है। मनुष्य की एक दशा का नाम सौंदर्य है। पूंजीवादी सौंदर्यशास्त्री के लिये समस्या का यह बहुत सीधा समाधान इतना स्पष्ट मालूम होता है कि अन्य व्यक्ति कुछ और सोचे तो उसका धैर्य छूट जाता है।" कौडवेल ने इस तरह के सौन्दर्यशास्त्रियों में इङ्गलैण्ड के विचारक आई० ए० रिचार्डस और सी. के. ऑग्डेन की गणना की है और उनके आत्मगत सौंदर्यवाद की आलोचना की है। किन्तु कौडवेल के लिये सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता भी नहीं है; वे उसे वस्तु और मानवमन का परस्पर सम्बन्ध मानते हैं। मानवमन से स्वतन्त्र सौंदर्य को वह भाववादी दार्शनिकों की कल्पना, सौन्दर्य-सम्बन्धी निराकार भावना मानते हैं।

वास्तव में निराकार आदर्श सौन्दर्य की कल्पना करने वाले भाववादी दार्शनिक वास्तविक जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता से इन्कार करते हैं। वे वस्तु के गुण को वस्तु से अलग करके देखते हैं। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता का अर्थ है, सौन्दर्य नाम के गुण को वस्तु से अलग करके न देखना। कौडवेल ने आगे लिखा है, "सौन्दर्य सामाजिक है। वह वस्तुगत है क्योंकि उसका अस्तित्व मुझ से अलग समाज में है।" जहाँ तक मनुष्य के भावजगत् का सम्बन्ध है, उसका सौन्दर्य सामाजिक है। किन्तु प्रकृति का सौन्दर्य ? उसकी अनुभूति सामाजिक है किन्तु वह सौंदर्य, जहाँ तक वह वास्तव में प्रकृति का सौन्दर्य है, सामाजिक न होकर प्राकृतिक है। कौडवेल के चिन्तन में वस्तुगत सौन्दर्य और उसकी सामाजिक अनुभूति को कहीं-कहीं मिला दिया गया है।

क्या मनुष्य से पहले भी प्रकृति सुन्दर थी ? क्या जिस प्रकृति को मनुष्य ने नहीं देखा, वह भी सुन्दर हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सुन्दर से हमारा तात्पर्य प्रकृति के गुणों से है अथवा उस पर आरोपित अपने भावों से। यदि तात्पर्य गुणों से है तो उनकी सृष्टि मनुष्य नहीं करता; वह अपने विकास-क्रम में केवल उन्हें पहचानना सीखता है। प्रकृति का यह सौन्दर्य अर्थात् उसके गुण मनुष्य के अभाव में भी विद्यमान रहते हैं। यदि तात्पर्य भावारोपण से है तो मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य न देखकर अपने स्वभाव और इच्छाओं के अनुरूप सौन्दर्य की कल्पना मात्र करता है; प्राकृतिक सौन्दर्य से इस कल्पना का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सामाजिक विकास के सन्दर्भ में सौंन्दर्यबोध की परीक्षा करने पर एक समस्या यह उत्पन्न होती है : क्या मनुष्य नामधारी जीव ने अपना मानवीय सामाजिक जीवन आरम्भ करने के पहले भी कोई सौंदर्य-सम्बन्धी संस्कार अर्जित किये थे ? क्या सौन्दर्यबोध का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से भिन्न मनुष्य के प्राणिगत जीवन से

भी है अथवा सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान से भी है ?

सौंदर्य के सम्बन्ध में डार्विन ने लिखा था कि सुन्दर पंखों वाले नर पक्षी अपने रंगीन पंखों के प्रदर्शन से मादा पक्षियों को रिझाते हैं। इसी तरह ऋतु-विशेष में वे अपने संगीत से उन्हें आकर्षित करते हैं। इन तथ्यों की ओर संकेत करके डार्विन ने लिखा था, "यदि मादा पक्षी अपने नर साथियों के सुन्दर रंगों, आभूषणों और स्वर के आकर्षण को पहचानने में असमर्थ हों तो उनके सामने अपने आकर्षण प्रदर्शित करने में उनकी जो चिन्ता और श्रम प्रकट होते हैं, वे सब व्यर्थ जायँ; और यह स्वीकार करना असम्भव है। मेरी समझ में कुछ चमकीले रंग और कुछ स्वर, संगति (harmony) होने पर, क्यों आनन्द देते हैं, इसकी व्याख्या वैसे ही नहीं हो सकती जैसे इस बात की कि कुछ गन्ध और रस (flavours) रुचिकर होते हैं। लेकिन यह निश्चित है कि उन्हीं रँगों और उन्हीं स्वरों को हम पसन्द करते हैं और बहुत से निम्न जीव भी।"

मनुष्य का सौन्दर्यबोध उसके सामाजिक जीवन का ही परिणाम नहीं है, उससे भी पहले वह उसके प्राग्मानवीय विकास का परिणाम है। पक्षियों में कुछ तो रंगों और स्वरों के आकर्षण से परिचित होते हैं, कुछ नहीं। जो परिचित होते हैं, वे सौन्दर्यबोध की दृष्टि से इतर पक्षियों की तुलना में अधिक विकसित स्तर के प्राणी हैं। मार्क्सवादी साहित्य में कभी-कभी सौन्दर्यबोध को आर्थिक जीवन को प्रतिबिम्ब मान लिया जाता है। सौन्दर्यबोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है किन्तु वह उसका प्रतिबिम्ब नहीं है।

डार्विन से उपर्युक्त कोटि के वाक्य उद्धृत करने के बाद रूसी विचारक प्लेखानोव ने "कला और सामाजिक जीवन" में लिखा था, "और इस तरह डार्विन द्वारा उद्धृत तथ्यों से जैसे निम्न जीवों की, वैसे मनुष्य की भी, सौन्दर्यानुभूति की क्षमता प्रमाणित होती है और यह तथ्य प्रमाणित होता है कि कभी-कभी हमारी सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि निम्न जीवों की रुचि से मेल खाती है। लेकिन समस्या रुचि के उद्गम की है; उसकी व्याख्या इन तथ्यों से नहीं होती।" यदि मनुष्य की सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि निम्न जीवों की रुचि से मेल खाती है, यदि निम्न जीवों में भी इस रुचि का अस्तित्व प्रमाणित होता है, तो यह स्वीकार करना होगा कि इस रुचि का उद्गम सामाजिक जीवन में हो, यह अनिवार्य नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध, इस इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के साथ उसके भावजगत् का उद्भव और उसका सौन्दर्यबोध—इन सबके मूल उपकरण सामाजिक जीवन आरम्भ होने से पहले उसके पास प्रस्तुत रहते हैं। समाजशास्त्र सौन्दर्यबोध के विकास, भिन्न वर्गों, जातियों और युगों में उसकी भिन्नता की व्याख्या कर सकता है, वह उसके उद्गम की व्याख्या नहीं कर सकता। उद्गम की व्याख्या के लिये समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता आवश्यक है। उद्गम ही नहीं, एक ही समाज, एक ही वर्ग, एक ही परिवार, एक ही वातावरण में रहने वाले लोगों की सौदर्य-सम्बन्धी रुचि की भिन्नता की व्याख्या करने के लिए समाज-शास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता लेनी पड़ेगी।

मार्क्सवादी साहित्य में आर्थिक व्यवस्था को आधार और कला, साहित्य, संस्कृति आदि को उस पर निर्मित इमारत माना जाता है। आर्थिक व्यवस्था बदलने पर ऊपर की इमारत भी बदल जाती है। "अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन" में मार्क्स ने विचारधारा के अन्तर्गत मनुष्य के सौन्दर्यबोध को भी गिना है। मार्क्सवादी साहित्य में कला, साहित्य और संस्कृति को मनुष्य की विचारधारा के रूपों में (ideological forms) में गिना जाता है।

कला का सम्बन्ध विचारों के साथ मनुष्य के इन्द्रियबोध और उसके भावों से भी है। भाषा के बिना विचारों का अस्तित्व सम्भव नहीं है, कम से कम उन की व्यंजना तो भाषा के बिना हो नहीं सकती। तब वे ललित कलाएँ, जिनमें भाषा का प्रयोग नहीं होता, विचारधारा के रूपों में कैसे गिनी जा सकती हैं? साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है; उसका भावों और इन्द्रियबोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इससे

स्पष्ट है कि ललित कलाओं को विचारधारा के रूपों में गिनना सही नहीं है।

मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में मनुष्य के विचारों को उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिंब कहा गया है। विचार प्रतिबिम्ब हों तो मानव-मस्तिष्क दर्पण मात्र सिद्ध होगा। किन्तु क्या मनुष्य की चेतना दर्पण मात्र है ?

मनुष्य के विचार उसकी सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करते हैं, इसीलिये वर्गों के भिन्न दृष्टिकोण, उनकी भिन्न विचारधाराएं होती हैं। किन्तु मानव-चेतना में यह क्षमता है कि वह इस सामाजिक स्थिति से ऊपर उठ सके, चिन्तन की भौतिक सीमाओं से ऊपर उठ कर अपेक्षाकृत स्वतन्त्र स्तर पर विकसित हो सके। सम्पत्तिशाली वर्गों में उत्पन्न होने वाले, किन्तु संपत्ति-हीन श्रमिक वर्ग की मुक्ति के लिये संघर्ष करने वाले मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का जीवन मानव-चेतना की इस क्षमता को सिद्ध करता है। "प्रकृति का द्वन्द्ववाद" में एंगेल्स ने पूंजीवाद के अभ्युदय और यूरोप के नव-जागरण युग के बारे में लिखा था, "जिन लोगों ने पूंजीपतियों के आधुनिक शासन की नींव डाली थी, उनमें पूंजीवादी सीमाओं जैसी कोई चीज नहीं थी।" ("The men who founded the modern rule of the bourgeoisie had anything but bourgeois limitations.") या तो पूंजीवादी शासन की नींव डालने वाले स्वयं पूंजीवादी नहीं थे, या पूंजीवादी होते हुए भी वे अपने आर्थिक जीवन की सीमाओं से ऊपर उठ सके। एंगेल्स के वाक्य से इस धारणा का खंडन होता है कि मनुष्य के विचार उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; इसके विपरीत इस वाक्य से तथा यूरोप के नव जागरण युग के एंगेल्स द्वारा दिये हुए विवरण से, मानव-चेतना की रचनात्मक क्षमता के बारे में धारणा पुष्ट होती है। "अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन" में मार्क्स में प्राचीन यूनान की कला के बारे में लिखा था, "यह एक जानी-मानी बात है कि समाज के साधारण विकास से कला के उच्चतम विकास के कुछ युगों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, न उसके [समाज के] संगठन के मूल ढांचे और भौतिक आधार से उनका प्रत्यक्ष संबंध है। आधुनिक जातियों की, अथवा शेक्सपियर की भी, तुलना में यूनानियों का उदाहरण देखिये।" यदि यूनान की कला के भौतिक परिवेश से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है तो हम कला को भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब कैसे कह सकते हैं ?

इससे कला की समाज-निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती; भौतिक जीवन से उसकी सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। कला की विषयवस्तु न वेदान्तियों का ब्रह्म है, न हेगल का निरपेक्ष विचार। मनुष्य का इन्द्रियबोध, उसके भाव, उसके विचार, उसका सौन्दर्यबोध कला की विषयवस्तु है। सामाजिक विकास की परिस्थितियों से कला की विषयवस्तु प्रभावित होती है, एक सीमा तक नियमित होती है किन्तु वह आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इसलिए विभिन्न युगों, विभिन्न जातियों और विभिन्न वर्गों के सौन्दर्यबोध में भिन्नता के साथ समानता भी होती है, इसीलिये अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों के होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि उच्च कोटि की कला का निर्माण भी हो जाय।

मार्क्सवादी विचारक रैल्फ फौक्स का मत था कि कला को भौतिक जीवन का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब मानना मार्क्सवाद की स्थापना है ही नहीं। उनके अनुसार मार्क्स यह न मानते थे कि पूंजीवाद सामन्तवाद की जगह ले लेता है तो पूंजीवादी कला तुरन्त सामन्तवादी कला की जगह ले लेती है, न वह यह मानते थे कि "चूंकि उत्पादन का पूंजीवादी तरीका सामन्ती तरीके से अधिक प्रगतिशील है,इसलिये पूंजीवादी कला सामंती कला से सदा ऊंचे स्तर की होनी चाहिये।" पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के सामन्ती पद्धति से अधिक प्रगतिशील होने पर भी यदि पूंजीवादी कला सामन्ती कला से अनिवार्यत: ऊंचे स्तर की नहीं होती, तो इससे कला की सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। मूल समस्या फिर सामने आती है; मनुष्य की चेतना और उसके विचार सामाजिक परिवेश का प्रतिबिम्ब हैं, या उस परिवेश से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होने की क्षमता भी उनमें है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे अपेक्षाकृत

स्वतन्त्र भी हैं।

व्यवहार में मार्क्सवादी विचारक साहित्य और कला के राजनीतिक उद्देश्य पर जोर देते हैं। यह जोर अंशत: सही है। साहित्य और कला के सभी रूपों से हम एक ही माँग नहीं कर सकते। गोर्की का "माँ" जैसा उपन्यास राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति करे, यह उचित है; किन्तु "मृत्यु और लड़की" पर उसकी प्रेम-सम्बन्धी कविता भी उस उद्देश्य की पूर्ति करे, यह आवश्यक नहीं है। गोर्की की कविता से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-उद्देश्य-विहीन होना चाहिये, उतना ही ग़लत है, जितना कि उसके उपन्यास से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-उद्देश्य-युक्त होना चाहिये। साहित्य के रूपों की विविधता को ध्यान में रखकर ही उनकी विषयवस्तु के औचित्य के बारे में मत स्थिर किया जा सकता है।

अस्तु; सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है, मानवजीवन और मनुष्य की चेतना में है। सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है, उसकी सत्ता मनुष्य के भावजगत् और उसके विचारों में भी है। कला के माध्यम के अनुरूप उसकी विषयवस्तु में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का अनुपात निश्चित होता है। साहित्य से भिन्न ललित कलाओं में इन्द्रियबोध और भाव होंगे, विचार नहीं। कोई भी ललित कला शुद्ध विचारधारा के अन्तर्गत नहीं आती, साहित्य भी नहीं आता। साहित्य विचारशून्य नहीं होता किन्तु शुद्ध विचारों से साहित्य का निर्माण नहीं होता। विचारों के साथ इन्द्रियबोध और भाव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। विभिन्न वर्गों के विचारों में ही नहीं, उनके भावों और इन्द्रियबोध में भी अन्तर होता है। हिन्दी के अनेक प्रयोगशील कवियों के उपमान उनके अस्वस्थ इन्द्रियबोध और भावों की ओर संकेत करते हैं। फिर भी कला का सार्वजनीन आधार मनुष्य का इन्द्रियबोध और उसके भाव हैं। इनका उद्गम मनुष्य के सामाजिक जीवन से भी पहले है। स्वर और रंगों के प्रति आकर्षण तथा प्रेम, घृणा आदि के भाव पशु-पक्षियों में भी मिलते हैं। सामाजिक विकास क्रम में इन्द्रियबोध और भाव परिष्कृत और समृद्ध होते हैं, नये प्रकार के भावों और इन्द्रियबोध का जन्म भी होता है किन्तु मनुष्य का सौन्दर्यबोध मूल रूप में सामाजिक विकास की देन नहीं है।

सौन्दर्यबोध एक संश्लिष्ट इकाई है। सौन्दर्य प्रकृति में है, मनुष्य के मन में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है, समाजगत भी। व्यक्ति समाज का अंग है, इसलिये न तो समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है, न समाज-निरपेक्ष सौन्दर्यानुभूति की संभावना होती है। कला के विभिन्न रूपों में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का भिन्न अनुपात रहता है। सामाजिक विकास से संबद्ध कला के अनेक तत्व जहाँ आर्थिक जीवन पर निर्भर होते हैं, उनका एक स्पष्ट वर्ग-आधार होता है, वे आर्थिक व्यवस्था के बदलने पर या कुछ समय बाद परिवर्तित हो जाते हैं, वहाँ अनेक तत्व अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं, वर्गों से परे और बहुत कुछ अपरिवर्तनशील होते हैं। इन अपेक्षाकृत स्थायी तत्वों का सम्बन्ध मनुष्य के भावों और उसके इन्द्रियबोध से अधिक होता है। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता होती है, इसलिये शुद्ध सौन्दर्य नाम की कोई चीज नहीं होती। शुक्ल जी के शब्दों में सुन्दर वस्तु से अलग सौन्दर्य नहीं होता। सौन्दर्य की इस वस्तुगत सत्ता, सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष सम्बन्ध, कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उनकी विषयवस्तु की विविधता को ध्यान में रख कर ही हम सौन्दर्यशास्त्र का सही विवेचन कर सकते हैं और सौन्दर्य-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

अगर मैं आलोचक होता !

दिल्ली होटल
६६, कँसारी पाड़ा रोड
भवानीपुर, कलकत्ता-२५
६।१०—१—१६५८ ।

प्रिय भाई राजनाथ,

डॉ० रामविलास का पत्र, लखनऊ के पते पर उनका तार पहुँचने की सूचना, तुम्हारा पत्र मिले ।

ब्रह्म-समाधि, रतिभोग और उपन्यास के क्लाइमेक्स लेखन के तन्मय क्षण छेड़े नहीं जा सकते ।

आपको वचन दे चुकने के कारण अपनी ज़िम्मेदारी अनुभव करते हुए मैंने दो दिन प्रयत्न किया, पन्ने लिखे फाड़े—सन्तोष न हुआ । मेरे उपन्यास का नायक इस समय जिस ऐतिहासिक अरदब में फँसा हुआ है उसके सामने दुनिया की कोई नायिका मुझे समालोचना की मुसीबत में मुब्तिला नज़र नहीं आती फिर नायिका भेद कैसे करूँ ।

आप चाहें तो मेरा पत्र प्रकाशित कर, पाठकों के दरबार में असली अपराधी को उपस्थित कर, अपना पिण्ड छुड़ा सकते हैं ।

यों समालोचक बनने की कामना करते ही छींकना कुछ भली बात नहीं; पर इस छींक को पाठक मनहूसियत की निशानी न मान कर ज़ुक़ाम की छींक मान लें, महत्त्व न दें, नाराज न हों ।

अगले अङ्क से विधिवत समालोचक बनने की नीयत बरतूँगा ।

पाठक परमेश्वर से बारबार क्षमा प्रार्थी हूँ ।

—सप्रेम

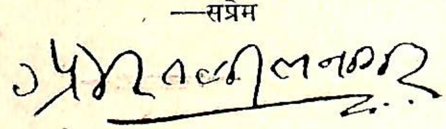

चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी के अमूल्य रत्न—

हिन्दू संस्कार

डॉ० राजबली पाण्डेय, प्रा० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मध्ययुगीन निवन्ध ग्रन्थों तथा पद्धतियों में संस्कार के ऊपर केवल कर्मकाण्डीय दृष्टि से विचार किया गया है किन्तु यह ग्रन्थ उनके सामाजिक तथा धार्मिक आधार और मूल्यों का विस्तृत विवेचन और हिंदू संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग की आधुनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। १५)

कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल,

प्रा० काशी हिंदू विश्वविद्यालय

प्रस्तुत ग्रन्थ में कादम्बरी का सम्पूर्ण कथासूत्र सुरक्षित रखा गया है। इस ग्रन्थ को हाथ में लेकर आप इस विषय में अन्य किसी ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं करेंगे। १३॥)

पाणिनिकालीन भारतवर्ष

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल,

'प्राचीनकालीन भारतवर्ष' पाणिनिकृत अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन है। लेखक की मान्यता है कि भारतीय संस्कृति का चित्र पूरा करने के लिये पाणिनीय सामग्री का अध्ययन आवश्यक है। १०)

हिंदी काव्यप्रकाश

डॉ० सत्यव्रतसिंह, प्रा० लखनऊ विश्वविद्यालय

व्याख्या के पश्चात् विमर्श (नोट्स) द्वारा विषय का गम्भीर बोध कराने का अथक प्रयत्न किया गया है। विमर्श में मम्मट के मत का स्वरूप तो समझाया ही गया है, साथ ही उन दूसरे मत-दाताओं का भी निरूपण किया गया है। आलोचनात्मक विषय का विवेचन लगभग १०० पृष्ठ की भूमिका में किया गया है। १०)

हिंदी साहित्यदर्पण

डॉ० सत्यव्रतसिंह, प्रा० लखनऊ विश्वविद्यालय

मूल का व्यवस्थित अनुवाद अंकित करके व्याख्यात्मक विशद भाष्य द्वारा दुरूह ग्रन्थियों का सम्यक् समुन्मोचन किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग १०० पृष्ठों की समालोचनात्मक भूमिका भी है। १२॥)

आदर्श हिंदी-संस्कृत-कोशः

प्रो० रामसरूप, प्रा० हंसराज कालेज, दिल्ली

इस कोष में लगभग चालीस सहस्र हिंदी हिन्दुस्तानी शब्दों तथा मुहावरों के विश्वसनीय संस्कृत पर्याय और प्रत्येक शब्द का लिंगादिनिर्देश भी किया गया है, १२॥)

गोस्वामी तुलसीदास

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

प्रचलित भ्रामक मत-मतान्तरों के युक्तियुक्त समन्वयात्मक निराकरण और तुलसी-साहित्य की विशेषताओं से परिचित होने के लिये यह एक ही ग्रन्थ है। ३)

भारतीय व्रतोत्सव

श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, राजपण्डित, काशीनरेश

इसमें सभी व्रतोत्सवों का काल-विज्ञान एवं विधि-विज्ञान सप्रमाण और सयुक्तिक लिखा गया है तथा उत्सवों का निर्णय भी आरम्भ में दे दिया गया है। ३)

संस्कृत-कवि-दर्शन

डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्रा० काशी हिंदू विश्वविद्यालय

शास्त्री, आचार्य तथा बी० ए०, एम० ए० और साहित्यरत्न की परीक्षाओं में निबन्ध और इतिहास के लिये यह पुस्तक बेजोड़ है। ६)

हिंदी रसगंगाधर

सरल संस्कृत व्याख्या और सुविस्तृत हिंदी भाष्य से रसगंगाधर में नवीन मौलिकता आ गई है। हिंदी में आलोचनात्मक १०० पृष्ठ की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी है। प्रथमाननादि से उत्पेक्षालङ्कारान्त का मूल्य १८)

हिंदी कुवलयानंद

डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्रा० काशी हिंदू विश्वविद्यालय

व्याख्या के साथ-साथ टिप्पणी में शास्त्रार्थस्थलों को सुबोध बनाने की अथक चेष्टा की गई है। जहाँ-जहाँ पण्डितराज ने रसगंगाधर में कुवलयानन्दकार की आलोचना की है, वहाँ-वहाँ उनके आक्षेपों को उपन्यस्त करके ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बनाया गया है। ६॥)

अमृतमंथन

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल्०

जीवन में उदात्त भावनाओं के दिव्य सन्देश की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागरण, नवाभ्युत्थान का लाना ही इस रचना का मुख्य उद्देश्य है। ४॥)

नोट : हमारा 'भारतीय संस्कृति और साहित्य' नामक विशाल सूचीपत्र अमूल्य मंगवायें। उसमें लगभग १० हजार पुस्तकों का विज्ञापन पढ़कर घर बैठे आप विश्वभर की पुस्तकों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

प्राप्ति स्थान—चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी १.

हमारा उत्कृष्ट साहित्यिक प्रकाशन

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा	—डा० नगेन्द्र	१६.००
विचार और विश्लेषण	,,	५.५०
देव और उनकी कविता	,,	६.५०
रीति काव्य की भूमिका	,,	५.५०
विचार और अनुभूति	,,	४.५०
विचार और विवेचन	,,	४.५०
सियारामशरण गुप्त	,,	५.५०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृतियाँ	,,	४.००
राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य	—डा० विजेन्द्र स्नातक	१८.००
समीक्षात्मक निबन्ध	,,	५.५०
मैथिलीशरण गुप्त (कवि और भारतीय संस्कृति के प्रख्याता)	—डा० उमाकान्त गोयल	१५.००
कविता में प्रकृति चित्रण	—डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'	४.००
हिन्दी साहित्य रत्नाकर	—डा० विमल कुमार जैन	५.००
हिन्दी के अर्वाचीन रत्न	,,	७.००
जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	—डा० रघुवीर सरण झालानी	५.००

मिलने का पता—

नेशनल पब्लिशिंग हाउस,

नई सड़क, देहली ।

हिन्दी आलोचना-साहित्य की उत्कृष्ट पुस्तकें

साहित्यरत्न, प्रभाकर, हिन्दी एम० ए० आदि उच्च परीक्षाओं के लिए उपयोगी

तुलसीदास और उनका काव्य
पं० रामनरेश त्रिपाठी
मूल्य ७ रुपया

देखा-परखा
श्री इलाचन्द्र जोशी
मूल्य रु० २.५०

आलोचना के सिद्धान्त
प्रो० कृष्णानन्द : श्री यज्ञदत्त शर्मा
मूल्य रु० २.५०

हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
प्रो० देवीशरण रस्तोगी
मूल्य रु० ६.००

हिन्दी साहित्य की कहानी
डा० रामरतन भटनागर
मूल्य रु० ३.५०

हिन्दी गद्य का विकास
श्री यज्ञदत्त शर्मा
मूल्य रु० २.००

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास
(उत्तर प्रदेशीय सरकार से पुरस्कृत)
डा० दशरथ ओझा
मूल्य रु० ६.००

समीक्षा-शास्त्र
डा० दशरथ ओझा
मूल्य रु० ६.००

आधुनिक समीक्षा
डा० देवराज
मूल्य रु० ४.५०

विश्व साहित्य की रूपरेखा
डा० भगवतशरण उपाध्याय
मूल्य रु० १२.००

हिन्दी साहित्य का परिचय
आचार्य चतुरसेन
मूल्य रु० २.००

कालिदास : जीवन और साहित्य
डा० भगवतशरण उपाध्याय
मूल्य रु० १.२५

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

आधुनिक कलापूर्ण एवं आकर्षक मुद्रण का
एक मात्र विश्वसनीय स्थान

बन्सल प्रेस, छीपीटोला, आगरा।

आप भी—

लाइन व हाफटोन इकरंगे, दुरंगे एवं तिरंगे ब्लाक, टाइटिल, लेबिल, नयनाभिराम चित्र, सब प्रकार का जॉव का कार्य तथा पुस्तक मुद्रण एवं बाइंडिंग कार्य के लिये

सदैव याद रखिये

स्थापित १६१२ | डाई छपाई का कार्य हमारी प्रमुख विशेषता है | फून ३०६

हिन्दी परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये—

हिन्दी काव्य ग्रंथों की प्रामाणिक टीकाएँ

निम्न सभी पुस्तकों की टीकाएं तथा आलोचनात्मक विवेचन विद्वान और अनुभवी लेखकों द्वारा सुबोध और सरल भाषा में प्रणीत हैं। इन पुस्तकों में विद्यार्थियों के लिये परीक्षोपयोगी सभी सामग्री एक ही स्थान पर सुलभ है।

१. कामायनी की टीका
श्री तारकनाथबाली एम० ए० ५)

२. प्रियप्रवास की टीका ,, ५)

३. साकेत की टीका—श्री फूलचन्द जैन एम० ए० ५)

४. भ्रमर गीत-सार टीका [व्याख्या और विवेचन]
—डा० नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री
—डा० राजेन्द्र शर्मा ५)

५. उद्धव शतक [व्याख्या एवं आलोचनात्मक अध्ययन]
—प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए० २॥)

६. आधुनिक कवि पंत
[व्याख्या एवं आलोचनात्मक अध्ययन]
—श्री तारकनाथ बाली एम० ए० २॥)

७. आधुनिक कवि महादेवी की टीका
—श्री तारकनाथ बाली एम० ए० २॥)

८. कुरुक्षेत्र [व्याख्या एवं विवेचन]
—श्री तारकनाथ बाली एम० ए० २)

९. कबीर-साखियाँ [मूल, व्याख्या एवं विवेचन]
श्री तारकनाथ बाली एम० ए०
श्री रामवशिष्ठ एम० ए० ३॥)

१०. पृथ्वीराज रासो (पद्मावती समय)
[मूल, व्याख्या एवं आलोचना]
—डा० हरिहरनाथ टंडन १॥)

११. सुदामाचरित (नरोत्तमदास कृत)
—श्री फूलचन्द जैन एम० ए० ॥)

१२. रासपंचाध्यायी तथा भंवरगीत (नन्ददास कृत)
[मूल, टीका एवं आलोचना]
—डा० सुधीन्द्र २)

१३. कवितावली (तुलसीदास) [मूल, टीका एवं आलोचना] (उत्तरकाण्ड छोड़कर)
—श्री फूलचन्द्र जैन एम० ए० १)

१४. पाली-कथा-प्रकाश
[पाली जातकावली पुस्तक का हिन्दी, संस्कृत तथा अँग्रेजी में अनुवाद एवं आलोचना]
—डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री
—डा० हरिदत्त शास्त्री ३)

१५. 'विद्यापति का अमर काव्य' की टीका
—श्री मुरारीलाल उप्रैति एम० ए० १॥)

सभी पुस्तकें सफेद प्रिंटिंग कागज़ पर प्रकाशित की गई हैं। सुन्दर छपाई, कलात्मक आवरण पृष्ठ एक विशेषता होगी।

अपने नगर के किसी भी पुस्तक विक्रेता से उपरोक्त पुस्तक प्राप्त करें, न मिलने पर हमको लिखें।

हमारी प्रकाशित अन्य साहित्यिक पुस्तकों का भी सूचीपत्र मँगाइए।

आप किसी भी विश्वविद्यालय से हिन्दी में बी० ए०, एम० ए० अथवा कहीं से कोई भी हिन्दी परीक्षा दे रहे हों, हमारी प्रकाशित आलोचनात्मक सहायक पुस्तकें आपको पूरा पूरा लाभ देंगी।

हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा।

हमारा आलोचनात्मक और निबन्ध साहित्य

आलोचना

रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	डा० भगवतीप्रसाद सिंह,	१५.००
हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेमकाव्य	गुरुदेवप्रसाद वर्मा	२.५०
विद्यापति	शिवप्रसाद सिंह	५.००
मधुमालती (मंझन कृत)	डा० शिवगोपाल मिश्र	८.००
रवीन्द्र कविता कानन	'निराला'	०.९७
कबीर और जायसी का मूल्याङ्कन	पुरुषोत्तमचन्द्र बाजपेयी	२.२५
प्रसाद के नाटक	परमेश्वरीलाल गुप्त	४.५०
रस-साहित्य और समीक्षायें	'हरिऔध'	४.००
कहानी का रचना-विधान	डा०जगन्नाथप्रसाद शर्मा	५.००
हास्य की रूप-रेखा	डा० एस० पी० खत्री	९.००
भारतीय प्रेमाख्यान काव्य	डा० हरिकान्त श्रीवास्तव	१०.००
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	त्रिभुवन सिंह	६.००
आधुनिक साहित्य और कला	डा० महेन्द्र भटनागर	२.५०
भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	किशोरीलाल गुप्त	१०.००
सूर के सौ कूट	चुन्नीलाल 'शेष'	५.००
हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप विकास	डा० शम्भूनाथसिंह	१२.००
श्रीराधा का क्रम-विकास	डा०शशिभूषणदासगुप्त	८.००
डा० इकबाल और उनकी शायरी	प्रो० हीरालाल चोपड़ा	३.५०
फारसी साहित्य की रूप-रेखा	डा० हिकमत	५.००
हिन्दी लिटरेचर (अंग्रेजी)	डा० रामअवध द्विवेदी	५.००
हिन्दी साहित्य और साहित्यकार (सं)	सुधाकर पांडेय	०.९७
हिन्दी साहित्य १९५४	सुधाकर पांडेय	२.५०
हिन्दी साहित्य की रूपरेखा	कृष्णदेवप्रसाद गौड़	१.५०
राजस्थानी भाषा की रूपरेखा	पुरुषोत्तमलाल मेनारिया	१.५०
समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द	डा० महेन्द्र भटनागर	५.००
हिन्दी काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और उनके मूल स्रोत	सत्यदेव चतुर्वेदी	३.७५
हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेमकाव्य	गुरुदेव प्रसाद वर्मा	२.५०
मानस : बालकांड के स्रोत	श्रीशकुमार	५.००
गोस्वामी तुलसीदास और रामकथा	सत्यदेव चतुर्वेदी	३.७५
हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	डा० जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (डा० किशोरीलाल गुप्त द्वारा सम्पादित)	९.००
योरोपीय साहित्य	विनोदशंकर व्यास	२.००
आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा	त्रिभुवनसिंह	४.००
मार्क्सवाद और साहित्य	महेन्द्रचन्द्र राय	४.५०
रत्नाकर और उनकाकाव्य	उषा जायसवाल	५.००
छायावाद के गौरव-चिह्न	प्रो० क्षेम	९.००

निबन्ध साहित्य

बौद्ध-कलाकृतियाँ	कुमारी विद्यावती मालविका	३.००
इनसे	आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल	२.५०
आधान	शांतिप्रिय द्विवेदी	२.५०
साकल्य	शांतिप्रिय द्विवेदी	४.००
स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य	डा० रामविलास शर्मा	४.००
कला क्या है ?	ताल्स्ताय	०.९७
साहित्य धारा	प्रकाशचन्द्र गुप्त	४.५०
अतीत से वर्तमान (प्रथम खण्ड)	राहुल सांकृत्यायन	३.५०
स्वदेश और साहित्य	अनु०: डा०महादेव साहा	०.९७
भारतीय संस्कृति (वैदिक धारा)	डा० मंगलदेव शास्त्री	७.००

पुस्तकालय-विज्ञान साहित्य

पुस्तकालय-विज्ञान	द्वारकाप्रसाद शास्त्री	५.००
भारत में पुस्तकालयों का उद्भव और विकास	द्वारकाप्रसाद शास्त्री	५.००
पुस्तकालय-संगठन और सञ्चालन	द्वारकाप्रसाद शास्त्री	३.००

शिक्षा-शास्त्र तथा मनोविज्ञान साहित्य

स्वप्न दर्शन	प्रो० राजाराम शास्त्री	३.५०
वृहद् शिक्षा-सिद्धांत	उमाशंकर शास्त्री	३.००
बाल-मनोविज्ञान प्रवेशिका	साधुशरण मल्ल	२.००
भाषा कैसे पढ़ावें	योगेन्द्रनाथ शर्मा	२.००
भाषा शिक्षण विधि	उमाशंकर शास्त्री	२.००
मान्टिसोरी शिक्षा-पद्धति	पद्मारानी वैश्य एवं वंशीधर	१.००
आप का शिशु	हेमांगिनी जोशी	३.५०

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी—१ कलकत्ता—७

हिन्दी परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये

आलोचनात्मक अध्ययन (प्रश्न और उत्तर में)

निम्नलिखित सभी पुस्तकों का सम्यक् विवेचन, प्रश्न और उत्तर में विद्वान और अनुभवी लेखकों ने किया है। इन पुस्तकों में उन सभी प्रश्नों को ले लिया गया है जो समय समय पर परीक्षाओं में पूछे गये हैं और जिनकी सदैव ही आने की सम्भावना बनी रहती है।

१. सूरदास—वासुदेव शर्मा शास्त्री २॥)
२. तुलसीदास —प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए० २॥)
३. बिहारी ,, ,, २॥)
४. जायसी ,, ,, २॥)
५. भाषा विज्ञान ,, ,, २॥)
६. साहित्यालोचन ,, ,, २॥)
७. उद्धवशतक ,, ,, २॥)
८. कामायनी ,, ,, १)
९. साकेत ,, ,, १॥)
१०. प्रियप्रवास ,, ,, १)
११. आधुनिक तीन महाकाव्य [कामायनी, साकेत और प्रियप्रवास तीनों पुस्तकें एक ही जिल्द में] ,, ,, ३॥)
१२. प्रेमचन्द—श्री राजनाथ शर्मा एम० ए० २॥)
१३. कबीर ,, ,, २॥)
१४. निराला ,, ,, २॥)
१५. ग़बन (प्रेमचन्द) ,, ,, १)
१६. गोदान ,, ,, २॥)
१७. हिन्दी साहित्य का इतिहास ,, २॥)
१८. हिन्दी भाषा का इतिहास ,, ,, २॥)
१९. कवि प्रसाद—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय २॥)
२०. गद्यकार प्रसाद ,, ,, २॥)
२१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र —श्री रामजीलाल एम०ए० २॥)
२२. संस्कृत साहित्य का इतिहास —डा० द्वारिकाप्रसाद २॥)
२३. विद्यापति—श्री मुरारीलाल उप्रैति: एम० ए० २)

सभी पुस्तकें सफेद प्रिंटिंग कागज पर प्रकाशित की गई हैं। सुन्दर छपाई, कलात्मक आवरण पृष्ठ एक विशेषता होगी।

अपने नगर के किसी भी पुस्तक विक्रेता से उपरोक्त पुस्तकें प्राप्त करें, न मिलने पर हमको लिखें।

हमारी प्रकाशित अन्य साहित्यिक पुस्तकों का भी सूचीपत्र मंगाइए।

आप किसी भी विश्वविद्यालय से हिन्दी में बी० ए०, एम० ए० अथवा कहीं से कोई भी हिन्दी परीक्षा दे रहे हों, हमारी प्रकाशित आलोचनात्मक सहायक पुस्तकें आपको पूरा पूरा लाभ देंगी।

हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

— डा. रामविलास शर्मा

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति भारतीय इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। इस घटना का प्रस्तुत-पुस्तक में वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

चकित कर देने वाले अनेकों नवीन ऐतिहासिक तथ्य इस पुस्तक में मिलेंगे। सन् ५७ से सम्बन्धित साहित्य में इस पुस्तक का पठन व संग्रह प्रत्येक पाठक के लिये अनिवार्य है।

सचित्र : सजिल्द

डिमाई साइज़ के ५०० से भी अधिक पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल १०)

प्रकाशक व विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक—भोलानाथ अग्रवाल, मुद्रक—कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा

समालोचक

हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक पत्र

इस अंक में—

१. कला का माध्यम —डा० रामविलास शर्मा

२. उद्घाटन भाषरण —बाबू गुलाबराय एम. ए., डी. लिट्

३. जीवन की पृष्ठभूमि —श्री वृन्दावनलाल वर्मा

४. पं० बालकृष्ण भट्ट (आलोचक के रूप में) —डा० राजेन्द्र शर्मा

५. भाषा-सम्बन्धी एक नई खोज —पं० किशोरीदास वाजपेयी

६. उर्दू साहित्य के विकास पर एक दृष्टि —श्री हंसराज रहबर

७. सौन्दर्य-बोध —श्री जयनाथ 'नलिन'

८. साहित्य में आलोचना का स्थान —श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

९. मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएँ —आचार्य चतुरसेन शास्त्री

१०. यदि मैं समालोचक होता —श्री अमृतलाल नागर

११. माधवजी सिन्धिया —श्री राजनाथ शर्मा

वर्ष १

सम्पादक

अंक २

'**समलोचक**' का द्वितीय अङ्क आपके सम्मुख प्रस्तुत है। इसके प्रचार और प्रसार में स्वयं ग्राहक बनकर तथा अपने मित्रों को ग्राहक बनाकर हमें प्रोत्साहित कीजिए।

आपको अपने विद्यालय व पुस्तकालय

के लिए

हिन्दी की साहित्यिक पुस्तकों की

आवश्यकता है

हम आपको सुविधा के साथ हिन्दी के प्रमुख लेखकों की चुनी हुई श्रेष्ठ पुस्तकें भेजने में समर्थ हैं।

आज ही अपना एक बड़ा आर्डर भेज कर हमें पुस्तकें भेजने का आदेश दें।

विनोद पुस्तक मन्दिर,

हिन्दी पुस्तकों के विक्रेता

हास्पिटल रोड, आगरा।

[सूचीपत्र के लिए आज ही लिखें]

विनोद पुस्तक मंदिर आगरा द्वारा प्रकाशित

आलोचनात्मक साहित्य

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	—डा० रामविलास शर्मा	५)
२—भारतेन्दु युग	,,	३)
३—काव्य कला और शास्त्र	—डा० रांगेयराघव	३)
४—काव्य यथार्थ और प्रगति	,,	३)
५—समीक्षा और आदर्श	,,	३)
६—महाकाव्य विवेचन	,,	३)
७—भारतेन्दु साहित्य	—रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०	६।।।)
८—हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	—जयकिशनप्रसाद एम० ए०	६)
९—हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल	,,	३।।।)
१०—महादेवी का वेदना भाव	,,	३।।)
११—चिन्तामणि दर्शन	—डा० हरिहरनाथ टंडन	३)
१२—हिन्दी साहित्य चिन्तन	—इन्द्रपालसिंह एम० ए०	६)
१३—जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त	—डा० शम्भूनाथ पाण्डेय	२।।)
१४—जयशंकर प्रसाद और ध्रुवस्वामिनी	—फूलचन्द्र जैन 'सारङ्ग' एम० ए०	१।।)
१५—सुमित्रानन्दन पन्त और उत्तरा	—तारकनाथ बाली एम० ए०	३)
१६—जयशंकरप्रसाद और अजातशत्रु	,,	२)
१७—सुमित्रानन्दन पन्त और आधुनिक कवि	,,	२।।)
१८—महादेवी वर्मा और आधुनिक कवि	,,	२।।)
१९—दिनकर और कुरुक्षेत्र	,,	२)
२०—आचार्य शुक्ल और त्रिवेणी	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	२)
२१—प्रेमचन्द और गोदान	—रामवाशिष्ठ एम० ए०	२।।)
२२—प्रेमचन्द और कर्मभूमि	,,	२।।)
२३—प्रेमचन्द और ग़बन	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	१।)
२४—महाकवि घनानन्द	—रामवाशिष्ठ एम० ए०	३।।)
२५—गीतकार विद्यापति	,,	२।।)
२६—विनयपत्रिका दर्शन	—तपेशकुमार चतुर्वेदी एम० ए०	२।।)
२७—युगद्रष्टा कबीर	—तारकनाथ बाली एम० ए०	२।।)
२८—महादेवी वर्मा	,,	२।।)
२९—सुमित्रानन्दन पन्त	,,	१।।)

३०—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	२॥)
३१—हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास	,,	१॥)
३२—हमारे प्रमुख साहित्यकार	—रामनरायन मिश्र एम० ए०	१॥)
३३—हिन्दी और उसके कलाकार	—फूलचन्द्र जैन 'सारङ्ग' एम० ए०	६)
३४—शैलियाँ	,,	१॥)
३५—काव्य-शास्त्र	—डा० शम्भूनाथ पाण्डेय	३)
३६—रस अलंकार पिंगल	,,	२॥)
३७—भाषा विज्ञान तत्व	—प्रभुनारायण शर्मा एम० ए०	१॥)
३८—साहित्यालोचन सिद्धान्त	,,	१॥)
३९—हिन्दी आलोचना के भिन्न भिन्न स्त्रोत और उनके विकास का इतिहास	,,	१)
४०—चित्रलेखा : परिचय	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	।॥)
४१—जीवन यज्ञ : परिचय	,,	१॥)

निबंध

४२—लोक जीवन और साहित्य	—डा० रामविलास शर्मा	३॥)
४३—प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं	,,	३॥)
४४—विराम चिह्न	,,	६)
४५—साहित्यिक निबन्ध	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	७॥)
४६—सार संचयन	,,	६)
४७—साहित्य समीक्षांजलि	—डा० सुधीन्द्र	५)
४८—साहित्य के पृष्ठ	—गजानन शर्मा एम० ए०	५)
४९—हिन्दी निबन्ध	—रामजीलाल बधौतिया एम० ए०	२)
५०—आदर्श निबन्ध	—विद्याराम एम० ए०	२)

सभी पुस्तकें सफेद प्रिंटिंग कागज़ पर प्रकाशित की गई हैं। सुन्दर छपाई कलात्मक आवरण पृष्ठ एक विशेषता होगी।

हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

पुस्तकालयों के लिए उपयोगी पुस्तकें

(अ) आलोचनात्मक प्रकाशन

१. मानस की (रूसी) भूमिका
—डा० केसरीनारायण शुक्ल ३॥)

२. प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला
—डा० प्रेमनारायण टंडन ३॥)

३. हिन्दी के दो वाद (रहस्यवाद : छायावाद)
—डा० प्रेमनारायण टंडन २)

४. हिन्दी सेवी संसार (संशोधित द्वितीय संस्करण)
—डा० प्रेमनारायण टंडन ७॥)

५. हिन्दी साहित्य : कुछ विचार
(उच्चकोटि के १४ निबंध ,, ७॥)

६. सं० सूरसागर (विस्तृत भूमिका सहित)
—डा० प्रेमनारायण टंडन ६)

७. हिन्दी साहित्यः पिछला दशक
—प्रतापनारायण टंडन ४॥)

८. आधुनिक साहित्य (निबंध) ,, ४)

९. उर्दू साहित्य का सरल इतिहास ,, २॥)

१०. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास
(तीसरा संस्करण) २)

११. काव्यांग-परिचय (रस, अलंकार, पिंगल आदि) १॥)

१२. हिंदी रचना की झाँकी (व्याकरण, निबंध) ३॥)

१३. हिंदी के प्रतिनिधि कवि (कवियों की आलोचना) ४)

१४. हिंदी साहित्य की रूपरेखा
—डा० प्रेमनारायण टंडन २॥)

१५. श्रीकृष्ण चरित (काव्य)
—रूपनारायण पांडेय ४॥)

१६. अमला (भावपूर्ण सामाजिक उपन्यास) ,, २)

(ब) शिक्षा-संबंधी प्रकाशन

१. शिक्षण-विधियों की रूपरेखा
—रामखेलावन चौधरी ८॥)

२. शिक्षा के आधार-स्तम्भ ,, ७॥)

३. हिंदी शिक्षण कला ,, ४)

४. प्राचीन शिक्षण विधियकों तथा
हरबार्ट की पंचपदी १॥)

५. शिक्षा में मनोवैज्ञानिक क्रांति-डाल्टन-
योजनाविधि १॥)

६. प्रगतिवादी शिक्षा में इन्द्रिय शिक्षण-फ्रोबेल-
मांटेसरी विधि १॥)

७. शिक्षा में नवीन प्रयोग-स्वयं ज्ञान एवं लेख विधि १)

८. शिक्षा में गांधीवादी योजना-बुनियादी शिक्षा २)

९. शिक्षा में आधुनिक प्रयोग २॥)

१०. शिक्षा शास्त्र प्रश्नोत्तरी (६० प्रश्नोत्तर) ३॥।)

११. शिक्षा मनोविज्ञान प्रश्नोत्तरी (६० प्रश्नोत्तर) ३॥।)

१२. शिक्षा सिद्धान्त एवं बाल मनोविज्ञान
प्रश्नोत्तरी १॥)

[नोट—पुस्तकालयों को यथोचित कमीशन भी दिया जाता है । मूल्य मनीआर्डर से भेजने पर डाक व्यय फ्री रहेगा ।]

पता—हिन्दी साहित्य भण्डार,

गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ ।

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

प्रधान सम्पादक

डा० रामविलास शर्मा

सम्पादक

श्री राजनाथ शर्मा ☆ श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

वार्षिक मूल्य ५)]   मार्च १९५८   [इस अंक का मूल्य ॥)

समालोचक के नियम

१—'**समालोचक**' प्रत्येक मास की पहली तारीख को प्रकाशित होता है ।

२—'**समालोचक**' के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं ।

३—महीने की १० तारीख तक 'समालोचक' न मिलने पर पन्द्रह दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जाएगी ।

४—किसी तरह का पत्र व्यवहार पत्र अपने पूरे पते और ग्राहक संख्या के होना चाहिए ।

५—फुटकर अङ्क मंगाने पर प्रत्येक अङ्क का मूल्य आठ आना होगा ।

६—'**समालोचक**' में कविता, कहानी, रेखाचित्र, नाटक आदि नहीं छपते । **केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते है** । अस्वीकृत लेख वापस कर दिए जाते हैं ।

७—लेख की स्वीकृति और अस्वीकृति में सम्पादक-मण्डल का निर्णय अन्तिम होगा । स्वीकृत लेखों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन का अधिकार सम्पादक-मण्डल को होगा ।

८—'**समालोचक**' में प्रत्येक विचारधारा के लेख प्रकाशित किए जाते हैं ।

९—रिव्यू—लेखक और लेखक के विचारों के साथ सम्पादक-मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है ।

१०—'**समालोचक**' का वार्षिक मूल्य ५) तथा एक अङ्क का आठ आना है । अलग से विशेषांक का मूल्य २) होगा । वार्षिक ग्राहकों को विशेषाङ्क निःशुल्क मिलेगा ।

११—वी. पी. से अङ्क मंगाने वालों को १) अतिरिक्त देना पड़ेगा ।

समालोचक के उद्देश्य

१—'समालोचक' आलोचनात्मक मासिकपत्र के रूप में हिन्दी आलोचना के स्तर को उच्चतर करने में प्रयत्नशील होगा ।

२—विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य-परिचय हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाएगा ।

३—विदेशी-साहित्य के विषय में अधिकाधिक जानकारी देने का प्रयत्न किया जाएगा ।

४—विभिन्न आलोचनात्मक विचारधाराओं और दृष्टिकोणों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाएगा ।

५—स्वस्थ साहित्य का समर्थन और दूषित साहित्य का विरोध किया जाएगा ।

६—हिन्दी साहित्य की अधुनातम प्रवृत्तियों और समस्याओं का विवेचन और विश्लेषण किया जाएगा ।

७—प्रत्येक अङ्क में किसी नवीन साहित्यिक समस्या पर डा० रामविलास शर्मा का एक लेख प्रकाशित किया जाएगा ।

८—'अगर मैं आलोचक होता' इस शीर्षक से एक स्थायी स्तम्भ होगा, जिसके लेखक होंगे—श्री अमृतलाल नागर

९—प्रत्येक अङ्क में हिन्दी भाषा में प्रकाशित किसी शोध-प्रबन्ध की आलोचना दी जाएगी ।

१०—प्रत्येक अङ्क में भाषा सम्बन्धी समस्याओं पर एक लेख रहेगा ।

११—प्रत्येक अङ्क में नवीन प्रकाशन की समीक्षा दी जाएगी, इसके लिए प्रकाशकों को प्रति पुस्तक की दो दो प्रतियाँ भेजनी चाहिए ।

१२—समालोचक में प्रकाशित प्रत्येक लेख पर लेखक को पारिश्रमिक दिया जाएगा ।

सम्मतियाँ

"समालोचक का प्रथम अङ्क (सौंदर्य अङ्क) बहुत बढ़िया चीज है। अभी तक पूरा नहीं देख पाया हूं। लोग हाथोंहाथ मेज से उड़ा ले जाते हैं, उत्सुकता वश ! मैंने नियम बना दिया है कि दो घन्टे से अधिक कोई अपने पास न रखे। बीसों हाथों में पहुँच चुका है।"

पं० किशोरीदास वाजपेयी

सौन्दर्य शास्त्र विशेषाँक हिन्दी में अपने ढङ्ग की पहली वस्तु है। चारुतातत्व साहित्य, कला, जीवन, धर्म इन सबका मूल प्रेरकतत्त्व है। इसका ठीक परिचय जीवन की कला का अनुभव है। यह विषय व्यावहारिक महत्त्व रखता है और नित्य-प्रति के विकासशील जीवन में पदे-पदे उसकी आवश्यकता पड़ती है। आपने अपने पत्र का आरम्भ इस बड़ी छटा से किया है कि पहला ही अङ्क देखकर इसके टकसाली पद का विश्वास हो गया। आप और विश्वम्भर नाथ जी की सुरुचि का जिसे सुफल प्राप्त हो उस पत्र से भविष्य में आशा होती है कि हिन्दी के साहित्यिक जगत् में उच्चतम कोटि की और सक्रिय समीक्षा धारा का सूत्रपात होगा। हिन्दी में अनेक मासिक हैं, पर सब के ककुत्स्थान पर बैठने योग्य पत्र की अभी तक कमी थी। समालोचक के पहले अङ्क से जो आशा बंधी है, वह पूरी हो सकी तो इस पत्र का नयावतार चरितार्थ होगा। भारतवर्ष अनेक वाङ्मयों से धन्य हुआ देश है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, गुजराती, बंगला, राजस्थानी आदि सब साहित्यों के सर्वोत्तम विधि-विधानों की चर्चा, उनके शब्द, अर्थ, अलंकार, छन्द, भाव, रस, गुणदोष—सब की समीक्षा इस पत्र में आने दीजिए और यों महान् मधुछत्र या सौगंधिक पुष्प के रूप में इसे विकसित होने का अवसर दीजिए। इस सुन्दर श्रेष्ठ अङ्क के सम्पादन-प्रकाशन के लिये मेरी बधाई स्वीकार कीजिए।

(डा०) वासुदेवशरण अग्रवाल

"आपका भेजा हुआ समालोचक का विशेषांक मिला। मैं आपका सहर्ष अभिनन्दन करता हूं। अङ्क बहुत ही सुन्दर है।"

(डा०) सुरेन्द्र वारलिंगे
करीम नगर

"आपका विशेषाँक सुन्दर निकला है। पूरा देख गया। कुछ लेख बहुत सुन्दर हैं, जिनमें एक रामविलास जी का है। उसमें उनके दृष्टिकोण की उदारता अभिनन्दनीय है। यों भी सामग्री अच्छी है। बस एक बात का ध्यान रखें कि धीरे-धीरे पत्र मात्र छात्रोपयोगी होकर न रह जाय,जैसा कि 'साहित्य-सन्देश' के साथ हुआ।

(श्री) अमृतराय

'समालोचक' की प्रति मिली। सौन्दर्य के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय शास्त्रगत मान्यताओं के विवेचना पूर्ण संकलन के लिए बधाई स्वीकार करें। साहित्यालोचन-विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी जगत् में यह सम्भवत: प्रथम शास्त्रीय प्रयास है।

(श्री) बरान्निकोव

"लगभग दो सौ पृष्ठों में सौन्दर्य-शास्त्र विषयक ठोस सामग्री प्रस्तुत कर 'समालोचक' ने अपना स्थान हिन्दी के मूर्धन्य पत्रों में बना लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह पत्र उन प्रज्ञाचक्षुओं की आँखें खोल देगा जो मौके-बेमौके हिन्दी की हीनता का राग अलापते हैं। सौन्दर्य तत्व का विवेचन व्यापक दृष्टिकोण से किया गया है। यह अङ्क इस विषय की एक रेफरेंस पुस्तक का काम दे सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

(श्री) कृष्णदास वाजपेयी
क्यूरेटर मथुरा म्यूजियम

"समालोचक का विशेषांक प्राप्त है। विषय तथा रूप दोनों दृष्टियों से अङ्क सौन्दर्य शास्त्र की कसौटी पर खरा उतरता है।"

(डा०) इन्द्रनाथ मदान

"समालोचक का पहला ही अङ्क अच्छे स्तर को प्रगट करता है, जो निश्चय ही भविष्य में योग्य सम्पादकों के हाथों उन्नति करेगा। सौन्दर्य शास्त्र सहज विषय नहीं था। उस पर इतनी पठनीय सामग्री का निष्पक्ष दृष्टि से एकत्रीकरण निस्संदेह एक समर्थ प्रयास है। मैं समालोचक की मंगल कामना करता हूं।"

(डा०) रांगेय राघव

"समालोचक मिला। आपने अभूतपूर्व पत्र निकाला है। यह विशेषांक तो सचमुच ही अद्वितीय है। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।"

कवि नीरज

"समालोचक का प्रथम अङ्क सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक प्राप्त कर मन प्रफुल्लित हो उठा। सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों की गम्भीरता एवं व्यापकता इसमें दर्शनीय है। वस्तुत: यह अङ्क एक स्वतंत्र पुस्तक सा निखर

आया है। मैं विश्वास करता हूं कि डा० रामविलास जी के सम्पादकत्व में यह मासिका हिन्दी-साहित्य ही नहीं, अपितु पत्रकार व प्रकाशन कला के लिए भी एक नूतन वैज्ञानिक दिशा की पथ-प्रदर्शिका बनेगी।"

(श्री) सु० शंकर राजू नायडू
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
मद्रास विश्वविद्यालय

"गेटअप इतना साहित्य-सन्देशी है कि पहला प्रभाव बुरा पड़ता है। लगा कि यह भी साहित्य सन्देश का ही कोई विशेषांक है। कृपया, गेटअप तो जरूर ही बदलवायें।

सामग्रियों की दृष्टि से भी अङ्क निहायत एकेडेमी लगता है—सजीवता का आभास भी नहीं मिलता। डाक्टर साहब का निबन्ध जरूर दमदार है किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उनका सम्पादकीय उनके योग्य नहीं है। विश्वास नहीं होता कि पिछले दस वर्ष की हिन्दी आलोचना की गतिविधि से उनका इतना ही परिचय होगा।"

(डा०) नामवर सिंह

"समालोचक देखकर लगा कि अब हिन्दी को वह सब सामग्री मिल जायगी जिसकी बहुत दिनों से आवश्यकता थी परन्तु जिसे हमारे कुछ 'ठेकेदार' जानबूझ कर नहीं देने दे रहे थे।"

(प्रो०) गुरुदत्त सोलंकी
भरतपुर

'समालोचक' मिला। बहुत सुन्दर निकला है, इस सत्प्रयास के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

(डा०) भोलानाथ तिवारी

"सौन्दर्य अङ्क वास्तव में बड़ी सूझ और ऊंचे विचार का परिणाम मालूम होता है। आपने जो सामग्री संचित की है, किसी भी विद्यार्थी ही नहीं विद्वान के लिए भी उपादेय हो सकती है। यह बड़े लाभ का काम आपने किया है।"

(डा०) हरद्वारीलाल शर्मा

"समालोचक का विशेषांक मिला।....अङ्क अच्छी तरह से सम्पादित हुआ है।"

(डा०) रा० श्री० जोग
पूना।

"विशेषांक के बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक सौन्दर्य भी सुन्दर है। सौन्दर्य-शास्त्र के विविध पक्षों का विवेचन करने वाले सरल एवं गम्भीर दोनों प्रकार के लेख इसमें हैं। विशेषांक स्वागत योग्य है। यदि इसी स्तर से समालोचक निकलता रहा तो आलोचना क्षेत्र में अपना स्थान बना लेगा, ऐसी आशा है।"

(डा०) गोपीनाथ तिवारी
अध्यक्ष—हिन्दी विभाग
सेन्ट एन्ड्रूज कालेज, गोरखपुर।

"इस अङ्क की ठोस, प्रामाणिक, अध्ययन एवं खोज पूर्ण सामग्री के चयन तथा सम्पादन, आकर्षक मुख पृष्ठ, सज्जा, सुरुचिपूर्ण छपाई, कागज आदि की श्रेष्ठता के विषय में दो रायें नहीं हो सकतीं।"

(श्री) हीराप्रसाद त्रिपाठी

"समालोचक का सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक सन्तोषजनक है। आशा है समालोचक 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' उक्ति चरितार्थ करेगा। भगवान 'समालोचक' को सबल करे, ताकि यह हिन्दी साहित्य के उन्नयन में सफल हो सके।"

(प्रो०) रामेश्वर
बी. एन. एस. डी. कालेज
कानपुर।

"निश्चय ही समालोचक अपने ढङ्ग का आलोचनात्मक मासिक पत्र है। प्रथम अङ्क को देखकर ही आशा बंधती है कि यह पत्र हिन्दी आलोचना के विकास में पर्याप्त योग देगा। हिन्दी में इस प्रकार के सुन्दर पत्र के कुशल सम्पादन के लिए हार्दिक बधाई स्वीकार करें। मुझे विश्वास है कि यह पत्र उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता हुआ हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य करने में समर्थ होगा।"

(प्रो०) महेन्द्र रायजादा
राजकीय डिग्री कालेज,
सिरोही।

"समालोचक" का विशेषांक यहाँ कालिज में पहुँच गया है। यहाँ के प्रिंसिपल महोदय पिलानी वाले डा० कन्हैया लाल सहल के अनुज हैं तथा हिन्दी में खूब रुचि रखते हैं।····समालोचक से यह इतने प्रभावित हुए कि व्यवस्था-सम्पादक को पत्र की एक अतिरिक्त प्रति के लिए लिखा है तथा ५) भेजे हैं।

'समालोचक' बहुत अच्छा निकला है। विषय सामग्री प्रायः अब तक के समस्त पत्रों के विविध विषयक विशेषांकों में बेजोड़ है।"

(प्रो०) बलवीर 'रत्न'
मुकुन्दगढ़।

"समालोचक का प्रकाशन हिन्दी आलोचना को एक अमूल्य भेट है। यह 'आलोचना' और 'साहित्य-सन्देश' के बीच की कमी की पूर्ति करेगा, ऐसा हमें विश्वास है।"

(प्रो०) जयसिंह 'नीरज'
महारानी श्री जया कालेज,
भरतपुर।

विषय-सूची

क्रम			पृष्ठ
१.	सम्मतियाँ		
२.	कला का माध्यम	—डा० रामविलास शर्मा	१
३.	उद्घाटन-भाषण	—बाबू गुलाबराय एम० ए०, डी० लिट्०	७
४.	जीवन की पृष्ठभूमि	—श्री वृन्दावनलाल वर्मा	९
५.	पं० बालकृष्ण भट्ट—आलोचक के रूप में	—डा० राजेन्द्र शर्मा	१३
६.	भाषा-सम्बन्धी एक नई खोज	—पं० किशोरीदास वाजपेयी	२२
७.	उर्दू साहित्य के विकास पर एक दृष्टि	—श्री हंसराज रहबर	२५
८.	सौन्दर्य-बोध	—श्री जयनाथ 'नलिन'	३२
९.	साहित्य में आलोचना का स्थान	—श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	३७
१०.	मेरी उपन्यास-कला विषयक धारणाएँ	—आचार्य चतुरसेन शास्त्री	४२
११.	यदि मैं समालोचक होता	—अमृतलाल नागर	५०
१२.	माधव जी सिन्धिया	—श्री राजनाथ शर्मा	५३
१३.	पुस्तक समीक्षा		६०

शोक

हिन्दी भाषा के प्रख्यात प्रौढ़ लेखक श्री चन्द्रवली पाँडेय के आकस्मिक निधन पर "समालोचक-परिवार" हार्दिक दुःख प्रकट करता है। और श्री पांडेय जी के शोक संतप्त परिवार के प्रति संवेदना व्यक्त करता है।

शोक

भारतीय केन्द्रीय शासन के शिक्षामंत्री, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के आदर्श और प्रसिद्ध देशभक्त मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की असामयिक मृत्यु पर समालोचक-परिवार अन्य सभी देशवासियों के साथ दुःख व्यक्त करता है। और मौलाना साहब के परिवार के प्रति संवेदना प्रकट करता है।

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

प्रथम वर्ष आगरा, मार्च १९५८ अंक २

सम्पादकीय

कला का माध्यम

कला के माध्यम और उसकी विषयवस्तु का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? स्थापत्य और शिल्प कलाओं का माध्यम चित्र और संगीत कलाओं के माध्यम से अधिक स्थूल है, इसलिये क्या वे निम्न स्तर की हैं ? काव्य का माध्यम इनसे अधिक सूक्ष्म है, क्या इसलिये वह ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है ?

इन समस्याओं पर भाववादी (आइडियलिस्ट) दृष्टिकोण से विचार करने वालों में जर्मन दार्शनिक हेगल अन्यतम था । अन्य भाववादियों की तरह उसके लिये ऐन्द्रियता अभिशाप है । मूर्तरूप के बिना कला का अस्तित्व असंभव है, इसलिये कला के मूर्त रूप और उसके सूक्ष्म विचारतत्व में सदैव एक अन्तर्विरोध निहित रहता है । आध्यात्मिक वास्तविकता को ग्रहण करने की श्रेष्ठ पद्धति उसे कला के ऐन्द्रिय रूपों में उतारना नहीं है; हेगल के लिये इस कार्य की श्रेष्ठ पद्धति चिन्तन है । यूनान के भाववादी विचारक प्लैटो की तरह हेगल कला-मात्र को अध्यात्म-सत्ता के ग्रहण के लिये अपूर्ण और हीन साधन मानता है । इस हीन साधन की उपादेयता इतनी ही है कि वह हमें उस अध्यात्म-सत्ता की ओर उन्मुख करता है । कलाओं का निम्न या उच्च होना इस पर निर्भर है कि वे उस सत्ता की ओर हमें कितना उन्मुख करती हैं । मानवीय चेतना अपनी वास्तविकता

का ज्ञान करने के लिये जिन मंजिलों से गुज़रती है, उन्हीं के अनुरूप विभिन्न कलाएं हैं।

स्थापत्य कला का माध्यम सबसे स्थूल होता है। मनुष्य जड़ पदार्थों को इस तरह संगठित करता है कि चेतना उन्हें कला के बाह्य जगत् के रूप में स्वीकार करती है। हेगल के अनुसार स्थापत्य-कला में संगति (Symmetry) के सम्बन्ध प्रदर्शित होते हैं लेकिन वह विचार-तत्व को प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। विचार-तत्व इस कला से परे रहता है; दोनों का सम्बन्ध जोड़ा भी जाता है तो वह मन से जोड़ा हुआ बौद्धिक संबन्ध होता है, कला के रूप में निहित सहज संबन्ध नहीं। इस बौद्धिक संबन्ध में प्राकृतिक पदार्थ परिवर्तित नहीं होते; उन पर विचार-तत्व का आरोप किया जाता है। हेगल ने इस सम्बन्ध को प्रतीकवाद कहा है। उसके लिए स्थापत्य कला की विशेषता उसकी प्रतीकात्मकता है।

मानव-चेतना अपनी सत्ता के पूर्ण ज्ञान की ओर बढ़ती हुई जिस सीढ़ी पर पहले कदम रखती है, वह हेगल की प्रतीकवादी स्थापत्य कला है। मानव-समाज के इतिहास में स्थापत्य कला का जन्म चित्र और संगीत कलाओं से पहले नहीं होता। मनुष्य अपनी आदिम समाज-व्यवस्था का आरम्भ नृत्य और संगीत से करता है। इनके लिये उत्पादन के साधनों को विकसित करना, कला के नये उपकरणों का आविष्कार करना अनिवार्य नहीं। किसी बाह्य उपकरण की सहायता के बिना भी शरीर के अङ्गों और कंठ से मनुष्य नृत्य और संगीत आरम्भ कर सकता है। निवास-निर्माण की क्षमता कला रूप में बहुत देर से विकसित होती है। मनुष्य गुफाओं में रहते हुए भी चित्रकारी आरम्भ कर देता है किन्तु कलात्मक गृह निर्माण—चाहे अपने लिए हो, चाहे देवता के लिये—उसके बाद की मंजिल से आरम्भ होता है। इसलिए ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से चेतन का हेगलकृत प्रतीक-सोपान अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक है।

हेगल के सौ वर्ष बाद यूरोप के अनेक कलाकारों ने स्थापत्य को कलाओं की जननी के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने चित्रकला में रंग-रूप और भाव-व्यंजना को गौण माना; ज्यामिति के प्रयोगों की तरह पटभूमि को रेखाओं द्वारा विभिन्न आकारों में बाँध कर उन्होंने अवयवों की संगति के आधार पर कलात्मक पूर्णता के सृजन का प्रयास किया। परिणाम यह हुआ कि उनके हाथ न चित्रकला का सौन्दर्य लगा, न स्थापत्य का। हेगल की तरह ये भी भाववादी थे; अन्तर इतना ही था कि वे स्थापत्य को प्रथम नहीं, अन्तिम सोपान मानते थे।

स्थापत्य कला में दो विरोधी तत्वों की एकता बहुत अच्छी तरह देखी जाती है। एक ओर यह कला अत्यन्त स्थूल है, इतनी स्थूल कि अध्यात्मवादी का मस्तिष्क भी उसका बहुत ठोस अनुभव कर सकता है। दूसरी ओर वह इतनी सूक्ष्म है कि वस्तुओं के प्रतिबिम्ब के बदले वह पदार्थों के आकार, उनकी संगति और संगठन द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करती है। यूनानी विचारक कहते थे कि कला प्रकृति अथवा जीवन का प्रतिबिम्ब है। यह स्थापत्य कला किन वस्तुओं का प्रतिबिम्ब है? क्या यह कला मनुष्य के रचना-सामर्थ्य की मौलिकता घोषित नहीं करती? प्रत्येक कला वस्तुओं के प्रतिबिम्बों, मनुष्य के अनुभवों, उसके इन्द्रिय-बोध, भावों अथवा विचारों को संगठित करती है। इस संगठन के बिना कला का अस्तित्व सम्भव नहीं है। स्थापत्य पदार्थों के संगठन अथवा निर्माण की विशेष कला है। निर्माण के नियमों का यहाँ इतना महत्व है कि अन्य तत्व गौण हो जाते हैं। इस दृष्टि से स्थापत्यकला के ये नियम न्यूनाधिक सभी कलाओं पर लागू होते हैं। मनुष्य की निर्माण-सम्बन्धी सौन्दर्य-चेतना को जिस तरह स्थापत्य-कला मूर्त रूप दे सकती है, उस तरह और कोई कला नहीं दे सकती। इस प्रकार यह कला न श्रेष्ठ है, न निकृष्ट है; अपने क्षेत्र में उसका सार्वभौम प्रभुत्व है। वह मनुष्य के सौन्दर्य-बोध की पूर्णता के लिये आवश्यक है, निम्नतम सोपान के रूप में नहीं, वरन् अन्य कलाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए, सामाजिक

जीवन को सर्वाङ्गीण रूप में सुन्दर बनाने के लिये।

हेगल के लिये मानव-चेतना का दूसरा सोपान है, शिल्पकला। यहाँ शरीर और आत्मा की एकता प्रत्यक्ष होती है। विचार-तत्व को अपने अनुकूल रूप मिलता है। विचार-तत्व को बौद्धिक रूप में स्थापत्य के जड़ पदार्थों से बाँध कर यहाँ प्रतीकवाद की सृष्टि नहीं की जाती। मनुष्य का शरीर चेतना का उचित निवास-स्थान है। शरीर में जो दोष होते हैं, उन्हें दूर करके कलाकार उसे भव्य रूप देता है और इस तरह सूक्ष्म विचारतत्व को शिल्प द्वारा प्रकट करता है। किन्तु हेगल के अनुसार शिल्पकला भी अपूर्ण है। चेतना अनन्त है; इसलिये शिल्पकला में—जिसे हेगल प्रतीकवाद से भिन्न क्लैसिकल कला मानता है—चेतना की अपनी विशेषता अभिव्यंजित नहीं होती।

अनेक भाववादी विचारकों की तरह हेगल के चिन्तन पर धार्मिक दुराग्रहों की छाप भी है। यूनानियों के अनेक देवता थे, ईसाइयों का एक देवता है। यह देवता मनुष्य की अन्तर्मुखी चेतना को अधिक प्रकट करता है। इस प्रकार ईसाई धर्म कला के लिये यूनानियों की बहुदेवोपसना की अपेक्षा हितकर सिद्ध हुआ। एशिया की कला में उसे भोंड़ा प्रतीकवाद दिखाई देता है। इन धारणाओं का कारण यह है कि हेगल के लिये कला विचार-तत्व को व्यक्त करने का साधन है और पूर्ण विचार-तत्व ईश्वर का ही दूसरा नाम है। यह ईश्वर भी स्वभावतः अनुयायी के धर्म में ही अपनी पूर्णता प्रकट करता है।

यूनान, भारत और यूरोप में मूर्तियों को उपासना के लिए प्रतीक रूप में स्वीकृत किया गया। इसलिये यह कहना उचित नहीं कि प्रतीकवाद स्थापत्य कला की विशेषता है। काव्य में भी प्रतीकवाद हो सकता है, अन्य कलाओं की तो बात ही क्या! शिल्पकला भी प्रतीकवादी हो सकती है। उसे स्थापत्य कला से भिन्न, विशेष रूप से क्लैसिकल, नहीं माना जा सकता।

क्लैसिकल शब्द का साधारण अर्थ है, रूप और विषय-वस्तु का सामंजस्य करने वाली, कल्पना और विचारतत्व में संतुलन स्थापित करने वाली, नियमों का पालन करने वाली, स्थायित्व प्राप्त करने वाली कला। हेगल ने क्लैसिकल शब्द का व्यवहार करते हुए रूप और विषयवस्तु के सामंजस्य वाला अर्थ ग्रहण किया है। किन्तु इस अर्थ में शिल्पकला ही क्लैसिकल क्यों हो? इस तरह का सामंजस्य प्रत्येक कला में संभव है। इसलिये हेगल द्वारा शिल्पकला के लिये क्लैसिकल शब्द का विशेष प्रयोग भ्रामक है। इस प्रयोग का कारण यह है कि हेगल के अनुसार सभी कलाओं की अभिव्यंजना का विषय विचारतत्व है। निम्न कलाएं उस तत्व की ओर उन्मुख मात्र होती हैं, उससे प्रतीक-संबंध जोड़ती हैं; शिल्पकला रूप और विचारतत्व का सामंजस्य स्थापित करती है, किन्तु चेतना की मौलिक विशेषता को वह भी प्रकट नहीं कर पाती।

हेगल ने स्वीकार किया है कि शिल्पकला की यह विशेषता है कि वह आकार को देश (स्पेस)-गत तीन पार्श्वों (dimensions) में अङ्कित कर सकती है। शिल्पकला जिस प्रकार मानव अथवा अन्य–यथार्थ किंवा कल्पित-जीवों के घनत्व को, रूप के अतिरिक्त उनके सर्वाङ्गीण आकार-सौंदर्य को व्यंजित कर सकती है, उस प्रकार चित्रकला नहीं कर सकती। यह उसकी विशेषता है जहाँ वह सब कलाओं से श्रेष्ठ है। इसलिये चित्र, संगीत और काव्य कलाओं को रोमाण्टिक मानकर उनकी तुलना में शिल्पकला को निकृष्ट नहीं ठहराया जा सकता।

हेगल ने चित्र, संगीत और काव्य कलाओं को रोमाण्टिक कहा है और उन्हें क्लैसिकल शिल्पकला से श्रेष्ठ बतलाया है। उसका तर्क यह है कि शिल्पकला विचारतत्व की विविधता चित्रित नहीं कर सकती। उसे चित्रित करने के लिये और भी सूक्ष्म माध्यम वाली कलाएं आवश्यक होती हैं। चित्रकला रंगों के सूक्ष्मतर ऐन्द्रिय माध्यम पर निर्भर रहती है। इसलिये वह देश-गत ऐन्द्रियता से अपेक्षाकृत मुक्त रहती है। संगीत में देशगत ऐन्द्रियता का प्रायः अभाव रहता है। उसका माध्यम नाद है जो रंगों से अधिक सूक्ष्म है; इसलिये

वह विचारतत्व को भौतिकता में डूबने से बचाती है। काव्यकला सबसे अधिक आध्यात्मिक है। यहाँ शब्द केवल संकेत होता है। उसका श्रव्य गुण चेतना के लिये संकेत मात्र है। काव्य में देशकाल की सत्ता मनुष्य की कल्पना में होती है।

हेगल ने ललित कलाओं के सामान्य गुणों की ओर संकेत करते हुए उन सभी में कवि-कल्पना का उल्लेख किया है। इस सामान्य गुण के अतिरिक्त उसने उन विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया जिनसे प्रत्येक कला अपने क्षेत्र में प्रभुत्व-सम्पन्न होती है, जिन विशेषताओं को दूसरी कलाएं नहीं अपना सकतीं और यदि अपना सकती हैं तो केवल गौण रूप में। काव्य के सोपान तक पहुँचकर कला अपनी सीमा पार कर जाती है और उसका अभाव—अथवा उससे उच्चतर सोपान का आविर्भाव—हो जाता है। कला विचारतत्व को ऐन्द्रिय माध्यम द्वारा व्यक्त न करके कवि-कल्पना के क्षेत्र से आगे बढ़कर चिन्तन के गद्यक्षेत्र में पहुँच जाती है। इस प्रकार हेगल के अनुसार कला की चरम परिणति उसके अभाव में होती है। जैसे कुछ भारतीय विचारकों के लिये रस की परिणति ब्रह्मज्ञान में होती है, वैसे ही हेगल के लिये कलात्मक सौंदर्य की परिणति चिन्तन के गद्य में होती है। यह कला के प्रति भाववादी दर्शन के अभाववादी दृष्टिकोण का परिणाम है। माध्यम इतना सूक्ष्म हुआ कि कला अन्तर्धान हो गई।

हेगल के कलासम्बन्धी चिन्तन में द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति के तत्व विद्यमान हैं। उसके लिये कलाएं जड़ और स्थिर न होकर गतिशील और विकासमान हैं, परस्पर विच्छिन्न न होकर वे सामान्य गुणों द्वारा सम्बद्ध हैं, रूप और विषयवस्तु में विषयवस्तु की नियामक भूमिका है और उसकी न्यूनताएं रूप में भी झलकती हैं। किन्तु हेगल के इस द्वन्द्वात्मक चिन्तन का आदि बिन्दु विचार-तत्व है। इसलिये विकास का लक्ष्य किसी अदृश्य परम तत्व की सिद्धि हो जाता है; कलाएं अपने ऐन्द्रिय अथवा मानवकृत गुणों के कारण परस्पर सम्बद्ध न होकर उस परम तत्व की ओर अभिमुख होने और उसे आंशिक रूप से अभिव्यंजित करने के कारण सम्बद्ध होती हैं। रूप और विषयवस्तु में विषयवस्तु नियामक होती है, विचारतत्व के कारण; ऐन्द्रिय रूप विचारतत्व के दास के समान है। वह ऐसा दास है जो अपने स्वामी को मुक्त नहीं होने देता। काव्य में जब कला इस दास से मुक्त होती है तब उसके गद्य में परिणत होने की घड़ी आ पहुँचती है। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र में हेगल की द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति अपूर्ण है और दोषपूर्ण भी।

हेगल के उपर्युक्त विवेचन में मूल समस्या रूप और विषयवस्तु की है। यह सही है कि विषयवस्तु नियामक है, उसकी आवश्यकताओं के अनुसार रूप निर्मित होता है किन्तु यह भी सही है कि रूप विषयवस्तु का नियमन करता है। किसी कलाकृति में किस कोटि का अनुभव अथवा सौन्दर्य-बोध निहित होता है, यह उसके रूप और माध्यम पर भी निर्भर होता है। स्थापत्य और चित्रकलाओं में चाहे जितना साम्य हो, स्थापत्य कला संगीत की भूमिका पूरी नहीं कर सकती। साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास जिस तरह सामाजिक समस्याओं का चित्रण कर सकते हैं, उस तरह गीत नहीं; और जब करेंगे तब उनकी परिणति चिन्तन के गद्य में हो जायगी। रूप और विषयवस्तु के सम्बन्ध में भ्रान्ति भाववादी विचारकों में ही नहीं मिलती। कभी-कभी हमें समाजवादी लेखकों में इस तरह के विचार मिलते हैं: कला में मानव-श्रम का चित्रण होना चाहिये अथवा कलात्मक कार्यवाही को समाजवादी निर्माण का अभिन्न अङ्ग बन जाना चाहिये। यदि कोई चित्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्र आंकता है तो उससे समाजवाद की रचना में कितनी सहायता मिल सकती है? उतनी ही जितनी अजन्ता के चित्रों से। इसलिये प्रत्येक कला से एक ही विषयवस्तु की माँग करना अनुचित है।

हेगल के लिये कला का माध्यम, उसका ऐन्द्रिय रूप कलात्मक सौन्दर्य का अभिन्न अङ्ग नहीं है। वह उससे विच्छिन्न, विचारतत्व का वाहनमात्र है। किन्तु किसी भी कलाकृति के रूप में थोड़ा भी परिवर्तन कीजिये, उसके सौन्दर्य-तत्व में अन्तर आ जायगा। निराला जी ने

"जुही की कली" की पंक्ति "निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही" को पहले लिखा था, "निद्रालस बाँके विशाल नेत्र मूँदे रही"। विचारतत्व दोनों पंक्तियों में भले ही एक हो, सौन्दर्यतत्व का अन्तर स्पष्ट है। कला के क्षेत्र में "गिरा अरथ जल बीचि सम" की तरह रूप और विषयवस्तु "कहियत भिन्न न भिन्न" हैं। एक ओर कुछ कलाकार रूप में कला का शाश्वत सौन्दर्य देखकर उसे विषयवस्तु से मुक्त करने का प्रयास करते हैं; उनकी कलाकृतियाँ नितान्त कुरूप होती हैं जिन्हें सुरूप सिद्ध करने के लिये उन्हें गद्य-क्षेत्र में भगीरथ प्रयास करना पड़ता है। दूसरी ओर कुछ भौतिकवादी विचारक विषयवस्तु को स्वतन्त्र मानकर कहते हैं, इस विचार को कलात्मक रूप देना आवश्यक है। अनेक चिन्तनशील लेखकों की रचनाओं में हम पढ़ते हैं, अमुक कवि अथवा कथाकार के पास विचार तो हैं किन्तु उसने उन्हें कलात्मक रूप नहीं दिया। कलात्मक रूप कोई परिधान नहीं है जो विचारों को पहना दिया जाय। वह विषयवस्तु का अभिन्न अङ्ग होता है। कला, जीवन और प्रकृति को समझने और चित्रित करने में वैज्ञानिक विचारधारा से सहायता मिलती है किन्तु उसे चित्रमयता और संगीत से अलंकृत करके कलाकृति नहीं बनाया जा सकता। कलात्मक सौन्दर्य अलंकार नहीं है जिसे हम किसी भी विचारतत्व को पहना दें। कुछ भौतिकवादी लेखकों के लिये विचारधारा की वही भूमिका है जो हेगल के लिये विचारतत्व की है। दोनों ही कलात्मक सौन्दर्य को गौण मानकर उसका अलंकारवत् उपयोग करने की बात कहते हैं। यदि कला के स्वभाव के प्रतिकूल हम रूप को विचारधारा का दास बनाकर रखते हैं तो यह अभौतिकवादी, अवैज्ञानिक कार्य ही माना जायगा। उसका परिणाम कला के लिये हानिकारक होगा।

कलाशास्त्र ऐसा शास्त्र है जहाँ गोचर जगत् के बिना काम नहीं चलता। उसका माध्यम सदैव ऐन्द्रिय होता है। काव्य में यह माध्यम अधिक सूक्ष्म होता है किन्तु अतीन्द्रिय नहीं होता। भाषा एक ऐन्द्रिय माध्यम है। हेगल का यह तर्क उचित नहीं है कि काव्य में शब्दों को संकेत रूप में ही लिया जाता है, उनका नाद-सौन्दर्य उपेक्षणीय होता है। नाद-सौन्दर्य से कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह सौन्दर्य विभिन्न शब्दों तक सीमित न रहकर छन्द में भी प्रकट होता है। कला के माध्यम की ऐन्द्रियता देशकाल की सीमाओं में बँधा हुआ वह आकाश है जिसमें मनुष्य के भाव-विहग उड़ान भरते हैं। यह ऐन्द्रियता उस भौतिक जगत् का प्रतीक है जिसके बाहर विचारतत्व अथवा विचारधारा किसी का भी अस्तित्व नहीं है।

ललित कलाओं में कौन निम्न है, कौन उच्च है, इसका निर्णय करने से अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि हम सामाजिक जीवन में उन सभी के सामंजस्य, उपयोग और विकास का प्रयत्न करें। कलाएं परस्पर सम्बद्ध हैं, इसलिए एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। यदि विज्ञान और दर्शन उन्हें प्रभावित कर सकते हैं और करते हैं तो उनका एक दूसरे को प्रभावित करना सहज बोधगम्य है। कला के लिये महान् युग वे रहे हैं जब मनुष्य ने जीवन की बहुमुखी कार्यवाही में भाग लिया है, जब उसका सौन्दर्यबोध एक ही कला तक सीमित नहीं रहा। भारतीय सामन्तवाद के अनेक युगों में स्थापत्य, शिल्प, चित्र और काव्य ने समान रूप से अथवा न्यूनाधिक किन्तु एक साथ उन्नति की थी। यूरोप के नव जागरण काल (रिनैसांस) में, विशेषकर इटली में, विभिन्न कलाओं का एक साथ विकास देखा जा सकता है। आजकल अपने देश में, लगता है, हेगल की बात सच मानकर, हम मानव-चेतना के अन्तिम सोपान पर पहुँचे गये हैं; इसलिए कलात्मक कार्यवाही में यदि साहित्य ६० प्रतिशत भाग लेता है तो अन्य सभी कलाओं का काम १० प्रतिशत से ही चल जाता है! इस दस प्रतिशत में भी कहीं स्थापत्य कला आधी अंग्रेजी है तो चित्र कला आधी फ्रान्सीसी और संगीत कला—अपने सीलोन रेडियो के फिल्मी रूप में—बहुत कुछ अमरीकी! इन्हीं सबका सम्मिश्रण करके मानों कुछ कविमित्र प्रयोगवादी रचनाएं करते हैं! भौतिकता से परे हम परम

विचार तत्व में ऐसे निमग्न हैं कि अपने कलात्मक जीवन के अभावों को भी भूल गए हैं।

जर्मन लेखक एकरमन ने हेगल के देशवासी महाकवि गेटे के वार्तालाप संकलित करके प्रकाशित किये थे। उसके अनुसार गेटे ने प्राचीन यूनानियों के बारे में कहा था :

"हम प्राचीन यूनानियों के दुःखान्त नाटकों की प्रशंसा करते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक आँकने के लिये अलग-अलग लेखकों के बदले उस युग और जाति की प्रशंसा करनी चाहिये जिनमें उनकी रचनाएं सम्भव हुईं। यद्यपि ये कृतियाँ एक दूसरे से थोड़ी-बहुत भिन्न हैं और यद्यपि एक कवि दूसरे से महान् और अधिक कलात्मक पूर्णता वाला दिखाई देता है, फिर भी सबको एक साथ देखें तो उन सभी में एक ही निश्चित विशेषता दिखाई देती है : भव्यता, औचित्य, दृढ़ता, मानवीय पूर्णता, उच्च कोटि की बुद्धिमत्ता, उदात्त चिन्तन, विशुद्ध ओजपूर्ण सहजज्ञान इत्यादि। किन्तु जब हम इन गुणों को उन नाटकों में ही नहीं देखते जो हम तक चले आये हैं वरन् मुक्तक रचनाओं और महाकाव्यों में भी देखते हैं—दार्शनिकों, वक्ताओं, इतिहासकारों में और उतने ही उच्च स्तर पर उन मूर्त कलाकृतियों में देखते हैं जो हम तक पहुँची हैं—तो हमें यह विश्वास हो जाना चाहिये कि इस तरह के गुण न केवल व्यक्तियों में थे वरन् वे जाति और समूचे युग के सार्वजनीन गुण थे।"

कवि गेटे के इन सारगभित वाक्यों से हम समझ सकते हैं कि कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान का कितना गहरा सम्बन्ध है। बहुत कम ऐसे देश हैं जो प्राचीन यूनानियों के इस सर्वाङ्गीण विकास की तुलना में ठहर सकें। इस विकास में ललित कलाओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया, उन्होंने दर्शन और वैज्ञानिक चिन्तन से प्रभावित होने के साथ स्वयं भी उन्हें प्रभावित किया। ये सब कलाएं एक जाति की सम्पत्ति थीं; प्राचीन यूनान का कलात्मक वैभव कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के अलग-थलग प्रयोगों का परिणाम न था।

वर्तमान भारत में इस तरह के बहुमुखी कलात्मक विकास की आवश्यकता है। यह विकास विदेशी कला से भले प्रभावित हो, उसकी आधार भूमि भारतीय होनी चाहिए। मौलिक प्रयोगों में भी भारतीयता हो सकती है। वह प्रयोग क्या जो दूसरों की नकल हो? प्राचीन यूनान की तरह विभिन्न कलाओं का सामंजस्य भारतीय सौन्दर्य-बोध की विशेषता रही है। हेगल द्वारा निम्न और उच्च कोटि में कलाओं के वर्गीकरण के बदले यहां का आदर्श यह रहा है कि शिल्प और चित्रों से सजे हुए भवनों में नृत्य और संगीत के साथ काव्य का आस्वाद हो। शुभ काव्य के लिये भरत ने कहा था :

मृदुललितपदाढ्यं गूढ़शब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
स भवति शुभ काव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।

यहाँ काव्य, अभिनय, नृत्य और संगीत का सह-अस्तित्व देखा जा सकता है। ये कलाएं एक दूसरे की पूरक हैं; उनका सह-अस्तित्व हमारे सौन्दर्यबोध को समृद्ध करता है, कलाजन्य आनन्द में बाधक नहीं होता। ललित कलाओं के परस्पर सम्बन्धों पर विचार करते हुए हेगल की अपेक्षा यह दृष्टिकोण अपनाना अधिक युक्तिसंगत होगा।

डा० रामविलास शर्मा

उद्घाटन-भाषण

बाबू गुलाबराय एम० ए०, डी० लिट्

[दिनांक २५–१–५८ को नागरी प्रचारिणी सभा आगरा में '**समालोचक**' के उद्घाटन के शुभ अवसर पर दिया गया भाषण—**सम्पादक**]

हिन्दी के साहित्य-सृजन में आगरा का स्थान उत्तर-प्रदेश के नगरों में अग्रगण्य न सही तो भी आगरा उन प्रमुख नगरों में से अवश्य है, जिन्होंने साहित्य को कुछ देन दी है। आगरा में अखबारों की कमी नहीं है, सभी प्रकार के दैनिक, मासिक पत्र निकलते हैं। आलोचना साहित्य का एक विकसित रूप है। साहित्य जब स्वयं आत्म-चिन्तन करने लगता है, तभी आलोचना का जन्म होता है। जिस प्रचुर मात्रा में लक्ष्य-ग्रन्थों का हिन्दी में सृजन हो रहा है, उसके देखते हुए यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि साहित्य का मूल्याङ्कन कर उसकी गतिविधि निश्चित करने के लिए आलोचना साहित्य का विकास हो। हिन्दी में रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों ही दिशाओं में उन्नति हो रही है। हिन्दी काव्य में नई धाराओं, नई शैलियों और नई वर्ण्य-वस्तुओं का उद्भव हो रहा है। 'प्रसाद' जी के पश्चात् 'पार्वती' जैसे महाकाव्य भी एक ओर लिखे गए हैं, तो दूसरी ओर विपुल और सुन्दर गीति काव्य का विकास हो रहा है। वस्तुत: छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और स्वतन्त्र प्रेम-काव्य इन धाराओं में हिन्दी काव्य का विकास हो रहा है। अभी इस काव्य साहित्य का वैज्ञानिक मूल्याङ्कन और इनकी विशेषताओं का आकलन होना शेष है। यों कई आलोचनात्मक पुस्तकें और लेख लिखे गए हैं परन्तु अभी तक ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता है जिनमें इस ब्रह्मपुत्र के समान विस्तृत और गहन-गम्भीर काव्य-प्रवाह का अवगाहन किया गया हो और वैज्ञानिक विशेषताएं बताई गई हों।

हिन्दी कथा-साहित्य में न जाने कितनी नई शैलियों की कहानियाँ और उपन्यास लिखे गए हैं। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से जन-जीवन के वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के अनेक अछूते पक्षों पर हिन्दी-कथा-साहित्य की रचना हुई है। गोदान के बाद यशपाल, राँगेयराघव, अमृतलाल नागर, राहुल, विष्णुप्रभाकर आदि ही नहीं, अनेक नए प्रतिभाशाली कथाकारों ने विविध शैलियों में विपुल कथा-साहित्य की सृष्टि की है। मनुष्य की प्रत्येक भाव-भूमि को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न हो रहा है। क्या आलोचना के क्षेत्र में हिन्दी की इस महान कथा-साहित्य की परम्परा के उद्भव और विकास को पूर्णत: समझ लिया गया है ? मैं समझता हूँ अभी तक कथा साहित्य के सैद्धान्तिक और व्याख्यात्मक दोनों क्षेत्रों में कार्य करने की आवश्यकता है।

हिन्दी में नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज़ आदि नवीन विधाओं का विकास इधर बहुत हुआ है—हम आलोचकों को अभी इन नवीन विधाओं का लक्षण और परीक्षण करना है। "शेखर : एक जीवनी" जीवनी है या उपन्यास है ? "जहाज का पंछी" नवीन शैली का आविष्कार है या प्राचीन शैली में लिखा गया है ? "लघु कथा" में कथातत्त्व की आवश्यकता है या नहीं। अच्छी कहानी की पहचान का कोई ओब्जैक्टिव स्टैन्डर्ड हो सकता है या नहीं ? संस्मरण और रेखाचित्र में क्या अन्तर है ? आदि प्रश्नों पर जितना विचार होना चाहिए था, अभी उतना नहीं हुआ है। जीवन और जगत के किन-किन क्षेत्रों को इन विधाओं में व्यंजना मिली है और किन-किन की अभी होनी है यह भी नहीं बताया जा सका है। प्रसन्नता का विषय है कि नए साहित्य पर भी शोध-कार्य चल रहा है परन्तु शोध-कार्य के लिए आलोचनात्मक पत्र-पत्रिकाएं पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकती हैं।

शोध के लिए हिन्दी लेखकों, सम्पादकों, अध्यापकों और अन्य कार्यकर्त्ताओं को ही नहीं, सजग पाठकों को भी सभी प्रकार की सूचनाओं और सुझावों के आदान-

प्रदान के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। अभी हिन्दी के शोध कार्य में (Co-ordination) का अभाव है। शोध के कई विभागों में यथा (textual criticism) के लिए हिन्दी लेखकों के लिए ट्रेनिङ्ग की आवश्यकता है। सरकार कुछ अन्वेषकों को इन विशिष्ट कार्यों के लिए विदेशों में भेजकर शोध को वैज्ञानिक बना सकती है अथवा विदेश के कुछ विशेषज्ञों द्वारा शोध-संस्थानों में जब तब व्याख्यान कराए जा सकते हैं। शोध-छात्रों और इनके निरक्षकों दोनों को लाभ हो सकता है।

"रचनात्मक आलोचना" भी प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की पद्धति पर हो सकती है। हिन्दी में अभी एक भी ऐसी कृति नहीं है, जिसमें प्रयोगवादी Experimental पद्धति को अपनाया गया हो। अन्य भाषाओं का भी शायद यही हाल होगा। पत्र-पत्रिकाएं इस क्षेत्र में आदर्श लेख छापकर या देश-विदेश के मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस क्षेत्र के लिए प्रकाश व प्रेरणा दे सकती हैं।

काव्य-शास्त्र व सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी अभी बहुत कुछ करना है। हिन्दी को काव्य-शास्त्र की महान परम्परा प्राप्त है। भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र का वैज्ञानिक और निर्भ्रान्त विवेचन अभी होना है। सुना है कि 'अभिनव-भारती' का सम्पादन डा० नगेन्द्र की देखरेख में चल रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। इसके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र पर संस्कृत के टीकाकारों ने आचार्यों के मंतव्यों को भली भाँति स्पष्ट किया है। अतः भामह, दण्डी, वामन, ध्वनिकार, मम्मट आदि का रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज, नागेश आदि टीकाकारों के साथ अध्ययन और विवेचन पर अधिक जोर देने की आवश्यकता है। इसी प्रकार हिन्दी रीतिकाल पर भी अभी और कार्य करने की आवश्यकता है।

हिन्दी में आलोचना के कार्य की अनेक सम्भावनाऐं हैं। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य और विदेशी साहित्य का अनुशीलन जितना अधिक बढ़ता जाएगा, हिन्दी साहित्य की इस नए संदर्भ में रखकर मूल्याङ्कन की समस्या और भी कठिन होती जाएगी। आज किसी भी समस्या पर केवल हिन्दी भाषा के विकास की दृष्टि से ही प्रकाश नहीं डाला जा सकता; किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन बिना देशी-विदेशी साहित्य और समाज की प्रवृत्तियों को समझे बिना नहीं समझाया जा सकता अतएव जो विचारक कहते हैं कि हिन्दी में आलोचना अधिक हो रही है, वे यह भूल जाते हैं कि साहित्य-सर्जना और देशी-विदेशी धाराओं का सम्मेलन और सम्मिश्रण इन दोनों पर कार्य हुआ है। आलोचना क्षेत्र में वस्तुतः इतना कार्य होने पर भी अभी और भी अधिक कार्य करने की आवश्यकता है।

वैज्ञानिकता के युग में आलोचना को मनोविज्ञान-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, समाजशास्त्र आदि से सहायता लेकर अधिक वैज्ञानिक बनाना है। तथ्यों की शुद्धता की ओर सबसे अधिक ध्यान देना है। इधर आलोचना में वैयक्तिक प्रभाववादी आलोचना की वृद्धि हो रही है। इसका भी मूल्य है परन्तु आलोचना में प्रयोगवादी प्रवृत्तियाँ अधिक सफल नहीं हो सकतीं क्योंकि लेखक को शुद्ध बौद्धिक स्तर पर रह कर तटस्थ विश्लेषण करना होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी में अभी कई आलोचनात्मक पत्रों की आवश्यकता है। प्रान्तीय भाषाओं के परिचय व विश्व साहित्य के परिचय के लिये वस्तुतः अलग अलग पत्रों की आवश्यकता है। रूसी साहित्य, अंगरेजी साहित्य आदि देश-गत साहित्य पर भी अलग-अलग पत्र हों जिनमें उन उन साहित्यों से अनुवाद व आलोचनात्मक निबन्ध रहें तो हमारी जानकारी बढ़ेगी। शोध की दृष्टि से इन पत्रों का महत्व रहेगा। परन्तु यदि यह अभी सम्भव न हो तो पत्रों में देशी-विदेशी साहित्य का परिचय व प्रवृत्तियों के आकलन की बहुत बड़ी आवश्यकता है। शोध-संस्थानों के अलग पत्र निकलने चाहिए। 'साहित्य अकादमी' की ओर से एक अन्तर्प्रान्तीय तुलनात्मक साहित्य-विवेचन संबंधी पत्र निकलना चाहिए। प्रत्येक पत्र का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण होता है, प्रतिपादन और विवेचन की एक विशेष भंगिमा होती है अतः एक ही विषय पर

(शेष पृष्ठ ३६ पर)

जीवन की पृष्ठभूमि

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

[वर्मा जी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिये प्रख्यात हैं। विशेष रूप से बुन्देलखण्ड से सम्बन्धित उपन्यासों में उन्होंने वहाँ के इतिहास को सजीव रूप दे दिया है। उन्होंने जिन अमर पात्रों की सृष्टि की है, वे उन्हें इतिहास में मिले हैं या अपने आस-पास के जीवन से उन्होंने सामग्री एकत्र करके उन्हें ऐतिहासिक परिवेश में सजा दिया है ?

हमारे आग्रह पर वर्मा जी ने इस समस्या पर लिखने का वादा किया है। प्रस्तुत लेख में उन्होंने बताया है कि "मृगनयनी" के बैजू बावरा बहुत कुछ मित्र उस्ताद आदिल खाँ हैं। वर्मा जी को स्वयं संगीत से बहुत प्रेम है। इसलिए यह कल्पना करना असंगत न होगा कि बैजू बावरा में उन्होंने अपने संगीत प्रेम का भी चित्रण किया है।

वर्मा जी के लोकप्रिय उपन्यास "गढ़-कुण्डार" में एक पात्र है, इब्न करीम ! वह अरब सैनिक है। पकड़ लिये जाने पर आँखें नीची कर लेता है किन्तु भयभीत होने का कोई चिन्ह प्रकट नहीं करता। नागदत्त पूछता है,"तुम मौत से नहीं डरते ?" वह उत्तर देता है,"डरता हूँ। परन्तु जब तक वह सामने नहीं आती। लेकिन जब सामने ही आ पहुँची, तब डरने से क्या होता है ?" इब्न करीम न तो शेक्सपियर के जूलियस सीजर की तरह निर्भयता की डींग हाँकता है, न वह वर्नार्ड शा के "मैन ऐण्ड सुपरमैन" के भद्रजनों की तरह कायरता को मनुष्य का मुख्य गुण मानता है। जीवन के अनुभवों ने उसे मध्यमार्गी यथार्थवादी बना दिया है; वह मरना नहीं चाहता, मौत से डरता है किन्तु संकट आने पर उसका साहस से मुकाबला भी करता है। एक बार मित्र बन जाने पर वह प्राणपन से मित्रता निबाहता है। कुण्डार के शत्रुओं को वह चुनौती देता है और राजा के अप्रसन्न होने की चिन्ता न करके उसे सावधान करता है : "पागल नहीं हुआ हूँ, महाराज ! दुश्मन चढ़ा चला आ रहा है। फौरन भरतपुरा और दबरा की गढ़ियों को तरफ फौज रवाना कीजिये, नहीं तो कुण्डार हाथ से जाता है, और आपकी इज्जत अस्मत भी।" इब्न करीम के मूल रूप के दर्शन वर्मा जी के शिकारी मित्र करामात खाँ में होते हैं।

इन पात्रों के अतिरिक्त वर्मा जी के उपन्यासों में प्रकृति का चित्रण और ऐसे वातावरण की रचना है जिसका गहरा सम्बन्ध उनके शिकारी जीवन से है। "जीवन की पृष्ठभूमि" के बिना इस वातावरण को समझना सम्भव नहीं है। इस तरह के लेखों से वर्मा जी तथा उनके रचना-कौशल के बारे में हमारी जानकारी बढ़ेगी।

—सम्पादक]

मुझे गाने बजाने का शौक रहा है। आया तो कुछ नहीं, परन्तु लगता सदा बहुत भला रहा है। एक दिन अकस्मात उस्ताद आदिल खाँ से भेंट हो गई। फिर तो ऐसा साथ रहा कि आज तेतीस वर्ष उनकी मेरी घनिष्ठ मित्रता को हो गये हैं। कुछ सनकी हैं उस्ताद। 'मृगनयनी' के बैजू बावरा में इन्हें कुछ तो उतार ही लिया है। आरम्भ के कुछ दिनों तो मेरा दैनिक कार्य-क्रम यह रहा कि दिन वकालती काम में बिताया, संध्या के समय घुमाई फिराई की, फिर संगीत की बैठक जो हुई तो बारह बजे रात तक चलती रही। केवल शनिवार और रविवार के दिनों यह बैठक नहीं हो पाती थी, क्योंकि ये दिन शिकार या बाहर की यात्रा के लिए तै थे। बड़ी छुट्टियों में भी बाहर चल देता था। बरसों होली, दिवाली, दशहरा इत्यादि त्योहार घर पर नहीं मनाये, जंगलों में या कहीं और। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में

रात और दिन के पहर-पहर पर बदलने वाले नाना प्रकार के अनेक दृश्य देख देखकर जो आल्हाद और उल्लास मुझे प्राप्त हुआ है उसको यहाँ संजोकर रखना दुष्कर है। अपने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों इत्यादि में यथा स्थान जितना बना उतना रख दिया है। इन दिनों मन में लिखने की उमङ्ग भीतर से हूक सी देती रहती थी, परन्तु अवकाश नहीं मिल पाता था। कभी-कभी केवल कहानी लिख पाता था और सीकर के उपनाम से निबन्ध, जो 'हृदय की हिलोर' नामक संग्रह में कई वर्ष पीछे प्रकाशित हुये। पढ़ने के लिये समय में अवश्य निकाल लेता था। देश-विदेश के अनेक ग्रन्थकारों की कृतियाँ इस काल में पढ़ीं।

सन् १९२४ के मई मास का अन्तिम सप्ताह था। भरतपुरा निवासी मेरे मित्र पं० फूलचन्द पुरोहित के भांजे की बारात बछोंदना गाँव जा रही थी जो चिरगाँव से ४-५ मील पहूज नदी के उस पार है। नदी छोटी सी ही है, परन्तु इतिहास के साथ इसका संसर्ग पुराना है। संस्कृत साहित्य में इसका नाम पुष्पजा है। पहाड़ों जंगलों में होकर बही है। सुहावनी है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में महमूद गजनबी के साथ अबूरिहाँअलबेरूनी आया था। उसने अपनी पुस्तक 'किताबुल हिन्द' में पहूज और जिझौति (आज का बुन्देलखंड) का जिकर किया है। बछोंदना गांव पहूज तटवर्ती पहाड़ की ढाल पर बसा है। पहाड़ के नीचे वृक्ष-कुंजें, छोटी-छोटी पहाड़ियां और खेत खलियान हैं। पुरोहित जी के भान्जे की बरात में मेरा शामिल होना अनिवार्य था, परन्तु टीके के ही दिन जज की अदालत में एक बड़े फौजदारी मुकद्दमे की पैरवी करनी थी। मैंने पुरोहित जी को आश्वासन दिया कि चार बजे मुकद्दमा समाप्त हो जायगा और मैं तुरन्त ताँगे से बछोंदने के लिए चल दूंगा और टीके की सायत पर आ जाऊंगा। उस दिन चार बजते ही मैं अपना कुछ सामान, दुनाली बन्दूक और पचास कारतूस लेकर ताँगे से चल दिया—दूसरे दिन छुट्टी थी और आगे के एक दो दिन कोई विशेष बीधन नहीं थी।

रात चिरगाँव में ही हो गई। बछोंदना के नीचे पहूज के रिपटे पर पहुँचते-पहुँचते अबेरी रात का घना अन्धकार छा गया। रिपटे के नीचे नदी की रेत पर कुछ बीड़ियाँ सुलगती देखीं। उस क्षेत्र में एक कुख्यात डाकू के गिरोह के रमने की खबर पहले से ही फैली हुई थी। कुछ तो शिकार के प्रयोजन से और कुछ आत्म-रक्षा की भावना से मैं उतने कारतूस साथ ले गया था।

ताँगे वाले ने मुझ से धीरे से कहा—'डाकू जान पड़ते हैं। जल्दी से निकल चलूं ?'

'नहीं, तुमने ताँगा तेज किया नहीं कि वे यह सन्देह करके टूट पड़ेंगे कि ताँगे में कुछ कीमती सामान अवश्य है, धीरे धीरे ही चलो'—मैंने प्रतिवाद किया और बन्दूक सम्हाली जिसे मैंने पहले से भर रक्खा था। कोई गड़बड़ नहीं हुई, कुछ ही देर में बरात के डेरे पर जा पहुँचा जो एक पहाड़ी के तले वाली वृक्ष-कुंज के नीचे थी। कुंज की छाया में कई बड़े-छोटे पाल तने हुये थे। कनातें न थी।

बारात टीके के लिए बड़े ठाठ बाट के साथ सज धज रही थी। कई बराती अपने-अपने गले में सोने के बहुमूल्य गुंज गोप डाले थे और दूल्हा की देह पर तो हजारों के ही गहने थे। पचास पचपन गैस के हन्डों की रोशनी में उतनी जगह दिन का सा उजाला हो रहा था। वहीं पचास बावन टोपीदार और कार्तूसी बन्दूकें प्रदर्शनी की उमङ्ग से भरे बरातियों के कन्धों पर चमक रहीं थी। इनमें चिरगाँव थाने की एक पूरी पुलिस गारद भी थी। डाकुओं के उपद्रव का डर जो था। मेरे मन में एक विचार कोंधा और मैं पुरोहित जी को अकेले में ले गया। मैंने उनसे धीरे से कहा,—'यदि मैं डाकू होता और दो-तीन साथी मेरे पास बन्दूकों से लैस होते तो इस सारी बरात को लूट लेता। पुरोहित जी चकराये। उनके मुंह से यह प्रश्न निकला,—'सो कैसे ? यह सब क्यों कह रहे हो ?'

'ऐसे—दो तीन गोलियों से कई हन्डे फोड़ डालता, तीन चार बन्दूक धारियों को गोलियों से उड़ा देता;

बाकी हन्डे वाले हन्डे फेंक कर भाग जाते, बन्दूकधारी न जाने कहाँ के कहाँ होते और हम सब गहने वहने लेकर चम्पत हो जाते,' मैंने बतलाया। पुरोहित जी को मालूम था कि डाकुओं का एक बड़ा गिरोह कहीं आस-पास ही है। वह बहादुर थे और हठी भी।

'यह नहीं हो सकता, पर बात तो बतलाओ',—उन्होंने कुछ आतुरता के साथ कहा।

मैंने अनुरोध किया—'दूल्हा के गहने मेरे हवाले करो। मैं एक साथी को लेकर यहीं डेरे पर रहूँगा, टीके में शामिल नहीं होऊंगा। आप बरात ले जाओ।' पुलिस वाले और बन्दूकधारी सावधानी के साथ बरात की रखवाली करते हुये जावें।' पुरोहित जी मान गये।

शिकार का एक मेरा साथी चिरगाँव का करामातखाँ बरात में था। कारतूसी बन्दूक भी उसके पास थी। उसे मैंने अपने संग रक्खा। बरात टीके के लिए धूमधाम परन्तु सावधानी के साथ चली गई। डेरे में केवल हम दोनों रह गए। डेरे का हन्डा मैंने दूर रखवा दिया। एक ओट लेकर गहने सन्दूक में रख दिये और मैंने करामात से कहा—'डाकू यहीं कहीं निकट ही हैं। एक तरफ मुंह करके तुम लेट जाओ और दूसरी तरफ मुंह करके मैं लेट जाऊंगा। बन्दूक तैयार रक्खो।'

इसका तात्पर्य करामात जानता था। उसने ऐसा ही किया।

निकटवर्ती पहाड़ी में डाकू आ गये थे। हम दोनों से सौ गज से अधिक दूरी पर न होंगे। पैरों की आहट हुई और बीड़ियाँ भी सुलगीं। न मालूम क्या सनक सवार हुई कि मैं मूर्खता की पराकाष्ठा कर गया—ऐसी कि जैसी कभी नहीं की थी। मैं जोर से चिल्लाया,—'है किसी की छाती में दम जो सामना करे ? आओ इधर है गहना—तुम्हारी खोपड़ियों के टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिये जायंगे।'

करामात ने साँस भरी छोड़ी और मेरा पैर दबाया। मैं बेवकूफी कर चुका था, परन्तु उस घड़ी पछताया नहीं। दिमाग के पर्तों और हृदय के रक्त को मेरी सनक भड़का रही थी। पहाड़ी पर इधर उधर सुलगती बीड़ियाँ यकायक गुल हो गई। पैरों की आहट बढ़ी और कुछ खुसफुस हुई जो बिल्कुल समझ में नहीं आई। थोड़ी देर तक उस आहट की दूरी बढ़ती रही फिर नहीं सुनाई पड़ी। हम दोनों ने लेटे-लेटे ही उस ओर मुंह फेर लिया था। हुआ कुछ नहीं। भाग्य से बचे। यदि लड़ाई छिड़ जाती तो शायद हम दोनों मारे जाते। डाकुओं ने लड़ना व्यर्थ समझा होगा।

एक छोटा सा संकट अवश्य आया। एक खासा बड़ा बिच्छू डंक उठाये मेरी तरफ आ रहा था। करामात ने धीरे से कहा,—'बिच्छू !'

'मार दो !' मैंने भी बहुत धीरे स्वर में जबाब दिया। करामात ने अपनी मुट्ठी के उस सपाटे से उस बिच्छू को पीस दिया। मैं उन दिनों सिगरेट पीता था। जी चाहा कि पी डालूं। पर कुछ अकल काम कर गई। इच्छा को दबा लिया।

बरात जब डेरे पर लौटकर आई सबेरे के चार बजे होंगे। तब तक हम दोनों काफी कष्ट झेलते हुये वहीं पड़े रहे।

बरात में मेरे परम मित्र श्री अयोध्याप्रसाद शर्मा पहले ही शामिल हो गये थे और टीके में गये थे। इनका मेरा साथ बरस डेढ़ बरस पहले हुआ था। यह स्वाधीन प्रेस में काम करते थे। पर इन्होंने मित्रता को काम पर और काम को मित्रता पर कभी सवार नहीं होने दिया। छरेरी देह, संयमी मन और बायें हाथ से बेधड़क बन्दूक चलाने वाले निशानेबाज। टीके से लौटने पर इन्हें और पुरोहित जी समेत कुछ मित्रों को अपनी मूर्खता वाली बात सुनाई। इन सबकी आँखें डबडबा आईं और फलस्वरूप इन्होंने भला बुरा कहा।

पुरोहित जी बोले,—'भाड़ में जायं वे गहने जिनके लिये आपने इतनी बड़ी जोखिम उठाई।'

हम लोगों ने बात को ज्यादा फैलने से रोका, परन्तु वह बिना फैले न रही। मालूम पीछे पड़ा। उस समय तो यह तय हुआ कि बैलगाड़ी पर बैठकर शिकार के लिये निकल पड़ें। वहाँ आसपास भेड़ियों और हिरनों के रमने की सूचना मिली थी। जंगल के सिरे पर पहले

भेड़ियों का भुण्ड मिला। मेरी गोलियों से दो मारे गये। फिर हम लोग दूसरी दिशा में बढ़ गये। पचास साठ हिरनों का समूह मिला। उसमें से केवल एक का शिकार किया। करामात ने उसे पहूज नदी के किनारे रखवा लिया और गाड़ी कुछ दूर एक वृक्ष कुंज की छाया में ढिलवा दी। पहूज किनारे मैं, शर्मा जी, भजन नाम का एक खंगार और करामात रह गये। एक बड़े पेड़ की छाया थी। करामत को वह हिरन छीलना-छालना था और हम लोगों को उस पेड़ तली की दूब पर पैर फैलाकर सोना था। करामात अपना काम करने लगा, हम तीनों लेट गये। शर्माजी और भजन सो गये। उन दोनों ने अपने साफे के छोर से मुंह ढक लिये। मुझे नींद नहीं आई। मैं बैठ गया।

थोड़ी देर बाद नदी उस पार से एक व्यक्ति कहीं से आकर चिल्लाया,– 'चिलम तमाखू है तुम्हारे पास? हो तुम्हारे पास तो मैं भी आ जाऊं?'

करामात ने व्यंग के स्वर में कहा, 'आओ आओ, हम पिलायें तुम्हें तम्बाकू।' वह व्यक्ति उल्टे पैर भागा। हम दोनों हँस पड़े। आधा घंटे पीछे उसी दिशा में एक और आया, उसने कहा कुछ नहीं। नदी की पतली धार पार करके हमारे पास आया और राम राम करके बैठ गया।

'कहाँ से आये हैं आप लोग?' आगन्तुक ने पूछा।

'जहाँ से हम जैसे लोग आते हैं-- कहाँ से बतलावें तुम्हें?' करामत ने बेतकल्लुफी के साथ उत्तर दिया।'

आने वाले ने पेड़ के सहारे टिके हुये हमारे हथियारों पर आँख गढ़ाई, फिर हिरन के शव को देखता रहा।

बोला, 'बन्दूकें आप लोगों ने ही चलाई हैं? कुल इतने ही हैं आप या और भी कोई?'

करामात के सिर पर व्यंग का भूत सवार था और मन में बेतकल्लुफी छटपटा रही थी। कहा-- 'हमारे सिवाय और कौन बन्दूकें चला सकता है? हम चार यहाँ हैं और बहुत से इधर उधर। वह व्यक्ति बगलें झाँकता हुआ जोर से खाँसा। भजन जाग पड़ा। उसने साफे का पल्ला मुंह पर से हटा लिया।

'अरे भजन! तुम यहाँ!! क्या ये सब बरात में आये लोग हैं?' आगन्तुक ने आश्चर्य में डुबकी सी लगा कर कहा।

भजन उठ बैठा। 'मामा अच्छी तरह हो? हम सब बराती तो हैं हीं। तुम क्या समझे थे?' वह अपने सिर का साफा खिसकाता संभालता बोला,--'अब मालूम हुआ कि बराती हो। गजब हो गया होता। तुम सब डाकू समझे गये थे। रात में डाकू बरात लूटने की ही कोशिश में थे। मांडेर की हथियार बन्द पुलिस को खबर लगी तो यहाँ आ गई। बन्दूकें चलीं तो सन्देह हुआ कि डाकू यहीं कहीं जंगल में हैं। पुलिस ने घेरा डालकर पहले एक टोह लगाने वाले को भेजा। तुममें से किसी ने अंड बंड बात की। वह कहता गया कि डाकू ही हैं। परन्तु पूरा विश्वास नहीं हुआ तो मुझे जाँच पड़ताल के लिये पहुँचाया। भजन, तुम न जग पड़े होते तो मैं भी यही जा कर कहता कि डाकू हैं। राम! राम! राम! फिर गोली चलती! तुम लोगों का न जाने क्या होता।'

अर्थात् हम लोग बालबाल बचे। रात में मेरी वह मूर्खता, दिन में करामात की यह! हम लोग कभी नहीं भूले। करामात के साथ की और भी कुछ घटनायें हैं जो शिकार सम्बन्धी पुस्तक 'दबे पाँव' में आ गई हैं। सन् १९२७ में लिखे गये मेरे उपन्याय 'गढ़ कुण्डार' का पात्र इब्न करीम करामात का ही प्रतिविम्ब है। करामात ने मेरे साथ सदा सचाई बर्ती है।

—:卐:—

पं० बालकृष्ण भट्ट---आलोचक के रूप में

डा० राजेन्द्र शर्मा एम० ए०, पीएच० डी०

पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी आलोचना के जनक हैं। उनका महत्व केवल ऐतिहासिक ही नहीं है अपितु विचार गरिमा, प्रगतिशीलता तथा अभिव्यक्ति की मार्मिक शैली के कारण वे आज भी महान साहित्यकारों में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं। भट्टजी के आलोचक रूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि भट्ट जी अपने युग से कितने आगे के व्यक्ति थे और कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि कितनी ही बातों में वे हमारे युग से भी आगे के व्यक्ति हैं।

भट्टजी जीवन को खण्ड-खण्ड कर देखने के पक्षपाती नहीं थे। वे जानते थे कि राजनीति, धर्म और साहित्य विराट जीवन के ही विभिन्न अवयव हैं। इसलिये इनमें से किसी एक को सम्पूर्ण जीवन मानकर चलने की भूल उन्होंने कभी नहीं की। भट्टजी शायद आज की परिभाषा में साहित्यिक नहीं थे। ऐसे साहित्यिक जो नवीन साहित्य और राजनीति सबको अलग-अलग मानकर चलें। भट्ट जी के आलोचक रूप को स्पष्ट करने से पहले उनके विचारों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना अप्रासंगिक न होगा।

भट्ट जी संस्कृत-साहित्य और दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे, किन्तु उन्होंने संसार को कभी माया नहीं माना और न इसे दुःख का आगार ही स्वीकार किया। उन्होंने अपने "संसार सुख का सार है हम इसे दुःख का आगार कर रहे हैं" शीर्षक निबन्ध में निर्भ्रान्त भाषा में लिखा है :—

"संसार सुख का सार और स्वार्थ तथा परमार्थ साधन का पवित्र मन्दिर है पर हम उसे अपने कुलक्षणों से दुःख के प्रवाह का श्रोत यावत् संताप और क्लेश का अपवित्र आलय कर रहे हैं। पौरुषेय गुण शून्य हम अपने अकर्मण्य वेदान्तियों को क्या कहें जो संसार को दुःख रूप मिथ्या और नश्वर मानते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि यह हमारे ही अविचार, अविवेक, अशान्ति, असन्तोष, मोहाँध बुद्धि आदि दुर्गुणों का कारण है कि स्वर्ण-मन्दिर संसार को हम ढहाइ के उजाड़ खंडहर कर रहे हैं। जहाँ अमृत का कुण्ड भरा है उसे हम हलाहल विष से भर देते हैं। बड़े विद्वान हुए यावज्जीव शास्त्र और फिलासफी को रट रट पच मरे। जितना रट डाला उसके एक वाक्य पर भी जो विवेक और विचार को काम में लाते तो अपने अस्त-व्यस्त कामों से जो अनेक दुःख सहते हैं और अपनी समझ और काम को दोष न दे संसार को दुःख का आगार मान बैठे हैं यह भ्रम मिट जाता। यदि विवेक और विचार को मन में जगह देते तो जो दुःखमय बोध होता है वही अनन्त सुख का हेतु होता है।"[1]

भट्ट जी का स्पष्ट मत है कि :—

"संसार संदोह का परमोत्कृष्ट मन्दिर है। हम अपने कुढंग और कुचरित्र से अपवित्र कर अपने जीवन को दुःखपूर्ण कर रहे हैं।"[2]

हमारे देश में अकर्मण्यता और निष्क्रियता के लिये वेदान्त का दर्शन बहुत कुछ उत्तरदायी है। जनता का अधिकाँश आँख बन्द कर इस दर्शन की सत्यता का विश्वास करता है। भट्टजी का कथन है कि यदि हम अपनी बुद्धि से काम लें तो इस भ्रम का उद्घाटन सहज ही हो सकता है :—

"विरक्त और वेदान्तियों को यह संसार नीरस और फीका जान पड़ता है, हम लोगों की बुद्धि गवाही दे रही है कि नहीं यही सार है इसलिये इसी को सिद्ध करना

१ 'हिन्दी प्रदीप' सितम्बर से दिसम्बर १८९५ पृ० ४
२ वही वही वही पृ० १०

हमारे जीवन का फल है।"[1]

भट्टजी धर्म को अनुचित महत्व देने के विरोधी हैं। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। अंध-भक्ति और अंध श्रद्धा जैसी रुग्ण भावनायें उन से कोसों दूर हैं। वे प्रत्येक वस्तु को तर्क की तुला पर तौलने के पक्षपाती हैं। तर्क भट्टजी की आलोचना की आधारशिला है। वे किसी वस्तु की अच्छाई बुराई उसके ऐतिहासिक विकास क्रम में आँकते हैं इसलिये उनकी विचारधारा अत्यन्त आधुनिक है और यथार्थ के कूलों में होकर बहने वाली है। भट्टजी का कहना है कि अतीत में धर्म के इस अति प्रचार के ही कारण देश परलोकवादी होगया और इस प्रकार भौतिक उन्नति से पराङ्मुख हो गया। इसी भयंकर भूल का भार पराधीनता के रूप में हम शताब्दियों तक ढोते रहे हैं। इस निष्क्रिय चिन्ताधारा के दुष्परिणामों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए भट्ट जी लिखते हैं :—

"इसी मननशीलता के कारण अकर्मण्यता इनकी नस-नस में घुस गई और कितने प्रकार के विज्ञान और साइंस जिनमें भरपूर उद्यम और प्रागलभ्य (एक्टिविटी) का काम पड़ता है उन्हें शास्त्र सहयोगिनी इनकी मननशीलता ने होने ही न दिया। धर्म सम्बन्धी उत्कर्षता निस्संदेह अति उत्तम है किन्तु इसके साथ ही यह भी हुआ कि इस धर्म की उत्कर्षता और पारलौकिक चिंतन ने समाज और देश के हित की बातों को इतना दबा दिया और इन सब हितकारी उपायों के स्थान में ऐसी टाँग अड़ाई कि उनका लेश भी न आने पाया।"[2]

भट्टजी इस बात को सहन नहीं कर सकते थे कि कोई पराधीनता को माया कह कर टाल दे या यह कहे कि राजनीतिक पराधीनता हमारे धर्माचरण में तो बाधक है नहीं फिर उसके विरोध की क्या आवश्यकता है? राजनीतिक स्वाधीनता के लिए भट्ट जी धर्म को सौ बार त्यागने के लिये तैयार थे। वे इस रहस्य से पूर्णत: अवगत थे कि देश की सर्वांगीण उन्नति राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर ही हो सकती है—धर्म के द्वारा नहीं। वे स्पष्ट लिखते हैं :—

"चाहो धर्मसम्बन्धी आदि एकता से आप और और तरह का लाभ मानें पर देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनीतिक एकता को ही मानेंगे। जब तक कोई जाति एक राजनीतिक समूह न होगी—जिसका एक ही राजनैतिक उद्देश्य है—और जिस जाति के लोग एक ही राजनीतिक ख्याल से प्रोत्साहित नहीं तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और वृद्धि की बुनियाद किस चीज पर कायम रखेंगे ? हम देखते हैं कि अंग्रेजों के इतिहास में बहुत जल्द राजनीतिक एकजातित्व आगया जिसके कारण उनकी जाति की उन्नति चरम सीमा को पहुँचने लगी और उसी के विपरीत हम देखते हैं कि राजनीतिक बन्धन न होने से बहुत जल्द हमारी जाति तीन तेरह हो गई।"[1]

भट्ट जी ऐसे धर्म को दूर से ही प्रणाम करने को तैयार थे जो केवल छुआछूत में सिमटकर रह गया हो या बाह्याडम्बर तथा पाखंड ही जिसकी परिधि हों—

"गाज पड़े ऐसे धर्म पर और ऐसी समझ में, ऐसे भगोड़े धर्म को हम कबलों बाँधकर जकड़बन्द किए रहेंगे जो जरा-जरा में जी छोड़ भाग जाता है। बर्फ पी लिया धर्म गया, बाजार की मिठाई दाँत तले दाबा धर्म धूर में मिल गया; दूसरे के लोटे में पानी पी लिया भ्रष्ट हो गए। वेश्या-संसर्ग-दूषित हो धर्म कुन्दन सा झलकता रहेगा, दासीगमन करते रहो धर्म कभी न बिगड़ेगा; पुरुष मैथुन में कमाल रखते हो धर्म में कभी न फर्क पड़े; बेईमानी, फरेब, जालसाजी, झूठ बोलना इसमें तो धर्म का कुछ जिकर ही नहीं है।"[2]

भट्ट जी देशभक्त साहित्यिक थे इसलिए राजनीति और साहित्य के संदर्भ में पृथक्करण की नीति उनकी समझ में नहीं आती थी। ऐसे निर्दोष-साहित्य-सृजन के कौशल से वे परिचित नहीं थे जो राजनीति का स्पर्श भी न करे और न ऐसा कोई नुस्खा ही उन्हें ज्ञात था

१ 'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल १८८० पृ० २
२—'हिन्दी प्रदीप', जनवरी १८८७, पृ० ५

१—'हिन्दी प्रदीप' जनवरी १८८७ पृ० ६
२— वही अगस्त १८८१, पृ० ४

जो राजभक्ति और देशभक्ति को एक बोतल में बन्द करके रख सके। दो मूलत: विरोधी वस्तुओं के साहित्यिक समन्वय का शौक भी भट्ट जी को कभी नहीं रहा। उनके युग में विशेष रूप से राजभक्ति और देशभक्ति के समन्वय की कठिन साधना चल रही थी। बड़े-बड़े तथाकथित साहित्यकार इस प्रयोग की सफलता से जनता की आँखों में धूल झोंकना चाहते थे। ऐसे कोमल कण्ठ स्वरों के बीच भट्ट जी का परुष पुरुषोचित स्वर अलग ही सुनाई देता है—

"हमारा कथन है कि राजभक्ति और प्रजाहित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है। जैसे हंसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक संग नहीं हो सकता ऐसा ही यह भी असम्भव और दुर्घट है।·····राजभक्ति का फल निस्संदेह पहले देखने में बड़ा मीठा है पर परिणाम में महादम्भकारी और रूखा है। इसे बहुत खाते-खाते मनुष्य क्षीण वीर्य, क्षीण स्वत्व और क्षीण तेज हो जाता है। रग-रग और रोम रोम में दास्यभाव कलर्क अर्थात् कुत्ते के विष समान ऐसा असर कर जाता है कि जिसके दूर करने की कितनी ही तदवीर हो कुछ कारगर नहीं होती।"[१]

भट्ट जी की आलोचना के मूल में उनका ऐतिहासिक विकासवाद का सिद्धान्त है जिसके आधार पर उन्होंने सम्भवत: प्रथम बार वैदिक साहित्य की इतिहास परक यथार्थ आलोचना की है। मनुष्य जाति के अनूठेपन पर ऐतिहासिक-विकास-क्रम के आधार पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—

"जब हमारा प्रश्न ही मनुष्य व्यक्ति के जाति का अनूठापन नितान्त ऐतिहासिक है तो इसलिए जहाँ इतिहास हमको सहारा न देगा वहाँ निश्चय हमको ठहर जाना पड़ेगा।"[२]

वेदों के सम्बन्ध में सभी परम्परागत—शुद्ध विश्वास पर आधारित श्रद्धावादी मान्यताओं का खण्डन करते हुए भट्ट जी ने जो इतिहास, मनोविज्ञान तथा युग-सम्मत एक नवीन समीक्षा प्रस्तुत की है वह हिन्दी आलोचना में नवीन दिशाओं के उद्घाटन का श्रीगणेश करती है।

भट्ट जी साहित्य को जीवन से पृथक कर विचारने की कल्पना भी नहीं कर सकते। उनके मत से तो साहित्य में सदैव जीवन प्रतिबिम्बित रहता है। भारत के प्राचीनतम साहित्य वेद की समीक्षा भी वे इसी आधार पर करते हुए कहते हैं—

"हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद हैं। उस समय आर्यों की शैशवावस्था थी। बालकों के समान जिनका भाव, भोलापन, उदारभाव, निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं, वेद जिनके हृदय की भाषा थी वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य के समान समाज के आभ्यन्तरीय भेद, वर्ण, विवेक आदि के झगड़े में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह तरह की चिन्ता में नहीं पड़े थे। कणाद या कपिल के समान अपने शास्त्र के मूलभूत बीज सूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों की तत्व की छान में दिन रात नहीं डूबे रहते थे, न कालिदास आदि कवि सम्प्रदायानुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम विलास और लावण्य लीला लहरी में गोते मार-मार प्रमत्त हुए थे। प्रात:काल उदितोन्मुख सूर्य की प्रतिमा देख उनके सीधे सादे जी ने बिना कुछ विशेष छानबीन किए इसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ और इसके द्वारा अनेक प्रकार का लाभ देख कानन स्थित विहंग कूजन समान कलकल रव से प्रकृति के प्रभात वन्दना का साम गाने लगे। जलभार पूर्ण श्यामला मेघमाला का नवीन सौंदर्य देख पुलकित गात्र हो कृतज्ञता उपहार स्तोत्र का पाठ करने लगे। वायु जब प्रवल वेग से बहने लगा तो उसे भी एक शक्ति समझ उसके शान्त करने को वायु की स्तुति करने लगे। वे ही सब ऋक् और साम के सूक्त हो गए।"[१]

हिन्दी साहित्य में भट्ट जी प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने वेदान्त के मायावाद का विरोध किया है,

१—'हिन्दी प्रदीप', दिसम्बर १८८२, पृ० १-३

२—'हिन्दी प्रदीप' जनवरी १८८७, पृ० ३

१—'हिन्दी प्रदीप' जुलाई १८८१, पृ० १६-१७

जिन्होंने वेद को ज्ञान का विकसिततम रूप नहीं माना है और जिन्होंने वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वेद अपौरुषेय साहित्य नहीं है। वेदों के साथ अलौकिकता का सम्बन्ध न जोड़कर उसकी लौकिकता—जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध—पर प्रकाश डाला है।

"मनुष्य मात्र का यह सामान्य धर्म है कि जब वह किसी वस्तु को जानना चाहता है या किसी वस्तु की खोज करता है तो पहले उन्हीं वस्तुओं में उसकी खोज करता है जो सामने देख पड़ती हैं, तब दूर की चीजों में खोजता है। इसलिए लोगों ने जब पहले कोई आश्चर्य वस्तु, अर्थात् जिसका कारण वे नहीं समझ सके देखी तो उसे ईश्वर मान लिया। वेदों में इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि जो देवता माने गए हैं उसका यही कारण है कि वे सब मनुष्यों के प्रथम अनुमान तथा कल्पना के फल हैं। वेद में सबसे परम उपास्यदेव सविता लिखे हैं जो सूर्य का एक नाम है। इसका कारण भी यही है कि पृथ्वी पर सबसे बढ़कर आश्चर्य की वस्तु सूर्य है जो नित्य नित्य हमारे दृष्टिगोचर होता है और प्रकाश में भी उसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इससे पहले सोचने वालों ने इसी को ईश्वर और जगत का कारण मान लिया। इसी तरह जल, वायु, अग्नि, औषधि और विद्युत् आदि को भी ईश्वर कल्पना कर लिया। इसीलिए वेद के अनेक भागों में इन सबों के नाम का उल्लेख बार बार किया गया है। कमश: ज्यों ज्यों लोगों की बुद्धि सोचते सोचते मंजती गई वे सूर्य आदि को भी जड़ और भौतिक पदार्थ समझने लगे।"[1]

सम्भवत: हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रथम बार भट्ट जी ने अपने 'वेद क्या है?' शीर्षक लेख में एक युगान्तरकारी घोषणा की—

"सिद्ध हुआ कि वेद मनुष्य रचित हैं।"[2]

हिन्दू समाज के एक बड़े वर्ग ने भट्ट जी को उनकी इस प्रकार की रूढ़ि विरोधी विचारधारा के कारण

१—'हिन्दी प्रदीप' मार्च १८८०, पृ० १८
२— वही वही वही पृ० १८

'क्रिस्तान' और 'नास्तिक' आदि न जाने क्या-क्या उपाधियाँ दीं परन्तु उन्होंने कभी इस प्रकार की प्रतिक्रिया की चिन्ता नहीं की।

भट्टजी इस परम्परागत कथन में बिलकुल भी विश्वास नहीं रखते कि वेद ज्ञान का, काव्य का विकसिततम रूप है और उनके बाद के साहित्य में सभी बातों का ह्रास हुआ है। भट्टजी सृष्टि को, साहित्य को, मानवजीवन को, किसी को भी ह्रासोन्मुख नहीं मानते। वे सभी के सतत विकास में विश्वास रखते हैं। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भट्ट जी विकासवाद के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं और प्रत्येक वस्तु के ऐतिहासिक विकास क्रम को ही अधिक महत्व देते हैं। उपनिषदों का सृजन वेदों के बहुत बाद हुआ तो भट्ट जी उन्हें वेदों से अधिक संस्कृत, महत्वपूर्ण और क्रमिक विकास का प्रतीक मानते हैं—

"उपरान्त और और सोचने वाले ऋषियों ने उपनिषद् और ब्राह्मण बनाए वे सब यद्यपि वेद नहीं हैं पर वेद से बढ़कर पदार्थों का वर्णन उनमें है। इन सबों ने वेद के बहुत से भद्दे पन को संभाला।"[1]

एक बार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'खुशी' पर एक लेख लिखा और उसमें उन्होंने 'खुशी' के भौतिक पक्ष पर प्रकाश डाला और लौकिक 'खुशी' को उचित महत्ता प्रदान की। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने भारतेन्दु की दी हुई खुशी की परिभाषा की कटु आलोचना की और 'खुशी' को अपनी आध्यात्मवादी परिभाषा दी। भट्ट जी ने राजा शिवप्रसाद के इस आक्षेप, खंडन और आलोचना का अपने एक लेख में बड़ा ही तर्कसंगत उत्तर दिया है जो उनकी आलोचना सम्बन्धी मूलभूत मान्यताओं पर उचित प्रकाश डालता है—

"१८ जून की काशी पत्रिका में राजा शिवप्रसाद का खुशी पर एक लेक्चर छपा है जिसमें उक्त राजा साहब ने खुश गुफ्तारी और गोपाई की खूब ही टाँग तोड़ी है। पहले इन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र के 'खुशी' के डेफीनेशन का खण्डन किया है फिर अपनी निज की

१—'हिन्दीप्रदीप' फरबरी १९०८ पृ० १८

निराली तान गा चले हैं जिसमें अन्त को वेदान्तियों के पुराने सिद्धान्त पर आरूढ़ हो सच्ची खुशी को कुटी जंगल गुफा, पहाड़ में ढूंढ़ना सिद्ध किया है। हमें कैसे निश्चय हो कि राजा साहब से जाहिरदार और अपने मतलब के पूरे दोस्त, बुढ़ापे में इस सिद्धान्त पर जी से आरूढ़ हुए हैं। इन दिनों इनका इस सिद्धान्त को पुष्ट करना खाली इल्लत नहीं है इसमें भी कुछ मतलब होगा। जो हो इस राय की ताईद से तो हमारा बिलकुल नुकसान है बल्कि यह कहना चाहिए कि हिन्दुस्तान की अवनति का बाइस इसी तालीम की ताईद हुई क्योंकि हमारे पुराने लोगों में जिन्हें कुछ भी अकिल हुई संसार को दुःख का आगार और झूठा समझ जंगल पहाड़ों में जाय सच्ची खुशी के ढूंढ़ने में माथा मारने लगे। अनेक प्रकार के साइन्स और आर्ट को जिसके बल योरोप वाले आप आदमी बनते हैं और हमें जानवर बना रहे हैं कौन बढ़ाता या प्रचलित करता। सच्ची खुशी स्वदेशानुराग की है। जिसमें अपने मुल्क या मुल्क की बहबूदी के लिये कभी कोई एक कतरा खून भी बहाया या अपने निज के फाइदे से बरतरफ हो सर्व साधारण के हित या बेहतरी के लिए यावज्जीवन यत्न करता रहा बल्कि इसी धुन में जान माल सबसे हाथ धो बैठा उसी को सच्ची खुशी हासिल है न कि राजा साहब सा खुशामदी जो अपने स्वार्थ के लिए बस चले तो देश भर को उलट दें।"[1]

भारतेन्दु मण्डल के सभी साहित्यकार यों तो महान देश भक्त थे पर उन सबमें भट्ट जी की राजनीतिक समझ अधिक गहरी, स्पष्ट और यथार्थ थी। भट्ट जी भारत की तत्कालीन दुर्दशा के मूल में नैतिक मानों के ह्रास को उत्तरदायी नहीं मानते थे अपितु आर्थिक शोषण और पराधीनता को ही वे इसका मूल कारण समझते थे। अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वे एक स्थान पर भारत की अवनति के लिये अंग्रेजी शासन को दोषी घोषित करते हुए कहते हैं—

"हम क्यों न कहें हमारे बापदादा भली भाँति रंजे पुंजे थे और हम इस अंग्रेजी राज्य में पेट भर अन्न भी नहीं पाते। यह बात हमारे शासन-कर्त्ताओं को प्यारी न लगती हो तो क्या किया जाय। जो बात सच है वह कही जायगी कि अवश्य यह सब इनके शासन प्रबन्ध का दोष है।"

१—'हिन्दी प्रदीप' जुलाई १८८० पृ० १६-२०

भट्ट जी इस रहस्य से पूर्णतः अवगत थे कि पश्चिम के वैभव के दो ही कारण हैं। १—व्यापार, २—अविकसित देशों का अबाध शोषण। एक लेख में भट्ट जी अत्यन्त स्पष्टता के साथ इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं—

"सच पूछिए तो इस चिउंटा ढोवन पर भी न जानिए कितना रुपया भिन्न-भिन्न द्वार से प्रतिवर्ष विलायत ढोआ चला जाता है। फिर भी हमारे यहाँ की धरती की उपजाऊ शक्ति के आगे वह नुकसान मालूम नहीं पड़ता। सच तो यों है कि इङ्गलैंड आदि बहुतेरे देश ऐसे हैं जो केवल अपने अपरिमित वाणिज्य ही के कारण रंजे पुंजे हैं और वहाँ के रहने वाले लाल गुलाब बन रहे हैं। यदि उनकी जहाजें समुद्र में चलना बन्द कर दी जाएं अथवा हिन्दुस्तान के साथ उनका लेनदेन किसी कारण वश रुक रहे तो निश्चय जानिए लोग भूखों मरने लगें।"[1]

अंग्रेज विभिन्न प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रणालियों द्वारा भारत का धन खींच रहे थे और इस धन का उपयोग वे किस प्रकार करते थे भट्ट जी इस रहस्य से भी अपरिचित नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजों की इस रीति नीति का सदैव खुलकर विरोध किया। यद्यपि वह विरोध उस काल में कितना मंहगा पड़ सकता था उसकी ठीक-ठीक कल्पना करना भी आज सम्भव नहीं है। भट्ट जी अंग्रेजों के इस अबाध शोषण का रहस्योद्घाटन करते हुए लिखते हैं—

"इङ्गलैंड हिन्दुस्तान से पचास गुना अधिक धनी है। वहाँ भी सेना का इतना खर्च नहीं होता जितना यहाँ होता है। क्यों नहीं देशी लोगों को सेना की अफसरी दी जाती? यहाँ के लोगों को यदि अफसरी दी जाती तो

१—'हिन्दी प्रदीप', नवम्बर १८८५ पृ० २०

क्या विलायत से बड़ी बड़ी तलब लेकर साहब लोगों के बुलाने की जरूरत होती ? क्यों प्रतिवर्ष गवर्नमेंट दार्जलिंग, शिमला और नैनीताल गर्मियों में जाया करती है ? हाईकोर्ट के जज यहाँ की गर्मी सह सकते हैं तो क्या लेफ्टीनेन्ट और गवर्नर जनरल नहीं सह सकते ? कमिश्नरी के ओहदे पर जब तक रहे तब तक गर्मी जाड़ा सब कुछ सहते रहे। बोर्ड के मैम्बर होते ही मिजाज बदल जाता है। बिना नैनीताल की ठण्डी हवा का मजा उठाए दिमाग साफ रहता ही नहीं। ऐसी ऐसी अनीति देख हम भी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि भूखों के हाथ की रोटी छीन, दुखियों के तन का वस्त्र उतार, लोगों के प्राण का रुधिर चूस सरकार रुपया उगाहेगी और उस रुपये से इङ्गलैंड की प्रबल जठराग्नि को आहुति देगी। उस रुपये से अंग्रेज सिविलियनों और सिपाहियों को शराब पिलाई जायगी। उस रुपये से हथियार खरीद सरकार अमीर काबुल को देगी कि अवसर पाय उसीसे हमारा और अंग्रेजों का गला भी काटा जाय। उसी रुपये से ब्रह्मा के राजा को गद्दी से उतार ब्रह्मा की निर्दोष प्रजा को सदा के लिए गुलाम बनावेगी। उसी रुपये से सिविलियनों को नैनीताल और शिमले की तरावट के मजे में मस्त करेगी। उस रुपये से विलायत के स्वार्थ परायण लोभी कारीगरों का और सौदागरों का रोजगार बढ़ावेगी और साथ ही हम लोगों को बड़े कोमल मीठे और कृत्रिम उदार वचनों से फुसलावेगी कि तुम हमको प्राणों से भी अधिक प्यारे हो। तुम्हारे उपकार के लिए, तुम्हारे ही सुख के लिए हम अपने सुखमय शीतल देश को छोड़कर यहाँ की भयानक लू सहते हैं। तुम्हारे सुख के चिन्तन में हमको रात रात नींद नहीं आती। बेटा हो, मुन्ना हो। यदि तुम्हारा हथियार ले लिया तो तुम्हारे ही उपकार के लिए। जो हम तुम्हें ऊँचे ऊँचे ओहदे नहीं देते सो तुम्हारी ही भलाई के लिए। तुमको क्लीव किये देते हैं सो तुम्हारे ही उपकार के लिये।"[१]

किन्तु भट्ट जी अंग्रेजों को स्पष्ट शब्दों में सावधान कर देते हैं कि यह धोखा अधिक दिन नहीं चलेगा अब हमारी आँखें खुल गई हैं—

"पर अब हम दूधमुख बालक नहीं हैं।XX हित अनहित हम को भी सूझता है। बुरा भला हम भी समझते हैं।"[१]

भट्ट जी के प्रगतिशील विचारों की यह पृष्ठभूमि है। इससे भट्ट जी के आलोचक रूप को समझने में अत्यधिक सहायता मिलती है। भट्ट जी के आलोचक रूप को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए उनके साहित्य सम्बन्धी विचारों को—भाषा तथा साहित्य—दो शीर्षकों में विभाजित करके विवेचन करना अधिक समीचीन होगा।

हमारे आज के साहित्य की भाषा कैसी हो यह अब तक अत्यन्त विवाद का विषय बना हुआ है। आज के उदार से उदार आलोचक साहित्य और जीवन की अधिकतम निकटता अत्यन्त वाँछनीय मानते हुए भी स्वयं किसी आदर्श भाषा शैली का उदाहरण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। इस दृष्टि से विचारधारा तथा अभिव्यक्ति-शैली दोनों दृष्टियों से भट्ट जी आज भी अनुकरणीय हैं। वे जहाँ यह स्वीकार करते हैं कि बोलचाल और साहित्य की भाषा में अन्तर अनावश्यक है वहाँ स्वयं कैसी आदर्श भाषा का उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। भाषा के शुद्धिवादी आन्दोलन से उन्हें चिढ़ है। भाषा की शुद्धिवादी सीमायें भाषा के सतत विकासमान शरीर पर लौह शृङ्खला जैसी हैं। भाषाओं के अबाध पारस्परिक सम्मिश्रण के वे समर्थक हैं और इसे भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के लिए वरदान स्वरूप समझते हैं।

अपने एक निबन्ध में भाषा के आदर्श स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए भट्ट जी लिखते हैं—

"यह अवश्य है कि यवन सम्पर्क से बहुत से अरबी फारसी के शब्द हमारी हिन्दी के साथ ऐसे सम्मिलित होगये हैं कि घरेलू बातचीत में भी उनका प्रयोग किया जाता है; जरूर, गरूर, मजूर, गरीब, फकीर, अमीर

१—'हिन्दी प्रदीप' मार्च १८८६, पृ० ७-८

१—'हिन्दी प्रदीप' मार्च १८८६ पृ० ९

मुसाफिर इत्यादि। यदि ये शब्द संस्कृत के अपभ्रंश शुद्ध हिन्दी शब्दों के साथ लगाये जायं तो असंगत न मालूम होंगे, जैसे 'बहुत जरूरत' इसमें 'बहुत' संस्कृत 'बहुल' का अपभ्रंश है। 'जरूर' जो विदेशी शब्द है उसके साथ सर्वथा जोड़ खाता है। बहुत से लोगों का मत है कि हम लिखने पढ़ने की भाषा से यवनिक शब्दों को बीन बीन कर अलग करते रहें। कलकत्ता और बम्बई के कुछ पत्र ऐसा करने का यत्न भी कर रहे हैं, किन्तु ऐसा करने से हमारी हिन्दी बढ़ेगी नहीं, वरन् दिन-दिन संकुचित होती जायगी। भाषा के विस्तार का सदा यह क्रम रहा है कि किसी भी देश के शब्दों को हम अपनी भाषा में मिलाते जायँ और उसे अपना करते रहें। अरबी फ़ारसी की कौन कहे अब तो अंग्रेजी के अनेक शब्द हमारी हिन्दी के एक अंग होते जा रहे हैं। जैसे, लालटेन, बोतल, पालिसी, स्टेशन, फैशन, जज, टिकट आदि। ये सब शब्द अपने शुद्ध रूप से बिगड़ अपभ्रंश हो हमारे होगये हैं।"१

भाषा जनता की सम्पत्ति है। कुछ थोड़े से आदमियों को यह अधिकार नहीं है कि वे उसके सहज-स्वाभाविक सौन्दर्य को बिगाड़ कर उसे कृत्रिम रूप देने का प्रयत्न करें। भट्टजी अपने 'भाषाओं का परिवर्तन' नामक निबंध में मनुष्य और भाषा के सम्बन्ध की घनिष्टता स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :—

"सृष्टि के चेतन पदार्थों का जो नियम है कि वे कभी एकसा नहीं रहते वरन् दिन प्रतिदिन परिवर्त्तन की सान पर चढ़ते ही जाते हैं। यह नियम भाषा के सम्बन्ध में बहुत पूरी रीति पर लगता है क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि रुधिर और अस्थि मनुष्य के शरीर से उतना निकट सम्बन्ध नहीं रखते जितना उनकी भाषा रखती है और इसी कारण बड़े से बड़े पण्डित के आगे कोई अशुद्ध संस्कृत शब्द बोलिये तो वह इतना न खटकेगा जितना एक सामान्य से सामान्य बेमुहाबरा हिन्दी शब्द कान को चोट पहुँचावेगा क्योंकि अब संस्कृत बोलचाल की भाषा न रह गई। विचार कर देखिए तो जो हिन्दी हम आजकल बोलते हैं वह पहले क्या थी और अब क्या है? अब फारसी उर्दू शब्द इसमें मिलते जाते हैं क्योंकि जब आपके बड़े बड़े प्रामाणिक हिन्दी कवियों ने अरबी फारसी के शब्द ग्रहण किये तो हमारे और आपके निकाले वे सब शब्द जो हमारी भाषा की नस-नस में अन्त: प्रविष्ट से हो रहे हैं क्यों कर निकल सकते हैं बल्कि इसमें विरुद्धता दिखलाना वैसा ही है जैसा किसी वेगगामिनी नदी के प्रवाह को अकेले एक हाथ से रोककर उलट देने का यत्न करना। जिस तरह के शब्द सर्व-साधारण अपनी भाषा में प्रचलित कर लेते हैं या जिस तरह के शब्द अपनी नित्य की बोलचाल से लोग निकाल कर फेंक देते हैं उस पर आपको कुछ भी अधिकार नहीं है।"१

भट्टजी यद्यपि संस्कृत भाषा और साहित्य के निष्णात् विद्वान् थे पर उन्हें अत्यधिक संस्कृत-गर्भित हिन्दी पसन्द नहीं थी। भट्ट जी ग्रामीणों की भाषा को अधिक सजीव, प्रवाह पूर्ण और स्वाभाविक मानते हैं क्योंकि उसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और इसकी तुलना में वे संस्कृत-शब्द-भार से पीड़ित हिन्दी को कृत्रिम, प्रवाहहीन और निर्जीव मानते हैं :—

"जहाँ ग्रामीण जन दिन भर की गाढ़ी मेहनत के उपरान्त एक स्थान में बैठ प्रमोद सूचक बातचीत करते हैं वहाँ अब भी नागरी के अपरिष्कृत शब्दों का अधिकतर व्यवहार दिखलाई पड़ेगा। सच है जिस पत्थर को म्यामारं ने रद्दी समझ कर फेंक दिया वही कोने का सिरा हुआ। वह भाषा जो ग्राम वाले बोलते हैं यद्यपि परिष्कृत न हो तो भी शुद्ध हिन्दी कहलाई जायगी। कवि मण्डली बराबर इस पवित्र भाषा का आदर करती आई है। इस भाषा में १०० में ९० शब्द संस्कृत के अपभ्रंश हैं। हमारे कवियों को अपभ्रंश जितने सुहावने अपनी कविता के लिये मालूम हुए उतने शुद्ध संस्कृत नहीं। पुराने कवि और आधुनिक कविता के तुक जोड़ने वालों में यही बड़ा अन्तर है कि तुकबन्दी वाले संस्कृत का प्रयोग अपनी रचना में जितना अधिक करते हैं उतना

१ 'मर्यादा', सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३०

१ 'हिन्दी प्रदीप' जून १८८५, पृ० ३–४

हिन्दी का नहीं।"१

भट्ट जी का विचार है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार से भाषा बड़ी कृत्रिम निर्जीव और नीरस हो जाती है। वे हिन्दी के मुहावरों तथा कहावतों को अत्यधिक महत्व देते हैं। भट्टजी के इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा साक्षी उनका साहित्य ही है। अपने 'भाषाओं का परिवर्तन' नामक निबंध में वे मुहावरों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :—

"इसके मानने में किसको इङ्कार होगा कि हर एक भाषा के ढंग निराले ही हैं। दो भाषा व्याकरण की रीति पर कुछ कुछ मिलती भी हों परन्तु वे चीजें जिनको मुहावरे कहते हैं कभी नहीं मिल सकते और ये मुहावरे ही हर एक भाषा की जान हैं।"२

भट्टजी साहित्य में गतिशीलता के समर्थक हैं। वे साहित्य के लिये कोई लौहढाँचा स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं। जब जीवन और साहित्य अभिन्न हैं तो ऐसा कैसे हो सकता है कि जीवन में तो परिवर्तन हो और साहित्य में न हो। साहित्यशास्त्र सम्बन्धी नियम जब साहित्य के इस परिवर्तन को रोकने लगते हैं तो साहित्य निर्जीव और अनुपयोगी हो जाता है। रीतिबद्ध साहित्य इन्हीं बन्धनों से जकड़ा हुआ है इसलिये उसमें जीवन का अभाव है। इस प्रकार के साहित्य का विरोध करते हुए भट्ट जी लिखते हैं—

"हिन्दी कवि भी उन्हीं पुराने कवियों की शैली का अनुसरण कर आज तक चले आए हैं और इस ढंग को छोड़ कोई दूसरे प्रकार की कविता भी हो सकती है यह बात उनके मन में धंसती ही नहीं जिसकी उपमा हम एक छोटे से तालाब की देंगे जिसमें न कहीं से पानी का निकास है न नया ताजा पानी उसमें आने की कोई आशा है। तब इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उसका पानी दिन दिन सड़ता ही जाय और गन्दगी बढ़ती जाय, क्योंकि नियम बद्ध हो जाने से गिनी-गिनी बातें उनके लिये बच रहीं। बार-बार उन्हीं का पिष्टपेषण किया करें। प्राय: तो नायक-नायिका के एक-एक अंग का नखशिख वर्णन उनकी सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का ओर छोर आ लगा है। बहुत बढ़े षटऋतु के वर्णन में जा फंसे। बसन्त हुआ तो वही सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने ढंग पर गा जाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर और नई बात लावें कहाँ से? पावस को कहने लगे तो मोर दादुर की टर टर वियोगिनी नायिका की स्मरदशा आदि इनी गिनी दस पाँच बातें हैं जिस पर कविता की अधिष्ठातृ देवी को सैकड़ों वर्षो से घसीट जीर्ण कलेवर कर डाला।"१

भाषा की प्रगति के प्रकरण में भट्ट जी व्याकरण को अधिक महत्व देने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विचार है कि संस्कृत भाषा के व्याकरण ने भी कोई उसका अधिक हित साधन नहीं किया। वे लिखते हैं :—

"अभेद्य दुर्ग सदृश्य पाणिनि के व्याकरण के आगे हिन्दी का व्याकरण छोटी सी फूँस की झोंपड़ी है। यह तो प्रगट है कि अब हमें उतने ही बड़े व्याकरण की आवश्यकता नहीं रह गई। एक वह समय था कि अनेक जंजालों से भरे हुए पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि के सूत्र वार्तिक भाष्य में एक मात्रा का ही हेर फेर हो जाने पर एक बड़ी भारी इमारत को ढाह कर फिर से खड़ी करना था। और इसी का परिणाम यह हुआ कि हमारे यहाँ का व्याकरण ऐसा झंझट से भरा हुआ शास्त्र होगया जैसा पृथ्वी के किसी कोने में न हुआ होगा। सच पूछिए तो दो गाड़ी के बोझ की पुस्तकें 'शेखर मंजूषा', 'कैयट' आदि बड़े बड़े जगड्वाल जो रचे गए उनमें और है क्या? सिवा इसके कि कीचड़ में पांव बोर फिर धोओ। एक बड़े यत्न और प्रयास से एक बने बनाए सुन्दर मनोहर महल को तोड़ फोड़ छिन्न-भिन्न कर पीछे पछताय फिर उसी को बनाया है। इन्हीं विफल चेष्टाओं में व्याकरण इतना बड़ा शास्त्र हो गया। जिसमें नवीन और प्राचीन का झगड़ा पढ़ते पढ़ते उमर की उमर बीत जाती है, कोरे के कोरे मूर्ख रह जाते हैं। ऐसी सरल भाषा हिन्दी में इस सब खटपट का अब कुछ काम ही

---

१ 'मर्यादा', सितम्बर १९११, पृ० २२४-२३०

२ 'हिन्दी प्रदीप', जून १८८५, पृ० १-३

१ 'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर १८८६, पृ० १४

न रह गया।"[1]

भट्ट जी ने साहित्यिक कृतियों पर आधुनिक ढंग की आलोचना अधिक नहीं की फिर भी इस ढंग पर लिखी उनकी तीन प्रसिद्ध आलोचनायें उपलब्ध हैं—'नीलदेवी' पर, 'परीक्षागुरु' तथा 'संयोगता स्वयंवर' पर। इन तीनों में संयोगता स्वयंवर पर लिखी उनकी आलोचना का ऐतिहासिक महत्व भी है और साहित्यिक भी। भट्ट जी की यह आलोचना बड़ी ही व्यंग्यपूर्ण, यथार्थ और अत्याधुनिक ढंग की है। एक उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी। लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगता स्वयंवर' नामक नाटक की भट्टजी द्वारा की गई आलोचना का नाटकीय प्रारंभ देखिए :–

"लाला जी यदि बुरा न मानिए तो एक बात आपसे धीरे से पूछें कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे? क्या किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक होगया? और यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दास्तानगी और नाटक के ढङ्ग में कुछ भी भेद न रहा। किसी समय के लोगों की क्या दशा थी, उनके आभ्यन्तरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात् उस समय मात्र के भाव (स्प्रिट आफ दी टाइम्स) क्या थे? इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उनके दरसाने का भी यत्न नाटकों द्वारा कीजिए। केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र क्या वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते, बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक पात्रों को नीरस और रूखे से रूखे अर्थान्तरन्यास गढ़ने की कल कहें तो अनुचित न होगा।"[1]

उक्त नाटक में पात्रों के चरित्र की अस्वाभाविकता पर व्यंग्य करते हुए भट्ट जी आगे लिखते हैं—

"आपके नाटक में राजा, मंत्री, कवि यहाँ तक कि संयोगता बेचारी भी अपना पाण्डित्य प्रकाश करने के यत्न में हैरान हो रहे हैं। भला बताइए यह कौनसा ढंग भावों के दरसाने का है? कविता के मीठे रस के बदले नैयायिकों के सदृश कोरा तर्क बितर्क करना भाव का गला ही घोंटना है कि और कुछ? पृथ्वीराज संयोगता से क्यों अलग हुआ, क्योंकि नीति शास्त्र में लिखा है; (पृ० ५३) राजा जैचन्द और पृथ्वीराज में क्यों मेल मिलाप हो गया, केवल इसी कारण से कि अंत को पछता के किसी तरह जयचन्द के मन में महाभारत के घोर युद्ध का कारण धंस गया (पृ० ६२) अहा! हा! तनिक और जल्दी फंस जाते तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पड़ता।"[2]

पूरी आलोचना ऐसी ही व्यंग्य पूर्ण, सजीव और विश्लेषण पूर्ण है।

भट्ट जी हिन्दी आलोचना के जन्मदाता माने जाते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनका दृष्टिकोण कितना यथार्थ, संतुलित और वैज्ञानिक है। भट्ट जी का हिन्दी आलोचना के इतिहास में ऐतिहासिक महत्व ही नहीं है अपितु विश्लेषण की प्रौढ़ता, शैली के प्रवाह और भाषा पर असाधारण अधिकार के कारण उनकी साहित्यिक उपलब्धियाँ भी आश्चर्य-जनक हैं।

---

१ 'हिन्दी प्रदीप' जून १८८५, पृ० ६-७

१ 'हिन्दी प्रदीप', अप्रैल १८८६, पृ० १७

२ वही , वही वही, वही

भाषा-सम्बन्धी एक नई खोज

पं॰ किशोरीदास वाजपेयी

हमारे देश की—हिन्द की—जो स्थिति है, हिन्दी उससे अलग नहीं है। संसार का ज्ञान-विज्ञान कहाँ से कहाँ पहुँच गया है, पर हम अभी अपनी भाषा ही नहीं समझ पाए हैं। हाँ, दर्प बहुत बड़ा है। "हम 'को' 'ने' आदि को 'विभक्ति' नहीं, 'परसर्ग' कहते हैं।" अच्छी बात है, कहिए। क्या हर्ज है ? परन्तु जानते क्या हैं, सो भी तो देखिए ! 'अन्तरङ्ग', 'वहिरङ्ग', 'परसर्ग' जैसे शब्दों का आडम्बर कुछ काम न देगा, यदि तत्त्व नहीं ! यहाँ हम भाषा-सम्बन्धी एक नई खोज की चर्चा करेंगे, जो व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान के लिए अत्यन्त महत्त्व की चीज है। आश्चर्य है कि इतनी बड़ी आबादी का यह देश, इतने दिन तक उस चीज को समझ न पाया, जो बहुत स्पष्ट है, सदा आँखों के सामने जो रहती है ! 'किमाश्चर्यमत: परम्' ! वह प्रकट-गुप्त रहस्यमय चीज है—

हिन्दी की सम्बन्ध-विभक्तियाँ—**के, रे, ने,**

इन तीन सम्बन्ध—विभक्तियों की अभी हाल में ही मैंने खोज की है। सदा सामने हैं, फिर भी खोज में मिली हैं ! 'का, के, की,' को लोग हिन्दी की सम्बन्ध-विभक्तियाँ समझा करते हैं और इसी तरह रा, रे, री, तथा ना, ने, नी को भी। राम का, राम के, राम की—तेरा, तेरे, तेरी और अपना, अपने, अपनी—इन पदों में 'का, रा, ना' विभक्तियाँ हैं, ऐसा लोग समझते थे और अब भी समझते हैं, वे लोग, जिन्होंने मेरी चीजें नहीं पढ़ी हैं। पहले मैं भी 'का, के, की' आदि को विभक्ति ही समझा करता था। परन्तु मन में उलझन रहती थी कि 'ने' 'को' 'में' आदि विभक्तियाँ तो सदा एक रूप रहती हैं, कभी बदलती नहीं हैं; पर ये 'का, के, की' क्यों रूप बदलती हैं ! सन् १९१९ से उलझन में पड़ा। १९२१ में 'गुरु' जी का 'हिन्दी-व्याकरण' प्रकाशित हुआ। बड़ी धूम थी। उसे देखा, तो न जाने कितनी और नई उलझनें पैदा हो गईं। धीरे-धीरे सब सुलझा लीं। हिन्दी को नया व्याकरण दिया; परन्तु यह समझ में अभी हाल में ही आया है कि हिन्दी की सम्बन्ध विभक्तियाँ हैं—के, रे, ने। का, के, की, आदि विभक्ति नहीं, तद्धितीय सम्बन्ध-प्रत्यय हैं, यह बात बहुत पहले मेरी समझ में आ गई थी और उसी समय मैंने प्रकट भी कर दी थी। अब सम्बन्ध-विभक्तियाँ सामने आई हैं। इन्हीं की चर्चा करनी है।

परन्तु मेरी पुस्तकें तो पठन-पाठन में आ नहीं पातीं; 'पाठ्य' नहीं बनतीं। कहानी-उपन्यास हैं नहीं कि स्वत: फैल जाएं। सो, 'समालोचक' के अधिकांश सुधी पाठक भी बात पूरी न समझ पाएंगे, यदि पूर्व-पीठिका के रूप में 'का के, की' आदि को चर्चा न कर दी जाए।

का, के, की आदि विभक्तियाँ नहीं है।

ये तद्धितीय सम्बन्ध-प्रत्यय हैं; क्योंकि रूप इनके बदलते हैं—भेद्य के अनुसार इनमें लिङ्ग-वचन बदलते हैं। विभक्ति सदा एक-रूप रहती है। संस्कृत में सम्बन्ध विभक्ति देखिए—

१—**भारतस्य** पुरुष : (भारत का पुरुष)

२—**भारतस्य** पुरुषा : (भारत के पुरुष)

३—**भारतस्य** विद्या (भारत की विद्या)

सर्वत्र 'भारतस्य' है ; परन्तु हिन्दी में 'भारत का' 'भारत के', 'भारत की' रूप-भेद हैं। संस्कृत तद्धित-प्रत्यय से भी वही बात कही जा सकती है—

१—भारतीय: पुरुष: (भारत का पुरुष)

२—भारतीया: पुरुषा: (भारत के पुरुष)

३—भारतीया विद्या (भारत की विद्या)

स्पष्ट ही ('का' 'के' 'की' की तरह) 'ईय:' 'ईया:' 'ईया' रूप से स्वरूप-भेद है। हिन्दी की तरह भेद्य के

अनुसार भेदन के रूप बदलते हैं। इसी तरह—

सम्बन्ध-विभक्ति	सम्बन्ध-प्रत्यय
१—**तव** पुत्रः	१—**त्वदीयः** पुत्र:
२—**तव** पुत्राः	२—**त्वदीया** पुत्राः
३—**तव** कन्या	३—**त्वदीया** कन्या
× × ×	× × ×
१—**मम** पुत्रः	१—**मदीयः** पुत्रः
२—**मम** पुत्राः	२—**मदीयाः** पुत्राः
३—**मम** कन्या	३—**मदीया** कन्या

स्पष्ट है कि विभक्ति एक-रूप और तद्धित-प्रत्यय भिन्न-रूप। हिन्दी में 'क' 'र' 'न' तद्धित सम्बन्ध-प्रत्यय हैं। इनमें हिन्दी की पुंविभक्ति 'आ' लगकर रूप हो जाते हैं—का, रा, ना; ठीक उसी तरह, जैसे संस्कृत तद्धित प्रत्यय 'ईय' के रूप संज्ञा-विभक्ति लग कर—'ईयः' 'ईयाः' 'ईया' हो जाते हैं—त्वदीयः, त्वदीयाः, त्वदीया। हिन्दी में 'आ' पुंविभक्ति, संस्कृत में 'आ' स्त्री-प्रत्यय।

चूंकि हिन्दी की विभक्तियाँ प्रकृति से हटाकर लिखने की चाल है और 'का, के, की' को भी विभक्तियाँ लोग समझने लगे; इसलिए इन्हें भी प्रकृति से हटाकर लिखने लगे और हटाकर लिखने में कई सुविधाएं भी हैं; पर 'न' 'र' ('ना' 'रा') सटाकर ही लिखे जाते हैं। 'अपना घर' 'तेरा घर' के 'ना' 'रा' को अलग कर ही नहीं सकते। तद्धित-प्रत्यय हैं—क, र, न और पुंविभक्ति लगकर 'का' 'रा' 'ना'। उन्हीं प्रत्ययों में ब्रज-भाषा की पुंविभक्ति 'ओ' लगकर 'को' 'रो' 'नो' रूप हो जाते हैं—राम को घर, तेरो घर, अपनो घर। अब यहाँ से आगे, (चीज समझने के लिए) 'क' को भी प्रकृति से सटाकर ही दिखाएंगे।

पूरब में न 'आ' पुंविभक्ति है और न 'ओ' ही है; इसलिए वहाँ **'रामक** कवन निहोर' **'तुम्हार** घर' **'अपन** घर' रूप रहते हैं। स्त्री-लिङ्ग में सर्वत्र 'ई' या 'इ' रहेगी—तुम्हारी, तुम्हारि, थारी।

स्पष्ट हुआ कि 'क' 'र' 'न' तद्धित-प्रत्यय हैं, जिन्हें लोग अब तक 'विभक्ति' समझे बैठे हैं!

हिन्दी की सम्बन्ध-विभक्तियाँ

उपर्युक्त सम्बन्ध-प्रत्ययों के अतिरिक्त तीन हिन्दी की सम्बन्ध-विभक्तियाँ भी हैं—के, रे, ने,। इनके रूप नहीं बदलते। जब उत्पत्ति या अस्तित्व-मात्र कहना हो तो इनका प्रयोग होता है—

१—**रामके** लड़का हुआ—संस्कृत में—**रामस्य** पुत्रः अभवत्

२—**रामके** लड़के दो हुए—"**रामस्य द्वौ पुत्रौ** अभवताम्

३—**रामके** तीन लड़के हुए—"**रामस्य** त्रयः पुत्राः अभवन्

× × × ×

१—**तेरे** लड़का हुआ—(**तव** पुत्रः अभवत्)

२—**तेरे** चार लड़के हुए (**तव** चत्वारः पुत्राः अभवन्)

३—तेरे लड़की हुई (**तव** कन्या अभवत्)

४—अपने तीन लड़कियाँ हैं—(आत्मनः तिस्रः कन्या सन्ति।)

सर्वत्र रूप 'के' 'रे' 'ने' हैं। कहीं कोई परिवर्तन नहीं। अस्तित्व मात्र कहना हो, तब भी सम्बन्ध विभक्तियों से ही कहा जाएगा—

१—**तेरे** एक लड़का है (**तव** एकः पुत्रः अस्ति)

२—**तेरे** चार लड़के हैं (**तव** चत्वारः पुत्राः सन्ति)

३—**तेरे** एक लड़की है (**तव** एका कन्या अस्ति)

समझ में आ गया होगा कि के, रे, ने हिन्दी की सम्बन्ध विभक्तियाँ हैं। दिशा-वाचक शब्दों के योग में भी इनका प्रयोग होता है—

रामके दाहिने, **गोविन्दके** बाएं, **तेरे चारों** ओर

रामके बगल में, **गोविन्दके** ऊपर, **लताके** दाहिने

यदि 'बगल' दिशा-वाचक न होकर अङ्ग-वाचक हो, तो संबन्ध-प्रत्यय लगेगा—'रामकी बगल में फोड़ा हो गया है।'

उत्पत्ति या अस्तित्व मात्र कहना हो, तब विभक्ति ही लगेगी, सम्बन्ध-प्रत्यय नहीं। 'तब पुत्रः अभवत्' की जगह 'त्वदीयः पुत्रः अभवत्' नहीं कह सकते; इसी तरह 'तेरे पुत्र हुआ' की जगह 'तेरा पुत्र हुआ' नहीं कर

सकते। 'तेरे चार गौएं हैं' को सम्बन्ध-प्रत्यय से 'तेरी चार गौएं हैं, नहीं कह सकते और संस्कृत में भी 'तव चतस्रः गावः सन्ति' की जगह 'त्वदीयाः चतस्रः गावः सन्ति' नहीं कर सकते। यहाँ तक तो हिन्दी और संस्कृत में समानता; पर आगे भेद है।

भेद्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहना हो तो संस्कृत में विभक्ति तथा तद्धित, दोनों तरह से प्रयोग होते हैं—

तव पुत्रः पठति—त्वदीयः पुत्रः पठति
तव पुत्राः पठन्ति—त्वदीयाः पुत्राः पठन्ति
तव कन्या पठति—त्वदीया कन्या पठति

परन्तु हिन्दी में एक व्यवस्था है। जब कि उत्पत्ति या अस्तित्व-मात्र की विवक्षा में विभक्ति ही लगती है, तद्धित प्रत्यय का कतई प्रवेश नहीं, तो भेद्य के सम्बन्ध में विधान-विशेष करने की स्थिति में प्रत्यय ही रहना चाहिए, विभक्ति कतई नहीं, यह हिन्दी की सुदृढ़ व्यवस्था है। इसीलिए, ऐसी जगह संबन्ध विभक्तियाँ नहीं, तद्धितीय संबन्ध-प्रत्यय ही चलते हैं—

रामका लड़का पढ़ता है—तेरा लड़का पढ़ता है—अपना लड़का पढ़ता है।

रामके लड़के पढ़ते हैं—तेरे लड़के पढ़ते हैं—अपने लड़के पढ़ते हैं।

रामकी लड़की पढ़ती है—तेरी लड़की पढ़ती है—अपनी लड़की पढ़ती है।

यहाँ कभी भी के, रे, ने, विभक्तियाँ न लगेंगीं। परंतु संस्कृत में दोनों चलते हैं—'अस्माकं छात्रः पठति'—'अस्मदीयः छात्रः पठति'। हिन्दी में प्रत्ययमात्र—'हमारा छात्र पढ़ता है, हमारे लड़के पढ़ते हैं, हमारी लड़कियाँ पढ़ती हैं।' कैसी सुन्दर व्यवस्था और नियमन है!

'रामके लड़की हुई', 'तेरे एक गौ है' आदि प्रयोगों में 'पिता-पुत्री' संबन्ध तथा 'स्वामी-स्वकीय' आदि का संबन्ध है। यदि पितृ-मातृ-संबन्ध ही कहना हो, तब वैसे प्रयोग। परन्तु 'प्रसव' जैसी कोई बात कहनी हो, तब संबन्ध-विभक्ति न लगकर कर्ता-कारक की विभक्ति लगेगी। तब 'सुमित्रायायाः लक्ष्मणः अभवत्' की तरह 'सुमित्रायाः लक्ष्मणम् अजनयत्' न होगा—'सुमित्रा लक्ष्मणम् अजनयत्' प्रयोग होगा। इसी तरह हिन्दी में 'सुमित्रा ने लड़का प्रसव किया', 'सुमित्रा ने लड़की प्रसव की' प्रयोग होंगे। राजस्थानी-ब्रजभाषा आदि में तो 'जन' धातु है ही—'जननी जनै तौ अस जनै'। इसी 'जन' का भूतकाल में 'जसुमति ढोटा जायो' ('ढोटो' नहीं) 'देवकि कन्या जाई'।

'ने' का ब्रजभाषा में वैकल्पिक प्रयोग होता है। यदि प्रसवार्थन धातु न हो, वैसी विवक्षा न हो, तो सम्बन्ध विभक्ति लगेगी—

जसुदा के पुत्र भयो (यशोदायाः पुत्रः अभवत्)
नन्द के पुत्र भयो (नन्दस्य पुत्रः अभवत्)

कितनी साफ चीज है? पर किसी का ध्यान आज तक गया? फिर भी, भाषा-विज्ञान और भाषा-ज्ञान का अभिमान तो देखिए! अपना देश है! सब कुछ यहाँ चलता है! जहाँ कुछ है, कुछ प्रकाश है, उससे बैर, ईर्ष्या, न जाने क्या-क्या! केवल इसलिए कि वह प्रकाश आगया, तो हमारा अन्धकार नष्ट हो जायेगा! दूसरे देशों में काम करने वाले को प्रोत्साहित किया जाता है, यहाँ रगड़ा जाता है! बे-इज्जती की जाती है।

उर्दू साहित्य के विकास पर एक दृष्टि

श्री हँसराज रहबर

"—सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कलगान सुनता है, तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।"

सौंदर्य की यह व्याख्या सन् १९३६ में प्रेमचन्द ने अपने सभापति-पद के भाषण में की थी। ध्यान से देखा जाय तो इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक यह कि समय, काल और देश के अनुसार सौंदर्य-संबंधी भावनाएं बदलती रहती हैं, इसलिए सौन्दर्य के मानदंड भी बदलते रहते हैं। दूसरे सौंदर्य का एक वर्ग स्वभाव होता है। वर्ग-विभाजित समाज में जो बात एक व्यक्ति के लिए सुन्दर है, वही बात एक दूसरे वर्ग के दूसरे व्यक्ति के लिए अथवा विभिन्न विचारों और भावनाओं वाले व्यक्ति के लिए असुन्दर हो सकती है। इसलिए समाज के गतिशास्त्र के संदर्भ ही में साहित्य के सौंदर्य-शास्त्र के विकास को भलीभाँति समझा जा सकता है। जैसे-जैसे जीवन बदलता है, युग और युग की परिस्थितियाँ बदलती हैं, वैसे ही आस्थाओं में भी परिवर्तन आता है। आस्थाओं के आधार पर ही साहित्य और सौंदर्य सम्बन्धी भावनाओं में विकास आता है।

यह बात किसी भी भाषा और उसके साहित्य के बारे में सही है, लेकिन हम अपने अध्ययन को उर्दू तक सीमित रखना चाहते हैं।

मुसलमान जब भारत में आये तो वे अपने साथ बहुत कुछ लाये। उनके कारण हमारे रहन-सहन, संस्कृति और चिंतन में बहुत से परिवर्तन आए। एक चीज जो वे लाये नहीं, लेकिन उनके कारण बनी वह उर्दू-हिन्दी भाषा थी। उन्होंने दिल्ली प्रान्त की बोली को व्यवहार में लाकर राज दरबार की भाषा बनाया। पहले-पहल खुसरो ने उसमें कविता लिखी और उसका सम्मान बढ़ाया। खुसरो ने जिस भाषा का प्रयोग किया उसी से उर्दू और हिन्दी की शुरूआत होती है। दिल्ली के उमरा और सामन्त जिन प्रान्तों में गए इस भाषा को अपने साथ लेते गए। दिल्ली में बहुत दिनों अराजकता का जोर रहा और भाषा को विकास का अवसर न मिला। दक्कन इन झगड़ों से सुरक्षित रहा। इसलिए वहाँ गोलकुण्डा, बीजापुर और गुलमर्गा आदि दरबारों में यह भाषा पलती रही और वहीं उर्दू का असल स्वरूप बना। उर्दू वाले उर्दू का पहला कवि खुसरो को नहीं वली दक्कनी को मानते हैं। 'कुलियात वली' के मुक़दमा में लिखा है।

"बहैसीयत शायर वली का मरतबा बहुत बुलन्द है। उन्होंने न सिर्फ अपने दौर के तमाम अपनी व फिक्री मयारों को अपनी शायरी में समोया, बल्कि बयान की लज्जत और ज़ुबान की तामीर का एजाज़ दिखाया। और इसमें वली की करामत का राज मुजमरा[1] तसव्वुफ[2] उस जमाने की फिक्री और इखलाकी बुलन्दी का मयार। वहदतुल वजूद[3] का अकीदा जज़्न और सलूक और मारफत वाहद बुनियाद की हैसियत रखता था। लयाकत, इल्मीयत, बुलन्द मज़ाकी और बुलन्द नजरी सबमें यही सूफियाना तरीक रवा हुआ था। वली के बाद तेरहवीं सदी हिजरी तक मीरू सौदा के अवारूर अहद[4] तक यही नजरिया मजहब, इखलाक और शेरो अदब में हिंदू

१—निहित, २—सूफीवाद, ३—एकेश्वरवाद, ४—युग।

और मुसलमान दोनों कौमों में बड़ी वुसअत के साथ रायज रहा। चुनाचे वली ने भी इस मसलक[1] को न सिर्फ अपनी जिन्दगी में, बल्कि अपनी शायरी में भी इस खूबी से इजहार किया कि उनसे पहले किसी ने उर्दू में इतनी कामयाबी से नहीं बरता था।"

वली की इसी खूबी के कारण उसे उर्दू साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त है। अपने युग के आधुनिकतम और स्वस्थतम जीवन दर्शन अपनी रचनाओं में कलात्मक ढंग से समोने ही से किसी कवि अथवा लेखक को अमर पद प्राप्त होता है और उसकी कृतियों को क्लासिक्स में शामिल होने का अधिकार मिलता है। यह उनके सौन्दर्य का मापदण्ड होता है।

वली के बाद भी लगभग दो सदी तक तसव्वुफ और वेहदतुल वजूद का फलसफा उर्दू कविता पर छाया रहा और उसके सौंदर्य को चमकाता रहा। इसलिए इस फलसफा की बुनियादी बातों पर विचार कर लेना होगा।

हिन्दी के पाठक सूफीवाद से अपरिचित नहीं हैं। यह दर्शन भारतीय धर्म, संस्कृति में घुल मिल गया है। साहित्य का इतना बड़ा भक्ति आन्दोलन इसी दर्शन से प्रभावित था।

सूफीवाद का आन्दोलन दूसरी सदी हिजरी अथवा आठवीं सदी ईसवी में शुरू हुआ। इसका आधार कुरान के आदेश थे और इसका उद्देश्य हृदय की शुद्धता, भावनाओं का संस्कार और संयम था। लेकिन तीसरी और चौथी सदी हिजरी में इसमें एक मूलभूत अन्तर आया। इन दिनों यह आन्दोलन यूनानी विज्ञान संबंधी विचारों से प्रभावित हुआ और दस्तकार-वर्ग इसका नेतृत्व करने लगा। हुसैनबिन मनसूर हल्लाज और अबूबकर इसी वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। दस्तकार वर्ग ने इस आन्दोलन को इसलिए अपनाया कि इसमें इसलामी धर्म और यूनानी विद्याओं का सामंजस्य हो गया था। यूनानी विद्याओं में विज्ञान, मैकानिक्स और कीमियागिरी शामिल थी, जिससे उनकी दस्तकारियों की उन्नति होती थी। कट्टर धार्मिक नेता और शासक वर्ग इस आन्दोलन के विरुद्ध था। इसके बाद से यह आन्दोलन किसी न किसी रूप में धर्मान्धता और शासक वर्ग से हमेशा टक्कर लेता रहा है।

वहदतुल वजूद के फलसफे के अनुसार संसार माया अथवा मिथ्या नहीं है बल्कि वहदत अथवा खुदा के रूप का ही विस्तार है। सूफी भक्तों और कवियों का कहना है कि संसार में जितना भी हुस्न अथवा सौंदर्य है वह खुदा का जलवा है। इस सांसारिक सौन्दर्य से इश्क करने से भावनाओं का संस्कार होता है और मानव हृदय में शुद्धता और उत्कृष्टता उत्पन्न होती है। यह इश्के मजाज़ी इश्के हकीकी तक पहुँचने का माध्यम है। अतएव सूफीवाद वेदान्त की भाँति संसार को त्यागने की नहीं उसे भोगने की सीख देता है और सुन्दर वस्तुओं से इश्क अथवा प्रेम करना सिखाता है और यों जिन्दगी की खुशी में इजाफ़ा भी करता है। इसके अतिरिक्त सामन्ती युग में धर्म और राज्य सत्ता ने पुरुष और नारी को जिस प्रेम सम्बन्ध से वंचित कर रखा था उसे यह अपना अधिकार मानता है और इस विषय में भी धर्म और समाज के बन्धनों और कानूनों का विरोध करता है और उनसे टक्कर लेता है। यही कारण है कि भारत में पद्मावत, हीर राँझा और सोहनी-महीवाल आदि जितने भी प्रेम-काव्य लिखे गए हैं उनके रचयिता मुसलमान सूफी कवि हैं।

दूसरे इस दर्शन की विशेषता यह है कि यह धर्मसत्ता और राजसत्ता के मुकाबले में व्यक्ति को और उसके आध्यात्मिक विकास को अधिक महत्त्व देता है। यह व्यक्ति को भगवान का सर्वश्रेष्ठ रूप मानता है और उसे धर्म के रूढ़िगत सिद्धान्तों और विकास में बाधा डालने वाले कानूनों से ऊँचा समझता है—अर्थात सिद्धान्त और कानून मनुष्य के लिए बने हैं, न कि मनुष्य उनके लिए बना है। अतएव मनसूर ने 'अनलहक' (मैं खुदा हूँ) का नारा बुलन्द किया और हँसते-हँसते फाँसी पर झूल गया।

हमारे यहाँ भी भक्ति आन्दोलन के जितने सन्त कवि हैं, वे लगभग दस्तकारों ही में उत्पन्न हुए थे।

१—आस्था, दृष्टिकोण।

उन्होंने भी जाति-पाँति और धर्मान्धता के विरुद्ध विद्रोह किया है और मनुष्य को रीति-रिवाज और पुस्तक से उच्च और श्रेष्ठ माना है। और भक्ति आन्दोलन ने धर्म को राज्य के प्रभाव से अलग किया है।

सूफीवाद एक अरसा तक उर्दू कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है और हम उसके मुख्य पहलुओं को दृष्टि में रखकर ही उर्दू कविता के हुस्न को समझ सकते हैं। ग़ालिब ने कहा है—

यह मसायले तसव्वुफ यह तेरा व्यान गालिब
हम तुझे वली समझते जो न वादाख्वार[1] होता।

उर्दू में शराब शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है। शराब ज़िन्दगी में खुशी का इज़ाफ़ा करती है, सौन्दर्य भावना को तीव्र बनाती है। संक्षेप में यह भौतिक आनन्द का प्रतीक है। और फिर यह धार्मिक शुष्कता और शेख और धर्म उपदेशक की झूठी पारसाई और विडम्बना को चुनौती भी है। उर्दू कविता में हुस्न और इश्क के साथ शराब शब्द का प्रयोग भी बड़ी कसरत से उसके व्यापक अर्थों में हुआ है। खैर यह दूसरी बात थी। कहना यह था कि सूफ़ीवाद ने इश्क को धर्म के पद पर आरूढ़ किया। वली सूफ़ी कवि थे, धर्म में उनकी पूरी आस्था थी। इस धार्मिक आस्था में उन्होंने हुस्न और इश्क का सामजंस्य कुछ इस ढङ्ग से किया है कि आदमी उनकी गजलें पढ़कर झूम जाता है। देखिये—

शग़ल बेहतर है इश्कबाज़ी का
क्या हकीकी व क्या मजाज़ी का।
हर ज़ुबाँ पर है मिसले शाना मुदाम,
जिक्र उस जुल्फ़ की दराज़ी का।
तें दिखाकर अपस के मुख की किताब
इल्म खोया हैं दिल सों काज़ी का।
आज तेरी मवाँ ने मस्जिद में,
होश खोया है हम नमाज़ी का।
गर नहीं राज़े इश्क सों आगाह
फ़ख्र बेजा है फ़ख्रराज़ी का।

१—शराबी

पेवली सर्व क़द कों देखोंगा
वक्त आया है सरफ़राज़ी का।

वली अठारहवीं सदी के आरम्भ में हुआ। उस समय मुगल राज्य का ह्रास शुरू हो चुका था। उसके बाद नादिरशाह का भयङ्कर आक्रमण हुआ और मीर ने अपनी आँखों दिल्ली को लुटते और उजड़ते देखा और खुद उसे दिल्ली छोड़कर लखनऊ जाना पड़ा। जब वहाँ कद्र न हुई तो वह कह उठा—

फिरते हैं मीर ख़्वार कोई पूछता नहीं।

मीर उर्दू का एक उच्च और महत्वपूर्ण कवि है। उसने अपनी ज़िन्दगी में बहुत से दुख और ग़म उठाए और उसने अपने इस दुख और ग़म को अपनी कविता में समो दिया। मीर के निश्तर मशहूर हैं। मीर अन्तर्मुखी अवश्य था; लेकिन उसने अपनी हृदयगत भावनाओं को जिस खूबी से बयान किया है, वह सिर्फ़ मीर ही का हिस्सा है। और मीर तक आते-आते उर्दू ज़बान बहुत सँवर गई थी। मीर के शेरों में नई सरमस्ती है और उपमाओं का सौन्दर्य है—

नाजुकी उनके लब की क्या कहिए
पंखड़ी इक गुलाब की सी है।

मीर के शेर इतने कलात्मक हैं कि शब्द और अर्थ में आपको पूर्ण सामंजस्य मिलेगा। एक और शेर देखिए—

वाये उन नीमवाज़ आँखों की
सारी मस्ती शराब की सी है।

मीर भी सूफी कवि थे। उन्होंने भी अपनी कविता को महत्व दिया है अर्थात् कलात्मक ढंग से उन्होंने भी अनलहक़ का नारा बुलन्द किया है—

मत सहल हमें समझो फिरता है फ़लक बरसों
तब ख़ाक के पर्दे से इंसान उभरते हैं।

ग़ालिब जब पैदा हुआ तो सामन्ती व्यवस्था और सामन्ती संस्कृति मिट रही थी तथा उसके साथ ही सूफ़ीवाद का भौतिक आधार भी खत्म हो रहा था। ग़ालिब ने मीर के इस इन्सान को हर तरफ़ ज़लील होते देखा और वह पुकार उठा—

हैं आज क्यों ज़लील कि कल तक न थी पसंद
गुस्ताखा - ए फिरश्ता हमारे हज़ूर में।

(कहते हैं कि खुदा ने इन्सान को बनाकर सब फ़रिश्तों को आदेश दिया कि तुम इसे सिजदा करो। एक फ़रिश्ते ने इनकार किया तो उसे स्वर्ग से निकाल दिया और वह शैतान बना।)

ग़ालिब सामन्ती व्यवस्था को मिटते हुए देखकर सिर्फ अफसोस ही नहीं करता बल्कि गहराई में जाकर उसके कारणों को समझने का भी प्रयत्न करता है। यही कारण है कि मिटती हुई आर्थिक व्यवस्था की धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं से उसका विश्वास उठ जाता है—

जिन्दगी अपनी जो इस ढंग से गुज़री ग़ालिब
हम भी क्या याद करेंगे कि खुदा रखते थे।

और फिर—

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,
दिल के खुश रखने को ग़ालिब यह खयाल अच्छा है।"

अंग्रेजों ने नई शिक्षा संस्थाएं स्थापित की थीं और यूरोप के नए विचार देश में फैल रहे थे। दिल्ली कालेज में विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थी अपने प्रयोगों और विचारों को घर-घर दोहराते थे और पृथ्वी और सूर्य्य सम्बन्धी धार्मिक मान्यताओं का मजाक उड़ाते थे। ऐसा सम्भव ही नहीं था कि ग़ालिब ऐसे प्रबुद्ध व्यक्ति पर इन विचारों का प्रभाव न पड़ता—

मेरी तामीर में मुज़मर है सूरत इक खराबी की,
हयूला बरके खिरमन का है खूने गर्म दहकाँ का।

(मेरे निर्माण में ही मेरा बिगड़ना निहित है—अर्थात् जीवन के साथ मृत्यु लगी हुई है। दानों के अम्बार पर गिरने वाली बिजली का भौतिक तत्त्व किसान के गर्म खून से बनता है।)

इस शेर की रचना विज्ञान के प्रभाव ही से हुई है। हम जिसे आधुनिक भारत कहते हैं उसका निर्माण १८५७ से पहले ही होना शुरू हो गया था। १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में जर्जर सामन्ती तत्त्व ही नहीं नए तत्त्व भी शामिल थे। ग़ालिब आधुनिक युग का कवि है इसीलिए उसकी कद्र बहादुरशाह के दरबार में नहीं आधुनिक भारत में हुई।

हाली ने ग़ालिब की परम्परा को आगे बढ़ाया और यादगारे ग़ालिब लिखकर ग़ालिब की महत्ता पर प्रकाश डाला वरना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने तो ग़ालिब से ज़ौक को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया था। हाली ने मुक़दमा शेरो शायरी लिखकर उर्दू कविता को नई दिशा दी और जो कवि खयाली महबूब के इश्क में व्यर्थ छाती पीटते थे और विलासी नवाबों और सामन्तों का शब्दों से जी बहलाते थे उनकी खूब खिल्ली उड़ाई। उसने बदलती हुई परिस्थितियों की ओर ध्यान दिलाया और उनके साथ बदलने की बात की।

"क़ायदा है कि जिस कद्र सोसाइटी के ख़यालात, उसकी रायें, उसकी आदतें, उसकी रग़बतें, उसका मीलान[1] और मज़ाक बदलता है, उसी कद्र शेर की हालत बदलती रहती है और यह तब्दीली बिल्कुल बे-मालूम होती है क्योंकि सोसाइटी की हालत को देखकर शायर कसदन अपना रंग नहीं बदलता बल्कि सोसाइटी के साथ वह खुद बदलता चला जाता है।"

(मुक़दमा शेरो शायरी)

हाली उर्दू के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। आधुनिक उर्दू कविता और यथार्थवाद का आरम्भ उन्हीं से होता है। किसी ने सर सैयद से पूछा कि खुदा को क्या कहोगे कि मैंने क्या काम किया है। सर सैयद बोले, मैं कहूँगा कि हाली से मसद्दस लिखा लाया हूँ। राष्ट्रवाद का जमाना था। लोगों में उनके भूले हुए अतीत की याद दिलाकर गौरव उत्पन्न किया जा रहा था। वह हाली ने भी किया और इसी मसद्दस से प्रभावित होकर मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' लिखी और राष्ट्र-कवि कहलाये।

लेकिन इस तबदीली का पता नज़्मों के अलावा हाली की गज़लों से भी मिलता है। "हाली से पहले महबूब की याद किसी भी शायर के दिल से महव नहीं हुई।

१—रुझान, प्रवृत्ति।

मीर ने किसी ज़माने में ख़बर दी थी—

याद उसकी इतनी खूब नहीं मीर याद आ,
नादान फिर वह जी से भुलाया न जायगा।

लेकिन मीर की इस नसीहत का कुछ असर न हुआ बड़ी कज अदाइयों और बेवफ़ाइयों के बाद भी ग़ालिब का वही हाल रहा—

फिर उसी बेवफा पै मरते हैं,
फिर वही ज़िन्दगी हमारी है।

लेकिन हाली के यहाँ वह तसव्वुर नहीं है—

वह तो भूले थे हमें हम भी उन्हें भूल गये।
ऐसा बदला है न बदलेगा ज़माना हरगिज़।

(मुमताज़ हुसैन, नई कद्रें)

और फिर हाली मनुष्य की दुर्दशा का गिला ग़ालिब की तरह खुदा से नहीं करता, बल्कि समझता है कि मनुष्य मनुष्य कैसे बनता है—

फरिश्ते से बेहतर है इंसान बनना
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज्यादा।

यह ठीक है कि समाज बदलता है तो उसके साथ साहित्य बदलता है और उसके साथ सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाएं भी बदलती हैं। लेकिन सौन्दर्य-शास्त्र का भी अपना एक अस्तित्व होता है, एक परम्परा होती है। जिस प्रकार युग बदलने पर भाषा एकदम नई नहीं बन जाती, उसमें कुछ पुराने शब्द छोड़ दिये जाते हैं और कुछ नए जोड़ दिये जाते हैं और यों सदियों से एक ही भाषा आगे चलती रहती है, उसी प्रकार किसी देश और भाषा का सौन्दर्य-शास्त्र भी युग के बदलने से नहीं बदलता, उसकी परम्परा भाषा ही की तरह थोड़ी सी तब्दीली के साथ आगे बढ़ती है। भाषा साहित्य का माध्यम है। शब्द, मुहावरा, शैली और टैकनीक एक पीढ़ी से विरासत में मिलती है और इसी पर साहित्य का सौन्दर्य निर्भर करता है। नए युग के नए विचारों को भावनाओं में समोना और उपयुक्त भाषा और शैली में व्यक्त करना जरा कठिन होता है, जिससे साहित्य के सौन्दर्य में न्यूनता आती है। यह दोष हाली की कविताओं में भी पाया जाता है। इसीलिए शुरू-शुरू में उन्हें शायर न कहकर तुकबन्द उपदेशक कहा गया। लेकिन धीरे-धीरे यह त्रुटि दूर हो गई और हाली जिन गजलगो शायरों की निन्दा करते थे, ज़बान, बयान और मुहावरे की खूबियाँ उन्हीं से मिलीं। और फिर हाली ने खुद भी गजलें लिखीं और अच्छी गजलें लिखीं।

इस पृष्ठभूमि पर अब इक़बाल आगे आया। इक़बाल ने अपनी नजमों में गजल का तग़ज़्ज़ुल पैदा किया। उनकी कुछ नज़में ग़ज़लें और ग़ज़लें नज़्म दिखाई पड़ती हैं। उनमें कुछ अन्तर ही नहीं मालूम होता। फिर इक़बाल की शायरी नए विचारों और राष्ट्रवाद के विचारों से ओतप्रोत थी, जिससे उसके सौन्दर्य में चार चाँद लग गये। इक़बाल ने शायरों की नई पौध को बहुत प्रभावित किया। इक़बाल की देशभक्ति की कविताएं बहुत प्रसिद्ध हैं, लेकिन उनका फलसफ़ा खुदी का फ़लसफ़ा है और वह कहते हैं—

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तक़दीर से पहले
ख़ुदा बन्दे से ख़ुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है ?

इक़बाल शायद इसी खुदी की रौ में अपनी राष्ट्रवादी परम्परा से भटक गये।

सूफ़ीवादी आस्थाओं का युग अब ख़त्म हो चुका था, यह यथार्थवाद का युग था। सूफ़ीवादी कवि इश्के मजाज़ी को इश्के हकीकी तक पहुँचने का सामान समझता है और हुस्न को खुदा का जलवा क़रार देता है अर्थात् वह महबूब के हुस्न में खुदा को देखता है। सूफ़ीवादी कवि का महबूब औरत नहीं प्रायः हसीन लड़का होता था। इससे उनकी कविता में भौंडापन भी आ जाता था। अब तक उर्दू कवि 'महबूबा आई' नहीं 'महबूब आया' कहता था। अब यह रुझान भी बदला और अख्तर शेरानी ने उर्दू कविता में इश्क़ और इश्क सम्बन्धी भावनाओं को स्त्री से सम्बन्धित करके यथार्थवादी रोमांस की बुनियाद रखी। अब इश्क मजाज़ी इश्क हकीकी तक पहुँचने का साधन नहीं रह गया बल्कि वह अपने आप में एक मंजिल, एक उद्देश्य बन गया, जिससे उसमें अधिक भावावेश और अधिक गहराई पैदा हो गई।

आधुनिक कवि फैज़ अपनी प्रेयसि से कहता है कि मैं तुम्हारे लिए तुमसे प्यार नहीं करता बल्कि अपने व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए तुमसे प्यार करता हूँ। आज का यथार्थवादी युग मानवता का युग है। मजाज, फैज और फराक सी आस्था का आधार कोई अलौकिक व्यक्ति नहीं बल्कि खुद मानव है। उन्होंने उर्दू कविता को नई दिशायें और नए विषय दिये हैं, फिर उन्होंने नजमें ही नहीं गजलें भी लिखी हैं। उनकी गजलों में जहाँ परम्परागत सौन्दर्य भावना और तग़ज्जुल है वहाँ उनमें नए विचारों का शब्दों और टैक्नीक के साथ सामंजस्य भी हुआ है। फराक कितने तमतराक और विश्वास के साथ कहता है—

जिन्हें शक हो वे करें और खुदाओं की तलाश,
हम तो इंसान को दुनिया का खुदा कहते हैं।

जो बात शायरी के लिए सही है वह नसर के लिए भी दुरुस्त है। उसके विकास को अलग से देखने की जरूरत नहीं रह जाती फिर भी नसर के विकास पर एक नज़र तो डाल ही लेनी चाहिये।

अंग्रेजों के आने से प्रेस आया, उसके साथ ही हिन्दी उर्दू और दूसरी भाषाओं में नसर का विकास हुआ। इंशा अल्लाह की 'रानी केतकी की कहानी' को उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं की पहली कहानी समझा जाता है। लेकिन देखा जाय तो आधुनिक उर्दू नसर के निर्माता ग़ालिब हैं। ग़ालिब के खतूत दो बड़े-बड़े संग्रहों में संकलित हैं। इन खतों में ज़बान और बयान की खूबियों के साथ-साथ जीवन का सजीव चित्रण हुआ है। शायर जो बात कविता में नहीं कह सका वह उसने इन पत्रों में सहज में कह दी है। शायर पर बहर, क़ाफ़िये और रदीफ़ की जो पाबन्दियाँ होती हैं वह एक अदीब पर नहीं होतीं, इसलिए नसर में मनोगत भावनाओं को व्यक्त करना सहज होता है। शायद इसीलिए ग़ालिब को यह शिकायत पैदा हुई थी—

बकद्रे जौक नहीं जर्फे तंग नाए गज़ल।
कुछ और चाहिए वुसअत मेरे बयाँ के लिए।

अगर कविता के संगीत को बनाये रखे तो आज़ाद नज़्म मनोगत भावनाओं को उनके उतार-चढ़ाव और क्रम के साथ व्यक्त करने का अच्छा माध्यम है। लेकिन हम बात नसर की और इंशा की रानी केतकी की कर रहे थे। 'रानी केतकी की कहानी' एक आधुनिक कहानी नहीं एक दास्तान है। इसी प्रकार लल्लूलाल, रज्जबअली सरूर और मीर अमन ने भी दास्तानें लिखीं। इस से भाषा बनी और उस भाषा का प्रयोग प्रेमचन्द ने किया और इन बुजर्गों का एहसान मानते हुए कहा, भाषा साध्य नहीं साधन है'। हमें इस भाषा को अपने युग की यथार्थवादी भावनाओं और समस्याओं को प्रस्तुत करने में प्रयोग करना चाहिए। कहना नहीं होगा कि प्रेमचन्द ने ऐसा ही किया और वह हिन्दी की तरह उर्दू में भी आधुनिक और यथार्थवादी उपन्यास के जन्मदाता हैं। उनकी शुरू की कहानियों में दास्तान का रंग है और उनमें अलौकिक तत्त्व भी पाये जाते हैं जो हमारी आधुनिक और वैज्ञानिक बुद्धि को नागवार गुजरते हैं। ज्यों ज्यों प्रेमचन्द की चेतना और कला का विकास होता रहा ये तत्त्व झड़ते रहे और उन्होंने 'कफ़न' कहानी तक पहुँचते-पहुँचते कहानी और उपन्यास को आधुनिकतम बना दिया।

प्रेमचन्द के बाद उर्दू में नया 'अदब' अथवा 'तरक्की पसन्द' आन्दोलन बड़े जोर-शोर से चला। इस समय राजनीति में समाजवादी विचार-धारा अपनाई जा रही थी और समाज को बदलने के चर्चे थे। लेकिन समाज के गति शास्त्र को न समझने के कारण पश्चिम के ह्रासोन्मुख साम्राज्यवादी साहित्य के प्रभाव से उर्दू साहित्य में समाजवाद अधिक आया और उर्दू कहानी मुख्य रूप से फ्रायडवाद से प्रभावित रही। नए लेखकों ने हमारी साहित्यिक परम्परा को भुला दिया और नए और तरक्की और बगावत के नाम पर अराजकता और बहोमेनिज्म का प्रचार किया। बदकिस्मती से हम काफी अरसे तक इसी बात को प्रगतिशीलता समझे रहे। साहित्य और संस्कृति में सौन्दर्य का विकास अराजकता और असंगठन द्वारा नहीं संगठन और समाज द्वारा हुआ है। इसीसे मनुष्य को भय, आतंक और अभाव से स्वतन्त्रता मिली

है और इसीसे उसको साहित्य और दूसरी ललित कलाओं के निर्माण का अवकाश मिला है और इसीसे उसका आध्यात्मिक विकास हुआ है। इसलिए साहित्य का काम ही मनुष्य के विचारों और भावनाओं को संगठित और व्यवस्थित करके उनका परिष्कार करना है। अराजकता और वहोमेनिज्म साहित्य और सौंदर्य के विरोधी हैं। जो वात जीवन के लिए उन्नयनकारी नहीं है, वह एक प्रगतिशील समाज में अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। आजादी के बाद हमारे देश ने भी प्रगति और उन्नति का मार्ग अपनाया है, इसलिए साहित्य की ये जन-विरोधी धारणाएं अपना महत्व खो रही हैं।

व्यंग्य उर्दू साहित्य की एक विशेषता है। अकबर इलाहावादी अपने तीखे व्यंग के लिए ही प्रसिद्ध हैं। लेकिन उन्होंने जहाँ हमारे जीवन की विडम्बना और विदेशी सरकार पर कड़े व्यंग किए हैं, वहाँ आधुनिक शिक्षा, विज्ञान और डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त का भी मज़ाक उड़ाया हैं। विज्ञान और डार्विन पर अकबर का व्यंग किसी रूढ़िवादी धार्मिक व्यक्ति को सुन्दर लगे तो लगे लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक व्यक्ति को तो वह एकदम भोंडा और असुन्दर लगता है। हमारे इस नये साहित्य और प्रगतिशील आन्दोलन की भी मुख्य विशेषता व्यंग ही रहा है। हिन्दी में यशपाल और उर्दू में कृष्णचन्द अपने व्यंग के लिए ही प्रसिद्ध हैं। लेकिन हर बात पर व्यंग करना तो कोई अच्छी बात नहीं है। आज जब हमारे जीवन में गम्भीरता आ रही है और हम समाज के गति-शास्त्र को समझने लगे हैं तो यशपाल और कृष्णचन्द्र आन्द्रे जीद की तरह साहित्य का एक प्रश्न चिन्ह बन गये मालूम होते हैं और उनकी रचनाओं की अश्लीलता तो वहुत ही अरुचिकर जान पड़ती है।

हास्य और व्यंग्य के लिए उर्दू में अजीमबेग चगताई, शौकत थानवी, रशीद अहमद सदीकी और पितरस और फिर कन्हैया लाल कपूर प्रसिद्ध हैं। पितरस ने शुरू में थोड़ा सा लिखा और फिर खामोश हो गया। रशीद अहमद और शौकत थानवी अब तक लिख रहे हैं। सदीकी साहब तो शायद इस दिशा में अपनी असमर्थता देखकर गम्भीर साहित्य लिखने लगे। शौकत की विचार-परिधि बहुत ही सीमित है, इसलिए उसके हास्य और व्यंग में हल्कापन है। लेकिन कहैन्यालाल कपूर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय को भली-भाँति समझते हैं, इसीसे उनके व्यङ्ग में प्रौढ़ता और गहराई पैदा हो गई है। पहले वह भी हर बात पर व्यङ्ग करते थे और उनकी रचनाओं को सनकीपन (cynicism) किसी कद्र हल्का और असुन्दर बना देता था। लेकिन उनके 'नर्म गर्म' नए संग्रह से ऐसा लगता है कि जीवन की उन्नयनकारी शक्तियों से उनका पूर्ण मानसिक सामंजस्य हो गया है। और उनके इस संग्रह के लेख 'मिस चमेली' 'मिस्टर डालर' और 'दीवाना गर नहीं है तो.......' आदि एकदम अति सुन्दर बन पड़े हैं।

—:०००:—

सौन्दर्य बोध

श्री जयनाथ 'नलिन'

दृश्य और अदृश्य जगत के सभी पदार्थ दो वर्गों में रखे जा सकते हैं, सुन्दर और असुन्दर। सुन्दर और असुन्दर के प्रभाव, परिणाम या प्रतिक्रिया-स्वरूप प्राणी-मात्र की दो अनुभूतियाँ हैं: सुख और दुख। सुख और दुख की ये ही दो अनुभूतियाँ मानव मन के आदि, मौलिक और शुद्ध विकार हैं। परिस्थिति, आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन आदि के सम्बन्ध-प्रभाव से ये ही दो विकार अनेक शुद्ध और अमिश्र विकारों का रूप धारण कर लेते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय रस-शास्त्र में निरूपित नव रसों के स्थायी भावों को इन्हीं दो विकारों में विभाजित किया है। इन्हीं सुख-दुख की मौलिक अनुभूतियों से अनगिनत मिश्र और अमिश्र विकार, वृत्तियाँ, संचारी और ऐसी अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं जिनका नामकरण भी अभी तक किसी रस-दर्शी ने नहीं किया। भारतीय काव्य-शास्त्र का समस्त रस-दर्शन इन्हीं दो विकारों पर आधारित है।

सुन्दर-असुन्दर का आधार है रूपात्मक जगत। रूप आँखों का विषय है। तब इस दृश्य जगत के पदार्थ ही सुन्दर-असुन्दर के विशेषण पा सकते हैं। बात यह नहीं; अदृश्य भाव या कल्पना-जगत के पदार्थ भी सुन्दर-असुन्दर दो ही वर्ग में विभाजित किये जायंगे। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श विभिन्न इन्द्रियों के विषय हैं। इन्द्रियाँ चेतन या बोध के तार द्वारा मन से बंधी हैं। चेतन का तार टूट जाने पर इन्द्रियाँ सुख-दुख की अनुभूति मन तक नहीं पहुँचातीं और न वे ही सुख-दुख अनुभव करती हैं। क्लोरोफार्म सुंघाकर शरीर का कोई भी अङ्ग काट दिया जाता है।

दृश्य-अदृश्य जगत में व्याप्त अपने विषयों से सुख-दुख की अनुभूतियाँ संकलित कर ये मन तक पहुँचाती हैं। यथार्थ भोक्ता मन है—इन्द्रियाँ हैं वाहिका। इन्द्रियों द्वारा मन तक भाव-वहन इतनी क्षिप्रता से होता है कि अवकाश कहीं रहता ही नहीं। इस तीव्रता को गति की नाप में नहीं बाँधा जा सकता। रस-बोध की इस अवस्था में मन और इन्द्रियों का भेद भी मिट जाता है। वे एक रूप हो जाते हैं। सुख-दुख, आकर्षण-विकर्षण, वृत्ति-संकोच और विस्तार मन के विकार हैं। तब दृश्य-अदृश्य जगत के सभी पदार्थ मन के सुख-दुख के आलम्बन हुए। सुख-दुख सुन्दर-असुन्दर के परिणाम हैं। इसलिए मन के सामने कोई रूप, व्यापार, पदार्थ, विचार, कल्पना, विकार सुन्दर है या असुन्दर। सुन्दर या असुन्दर ऐसे विशेषण हैं, जिनमें मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों ही समाविष्ट हो जाते हैं।

कुछ पदार्थ, व्यापार, आकार और रंग मनुष्य को प्रिय लगते हैं, कुछ अप्रिय। सुन्दर पदार्थ प्रिय और असुन्दर अप्रिय लगते हैं। जगमगाते ओस-मुक्ताओं से सजी कली के लजीले गालों पर, सुनहली रेशमी किरणों की आभा तले, रंग-बिरंगी छींट के परों पर तैरती सुकुमार तितली मन को बरबस क्यों खींच लेती है? तुहिन-मण्डित, दुग्ध-धवल शैल-शिखरों की चिकनी गोद से रपटते झरने को मोती उछालते देखकर, पूर्णिमा की रोमांचित ज्योत्स्ना में मनुष्य भाव-विह्वल हो क्यों ताकता रह जाता है? सड़ी बिल्ली के घाव पर भिनभिनाती मक्खियाँ देखकर हम आँखें क्यों फेर लेते हैं? नंगी रूखी चट्टानों के बीच मोटे अन्धकार से ढकी गुफाओं को देख मन भयातंकित क्यों हो जाता है? एक दृश्य को देख हमारी वृत्तियाँ कछुए की तरह सिमटने लगती हैं और अन्य को देख क्षिप्रता से उसकी ओर दौड़ चलती हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है सुन्दर-असुन्दर का विवेक—हमारे सौंदर्य-बोध के संस्कार।

सुन्दर-असुन्दर की पहचान या विवेक को सौंदर्य

बोध कहा जाता है। मूलरूप में यह पहचान या तमीज सभी मनुष्यों में रहती है। सभ्यतम नागरिक से लेकर आदिम असभ्यतम जंगली मनुष्य तक श्रृङ्गार-सजावट में अनुरक्त देखा जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपने रुचि-परिष्कार, सामाजिक या पारिवारिक संस्कार और साधन-सम्पन्नता के अनुसार स्वयं सुन्दर दिखना चाहता है और दूसरों को सुन्दर देखना चाहता है। सामाजिक जमाव, मेले-तमाशे, पर्व-त्यौहार पर हर देश में कैसी रंगीनी जगमगाती है। स्वयं ही मनुष्य श्रेष्ठतम वस्त्राभूषणों से अलंकृत नहीं होता, अपने पशुओं और यानों तक को खूब सजाता है।

सौन्दर्य-बोध दो रूपों में क्रियाशील पाया जाता है--एक सौन्दर्य-विवेक और दूसरे सौन्दर्य-भोग। सौन्दर्य-विवेक बुद्धि-क्षेत्र में काम करता है और सौंदर्य-भोग भाव-क्षेत्र में। सौन्दर्य-विवेक के दो काम हैं—सौन्दर्य-भोग की तृप्ति के लिए उपलब्ध सामग्री से सौन्दर्य-संकलन और नवीन सौन्दर्य-साधन तथा सामग्री का निर्माण। सौन्दर्य-विवेक विकसित होने पर ही मनुष्य समान लगने वाली वस्तुओं में अलक्ष्य या अत्यन्त बारीक अन्तर की पहचान कर सकता है। सौन्दर्य-विवेक जितना भी अधिक सजग, सूक्ष्म और मौलिक होगा, उतना ही अधिक उपयुक्त सुषमावर्द्धक, सर्व-प्रशंसित, रूप, रंग, आकार, परिधान, अलंकार, प्रसाधन और नयनाभिराम पदार्थों का चुनाव किया जा सकेगा। घर या शरीर को सजाना साधारण कला नहीं। यदि यह तमीज़, कला या समझ इतनी सुलभ होती तो अनेक छैल-छबीले युवकों और चित्रित आननवाली सुन्दरियों को सामाजिक परिहास का शिकार न बनना पड़ता।

सामूहिक सौन्दर्य-विवेक का कोई स्वरूप चाहे पहिचान की निश्चित् परिधियाँ खींचकर, सामने न रखा जावे, पर जन-समाज में सामान्य सौन्दर्य-विवेक या सुन्दर-असुन्दर की परख के लिए कोई माप है अवश्य। तभी तो सौन्दर्य की भिन्न रुचियाँ और विविध कसौटियाँ होने पर भी अनेक वस्तुएं बहुसंख्यक जन-समूह द्वारा सुन्दर मानी जाती हैं। वैयक्तिक और सामूहिक सौन्दर्य-विवेक नवीन सौन्दर्य-सामग्रियों का निर्माण करता है। नवीन कल्पनाओं और सूझ-बूझ के सहारे नित्य नवीन रंग-रूप और आकार वाली वस्तुओं का निर्माण होता है। सौन्दर्य-ज्ञान के फलस्वरूप नवीन रूप-माधुर्य के विकास में सभ्यता का बहुत कुछ विकास माना जाता है।

सौन्दर्य-भोग-वृत्ति या सौन्दर्य-भोग-कामना भी सौंदर्य बोध का ही एक रूप है। सौन्दर्य के आलम्बन पुतलियों या मन के सामने आकर विलक्षण उत्फुल्लता प्रदान करते हैं। सौन्दर्य-दर्शन से मन स्वतः ही आनन्द-रोमांचित हो जाता है। भोग या स्वाद अनुभूति का विषय है। जब अपनी रुचि, कामना या परख के अनुसार मनुष्य को सौंदर्य की उपलब्धि होती है, तब हृदय अनिर्वचनीय सुखानुभूति करता है। यही सौन्दर्य-भोग-वृत्ति कहीं लोभ का रूप धारण करती है, कहीं रूप-लिप्सा का। किसी सुन्दर वस्तु को देख जब हमारी यही आकांक्षा रह जाती है कि वह वस्तु हमारे पास रहे और हमारी सौन्दर्य-क्षुधा को तृप्त करती रहे, तब यही सौन्दर्य-भोग-कामना लोभ-वृत्ति में बदल जाती है। लोभ हम से किसी भी मूल्य पर उसकी रक्षा कराता है। अनेक बार लोभी धन, सम्पत्ति या किसी पदार्थ की रक्षा करने या अपने पास रखने में सम्मान, लज्जा, करुणा, स्नेह आदि सद्वृत्तियों को भी तिलांजलि दे देता है। किसी सुकुमार सुषमा-सम्पन्न यौवन गदरी रमणी को देख जब मनुष्य उसके शारीरिक उपभोग की कामना करता है, तब यह सौन्दर्य-भोग-कामना रूप-लिप्सा कहलाती है। हमारी समझ में सौन्दर्य-लिप्सा और लोभ में आलम्बनगत अन्तर यही है कि लोभ निर्जीव पदार्थ के प्रति होता है और सौन्दर्य-लिप्सा व्यक्ति के प्रति—अपने विपरीत शरीर के प्रति।

सौन्दर्य-भोग-वृत्ति जब लिप्सा का उत्कट या निरंकुश रूप धारण करती है, तब मनुष्य अत्यन्त विलासी बन जाता है—इन्द्रिय-सुख-भोग में वह ऐसा डूबता है कि उबर नहीं पाता। विलास की ऐसी उद्दाम और दमनातीत भूख भड़क उठने पर, सौन्दर्य-बोध सद्वृत्ति और उल्लास-अनुभूति का साधन न रहकर असाध्य रोग बन जाता है। सम्मुख आने वाले समस्त सौन्दर्य और यौवन

को वह अपनी वासना की आग में आहुति बनाने के लिए आतुर रहता है। शारीरिक सनसनी और नसों की उत्तेजना-मात्र वह सौन्दर्य-साधनों से पाता है—सौन्दर्य-बोध भी कुण्ठित हो जाता है। उसकी अवस्था अजीर्ण के असाध्य रोगी की जैसी बन जाती है। अजीर्ण-रोगी का स्वाद-बोध या रसबोध नष्ट हो जाता है। वह अत्यन्त चरपरे, तेज मसालेदार पदार्थ खाता है; पर न उसे स्वाद ही आता है, न स्वास्थ्यलाभ ही होता है।

कभी-कभी सौन्दर्य-विवेक भी रोग की ऐसी ही अवस्था को पहुँच जाता है। विवेक तब सौन्दर्य-साधन संकलित या निर्मित करने में नहीं, उनकी बारीकियाँ खोजते खोजते उनका पोस्टमार्टम करने में व्यस्त रहने लगता है। सौन्दर्य संयोजन में है, विभाजन में नहीं। सम्पूर्ण को जब खण्ड-खण्ड कर के देखा जायगा, अपूर्व प्रफुल्लता देने वाला सौन्दर्य भी विकृत और घृणित बीभत्स-रूप में हमारे सामने आयगा। सौंदर्य-बोध जब मानसिक प्रफुल्लता, सुखानुभूति, नयन-रंजन न देकर बहस का विषय बनता है, तब सौन्दर्य की परिभाषा की जड़-परिधियाँ बाँधी जाती हैं। सौन्दर्य-बोध की ऐसी स्थिति कला-विकास, अभिरुचि-परिष्कार और मानव की आनंद-उपलब्धि में बाधक है। आने वाली पीढ़ियों की आलोचना की चोट ऐसी जड़ परिभाषाएं या परिधियाँ नहीं सह पातीं। सौंदर्य-बोध फिर मानसिक उल्लास और प्रफुल्लता का साधन बनता है। सभ्यता, कला, और जीवन-परिष्कार की प्रेरणा बनता है। रीतिकाल में सौंदर्य-बोध बहुत-कुछ ऐसी जड़ और सीमित परिभाषाओं में क़ैद कर दिया गया था। वह स्वाभाविक जीवन-व्यवहार में न रह कर किताबी होगया था। छायावादी युग ने उसे जड़-बंधनों से मुक्त किया।

रूपात्मक सृष्टि का कोई पदार्थ प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-असुन्दर, आकर्षक, या अच्छा-बुरा क्यों लगता है, इसका उत्तर देना, इतना सुलभ नहीं, जितना सुलभ सुन्दर-असुन्दर लगना है। दैनिक व्यवहार में न जाने कितनी वस्तुएं हमें अच्छी-बुरी लगती हैं; पर क्यों का उत्तर सम्भवत: हम नहीं दे पाते। शायद कोई शरीर-शास्त्री किसी पदार्थ के सुन्दर-असुन्दर लगने का कारण आँखों के स्नायु-जाल और झिल्ली की विशेष बनावट बताए। वह कहे, इसीलिए कुछ रंग आँखों को प्रिय लगते हैं, कुछ अप्रिय। कुछ रंग और आकारों से दृष्टि-तन्तुओं को आघात लगता है, कुछ से उन्हें कोमल-परस या सुख मिलता है। लेकिन एक मनुष्य को अप्रिय और असुन्दर लगने वाले अनेक रंग और पदार्थ अन्य को प्रिय और सुन्दर क्यों लगते हैं? तब नयन-तन्तुजाल ही इसका एकमात्र कारण नहीं।

रूपात्मक जगत के सिवा अदृश्य जगत के सभी पदार्थ (व्यापार, विचार, कल्पना, व्यवहार, अभिलाषा, आकाँक्षा) भी प्रिय-अप्रिय विशेषणों से बँधे हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं—उन व्यापारों, विचारों, व्यवहारों, भावों, कल्पनाओं, कामनाओं का आधार (आकार, बिम्ब, प्रतीक या कर्त्ता) रसभोक्ता या आश्रय की आँखों के सामने अत्यन्त भद्दे, भयङ्कर और घातक रूप में आवे। दूसरे उनकी अनुभूति से भोक्ता की वृत्तियाँ संकुचित हों—भोक्ता को उनसे दु:ख होता हो। अप्रिय या मन पर आघात करने वाले, वृत्तियों को संकुचित करने वाले ये अदृश्य पदार्थ भी असुन्दर वर्ग में रखे जाने चाहिए। इनके विपरीत सुन्दर वर्ग में। इन अदृश्य पदार्थों का आश्रय या भोक्ता-सम्बन्ध के कारण सौंदर्य का अनुपात भी बदलता रहता है और सुरूप-कुरूप का लेबल भी। ऐसा क्यों होता है? यह प्रश्न अभी तक उत्तर-वंचित ही है। हमारी समझ में तो प्रिय-अप्रिय या सुन्दर-असुन्दर की अनुभूति या विवेक का कारण है हमारे संस्कार या मान्यताएं।

सब व्यक्तियों के मानसिक विकार समान सबल नहीं होते, अनुभूतियाँ समान तीव्र नहीं होतीं, सब का सौंदर्य-विवेक भी समान सजग नहीं होता। तब यह माना जायगा कि सौंदर्य-बोध मूल रूप में सब व्यक्तियों के मन के भीतर होते हुए, इसका विकास और परिष्कार वैयक्तिक शिक्षा, संस्कृति, कला, साधन और संस्कार पर निर्भर है। साहित्य, कला, दर्शन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, मानवचरित्र और स्वभाव भौतिक परिस्थितियों के साँचों

में ढलकर ही विशेष स्वरूप पाते हैं। भौगोलिक परिस्थितियाँ जैसे धर्म-दर्शन आदि को विशेष स्वरूप देती हैं, ऐसे ही सौंदर्य-बोध के विकास और ह्रास, परिष्कार और विकार के लिए भी ये ही उत्तरदायी हैं। सब से पहले व्यक्ति प्रकृति माँ की उन्मुक्त, विस्तृत, विशाल और उदार गोद में सौंदर्य-बोध की शिक्षा पाता है। सभ्य सामाजिक जीवन में आकर उसमें परिष्कार और विकास करता है। पारिवारिक जीवन में व्यक्ति इसके संस्कारों की वसीयत का मालिक बनता है।

जिस मानव-समूह को प्रकृति की विविधता से सम्पन्न, जितने भी विस्तृत भूखण्ड में विचरण करने का अवसर मिलेगा, उसका सौंदर्य-ज्ञान उतना ही अधिक सम्पन्न और सूक्ष्म होगा। अनेकताओं, और विविधताओं के बीच ही मनुष्य का बोध चुनाव और अन्तर की पहचान सीखता है। जितने रूप-रङ्ग, आकार-पदार्थ और अनुभूतियों के उद्दीपक अवसरों के बीच मनुष्य का जीवन व्यापार चलता है, उसका तुलनात्मक विवेक उतना ही अधिक विकसित होता है। तुलनात्मक विवेक से परिमाण-बोध या आनुपातिक-ज्ञान का विकास होता है। आनुपातिक ज्ञान या अन्तर-बोध के द्वारा रूपों-रंगों की विशाल राशि में से वह पदार्थों का चुनाव कर सुन्दर-असुन्दर के परिमाण लेबल चिपकाता है। प्रकृति के कंजूस और संकुचित क्षेत्र में सौंदर्य-बोध अपने आदि और अविकसित रूप में ही रह जायगा। असंख्य रङ्ग, रूप, आकार, अनुभूतियों के उद्दीपक आलम्बनों की विशाल राशि से सम्पन्न प्रयोगशाला ही जब प्राप्त नहीं, तब मनुष्य का विवेक तुलनात्मक प्रक्रिया में लगेगा ही कैसे ?

जंगली जीवन में मानव अपने सौंदर्य-बोध की परख और सौन्दर्य भोग की तृप्ति प्रकृति-सुलभ पदार्थों से ही करता है। प्रकृति के विशाल भण्डार से प्रिय लगने वाली वस्तुएं उसकी आँखें आप ही चुन लेती हैं। किस पक्षी के पंख अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर हैं, उन्हें बालों में किस प्रकार खोंसने से वह अधिक मोहक या आकर्षक लगता है, चुनाव और उपलब्धि के प्रचुर अवसर सुलभ रहने पर, यह विवेक उसमें स्वत: ही विकसित हो जाता है। शृङ्गार सजावट का सम्बन्ध निज से ही नहीं, समाज से भी है। अन्य लोगों की स्वीकृति भी सौंदर्य-बोध और रुचि में परिष्कार और परिवर्तन करती है। सीपों, शंखों, कौड़ियों, पंखों, फूल-पत्तों और मृग-चर्मों से सजे जङ्गली मनुष्यों में सौन्दर्य-बोध आदिम रूप में पाया जाता है। चाहे हम इनकी शृङ्गार-सजावट में तुलनात्मक परख न कर सकें, पर उनमें तुलनात्मक सौन्दर्य-बोध होता अवश्य है। असभ्य और जङ्गली समाज को भी सौन्दर्य के बारीक अन्तर का अल्पाधिक ज्ञान अवश्य होता है।

सभ्य-सामाजिक जीवन की आधार-शिला ही जैसे सौन्दर्य-बोध है। जो मानव-समूह सौन्दर्य के प्रति जितना जागरूक होगा, वह उतना ही सभ्य कहलायेगा। सौन्दर्य बोध ही सभ्यता की कसौटी है। प्राकृतिक परिस्थितियों से उत्पन्न सौंदर्य-ज्ञान सभ्य जीवन में आकर और भी परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण बनता है। मशीनी उद्योगों ने सौंदर्य-साधन, शृङ्गार-सामग्री, प्रसादन अनुलेपन को सभी के लिये सुलभ कर दिया है। सौन्दर्य-वर्द्धन के साधन उपलब्ध होने से सौंदर्य-भोग की तृप्ति भी सरल हो गई है। तितलियों के परों की नकल पर निर्मित परिधान सुलभ हैं। विविध पुष्पों के रङ्ग, पंखों की जगमग, पक्षियों और मछलियों के आकार वस्त्राभूषणों में उतर आये हैं। प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों की अनन्त सुकुमारता, स्निग्धता, मसृणता, अनेकरूपता और रङ्गीनी का उपभोग सभ्य मानव स्वनिर्मित परिधान, प्रसाधन और अलंकारों में करता है। इन्हीं के आधार पर हम किसी देश को सभ्य या असभ्य कहते हैं।

साहित्य और कला तो सौन्दर्य भावना से इतने अनुप्राणित और प्रभावित हैं कि सौंदर्य-शास्त्र साहित्य-शास्त्र का पर्याय-सा बन गया है। रस और अलंकार का बहुत-कुछ आधार ही सौन्दर्य-बोध है। वीर, शृङ्गार, हास्य, करुण, वात्सल्य और शान्त रस तो सौन्दर्य-शास्त्र के विधि-निषेधों का काफी पालन करते हैं। धीर-ललित, धीरोदात्त और धीर-प्रशान्त नायक तथा सभी

प्रकार की नायिकाएं, दैहिक रूप में सुषमा-यौवन-सम्पन्न मानी गई हैं। उनके रूप-माधुर्य का चित्रण और भावोत्तेजक चेष्टाओं का निरूपण मन को सुन्दर लगे, तभी रसोद्रेक या रसानुभूति होगी। उनमें सुन्दर वर्ग में आने वाले सभी गुणों का होना आवश्यक है।

साहित्य और जीवन में अलंकारों का प्रयोजन क्या है? सौन्दर्य-वर्द्धन ही तो। इसलिये अलंकार-शास्त्र में सुन्दर, मोहक, आकर्षक और प्रिय लगने वाले उपमानों के चुनाव का ही आदेश है। केवल समान धर्म के निरूपण से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अप्रस्तुत प्रशंसा, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार नहीं गढ़े जा सकते। भद्दे और भोंडे-कुरूप उपमानों के चुनाव के कारण भी केशव की इतनी कड़ी आलोचना की जाती है। शरद पूर्णिमा के जगमगाते चाँद से मुँह की समानता की जाती है—पैट्रोमेक्स लैम्प या सर्चलाइट से शायद कोई प्रयोगवादी भी मुँह की समानता दिखाने की हेकड़ी न दिखाए। नाक को शुक चोंच के समान ही बताया जाता है—हंसिया के समान कोई कट्टर प्रगतिवादी भी नहीं बताता। आँखों के उपमान भ्रमर-खंजन हैं, कौआ क्यों नहीं?—जब कि कौआ अधिक काला होता है। इसका उत्तर है—हमारा सौंदर्य-विवेक।

दर्शन, धर्म और संस्कृति के विकास में भी सौंदर्य-भावना एक मुख्य प्रेरणा रही है। सभी धर्मों में आराध्य को सौंदर्य, सुषमा, माधुर्य, शील, शक्ति, वात्सल्य, करुणा, अनुग्रह, प्रेम आदि गुणों का आदर्श-रूप माना गया है। राम शील-शक्ति-सौंदर्य के अनन्त भण्डार हैं। सीता अलभ्य और लोकातीत सुषमा-सुकुमारता की राशि हैं। राधाकृष्ण तो हैं ही रूप-सौंदर्य के देवता। सौंदर्य-शिल्पियों ने मरियम, महातारा, लक्ष्मी, सरस्वती, गौरी और ईसा, बुद्ध, विष्णु, शिव आदि का भावों की दिव्यता तथा सौंदर्य-माधुरी की अलौकिकता से अभिसिक्त रूप हमारे सामने रखा है। अनुपम सौंदर्य-सम्पन्न इष्ट की प्रतिष्ठा ही मानव-मन में की जा सकती है, भयङ्कर, कठोरकर्मा, कुरूप इष्ट की नहीं। क्योंकि सौंदर्य मानव-हृदय की चिरन्तन भूख है और सौंदर्य-बोध उस भूख के लिए भोजन जुटाता है।

(पृष्ठ ८ का शेषांश)

विभिन्न दृष्टियों से विचार की दृष्टि से भी कई पत्रों की आवश्यकता होती है। वस्तुतः पत्रों के प्रसार और प्रचार की समस्या एक कठिन समस्या है। कई पत्र निकलें और वे सभी चलते रहें इसके लिए सरकार को भी सहयोग करना चाहिए—शिक्षा के प्रसार के साथ हमारी साहित्यिक चेतना का प्रसार उसी गति से नहीं हो रहा है।

''समालोचना'' का अगला क़दम सौन्दर्य-शास्त्र है। इसमें व्यावहारिक गुण-दोष विवेचन के स्थान पर शुद्ध सैद्धान्तिक स्तर पर रह कर सोचना पड़ता है। अभी तक यह विषय उपेक्षित रहा है। ऐसे आवश्यक विषय पर विशेषाँक के साथ ''समालोचक'' का उद्घाटन करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। जो कार्य ''सुन्दर'' से प्रारम्भ हुआ है, वह ''सत्य'' व ''शिव'' से युक्त होगा ही, क्योंकि सत्य-शिव-सुन्दर एक और अभिन्न हैं। ''सौंदर्य-शास्त्र'' सभी ललित कलाओं को उपकरण के रूप में ग्रहण कर ''सौन्दर्य'' की विवेचना करता है। वस्तुतः सौन्दर्य-शास्त्र 'समालोचना' की समालोचना है अतः ''समालोचक'' द्वारा 'समालोचना' की भी 'समालोचना' से कार्य आरंभ हो रहा है। यह उसके नाम और उसके योग्य सम्पादकों के अनुरूप ही है।

मैं हृदय से समालोचक की सफलता चाहता हूँ और उसका उद्घाटन करते हुए बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

'समालोचक' का भविष्य उज्ज्वल है। भारतीय साँस्कृतिक जागरण में ''समालोचक'' निश्चित रूप से साहित्य और संस्कृति के पुनर्मूल्याङ्कन द्वारा हिन्दी भाषा को गौरवान्वित करेगा। मेरा आशीर्वाद और शुभ कामनाएं ''समालोचक'' के साथ हैं।

साहित्य में आलोचना का स्थान

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

"नयापथ" के जनवरी अङ्क (१६५८) में हिन्दी लेखकों के साहित्यकार सम्मेलन (१३-१४-१५ दिसम्बर १६५७—प्रयाग) में पठित कुछ निबन्ध प्रकाशित हुए हैं।

ये निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं, दो दृष्टियों से। प्रथम—ये निबन्ध हिन्दी के कई प्रमुख लेखकों के बीच में पढ़े गये हैं और द्वितीय—इनमें निश्चित रूप से कुछ निबन्ध विचारोत्तेजक हैं। यह आवश्यक है कि इस प्रकार के सम्मेलनों के लिए लिखे गए लेखों और दिए गए भाषणों को या तो अलग से पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जाय अथवा शेष सभी लेखों को संक्षिप्त करके, "नयापथ" अगले अङ्कों में प्रकाशित करदे। इससे विभिन्न विचार-धाराओं से पाठक परिचित होंगे और सम्मेलन में अनुपस्थित लोगों को भी लाभ होगा। निश्चित रूप से 'नयापथ' ने कुछ लेखों को प्रकाशित कर प्रशंसनीय कार्य किया है।

"साहित्यकार सम्मेलन" बहुत आवश्यक हैं, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। शर्त यह है कि 'संयोजक' अधिक सावधानी बरतें और विचार के स्तर को उच्च बनाए रहें अन्यथा कटुता, कोलाहल और कलह का जन्म होता है। यह प्रसन्नता का विषय है कि "सह अस्तित्व" के इस युग में "सहचिंतन" के द्वारा "संयुक्तता" की ओर हम क्रमश: बढ़ रहे हैं। प्रयाग सम्मेलन का अगला अधिवेशन 'काशी' में होगा। उससे इस दिशा में थोड़ी सी और सावधानी बरतने पर अधिक सफलता मिलेगी ऐसी आशा न करने का कोई कारण नहीं है।

"नया-पथ" में प्रकाशित निबन्धों में यों तो सभी लेख पठनीय हैं परन्तु यशपाल जी का "साहित्य में आलोचना का स्थान" शीर्षक लेख बहुत मनोरंजक है। हम इसी लेख की मान्यताओं पर यहाँ विचार करते हैं। पाठकों की सुविधा के लिए हम यशपाल जी के विचारों को पहले प्रस्तुत करेंगे:—

(१) "साहित्य" एक वस्तु है, आलोचना उस 'वस्तु' का मूल्यांकन है, मूल्यांकन स्वयं अपने में कोई स्वतंत्र 'वस्तु' नहीं बन सकती, न वह "साहित्य" का स्थान ले सकती है। आलोचना को साहित्य नहीं समझना चाहिए।

(२) हिन्दी में पिछले दशक में रचनात्मक साहित्य का सृजन कम हुआ है, आलोचना की भरमार है।

(३) आलोचना के आधिक्य का कारण है हिन्दी की परीक्षा-सम्बन्धी पुस्तक लेखन का व्यवसाय।

(४) पिछले दशक की आलोचनात्मक मान्यताओं में परस्पर विरोधी तत्त्व दिखाई पड़ते हैं अत: उनसे हानि अधिक हुई है।

(५) आलोचना के मान विश्वास योग्य हो नहीं सकते। साहित्यकार के लिए "समाज-निरीक्षण" की आवश्यकता है, आलोचना की नहीं।

(६) आलोचक प्राय: जनमत की स्वीकृति के अनुसार अपने निर्णय बदला करते हैं।

(७) आलोचक की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का कुछ भी मूल्य नहीं है।

(८) आलोचक रचनाकारों का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता।

(६) आलोचना से दलबन्दी का जन्म हुआ है। आलोचक पक्षपाती और अहंकारी होते हैं।

१०) कला और साहित्य की परख आलोचना व मूल्याङ्कन का विश्वास योग्य मान सामाजिक प्रवृत्ति से सचेत पाठकों की प्रतिक्रियाएं ही हो सकती हैं।

(११) यदि आलोचना के नाम पर इतना श्रम और साधन नष्ट न किए गए होते तो निश्चय ही हमारे

साहित्य की कोई हानि न होती ।

सामाजिक प्रवृत्ति से सचेत पाठक, जो आलोचक नहीं हैं, वे भी यशपाल जी के इन निष्कर्षों को देख करके स्तम्भित रह जाएंगे । गम्भीर विचारक कहेंगे कि ऐसे उत्तरदायित्वहीन लेखों पर ध्यान न देना अधिक अच्छा है; परन्तु यशपाल जी स्वयं एक उत्तरदायी लेखक हैं, फिर इतना असंतुलन क्यों है ? यशपाल जी से परिचित मित्रों ने बताया है कि ये विचार नए नहीं हैं । यशपाल जी का आलोचना के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण काफी पुराना है । इस लेख से यशपाल जी का भ्रम-नाश तो नहीं होगा किन्तु अपने लेख से अन्य पाठकों के मन में वह अवश्य भ्रम-उत्पन्न कर सकेंगे और ऐसे पाठकों के सम्मुख दूसरा पक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक है ताकि उन्हें निर्णय करने में सुविधा रहे ।

प्रथम यह देखा जाय कि आलोचना को साहित्य के लिए आवश्यक माना गया है या नहीं । हमारे आचार्यों ने प्रतिभा को कारयित्री व भावयित्री प्रतिभा-इन दो भागों में बाँटा है । प्रथम से साहित्य की सृष्टि होती है, दूसरी से उस पर विचार होता है । इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि रचनाकार जिस भाव-भूमि पर बैठकर लिखता है, उसकी जो जो मानसिक स्थितियाँ होती हैं, उनका साक्षात्कार भावक को भावयित्री प्रतिभा द्वारा हो जाता है—यदि उसकी रुचि परिष्कृत है, उसने विविध साहित्य का "मनन" किया है, जीवन सम्बन्धी उसका अनुभव गहरा है और यदि वह स्वयं "सहृदय" व्यक्ति है । यदि ऐसा नहीं है तो सामाजिक दृष्टि से जागरूक "पाठक" व "आलोचक" ये दो प्रकार के परस्पर विरोधी वर्ग मानने होंगे, जिसका कोई आधार नहीं है । स्रष्टा विचारक भी हो सकता है और आलोचक स्रष्टा भी हो सकता है । वस्तु स्थिति यह है कि रचना के लिए जो मानसिकता (Mental faculty) अपेक्षित है, वह आलोचक में होनी चाहिए । तभी वह 'मनन' द्वारा साहित्यकार के साथ तादात्म्य करके उसके मन की परख कर सकता है । जो आलोचक रचनाकार की मानसिक स्थिति की कल्पना नहीं कर सकता, उसकी भाव भूमि तक नहीं पहुँचता, वह अच्छी आलोचना नहीं लिख सकता । किन्तु उक्त गुणों से सम्पन्न आलोचक में भावयित्री प्रतिभा का विकास हो जाता है और वह निश्चित् रूप से साहित्यकार का एक सीमा तक पथ-प्रदर्शन कर सकता है । इसके लिए उसे अनेकानेक शिल्प विधानों व मानसिक मूर्त्तियों से परिचित होना पड़ता है ।

प्रश्न होगा कि आलोचक में दोनों प्रकार की प्रतिभाएं होती हैं तब वह आदर्श साहित्य की सृष्टि में समर्थ क्यों नहीं होता ? अनेक लेखकों ने दोनों क्षेत्रों में सफलता पाई है । हजारीप्रसाद द्विवेदी आलोचक होने पर भी "बाणभट्ट की आत्म कथा" भी लिख सकते हैं; "प्रसाद" जी निबन्धकार, नाटककार व कवि भी थे किन्तु साथ ही नन्ददुलारे बाजपेयी, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा आदि लेखक प्रमुखत: आलोचक ही हैं । रचनात्मक साहित्य में वे अधिक कार्य नहीं कर सके किन्तु इन सब आलोचकों में 'रसास्वादन' की सहृदयता विद्यमान है । तथ्य यह है कि भावयित्री प्रतिभा प्रबलतर हो जाने पर प्राय: लेखक विवेचन, विश्लेषण और नई मान्यताओं की स्थापना में अधिक सफल होता है और रचनात्मक साहित्यकार अपने क्षेत्र में । जिस प्रकार भावयित्री प्रतिभा से युक्त लेखक अच्छा स्रष्टा नहीं हो पाता क्योंकि सृष्टि की ओर अनवरत उन्मुखता से रचना के प्रभाव को उसकी समग्रता ग्रहण करने की क्षमता होने पर भी उसमें विवेचनात्मक शक्ति (Critical faculty) की कमी होती है ; अत: वह अनेक मिली हुई मानसिक स्थितियों के वर्गीकरण, विवेचन और उनसे निष्कर्ष निकालने में कठिनाई अनुभव करता है, जबकि आलोचक कारयित्री प्रतिभा की अप्रधानता से अपने क्षेत्र में ही अधिक सफल होता है । अत: आलोचक में "विवेचन" और कलाकार में "संयोजन और सृष्टि" की प्रधानता दिखाई पड़ती है । परन्तु अप्रधानता का अर्थ "अत्यन्त अभाव" नहीं है, इससे सभ सहमत होंगे और तब यह मानना होगा कि आलोचक के कार्य के पीछे पुष्ट सैद्धान्तिक आधार है । तब यह भी कहना

होगा कि न कलाकार का स्थान आलोचक ले सकता है और न आलोचक का स्थान कलाकार। यद्यपि बहुत से व्यक्तियों में दोनों प्रकार की प्रतिभाओं का चमत्कार एक साथ देखा जाता है परन्तु उससे उक्त नियम पुष्ट ही होता है।

सूर महान कवि थे परन्तु बल्लभाचार्य रसज्ञ होने पर भी 'सूर' नहीं बन सके और न 'सूर' में बल्लभाचार्य जैसा मौलिक विचारक होने की क्षमता थी। रामचन्द्र शुक्ल उच्च कोटि के आलोचक थे परन्तु अच्छे कवि नहीं। बर्गसाँ महान विचारक था। उसने दर्शन के अतिरिक्त हास्य का भी सर्वश्रेष्ठ विवेचन किया है परन्तु हास्यरस का वह लेखक न था; इसलिए क्या उसके विवेचन को मिथ्या माना जाय ? हास्य को हृदयंगम करने के लिए समर्थ होना एक बात है और हास्यरस की रचना करने के लिए सक्षम होना दूसरी। अत: आलोचक से "मॉडल" माँगने का आग्रह व्यर्थ है।

द्रष्टव्य यह है कि क्या अपेक्षित सहृदयता और रसास्वादन की क्षमता आलोचक में है या नहीं।

भरतमुनि, भामह, दण्डी, वामन, ध्वनिकार, मम्मट और विश्वनाथ में से एक भी कवि नहीं था। क्या इनकी 'आलोचना' के विरुद्ध संस्कृत के समृद्ध साहित्य में विद्रोह चला ? क्या इनसे भारतीय साहित्य प्रभावित हुआ है ? आलोचक भूलें करते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कलाकार भूलें करते हैं। दोनों को अपनी आलोचना से लाभ होता है। भामह से लेकर ध्वनिकार के पूर्व तक सभी रूपवादी आचार्य थे परन्तु छठी शताब्दी से लेकर १० वीं शताब्दी तक—४०० वर्षों के आलोड़न-विलोड़न के पश्चात् यह निश्चय हो पाया कि साहित्य की आत्मा "रस" या भाव है अत: कलाकार को उसकी उपेक्षा न करनी चाहिए। आलोचकों के इस पथ-प्रदर्शन का ही यह परिणाम था कि भारतीय कलाओं में "रस" और "ध्वनि" की इतनी प्रधानता पाई जाती है। जो 'रसवादी' नहीं थे वे अन्य किसी पथ का अनुकरण करते रहे, किन्तु मौलिक मान्यताओं को चुनौती किसी ने नहीं दी। इस पथप्रदर्शन के अशुभ परिणाम भी हुए। उक्ति-वैचित्र्य और ध्वनि-प्रधान काव्य का जो विस्तार आज है, वह मध्यकाल में न हो सका। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आलोचना मौलिक मान्यताओं को प्रत्येक नई रचना आते ही छोड़ दे। यशपाल जी ने यह स्वीकार कर लिया है कि "हर नयी रचना साहित्य सम्बन्धी धारणाओं को कुछ न कुछ बदल देती है" परंतु वह यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक नई रचना कुछ बहुत ही आधार भूत मान्यताओं को पुष्ट (Confirm) भी करती है। प्रत्येक नवीन रचना में नवीन तत्त्वों की खोज और प्रशंसा आवश्यक है परन्तु कुछ धारणाओं के अपेक्षाकृत स्थायित्व को समाज स्वीकार कर लेता है और इन्हें आगे भी स्वीकार करना पड़ता है। परम्परा और प्रगति का यही अर्थ है। अत: परम्परा में हमारी प्रगति के लिए बहुत से तत्त्व सुरक्षित रहते हैं, उनकी स्वीकृति पर जोर देकर आलोचक परम्परावादी नहीं बनता, न वह विकास को रोकता है, अपितु वह लक्ष्य विशेष की ओर समाज को ले चलने में उन स्थायी मान्यताओं की स्वीकृत पर जोर देकर सहायता करता है। कुछ ऐसी मान्यताएं लीजिए:—

(१) साहित्य का प्राण "भाव" है, विचार तत्त्व नहीं। कल्पना, विचार और रूप-विधान के द्वारा इस भाव की व्यंजना ही साहित्य-सृष्टि है। "भाव" (Emotion) संवेदनाओं और अन्तःप्रवृत्तियों (Sensations and instincts) के ही आगे के विकसित रूप हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार "मात्रा व गुण" दोनों दृष्टियों से परिवर्तित होते रहते हैं। साहित्य में इन्हीं को अभिव्यक्ति मिलती है। भाव, विचार व कल्पना परस्पर सम्बद्ध तत्त्व हैं, परन्तु विकास के दौरान में इनकी भिन्नता भी स्पष्ट ही है।

(२) भाव, विचार, कल्पना आदि बाह्य जगत के साथ सम्बद्ध हैं। परिस्थिति व द्रष्टा दोनों के द्वन्द्व से ही सृष्टि होती है और इस द्वन्द्व से हमारा मानसिक जगत अपने अनुकूल परिस्थिति ढालने में सफल होता है। साथ ही तदनुसार हमारा मानसिक जगत भी परिवर्तित होता चलता है।

(३) युगानुरूप व्यक्ति व परिस्थिति के नवीन द्वन्द्व से नवीन मानसिकता की अभिव्यक्ति के लिए नवीन अभिव्यंजना पद्धतियों का आविष्कार होता है। परन्तु एक बार विकास में आकर मनुष्य के "भाव" बहुत धीरे-धीरे बदलते हैं। भाव के विषयों में अन्तर हो सकता है। उसकी अभिव्यक्ति के नए नए तरीके निकल आते हैं। परन्तु रति, क्रोध, भय आदि भावों में आत्यंतिक परिवर्तन इतना धीमा होता है कि उन्हें "स्थायी" कहा जाता है। विकास की दौड़ में भावों की संख्या बढ़ती भी रहती है, यथा देशभक्ति, श्रम-प्रेम आदि नए भाव भी आ जाते हैं।

(४) समाज के विकास के विशेष सोपानों में "कला" सर्वदा लक्ष्य विशेष को सामने रखती है। किन्तु उस लक्ष्य की विशेषता के साथ-साथ मनुष्य जीवन के सामान्य भावों के स्थायित्व के कारण आगे के युगों में ही वह साहित्य 'प्रिय' बना रहता है।

मान्यताएं और भी हैं, परन्तु ये आधारभूत निष्कर्ष हैं। आलोचक जब साहित्य पर विचार करता है तो इन मान्यताओं का विरोध होने पर वह "कलाकार" के पथप्रदर्शन का दम्भ नहीं करता अपितु पूरी ईमानदारी से इन माँगों की पूर्ति चाहता है। यह सामाजिक मंगल की भावना है, व्यक्तिगत अहंकार नहीं। यशपाल जी आलोचक की नीयत पर शक करते हैं, करें, परन्तु आलोचना ने इस 'क्षोभ' का भी उत्तर दिया है।

आज की आलोचना अपने में एक "वस्तु" है, यह सभी जानते हैं। वह आज सम्बद्ध विवेचन को पसन्द करती है, साहित्य को वह संस्कृति का एक अभिन्न अंग मानती है और संस्कृति के किसी पक्ष के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, धर्म, दर्शन आदि का अध्ययन आज अनिवार्य हो गया है। इन सभी क्षेत्रों से सामान्यत: परिचित व्यक्ति ही समाज के विकास के लक्ष्य को पहचान सकता है और उस लक्ष्य की पूर्ति के प्रयत्न को ही वह 'मङ्गल' कहता है। जब साहित्य दिशा-भ्रष्ट होता है तब आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह साहित्यकार के सम्मुख अपना मंतव्य प्रकट करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार इस सब ज्ञान-विज्ञान से परिचित नहीं हो सकता परन्तु जैसा ऊपर कहा है कि साहित्य की सृष्टि में बहुत सा साहित्य 'दिशा हीन' भी आता है क्योंकि वह कोरी भावुकतावश या दुराग्रहवश भी तो लिखा जाता है। प्रयोगवादियों का साहित्य ऐसा ही दिशाहीन साहित्य है जिसके अज्ञेय अगुआ हैं और उन्हें यशपाल जी प्रगतिशील ही नहीं "प्रगतिवादी" भी कहते हैं और इनके साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित पक्षपात और भ्रम पूर्ण विवेचन का समर्थन करते हैं। जिन आलोचकों ने यशपाल जी की रचनाओं में आग, विद्रोह, वर्ग-संघर्ष की तीव्रता को देखकर उन्हें प्रेमचंदोत्तरीय उपन्यासकारों में उच्च स्थान दिया है, वह क्या इसलिए कि जनता ने उन्हें स्वीकार कर लिया है ? जनता ने "दिव्या" से अधिक "घेरे के बाहर" को अधिक पसन्द किया है ! आलोचक ने "घेरे के बाहर" को जब्त कराया और 'दिव्या' की प्रशंसा की। अत: यह कहना गलत है कि आलोचक सदैव जनता के बहुमत के अनुसार अपना निर्णय बदलता है। परन्तु यह सही है कि यशपाल की रचनाओं में कामवासना का उत्तेजक चित्रण है, जो सामाजिक-यथार्थवाद में बाधक है। जो जनता "घेरे के बाहर" की अभ्यस्त रही है वह यदि वासना-उत्तेजक अंशों को ही श्रेष्ठ कहे तो आलोचक क्यों उसका समर्थन करे। यशपाल जी के क्षोभ का यह एक प्रमुख कारण है कि उनकी रचनाओं की रीतिकालीनता आलोचकों को अप्रिय है।

जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी और यशपाल के यौनवाद को देखकर ही क्षुभित आलोचक कभी कभी पुकार उठता है कि प्रेमचंद के बाद गतिरोध आया है। परन्तु उसका अर्थ केवल यह है कि प्रेमचंद की श्रेष्ठ परम्परा को यशपाल ने आगे बढ़ाया अवश्य है परन्तु इतना समर्थ कलाकार यदि यौनतृष्णा से न पीड़ित होता तो उसकी रचनाएं और भी श्रेष्ठ होतीं अथवा यह कि यशपाल की रचनाएं प्रचार का रूप धारण कर लेती हैं। प्रेमचंद में भी यह दोष एक सीमा तक मिलता है। आलोचकों ने क्या बुरा किया जो इस कटु किन्तु यथार्थ तथ्य की ओर

पाठकों का ध्यान आकर्षित करके उन्हें निर्भ्रान्त करने का प्रयत्न किया ?

पिछले दशक में आलोचना पूर्णतया निष्पक्ष, सैद्धान्तिक और महान रही हो, यह कोई नहीं कहता । किन्तु दलबाजों के बावजूद हिन्दी में अनेक सामान्य निर्णयों पर आलोचक पहुँचे हैं । प्रगतिवादी आलोचकों में 'आत्म-आलोचना'' से परिवर्त्तन और सन्तुलन आया है और अब यह मान लिया गया है कि वैयक्तिक आलोचना के स्थान पर सैद्धान्तिक आलोचना ही होनी चाहिये । प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में पिछले १० वर्षों में बहुत अधिक कार्य हुआ है । स्थायी मान्यताओं की खोज और प्रगति में परम्परा के योग तथा 'परम्परा' के पुनर्मूल्याङ्कन का कार्य पिछले १०-१२ वर्षों में सब से अधिक हुआ है । डा० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर, ह० द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, लीलाधर गुप्त, भगीरथ मिश्र, बलदेव उपाध्याय आदि के ग्रन्थ इस दिशा में प्रमाण हैं । सामयिक आलोचना में मनोवैज्ञानिक आलोचना के साथ-साथ समाज-शास्त्रीय आलोचना का विकास हुआ है । सभी साहित्यिक समस्याओं को ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में रखकर देखा गया है। भारतेन्दु युग, प्रेमचन्द-शुक्ल युग और सम-सामयिक रचनाओं पर शोध व आलोचना के अनेक अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हुए है । कामायनी के बाद काव्य में आलोचकों ने "स्वतन्त्र-प्रेम और प्रकृति काव्य" को प्रयोगवादी कविता से अलग कर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। "पार्वती" जैसे महाकाव्यों को उचित स्थान दिया है । नए उपन्यासकारों में आँचलिक उपन्यासों का उचित मूल्याङ्कन हुआ है । आलोचक प्रेमचन्द-प्रसाद के बाद की श्रेष्ठ रचनाओं को चुनकर सामने रख सका है और प्राय: सभी आलोचक उनकी श्रेष्ठता के विषय में सहमत हैं । कई नए लेखकों की ओर, जिन्हें जनता अभी नहीं पहचान पाई, आलोचकों ने जनता का ध्यान आकर्षित किया है । विवाद और चर्चाओं में ऊष्मा और आपाधापी के बावजूद आलोचना, व्याख्या, निर्णय और मान्यताओं की खोज—तीनों क्षेत्रों में नवीन साहित्य के साथ सम्बद्ध होकर चल रही है । "पाठ्य-पुस्तकों" पर आधारित "एक अध्ययन" और "कुंजी-लेखन" की निन्दा सबसे अधिक आलोचकों ने की है परन्तु पाठ्यक्रम पर आधारित आलोचना और वास्तविक आलोचना का अन्तर यशपालजी नहीं देखना चाहते तो यह किसका दोष है ? क्या आलोचना की इस प्रगति और उपलब्धि को न देख कर यह उचित होगा कि विवेचना और विचारक की सत्ता को ही चुनौती दी जाय ?

आलोचना के व्यापक विषय बनने का यह शुभ परिणाम हुआ है कि पिछले दशक में व्यक्तिवादी आलोचना कम हुई है । प्रभाववादी आलोचना में एक लेखक शांतिप्रिय द्विवेदी हैं परन्तु उनके भी पीछे गाँधीवादी मान्यताएं हैं । क्या आलोचना में एकांगिता का विरोध पिछले दशक में स्वयं आलोककों ने नहीं किया है ? ऐसा प्रतीत होता है कि यशपाल जी के मन में किसी विशिष्ट आलोचक के प्रति क्षोभ है, अथवा पाठ्यक्रम पर आधारित आलोचना पर वे रुष्ट हैं । परन्तु इसके लिए 'आलोचना होनी ही नहीं चाहिए' या वह साहित्य का अङ्ग नहीं है यह कहना उचित नहीं कहा जा सकता ।

यशपाल जी का यह कहना सही है कि एक आलोचक सभी विधाओं का विशेषज्ञ नहीं हो सकता । परन्तु यहाँ फिर 'अतिवादी' दृष्टिकोण से काम लिया गया है । जिस प्रकार एक कलाकार कविता, नाटक, कथा, आदि सभी विधाओं को अपना सकता है उसी प्रकार आलोचक कई विधाओं पर लिख सकता है क्योंकि विधाओं में अन्तर 'रूप' का अन्तर है, "स्प्रिट" का नहीं । नवीन मनोविज्ञान तो यह सिद्ध कर रहा है कि अतिशय विशेषीकरण गलत है । सम्बद्धता और समग्रता पर ध्यान देने से ही निर्णय सही होता है । अत: अलग-अलग विधाओं की बारीकियों के अध्ययन में विशेषीकरण ठीक है परन्तु सामान्यत: सभी विधाओं पर विचार असम्भव नहीं है । किसी लघु कथा के सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो सकता है पर चर्चा होती रहे तो आप देखेंगे कि

(शेष पृष्ठ ४६ पर)

मेरी उपन्यास-कला विषयक धारणाएँ

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

मैं नहीं समझता—कि मेरी उपन्यासकला विषयक धारणाओं को कोई पढ़ना पसन्द भी करेगा। उपन्यास और कहानियों के नामांकित समालोचक मुझे न उपन्यासकार समझते हैं, न कहानीकार। ऐरेगैरों की बात नहीं कहता—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री गुलाबराय जैसों का भी यही मत है। हाल ही में एक हिन्दीकथा साहित्य पर पुस्तक छपी है, श्री डा० देवराज दिनेश की। उसमें हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकार हैं सर्वश्री जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल और अज्ञेय। इनके बाद हैं—भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अश्क आदि। प्रेमचन्द को आधुनिक मनोवैज्ञानिक कथा साहित्य का प्रवर्त्तक माना है। अंशतः सर्वश्री कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन भी उनके पूरक हैं। सब कुछ इस नवीन समालोचनात्मक पुस्तक में है—पर मैं सिफर हूँ। बड़ी ही चमत्कारिक बात है यह। मेरी कहानियों की संख्या चार सौ से ऊपर है। और उपन्यास १८–२० हैं। मुझे यह मालूम है कि वे व्यापक रूप में पढ़े जाते हैं। लाखों आँखें उन्हें पढ़ती हैं। केवल ये समालोचक पुङ्गव ही नहीं पढ़ते। और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री गुलाबराय के सम्बन्ध में तो मैं कसम खाकर कह सकता हूँ कि मेरे उपन्यास और कहानी पढ़ना तो दरकिनार—वे यह भी नहीं जानते कि मेरे उपन्यास कितने हैं, क्या-क्या है? तथा कहानियाँ कौन-कौन सी हैं फिर भी वे हिन्दी के कथा-साहित्य की आलोचना करने का साहस अवश्य करते हैं। और एक बात इससे भी अधिक हास्यात्मक और गम्भीर है। वह यह कि अध्यापक-वर्ग साहित्य का समालोचक बन गया है। इसके अतिरिक्त वह पाठ्य-पुस्तकें तैयार करता है, जिसमें परस्पर प्रशंसत्ति का मरतवा काम करता है। परन्तु मैं केवल कहानी संग्रहों की बात कहता हूँ—मैंने अब से कोई चालीस साल पहिले एक कहानी लिखी थी—'दुखवा मैं का सों कहूँ मोरी सजनी', उस समय न तो मेरी साहित्य बुद्धि ही परिपक्व थी, न कथा का साहित्यिक रूप ही मैं समझता था। सच्चे अर्थों में ले-भग्गू साहित्यकार था। अब दिल्लगी देखिए कि यह कहानी आज भी मेरी प्रतिनिधि कहानी की हैसियत से विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जा रही है। आज के तरुण तो उसे पढ़ ही रहे हैं, उनके पिताओं ने भी उसे पढ़ा—और शायद आज के तरुणों के पुत्र भी पढ़ेंगे। अब मैं पूछता हूँ—इन कहानी संग्रहकारों से—कि इन चालीस सालों में क्या मैंने भाड़ झोंका है? साढ़ चार सौ कहानियाँ लिखी हैं, सो सब रद्दी हैं। अर्थात इन चालीस सालों में मेरे कथा-साहित्य का विकास ही नहीं हुआ है। परन्तु नए साहित्य को पढ़े कौन? विश्वविद्यालयों के अध्यापक जैसे अजगर जीव परिश्रम क्यों करने लगे। क्या जरूरत है कि वे नए साहित्य की प्रगति से आज के तरुणों को परिचित कराएं। वरन् एक बार जो मसाला उन्होंने दिमाग में भर लिया, उसे उगलने ही वे कालेज जाते हैं। मस्तिष्क की सफाई करने की उन्हें जरूरत ही क्या है।

बहुत से तरुण विद्यार्थी मुझसे मिलने और साहित्य चर्चा करने आते हैं। उनसे मैं सर्व प्रथम एक प्रश्न पूछता हूँ—कि मेरी लेखन शैली के सम्बन्ध में तुम क्या जानते हो? तो वे जरा झेंपते से कहते हैं, आपके साहित्य में अश्लीलता का पुट रहता है। विचारों का तारतम्य नहीं मिलता। इस पर मैं पूछता हूँ—मेरा कौन सा उपन्यास पढ़ा तुमने। तो वे कहते हैं, उपन्यास तो नहीं पढ़ा—पर हमारे अध्यापक ने यह पढ़ाया है। यह है अध्यापक वर्ग और समालोचना साहित्य की गतिविधि।

जी हाँ! मेरा काम किसी लेखक के सम्बन्ध में

कोई राय कायम करना नहीं है। जी हाँ, जैसा हो। मैं तो यहाँ यह बताना चाहता हूँ कि मेरी अपनी उपन्यास-कला के सम्बन्ध में क्या धारणाएं हैं। ऊपर इतनी बातें तो मैंने केवल इसलिए कहीं कि कोई यह न कहे—कि यह तीन में न तेरह में, फिर उपन्यासकला के संबंध में धारणा धारण करने वाला यह होता कौन है। ऐसी धारणाएं तो विश्वविद्यालयों के अध्यापकों ही को शोभा देती हैं। परन्तु फिर भी मैं इस सम्बन्ध में कुछ कहूँगा।

यथार्थ की स्थापना को मैं उपन्यास की सबसे बड़ी कला समझता हूँ। यथार्थ का अर्थ है सत्य। परन्तु सत्य को प्रभावशाली बनाने के लिये उसमें कृत्रिम अभिव्यंजनाओं का मिश्रण करना पड़ता है। इससे सत्य के व्यक्त परिमाण में अन्तर पड़ जाता है। परन्तु यह व्यक्त परिमाण का अन्तर सत्य की भाव मूर्त्ति को विकृत नहीं करता। केवल परिमाण में वृहत्त्व लाता है। साहित्य का सच्चा यथार्थ तो वही है, जिससे वृहत्त्व में सत्य का रूप अविकृत रहे। जैसे छोटे फोटो का इन्लार्जमैन्ट करने पर चित्र की आकृति बड़ी हो जाने पर भी उसका अविकृत रूप रहना आवश्यक है। गायक तार स्वर में भी गाएगा, मन्द स्वर में भी। पर स्वर में अचल रहेगा। स्वर का अचलत्व ही उसकी कला का सत्य है। गायक एक ही राग को, जो उसके मानस-पटल पर उभर रहा है, भिन्न-भिन्न वाद्ययन्त्रों पर एक दूसरे के अन्तर से ध्वनित करेगा। पर राग वही होगा। उसका बाह्य रूप भिन्न होने पर भी अभ्यन्तर एक है। वह एक सत्य की प्रतिष्ठा भूमि पर स्थिर है। यही यथार्थ है।

इस सम्बन्ध में एक और बात भी है जो सत्य के बाह्य और अभ्यन्तर में भेद उत्पन्न करता है। उपन्यास कार की अनुभूति शुद्ध वर्तमान में हो चाहे अतीत में, अथवा भविष्य में, परन्तु वह जो चित्र बनाएगा उसे चिरन्तन रूप में प्रतिष्ठित करेगा। इसके लिए उसे सत्य में कल्पना का मिश्रण करना पड़ेगा। इससे रचना की आकृति में भी अन्तर पड़ेगा और परिमाण में भी, परन्तु कल्पनाओं और व्यंजनाओं में लेखक की अनुभूति लिपटी चली जाती है, जिससे रचना के बाह्य अभ्यन्तर रूप में अन्तर होने पर भी वह चिरन्तन सत्य की प्रतिष्ठा भूमि पर स्थिर रहता है। उसी प्रकार, जैसे गायक आलाप, मूर्छना, लय, ताल के सब अभ्यन्तरों के बाद सम पर आ जाता है।

चिरन्तर सत्य के साथ—साहित्य के इस बाह्य और अभ्यन्तर भेद को जो वस्तु एकत्त्व प्रदान करती है, वह है—संयम। संयम से साधना सम्पन्न होती है। साधना से निवृत्ति एक प्रबल प्रवृत्ति बन जाती है जिससे कलाकार अपनी कला को अपने में नहीं समेट सकता। अपनी कला को विश्व में आमूर्यमाण करने के लिए उसे नादध्वनि का आश्रय लेना पड़ता है। नाद-ध्वनि में यदि कला डिग जाय तो कला भ्रष्ट हो जायगी। संयम ही से साधना कला का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् उसमें सौंदर्य का उदय होता है। वही सौन्दर्य सत्य का अविकृत रूप है। दूसरे शब्दों में वह यथार्थ का शाश्वत सत्य रूप है।

परन्तु, नग्न होना सत्य नहीं है। मर्यादा और संयम ही सत्य को नग्नता से प्रथक् करते हैं। अभिप्राय यह कि संयम से साधना सम्पन्न होती है और साधना से निवृत्ति एक प्रचन्ड प्रवृत्ति बन जाती है। यह साहित्यकार का काम है—कि वह प्रवृत्ति को काबू में रखे। प्रवृत्ति साधक के शयनागार का एक दीपक है जिसमें आलोक का सौन्दर्य है। यदि प्रवृत्ति को यत्नपूर्वक संयम से सीमित न रखा जायगा, तो वह आलोक के सौन्दर्य को जलाकर खाक कर देगा।

सत्य के अनेक रूप हैं---सुन्दर भी और असुन्दर भी। परन्तु सत्य का सुन्दर रूप संयम और साधना के परिणाम का अतिरेक है तथा साधना का सम्पूर्ण वैभव है। वैभव मैं उसे इस लिए कहता हूँ कि वह साधक की आवश्यकताओं से अतिरिक्त है, उसकी तृप्ति से परे है। इसलिए आनन्द की पृष्ठभूमि उसी पर आधारित है। आनन्द ही साधना का चरम ध्येय है। अथच् सौन्दर्य से साधक का प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं है, आनन्द का सम्बन्ध है। यदि प्रवृत्ति से संयम का सम्पर्क घट जाय तो साधक का विवेक भ्रष्ट हो जायगा। और उसका

वैभव, जो संयम और साधना का अतिरेक है---वासना का रूप धारण कर लेगा। और हीनता से पूर्णता की ओर बढ़ता हुआ साधक आवेश में आकर स्वेच्छाचारी और असंयत हो उठेगा। तब वह सौंदर्य की नहीं---काम विकारों की सृष्टि करेगा।

वास्तव में साहित्य हमारे विचारों का मंगलमय रूप है। मंगलमय वस्तु हमारी आवश्यकताओं की भी पूत्ति करती है और आनन्द भी देती है। संसार में यावन्मात्र मंगलमय वस्तु हैं, साहित्य उनमें सर्वोपरि है। उसमें वाणी का भी श्रेष्ठ श्रृङ्गार है और मन का भी। उसमें संयम भी है और सत्य भी। सत्य का सौन्दर्य भी है और ऐश्वर्य भी। संक्षेप में वह हमारी मानवता की सम्पूर्ण मंगल मूर्त्ति है।

साहित्य में सत्य के बराबर ही कल्पना का मूल्य है। यथार्थ और कल्पना के मेल से साहित्य में सत्य की स्थापना होती है। यथार्थ जिस प्रकार एक सम्पूर्ण सत्य है—कल्पना भी वैसा ही सम्पूर्ण सत्य है। इसी कारण यथार्थ से कल्पना का मेल होने पर भी सत्य दूषित नहीं होता। वाह्य जगत एक बड़ा सत्य है। परन्तु कल्पना का जगत भी उतना बड़ा सत्य है। यथार्थ का अपना महत्व है, और कल्पना का अपना। परन्तु मनुष्य पर जितना प्रभाव यथार्थ का पड़ता है, उतना ही कल्पना का पड़ता है। कल्पना चेतन मन की उपज है। आयु के बढ़ने पर चेतन मन का अधिकाँश अचेतन हो जाता है। इसी अचेतन मन में प्रवृत्तियाँ एकत्रित रहती हैं। चेतन और अचेतन मन का मध्यवर्ती भाग अर्धचेतन रहता है। यह चेतन अचेतन के बीच का मध्यवर्ती द्वार होता है। भावनाएं चाहे यथार्थ हों चाहे काल्पनिक अचेतन मन ही में रहतीं हैं। परन्तु वहाँ वे निष्क्रिय नहीं रहतीं। वे चेतन मन में जाने को उत्सुक रहती हैं। जैसे ही कुछ भावनाएं अचेतन की ओर बढ़ती हैं, तो अहम् से उनका संघर्ष होता है। तब वे भावनाएं छद्मवेश धारण करके लाक्षणिक बन जाती हैं। यही कल्पना का मूल स्रोत है। इसी से जब भावना चेतन में व्यक्त होती है तो प्राय: कल्पना बहुत होती है।

साहित्य का अनावेंग एक मन की भावना का दूसरे के मन में सार्थकता उत्पन्न करता है। अच्छे और बुरे भाव विश्व की हवाओं में उड़ते फिरते हैं। उनमें हास्य भी होता है और रुदन भी। भावना और कल्पना के आश्रय से ही साहित्यकार उन संवेदनाओं और हास्यों को मूर्त रूप देता है। हकीकत यह है कि मानव मन उन बहुत से अव्यक्त भावों को निरन्तर उच्छ्वासित करता रहता है, जो क्षणिक वेदना, चिन्ता और आल्हाद के विषयों में विश्व मानव के विशाल मनोलोक में घूमते रहते हैं। उनमें से साधक का मस्तिष्क प्रथक्-प्रथक् आकर्षण शक्ति का केन्द्र बन कर प्रथक्-प्रथक् भाव समूहों को अपने कल्पना सूत्र में गूंथ कर जनपद मन को अर्पण करता है।

अव्यक्त भावनायें मानव मन में बीज रूप से शाश्वत रूप में विद्यमान रहती ही हैं। साधक का मस्तिक जब किसी एक भावना के समुदाय को एकता के सूत्र में बाँध लेता है तो वह उसके रूप की मीमाँसा कल्पना के सहारे करता है। एक प्रभावशाली साहित्यकार एक विशिष्ट दृष्टि से जगत को, जीवन को, उसके आरम्भ को और अवसान को देखता है, उस पर विचार करता है और फिर कल्पना के सहारे उसकी रचना करता है। उसकी इस कल्पनामयी अन्तर्दृष्टि के द्वारा मानवलोक के अनन्त रूप का विशेष अव्यक्त पहलू व्यक्त होकर साहित्य सुधा की धारा बहा देता है।

सच्चे साधक की भाव दृष्टि कोई मिथ्या बकवाद नहीं है। निस्संदेह उसमें कल्पना है परन्तु उसका मूलाधार केवल सत्य भावों को शाश्वत रूप देने के लिए किया गया है। भावों की यह सृष्टि वस्तु सृष्टि के समान ही नियमों के अन्तर्गत है। इसलिए मानव मन जैसे लोक संसार को उसके प्राँगण में फैले हुए वन-पर्वत, जंगल-नदी, नगर-नागरिक, दरिद्र-धनी, जीवन-मृत्यु, हास्य और रुदन को देखता है, उसी भाँति उसी आँख से वह साधक के कल्पना प्रसूत साहित्य के प्राँगण में फैले हुए जीवन, मृत्यु, नगर, वन, पर्वत, नद, नदी और जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को सत्य निष्ठा और सत्य सौन्दर्य

से परिपूर्ण देखता है। वह दोनों में भेद नहीं कर सकता। साधक की प्रबल कल्पना और दिव्य मेधाशक्ति के द्वारा साहित्य की यह मूर्त भावधारा एक मुंह से दूसरे मुंह में, एक कान से दूसरे कान में, एक समाज से दूसरे समाज में घूमती रहती है। प्राचीन वैदिक उपाख्यानों से लेकर आज के आधुनिकतम, उत्कृष्टतम कथा साहित्य का यह वास्तविक इतिहास है। प्राचीन को नवीन बनाकर, विच्छिन्न को एकत्र करके साहित्यकार जब मानव लोक के सम्मुख उन्हीं की भाव कल्पना की मूर्ति संगठित-सुसज्जित, अलंकृत, मोहक-शाश्वत, सुन्दर वेश में उपस्थित करता है तो मानव लोक हर्ष से उन्मत्त हो धन्य-धन्य कह उठता है।

परन्तु केवल यही यथेष्ठ नहीं है—कि साहित्य का वाह्य रूप ही दर्शनीय हो। आवश्यकता यह है कि वह जन-जन के हृदय की आन्तरिक अनुभूतियों के समीप तक पहुँच सके। इसके लिए साहित्यकार को सहृदय होना चाहिए। सहृदय का अर्थ 'हृदय-वाला' ही नहीं है। साहित्यकार को विशिष्ठ हृदय का अधिष्ठाता होना चाहिए। ऐसा विशिष्ठ हृदय जो भावों-विभावों और अनुभावों को न केवल ग्रहण करने की क्षमता रखता हो अपितु उनके श्रेणी भेद और प्रभावों से भी सुपरिचित हो। उसका काम हृद्गत वृत्तियों का परिष्कार करना है। यह परिष्कार वह तभी ठीक-ठीक कर सकता है जब उसके हृदय में रस मग्न होने की आर्द्रता हो। तभी हम उसे सहृदय कह सकते हैं।

एक बात और। कथा साहित्य लोकरंजन की वस्तु नहीं है। जो लोग साहित्य को कोरी भावुकता का उद्दीपक मानते हैं मैं उनसे सहमत नहीं हूं। जब से पाश्चात्यों से प्रेरित यह भावना हिन्दी कथा साहित्य में बढ़ती जा रही है, वह साहित्य समाज के लिए अनुपयोगी होता जा रहा है। इसका सबसे अधिक प्रभाव हमारे आज के तथाकथित प्रगतिशील साहित्य बन्धुओं पर पड़ा है। पाश्चात्य मनीषि और उनके अनुगत जन साहित्य को निरुद्देश्य कहते हैं और उनका कहना है कि कला-कला के लिए है। मैं यह स्वीकार नहीं करता। कला-कला के लिये नहीं—मानव जीवन के धरातल को ऊंचा उठाने के लिए है। जगत सृष्टि में यह जो जीवन का अनन्त प्रवाह बह रहा है उसका मूल स्रोत वही अनिर्वचनीय आनन्द है जिसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। वह आनन्द जब संस्कार भावित हृदय को छू जाता है, तब साहित्य सृजन होने लगता है। इस साहित्य सृजन में अधिक सरसता तब उत्पन्न होती है जब मानव हृदय पीड़ानन्द की अनुभूति करता है। पीड़ानंद एक दुर्धर्ष पदार्थ है। वह सब किसी को प्राप्त नहीं है। केवल संस्कृत हृदय ही पीड़ानन्द की अनुभूति करते हैं। और उस अनुभूति से ही ओत-प्रोत होकर कोमलतम भावों का स्फुरण होता है जिसे इन्द्रिय गोचर कर मानव जन-पद युग-युग तक आप्यायित रहता है। गद्य के विकास के साथ साहित्य में यथार्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया। और गद्य में उपन्यास ने आज शीर्ष-स्थान ग्रहण कर लिया है, इसलिए उपन्यास ही आज यथार्थवाद की सबसे बड़ी प्रतिष्ठा भूमि है। गद्य का और खास कर उपन्यास कला का विकास पश्चिम से हुआ है। अतः पश्चिम का यथार्थवाद भारत में भी गद्य के विकास के साथ आया। आज हिन्दी के तथाकथित प्रगतिशील उपन्यासों में उसका नग्न रूप हमें देखने को मिलता है जो हमारी मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है। परन्तु पाश्चात्य यथार्थवाद की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। रूसी लेखक गोर्की ने ज्ञान और कल्पना के भरपूर प्रयोग किये। वह ज्ञान की परिभाषा करता है, प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओं को देखना और उनकी तुलना और व्याख्या करना। गोर्की अपने सम्पूर्ण चिंतन को ज्ञान पर आधारित करता है। तथा कल्पना को वह सोचने की क्रिया मात्र बताता है। कल्पना का अर्थ वह करता है, दुनिया के बारे में सोचना। साथ ही वह उपमाओं और अलङ्कारों का प्रयोग चिंतन में कलात्मक सौन्दर्य लाने के लिए करता है। परन्तु गोर्की की यह मान्यता दार्शनिकों और आदर्शवादियों के विरुद्ध है। आदर्शवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि विचार का एक प्रथक् अस्तित्व है। वे कहते हैं कि मानवीय

विचारों के निर्माण में भौतिक परिस्थितियों का कोई दखल नहीं है। नेकी और बदी निरन्तर संघर्षशील रहती हैं। जो विचार का प्रथक् अस्तित्व मानते हैं, वे ही आदर्शवादी कहाते हैं। यह दृष्टिकोण शताब्दियों से साहित्य और इतिहास पर प्रकाश डालता रहा है और अब उपन्यास तत्व में साहित्य और इतिहास का समीकरण हो गया है। इससे उपन्यास में विचारों की सृष्टि समूची ही आदर्शवादिता पर आधारित करने की चेष्टा की जाती रही है। इस मान्यता में एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व भी है, वह यह कि मानवीय स्वभाव परिवर्तन के लिए भौतिक परिस्थिति अपेक्षित नहीं। विचारों के ही प्रभाव से मनुष्य देवता या राक्षस बन जाता है। इसलिए इस मान्यता में उपदेश का महत्व अधिक है। इसी मान्यता के अनुसार मनुष्य बुद्ध-ईसा-गाँधी-लेनिन जैसे युग परिवर्तनकारी व्यक्ति बन जाते हैं।

परन्तु विचारों की उत्पत्ति निश्चय ही भौतिक है। जीवन संघर्ष के निरूपण और अनुभूति से मानवीय ज्ञान बढ़ता है। पाश्चात्य जगत में जब सामन्तवाद की समाप्ति के बाद पूंजीवाद की स्थापना हुई तथा साथ ही उद्योग क्रान्ति भी आई तो वैज्ञानिक विचारों का विकास हुआ। इससे पहले का आदर्शवाद एक विश्वास मात्र था। उसका कोई वैज्ञानिक या प्रामाणिक आधार न था। या तो आध्यात्म या दार्शनिक मान्यताओं पर ही वह आधारित था जो एक प्रकार से अज्ञेय मीमाँसा के रूप में था। परन्तु विचारों में ज्यों ही वैज्ञानिक विचारों का विकास हुआ तब मनुष्य धीरे-धीरे प्राकृतिक रहस्यों की व्याख्या करने लगा। नई नई भौतिक परिस्थितियों के साथ साथ नए नए विचार भी उत्पन्न होते गए और पुराना जीवन दर्शन संदिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा। अब कोई बात विश्वास और श्रद्धा से मनवा लेना सम्भव न था। प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा। और मनुष्य समझ गया कि विश्व का एक ठोस अस्तित्व है तथा विचारों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। वे परिस्थितियों से उत्पन्न होते रहते हैं। इसी आधार पर योरोप में रूसो, वाल्टेयर जैसे बुद्धिजीवी विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने जीवन को एक नया मोड़ दिया। अन्त में डारविन के विकासवाद ने पुराने आदर्शवाद पर एक करारा आघात किया।

अब नए समाज के सन्मुख बहुत सी राजनीतिक और सामाजिक जटिल समस्याऐं थीं। वे उत्पन्न होती जाती थीं और तत्कालीन विचारक—कान्ट, हेगल, फायेरवाख उसे उत्तरोत्तर सुलझाते जा रहे थे। और आदर्शवाद को भौतिकवाद की सीमाओं पर ललकार रहे थे। इस परिवर्तन में नेपोलियन की राज्य-क्रान्ति ने बड़ा काम किया था। योरोप में यद्यपि राजसत्ता तो बच गई थी पर राजा की ईश्वरीय सत्ता सर्वथा नष्ट हो गई थी। इस भावना ने योरोप की पुरानी सामाजिक व्यवस्था को उलट पुलट कर दिया था। जब डारविन ने जीवन के विकास का मार्ग खोल दिया तो मार्क्स ने उसे समाज पर लागू किया। और कहा—कि समाज, राजनीति, साहित्य और कला में अब तक जो परिवर्तन हुए हैं वे अकस्मात नहीं हुए। अपितु एक स्थिर सिद्धान्त के अनुरूप प्रतिक्रिया में हुए हैं। इसके साथ ही यह भी प्रमाणित होगया कि विचार हमारे वस्तुगत और भौतिक परिस्थितियों के ही प्रतिबिम्ब होते हैं। इस नई भावना ने केवल समाज का स्वरूप ही नहीं—आर्थिक विकास का ढाँचा भी बदल दिया और इस प्रकार नया मानवीय ज्ञान और अनुभव योरोप के कथा साहित्य का विषय बनता गया। यही योरोप के यथार्थवाद का आरम्भिक रूप था—जिस पर अनातोले फ्रांस, विक्टर ह्यूगो जैसे कलम के धनी जनों ने ऐतिहासिक असंगतियों के होने पर भी उच्चश्रेणी का यथार्थवाद अपने उपन्यासों में चित्रित किया।

यह एक मार्के की बात है कि इंग्लेण्ड जहां सर्व प्रथम उद्योग क्रान्ति हुई उस समय भी राजतन्त्र में उलझा रहा। परन्तु फ्रांस ने नए विचारों का प्रतिनिधित्व किया। और योरोप के आगे भौतिकवाद दर्शन और कथा साहित्य के यथार्थवाद को प्रगति दी। इसके बाद ही जौला और फ्लावेयर ने पूंजीवादी जीवन

को यथार्थ रूप में चित्रित किया। परन्तु यहीं से यथार्थ में नग्नता का मिश्रण हुआ। पूंजीवाद ने सामन्तवाद को परास्त करने के लिए विज्ञान को अपना हथियार बनाया, इससे व्यक्तिवाद का विकास हुआ और श्रद्धा और धर्म से उसका पिण्ड छूटा। परन्तु जब योरोप के क़दम अर्थ-साम्राज्य की ओर बढ़े तो अकस्मात ही उपनिवेश-वाद उसमें सम्मिलित हो गया। अफ्रीका, चीन, अदन, बलकान तथा इन्डोनेशीया आदि प्रदेशों पर फ्रान्स, हालेण्ड, जर्मन, बेल्जियम, इंग्लेण्ड आदि दौड़ लगाने लगे। इसका एक अप्रबल किन्तु घातक प्रभाव हुआ—जातीय श्रेष्ठता—काले-गोरों के भेद के विचारों का। और आरम्भ में जहाँ शक्तियां व्यक्ति विकास की बात सोचती थीं, अब संसार को गुलाम बनाने की चेष्टा करने लगीं। यह इस बात का स्पष्ट उदाहरण था, कि परि-स्थितियां कैसे विचारों को बदलती हैं। अब उन नई सामाजिक शक्तियों को पूंजीवादी-सामाजिक और राज-नैतिक व्यवस्था में आगे बढ़ने की कोई राह नहीं थी, जिन्होंने पूंजीवाद को जन्म दिया था। अब वहाँ पूंजी-वादियों और मजदूर की शक्तियों का संतुलन हो रहा था। सच पूछा जाय तो पूंजीवाद ने ही अपना यह समर्थ प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न कर लिया था। फ्लावेयर और एंगलो के यथार्थवाद की प्रगतिशीलता इस धरातल पर पहुँची कि उसमें जनता और श्रमजीवी वर्ग का सामाजिक और मानसिक दारिद्र और भूख से दुखी मनुष्यों के कष्टों का विवेचन और चित्रण होने लगा। और इसके पीछे लेखक की यह भावना थी कि दुख और दारिद्र भाग्य से नहीं पूंजीवादियों के शोषण से होते हैं।

परन्तु जातीय श्रेष्ठता के दावेदार योरोप में मज-बूत क़दमों से आगे बढ़े। दलित वर्ग पर परदा डालने के लिए शेपनहावर और नीत्शे जैसे दार्शनिक आगे आए। उन्होंने प्रान्तीय समानता और स्वाधीनता के स्थान पर जातीय श्रेष्ठता और व्यक्ति वैशिष्ठ्य के विचारों का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप किपलिंग जैसे साम्राज्य-वादी लेखक उत्पन्न हुए। जिसके परिणाम स्वरूप हिट-लर और मुसोलिनी का व्यक्तित्व सामने आया, जिसने गोरी जातियों को काली जाति पर लूट खसोट करने और दासता का औचित्य प्रदान किया। परन्तु इस विचार दर्शन से गोरी जातियाँ संतुष्ट न रह सकीं। आर्थिक और वर्ग संघर्ष तेजी से बढ़ते जा रहे थे और रूस में मार्क्सवाद प्रौढ़ रूप धारण कर रहा था। इसका तोड़ हुआ फ्राइड की यौन मीमाँसा की प्रतिक्रिया पर। मार्क्स ने जहाँ अर्थ को ललित कला के विकास का मूलाधार कहा—वहाँ फ्राइड ने यौन भावना को जीवन की प्रधान शक्ति और ललित कलाओं के विकास का आधार माना। इज़रा पौण्ड, आन्द्रे जींद, सार्त्रे, डा० रा०लारैन्स, जेम्स वाइस तथा समर सेट मॉम आदि साम्राज्यवादी लेखक फ्राइड के यौन दर्शन का सहारा लेकर साहित्य में कुरुचि पूर्ण अश्लील चित्र खींचने लगे। इन लोगों ने प्रकट में जौला और फ्लावेयर के यथार्थवाद का तो विरोध नहीं किया परन्तु इनकी रचनाओं का यह टेकनीक रहा कि ये वस्तु विवरण को तो खूब उभारते पर जब परिस्थितियों की प्रेरक शक्ति के निर्णय का समय आता तो फ्राइड की यौन मीमांसा की शरण लेते, तथा मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण कह कर एक सर्वथा मिथ्या और काल्पनिक मान्यता प्रस्तुत करते।

इस प्रकार फ्राइड के प्रभाव से योरोप में कथा साहित्य का ह्रास होने लगा। परन्तु इसी समय रूस में उसका विकास हो रहा था। इसका एक गंभीर कारण यह भी था कि अब योरोप में पूंजीवाद का ह्रास आरम्भ हो रहा था और रूस में उसका सूत्रपात आरम्भ हुआ था। यह मैं सन् १८७० के आसपास के काल की ओर संकेत कर रहा हूं। वहाँ उस समय यथार्थवादी और वैज्ञानिक विचारों को मिला जुला प्रोत्साहन मिल रहा था। जारशाही उसकी रोकथाम ज़रूर कर रही थी। पर आदर्शवाद और भौतिकवाद का संघर्ष बढ़ता ही जाता था। जारशाही के खात्मे तक रूस में द्वन्द्वा-त्मक भौतिकवाद को बुद्धिजीवी वर्ग ने आत्मसात कर लिया था और संगठित मजूर वर्ग अजेय हो चुका था। इसी का यह परिणाम हुआ कि पूंजीवादी क्रान्ति रूस में एक वर्ष भी न जी पाई। सन् १९१७ की फर्वरी में जार

को खतम किया गया और ७ नवम्बर की बोलशेविक शक्ति सत्तारूढ हो गई। इस प्रकार रूस में पूंजीवाद पनपा ही नहीं। इस समय तक मानवीय चेतना ने पूंजीवाद के सब पहलुओं को यथावत समझ लिया था। इसी समय टाल्सटाय का सुधारवाद आया। परन्तु चेखव ने सुधार को छुआ भी नहीं। अन्ततः विशुद्ध सर्व प्रथम क्रान्तिकारी लेखक के रूप में गोर्की का उदय हुआ।

यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि भारतीय हिंदी कथाकार, जो अपने राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र—आर्थिक जीवन में क्रान्ति से गुजर रहे थे, जनवाद से सर्वथा दूर रहे। वे फ्राइड के यौन दर्शन से चिपके रहे। परन्तु दुर्भाग्य से उनमें न तो यथावत् रूप में उसे समझने की योग्यता ही थी न भारतीय परिस्थिति ही इसके अनुकूल थी। इसलिए उनका कथा साहित्य भौंडा, अस्तव्यस्त और निरुद्देश्य रह गया। इस आधी शताब्दी में हिन्दी कथा साहित्य ने भारतीय जीवन के स्तर को ऊंचा उठाने में कुछ भी हाथ नहीं बटाया। इसीसे न भारतीय राजनीति परिपक्व हुई, न अर्थनीति और न समाजनीति। मरे हुए राष्ट्रवाद की लाश पर भारत में तथाकथित जनता का राज्य खड़ा किया गया। पहिली ही चोट में पाकिस्तान अपना मुसलमानों ने प्रथक् बना लिया। कैसी हास्यास्पद कहानी है कि आप अब भी चाहते हैं कि भारत के मुसलमान भारत को अपना देश समझें, जबकि उनका प्रथक् अपना देश पाकिस्तान राष्ट्रीय तत्त्वों पर बन चुका, यद्यपि कहने वाले उसे साम्प्रदायिक कहते हैं। भारतीय कांग्रेस राष्ट्रवाद को त्याग नहीं सकती थी। इससे उसे ब्रिटेन के माध्यम से योरोप से चिपके रहना पड़ा। वे भारतीय राष्ट्रवाद का डंका पीटते हैं, पर वह क्या है यह नहीं बता सकते। उन्होंने कुछ तत्त्व ब्रिटेन से, कुछ अमेरिका से, कुछ रूस से लेकर एक खिचड़ी सरकार बना ली जो दिन-दिन कमजोर होती जा रही है, क्योंकि वह जनता का राज्य, जन राज्य नहीं है। जहाँ योग्यतम व्यक्ति को अधिकार मिलता है, वह है गण राज्य। जहाँ गुट्टों के प्रतिनिधि को अधिकार मिलता है, और वह अधिकार पारस्परिक संघर्षो द्वारा दुरुपयुक्त किया जा रहा है।

इसका मूल कारण था भारत में साहित्यिक दृष्टिकोण का अपरिपक्व होना। यदि भारतीय मनीषि परिपक्व दृष्टि अपने देश पर रखते और उसी परिस्थिति की परिधि में साहित्य रचते तो जनता के विचारों पर शासन होता, सरकार भी उसका पालन करती। सौभाग्य से भारत को गाँधी का सम्पर्क मिला, पर गाँधीवाद अब एक सम्प्रदाय मात्र रह गया, वह जन क्रान्ति का माध्यम नहीं बना। न हमारे कलाकारों ने गाँधी के जनवाद को, नैतिकता को, चरित्र की प्रधानता को, जनजन के सहयोग को अपनाया। वे तो फ्राइड के यौन दर्शन की गन्दगी से लथपथ रहे। इसका असल कारण यह था कि इस पिछली अर्ध शताब्दी में हिन्दी साहित्य तरुणों के हाथ में रहा। ये तरुण भारतीय दर्शन, साहित्य, कला और जीवन से सर्वथा अपरिचित अंग्रेजी पढ़े लिखे अथच् अपने प्रति हीन और योरोप के प्रति श्रेष्ठ भावना लिए हुए थे। वे न योग्य कलाकार थे, न गम्भीर विश्वद्रष्टा। जीवन दर्शन भी उनका बहुत ही उथला था। वे विचारक बनना चाहते थे। वे अपनी बेहूदी और असम्बद्ध बकवाद को दार्शनिक जामा पहनाते गये और उनसे भी निकृष्ट योग्यता वाले उनके समालोचक उनकी उन रचनाओं में गूढ़ दार्शनिक भाव ढूंढ़ने की हास्यास्पद चेष्टा करते रहे। एक लेखक ने एक निर्लज्ज औरत को एक आदमी के कहने से नंगा कर दिया। लीजिए, यह बेहूदा बात भी इन समालोचक पुङ्गवों की नजर में फ्राइड का तत्त्व दर्शन बन गई। फिर कामुक बातों की तो चर्चा ही क्या। वे बेहूदा बकते गए और समालोचक उस बकवाद पर दार्शनिकता का पुट चढ़ाते गए। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार मायावाद के जंजाल में फंस कर हमारा काव्य पागल की भाँति रोने हंसने और अनर्गल बकने लगा उसी प्रकार हमारा कथा साहित्य लफंगों और आवारागर्दों के से आचरण करता चला गया। मानव जीवन की व्याख्या उसने त्याग दी। कल्पना के सहारे चिर सत्य की स्थापना से वह दूर हो गया। वह न मनोरंजन का माध्यम रहा,

न जीवन के आलोक का। इसीसे इस स्वतन्त्र लोकराज्य में साहित्यकार का मूल्य धेले के बराबर भी न रहा। मानव मन पर आज उसका शासन नहीं है। गोर्की और टाल्सटाय को जैसे महान लैनिन मनन करते थे वैसे आज किसी साहित्यकार को नेहरू और प्रसाद मनन नहीं करते। अध्ययन जरूर वे अब भी करते हैं पर किसी भारतीय साहित्य का नहीं—विदेशी साहित्य का। अतः उनकी वृत्ति भारतीय जीवन से विमुख है और भारतीय जीवन दुखी और असहाय है। भावी संतति को नए जीवन की राह साहित्यकार दिखा सकता है। पर कौन है ऐसा साहित्यकार ! कवि सम्मेलनों के ख्याति प्राप्त कवि अब भाँड़ वृत्ति पर उतर आए हैं और हमारे कथा शिल्पी पराई औरत को नंगा देखने में अपनी मानस सम्पदा को लुटा रहे हैं। छी ! छी ! छी ! छी !!!

(पृष्ठ ४१ का शेषांश)

उसके विषय में प्रायः मतैक्य हो जाता है। यों तो ऐसे भी लोग हैं जो यही नहीं मानते कि तुलसी व सूर के बाद हिन्दी में कुछ लिखा गया है। ऐसे लोग कामायनी व गोदान को भी नहीं मानते परन्तु ऐसे लोग बहुत कम हैं और कम होते जा रहे हैं। यशपाल जी को मतभेद के साथ साथ मतैक्य किन-किन रचनाओं के विषय में है, यह भी देखना चाहिए। यों स्वयं आलोचना का ही सिद्धान्त है कि समसामयिक साहित्य के विषय में पूर्ण मतैक्य हो ही नहीं सकता।

सामाजिक प्रवृत्ति से सचेत पाठकों को उत्पन्न करने में क्या आलोचना का कुछ हाथ है? दुष्प्रवृत्तियों का विरोध यदि पिछले दशक में न होता तो नए लेखकों पर आज सबसे अधिक प्रभाव अनास्थावादी और व्यक्तिवादियों का पड़ता। किन्तु "आलोचना" जैसा पत्र हाथ में होने पर भी प्रयोगवादी हिन्दी के विचारकों पर जादू न फेर सके। क्योंकि आलोचक प्रहरी के समान जब तक जागरूक रहता है, साहित्य, संस्कृति और रुचि का स्तर उच्चतर रहता है। क्या रूस में बैलिंस्की चर्निशेविस्की की निन्दा गोर्की ने की है? दोनों आलोचक स्रष्टा नहीं थे और उनकी मान्यताएं आज पूर्ण रूप से मानी भी नहीं जातीं परन्तु लेनिन तक ने चर्निशेविस्की की प्रशंसा की है। अमेरिका और इंग्लैंड के साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ आलोचना कितनी समृद्ध है। भारत की अन्य भाषाओं में भी यही दशा है। तब हिन्दी में एक आवश्यक अङ्ग को सदा के लिए समाप्त करने से क्या हित होगा ? 'साहित्य-सन्देश' के पिछले दशक पर अभी प्रकाशित प्रगति अङ्क (फर्वरी अङ्क) देखने से स्पष्ट है कि आलोचना से लाभ ही हुआ है। हाँ 'यशपाल' जी की आलोचना का अनुकरण यदि अन्य लोगों ने किया तो निश्चय ही हानि होगी। परन्तु उनके लेख के साथ ही प्रकाशित अन्य लेखों से स्वयं यशपालजी की बात का खण्डन हो जाता है, यह सन्तोष का विषय है।

"यदि मैं समालोचक होता"

सम्पादक जी,

आपने सौन्दर्यशास्त्र अङ्क से श्रीगणेश किया। बधाई! हम एक बहनवादी उपन्यास पढ़ रहे थे पर 'समालोचक' पाकर उसे तकिये के नीचे दबा दिया। यह सोचकर 'समालोचक' उठा लिया कि ईद की रस्म भी निभेगी और गले मिलने का मजा मुनाफे में मिलेगा। मगर थोड़ी देर उलटने-पलटने से यह समझ में आया कि आजकल के माने जाने सौंदर्य से सौंदर्यशास्त्र कुछ अलग वस्तु होती है। सम्पादक जी, आपने हमको बड़ा निराश किया। आपने सिनेमा स्टारों के सौंदर्य को शास्त्रीय दृष्टि से क्यों नहीं देखा? सिनेमा हमारे जन जीवन का महत्वपूर्ण अङ्ग है; सिनेमा स्टारों के सौन्दर्य को हमारा राष्ट्र तीन-तीन लाख रुपया ब्लैक देकर पालता है फिर भी आपकी शास्त्रीय दृष्टि ने उसकी अवहेलना की।

इसके अतिरिक्त आपने 'भाँग की पकौड़ी', 'गाँजे की कली', 'दोस्त के घर एक रात' जैसी महान् साहित्य-सौंदर्यवर्द्धिनी अनेकानेक पुस्तकों का समालोचन भी नहीं किया। ये पचास या साठ सत्तर पन्नों की पचीसियों कथा-पोथियाँ, पुलिस, कानून और सभ्यता की आँखों में धूल झोंक पाँच से पन्द्रह रुपयों तक हजारों की संख्या में बिकती हैं। हमारे राष्ट्र की लड़कियों में उनकी बड़ी बेढब माँग है। समालोचक की हैसियत से आपने भारतीय नगर समाज के पाठकों का जी दुबारा खट्टा किया। अजी सम्पादक जी, ऐसी पोथियाँ केवल हिन्दी के देवनागरी अक्षरों में ही नहीं छपतीं वरन् बंगला की देवनागरी से भी खूब भालोबाशा करती हैं। सभी प्रादेशिक भाषाओं में इस साहित्य का इस समय जोरदार प्रचार है। दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े नगरों में तो इनका बड़ा खुफिया धन्धा है। सम्पादक जी, आपने इस माँग में निहित सौंदर्य को क्यों नहीं आँका?

आपके पास मोटर नहीं है यह मैं जानता हूँ, पैदल ही चलते हैं; यद्यपि आपको दाँये बायें देखकर चलने की आदत नहीं है फिर भी बचपन में कनकौआ लूटने की आपकी नजर शायद कभी अपने नगर की दीवारों से इस उम्र में भी टकराती ही होगी। आपने मदभरे नैनों वाली, लुभावनी मुस्कान सने होठों के कोने में किसी चारसौ बीस नम्बर या अफलातून मार्का बीड़ी को दबाये हुई सुन्दरी के पोस्टर शायद कभी देखे हों और यदि नहीं देखे तो मैं पूछता हूँ कि आपने जग में आकर फिर देखा क्या है? दर्जी, धोबी (लाँड्री), जौहरी, बजाज, सर्राफ आदि तरह-तरह की दूकानों के संकेत-पटों पर नारी सौंदर्य उनका माल बेचता है। आपने नारी के विज्ञापनी सौंदर्य पर भी शास्त्रीय दृष्टिपात नहीं किया। न पुरानी भटियारिनों, न आज की महरियों के उंगली-मटकावन वाक्युद्ध का भाषा-सौंदर्य देखा, न आपने साहित्यिक गुटबाजियों में खूबसूरती देखी, मूंदड़ा केस के सौंदर्य पक्ष का मूल्याङ्कन भी नहीं किया, झूठ की सुन्दरता को नहीं निहारा। कहाँ तक गिनायें महाराज, हमें आपके शास्त्र में बड़े-बड़े बिल नजर आये। खैर होगा, ये तो दोस्ती में मुरौवत के मारे इतना कह कर ही चुप हुए जाते हैं, हम अगर सच्ची-मुच्ची के समालोचक होते तो देखते आप। हद कर दी आपने, नायिका-भेद तक न बखाना।

ये सब कमियाँ होते हुए भी हम इतना अवश्य स्वीकार करेंगे कि आपका सौंदर्य शास्त्र पढ़कर हमारी समझ में यह आ गया कि सौंदर्य का चितवनों कनखियों से ही नहीं, वरन् शास्त्र से भी सम्बन्ध है।

हमको भी श्रृङ्गार रस से खासा प्रेम है। इस रस का क्या कहना? पण्डित कृष्ण बिहारी जी मिश्र ने

लिखा है कि "रसों में सबसे अधिक वर्णन श्रृङ्गार रस का पाया जाता है और श्रृङ्गार रस का स्थायी भाव प्रेम है। प्रेम विधेयात्मक सहानुभूतिमय और सत्य है। यह सबसे अधिक व्यापक स्थायी और उपयोगी है। इसमें स्वार्थ का अभाव सम्पूर्ण आत्म त्याग और तन्मयता की पराकाष्ठा है। इन्हीं कारणों से श्रृङ्गार रस रसों का राजा माना गया है।"

श्रद्धेय मिश्र जी ने राजा शब्द का उपयोग आजादी आने से पहले किया था, अब आप चाहें तो श्रृङ्गार रस को राष्ट्रपति या राज्यपाल उर्फ लाट साहब मान सकते हैं। हमें लाट-गवर्नरों के साथ रहने में बड़ा सुख मिलता है, सम्पादक जी, बड़े ठाठ-बाट रहते हैं और इसीके लिये हम श्रृङ्गार रस के हामी हैं। फिर इसमें एक लाभ यह है कि आदमी जब बाल-बच्चेदार, बड़ा बुजुर्ग, इज्जत-आबरू वाला हो जाय तो उसे साजन, सजनी रोमांस के बजाय श्री श्री राधाकृष्ण प्रेम की लीलाएं सरे आम बखानने की पूरी छूट है; फिल्मी हीरो हीरोइन के गीतों को भी वह हरि-कीर्तन समझ कर गा सकता है।

लेकिन सम्पादक जी, आपके शास्त्र में रस के साथ जुड़कर एक बड़ा ही अश्लील शब्द पण्डितों के द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। वे लोग कहते हैं कि विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों की सहायता से श्रृङ्गाररस के स्थायीभाव में जो एटमी आनन्दोद्भूति होती है उसे रस कहते हैं। हम विभाव को बे-भाव समझ कर अपना सकते हैं। अनुभाव का अर्थ हमें अनाज-गल्ले की मण्डी में भी नहीं मिला। सात्विक भाव ठीक है; उससे हमारे तिलक, कण्ठी जनेऊ की आबरू बढ़ती है। पर इसके बाद पण्डित लोग रस के नाम पर व्यभिचार का प्रचार भी करते हैं। हम मन ही मन तो पंडितों की इस सूझ-बूझ के बड़े कायल हैं पर उजागर में इसका खण्डन ही करेंगे। आप समझते नहीं सम्पादक जी, दुनिया बड़ी कठिन है। यदि हमने खुले आम रस में व्यभिचारी भावों का पोषण किया तो पचासे की उमर में पद्मश्री और सठियाने पर पद्मविभूषण प्राप्त करने का हमारा जन्मजात स्वप्न चकनाचूर हो जायगा। आप सम्पादक भले हो गये हों, छह सात अक्षरों की उपाधि से भी सज गये हों परन्तु मैं आपको समय रहते ही यह चेतावनी दिये देता हूँ कि यदि उम्र आने पर आप पद्मपति न बने तो मैं क्या कोई भी दुनियादार शरीफ आदमी फिर आपकी इज्जत नहीं करेगा। इसलिये मेरी सलाह है कि श्रृङ्गार रस के व्यभिचारी भावों का प्रचार आप प्राइवेट तौर पर ही किया कीजिए और यदि खुले आम ही करना चाहते हैं तो पहले मोटर बंगला ले लीजिए, प्रोफेसरी सम्पादकी छोड़कर या तो सट्टे बाजार के दलाल बनिये या सरकारी अफसर। फिर आप वैधानिक कन्ने काटकर जी चाहे सो कर सकते हैं, 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं।'

और यदि आपकी तकदीर ऐसी सिकन्दर नहीं है, प्रोफेसरी, सम्पादकी, समालोचकी ही करना बदा है तो भी तरकीब से काम लीजिये, जमाने को नायिका-भेदी दृष्टि से देखना सीखिये, आपका कल्याण होगा। सम्पादक जी, पैसा परमेश्वर पीला सफेद होते हुए भी स्वयं साक्षात् कृष्ण है। इस जगत् में पैसा ही पुरुष है बाकी सब गोपियाँ। पैसे को आप सत्ता भी कह सकते हैं; सत्ता शब्द स्त्री लिंगी होते हुए भी दरअस्ल पुरुष है। पैसा उर्फ सत्ता रूपी नायक के आगे बाकी सब नायिकाएं हैं।

अब इन नायिकाओं को समझ लीजिये।

महाकवि मतिराम जी के मतानुसार नायिकाभेद इस प्रकार होता है :

"कही नायिका तीन विधि, प्रथम स्वकीया मान।
परकीया पुनि दूसरी, गनिका तीजी जान॥"

इसमें आप जैसों को स्वकीया नायिका ही कहा जा सकता है। लिखने पढ़ने से चिपके, सो उसी के होकर रह गये।

'तेरे सुसील सुभाव भटू कुल नारिन को
कुलकानि सिखाई।'

लेकिन सम्पादक जी, बुरा न मानें तो एक बात कह दूं, आजकल स्वकीयाओं का कोई भाव नहीं। हाँ,

ड्राइङ्ग रूम में जब नायक या नायिका के कुछ सम्भ्रान्त मित्र-मित्राणियाँ आ जाती हैं तो नायक केलि-कलह का सा नाटक साध कर बाहरी समाज की दृष्टि में स्वकीया नायिका का गौरव बढ़ा देता है। आप और आप जैसों के साथ भी यही होता है। यानी जब समालोचकों विद्वानों की लिस्ट में नाम गिनाये जाते हैं, तब उस लिस्ट में आपका नाम भी जोड़ लिया जाता है परन्तु विशेष महिमा नहीं बखानी जाती है। महिमा परकीया और गनिकाओं की ही होती है। इसलिए हमारी सलाह तो यही है कि आप अपना स्वकीया व्रत छोड़कर परकीया बन जायें। परकीया नायिकाएं छः प्रकार की होती हैं: "गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, मुदिता, कुलटा और अनुशयना।"

गुप्ता नायिका आप हो नहीं सकते, यह विशेषता अवसरवादियों में ही होती है। मन में सदा गुपचुप अपने स्वार्थ की सुरति कर ऊपर से रामभक्तिन बनी रहने वाली गुप्ता अवसरवादिनी चतुराई की खान होती है। आप विद्वान् भले हों पर क्षमा कीजियेगा, चतुराई आपको छूकर भी नहीं निकली। जो चतुर होते तो अब तक आप बड़े भारी नेता बन गये होते। आपके विदग्धा परकीया बनने में भी मुझे सन्देह है। हाँ अपने हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में ऐसी नायिकाओं की कमी नहीं है। आपको वचन विदग्धाएं भी बहुत सी मिलेंगी (यानी मिलेंगे) और क्रिया-विदग्धायें भी। दोहे का प्रमाण आपकी सहूलियत के लिये प्रस्तुत करता हूं, स्वयं जाँच लें, कौन कैसा है।

विदग्धा लक्षण

करै बचन सों चातुरी, वचन-बिदग्धा जान।
करै क्रिया सों चातुरी, क्रिया-बिदग्धा मान॥

इस बार कलकत्ते के अखिल भारतीय लेखक समारोह में हमें मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया, उत्कण्ठिता, वासकसजाओं के दर्शन हुए। उनकी लीलाएं देख-देखकर चित्त को बड़ा सुख प्राप्त हुआ सम्पादक जी। एक मिनिस्टर-प्रोफ़ेसर चतुर परकीया की भाँति लेखक-समारोह रूपी सेज-सिंगार सजाकर अपने प्रियतम अंग्रेजों की बोली सुनने की बाट में बैठे थे। उन्हें देख-देख कर मुझे महाकवि मतिराम की ये पंक्तियाँ याद आ रही थीं:

साँझ ही तें करि राखे सबै
करिबे के जे काज हुते रजनी के।
पौढ़ि रही उमँगी अति ही
'मतिराम' अनन्द अमात न ही के।
सोवत जानि के लोग सबै
अधिकाने मिलाप मनोरथ पी के,
सेज ते नारि उठी हरुवे-हरुवे
पट खोल दिये खिरकी के॥

अजी सम्पादक जी, क्या कहूं, ऐसी खिड़की खुली कि बड़ी परकीयाएं और गणिकाएं झलक पड़ीं। एक प्रबुद्ध लेखक के बारे में सुना है कि बड़े इन्टेलेक्चुहलिये हैं। हिन्दी वालों से इतनी नफरत है कि बात करना भी पसन्द नहीं करते। वे अपनी बुद्धि के सौन्दर्य पर स्वयं लट्टू हैं। उनका स्वर इतना मधुर था कि हमें भगवती चरण वर्मा की 'चरमर-चरमर चूं चरर मरर' वाली कविता याद आ गई। उनका कहना था कि आर्यों से लेकर मुसलमानों तक ने उनकी भाषा पर बलात्कार कर लिया है और अब वे हिन्दी वालों को बलात्कार नहीं करने देंगे। उन्हें सात समन्दर पार वाले लाल भभूके पिया की प्यारी-प्यारी बोली सुनने की बड़ी उत्कण्ठा थी।

एक परमानन्दी महाशय अंग्रेजी को भारत की पन्द्रहवीं राष्ट्र भाषा बनाने के लिए शब्दों के साज-सिंगार करके गणिका उत्कण्ठिता की तरह बोले थे। क्या बतावें सम्पादक जी, हमारे पास कैमरा नहीं था, नहीं तो अपने इन आदरणीय मित्र की 'लाला रुख' वाली छटा आपको भी दिखा देते। फिर भी महाकवि मतिराम के नायिका-भेद में उनका शब्द-चित्र ऐसा सटीक मिल जाता है, जैसे भृगु-संहिता में सबकी जन्म कुण्डलियाँ सटीक मिल जाती हैं। घड़ी में वह अंग्रेजी हिमायतियों को नेह से ताकते, पल में हिन्दी के हिमायतियों को क्रूर कनखी से देखते और छिन भर में मातृ-

(शेष पृष्ठ ५६ पर)

माधव जी सिन्धिया

श्री राजनाथ शर्मा

'माधव जी सिन्धिया' बाबू वृन्दावनलाल वर्मा का नवीनतम ऐतिहासिक उपन्यास है। वर्माजी ने अपनी कहानियों, नाटकों, निबन्धों, सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा हिन्दी-साहित्य की पर्याप्त श्रीवृद्धि की है परन्तु उनकी ख्याति मुख्यत: उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों पर ही आधारित है। वे हिन्दी के मूर्धन्य ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जाते हैं। गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, मृगनयनी, महारानी लक्ष्मीबाई, कचनार आदि उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनकी हिन्दी साहित्य में समय-समय पर विशेष चर्चा होती रही है। वर्माजी अपने उपन्यास की कथा वस्तु से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण अध्ययन करने के उपरान्त ही अपनी लेखनी उठाते हैं। और फिर अपनी सुन्दर कल्पना-शक्ति का प्रयोग कर उसे सुन्दर एवं मनोरंजक रूप में उपस्थित कर देते हैं। इतिहास उनका प्रिय विषय रहा है। ऐतिहासिक सामग्री का उनके सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रचुर उपयोग मिलता है।

वर्माजी के इतिहास प्रधान उपन्यासों में 'माधव जी सिन्धिया' का एक विशेष महत्व है। अपने अन्य किसी भी उपन्यास में वर्माजी ने इसिहास को इतने विराट एवं विस्तृत रूप में नहीं अपनाया है। 'माधव जी सिन्धिया' में अखिल भारतीय राजनीतिक हलचल की विशाल पृष्ठभूमि है जो अठारहवीं सदी के भारत के सम्पूर्ण इतिहास को अपने में समेट लेती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वर्माजी ने माधव जी सिन्धिया को ही इस उपन्यास का नायक क्यों बनाया ? माधव जी सिन्धिया का विविध इतिहास ग्रन्थों में यथेष्ठ उल्लेख मिलता है। अठारहवीं सदी के उस अराजकता-पूर्ण वातावरण में वही एक ऐसा महा-मानव एवं दूर-दर्शी राजनीतिज्ञ है जिसे यदि अपने आदर्शों को पूर्ण करने का अवसर मिल जाता तो आज भारत का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। अंग्रेजों का भारत पर शासन कल्पना की वस्तु बनकर रह गया होता। भारतीय राजनीति का माधव जी सिन्धिया ही एकमात्र प्रथम राजपुरुष था जिसने पलासी युद्ध के वंचक विजेता अंग्रेजों को एक भयङ्कर शक्ति के रूप में भारत का सबसे बड़ा शत्रु समझ लिया था। और उसने निरन्तर इस नवीन शक्ति से सावधान रहने की स्वयं चेष्टा की थी तथा अपने अन्य सहयोगियों को भी इस संकट से अवगत कराने का प्रयत्न किया था। इस राजपुरुष की इसी दूरदर्शिता एवं सूझ-बूझ के कारण अंग्रेजी इतिहासकारों ने उसे Steel under velvet gloves अर्थात् 'मखमली दस्तानों में फौलाद' के नाम से स्मरण किया है। इस महापुरुष के इसी अद्भुत व्यक्तित्व ने वर्माजी को इसे अपना नायक बनाने के लिए आकर्षित किया था।

माधवजी सिन्धिया ही उस काल में एकमात्र ऐसे राजपुरुष थे जो खंडों में विभाजित भारत को संगठित कर हिन्दू राज्य नहीं बल्कि हिन्दू-संस्कृति-प्रधान स्वराज्य की स्थापना के स्वप्न देखा करते थे। उस समय देश में मुगलों के अशक्त उत्तराधिकारी दिल्ली सम्राट, पेशवाओं के अधिनायकत्व में मराठे, भरतपुर का जाट राजा, रुहेले, अहमदशाह अब्दाली जैसे विदेशी लुटेरे, दक्षिण में नवीन शक्ति के रूप में उदय होने वाले हैदरअली और टीपू, विदेशी ईरानी, तूरानी, पठान आदि छोटे-छोटे सामन्त, फ्रांसीसी तथा अंग्रेज जैसी यूरोपीय शक्तियाँ अपनी अस्तित्व रक्षा तथा विस्तार के लिए प्रयत्नशील थीं। दिल्ली की केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो चुका था। उपरोक्त सम्पूर्ण शक्तियाँ देश के विभिन्न भागों में अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न कर रही थीं।

देश में सर्वत्र अराजकता का साम्राज्य था। माधव जी सिन्धिया इस अराजक स्थिति का गम्भीर अध्ययन कर रहे थे और उन्होंने जीवन-पर्यन्त इस स्थिति को सुलझा कर एक संघवद्ध साम्राज्य का निर्माण करने का प्रयत्न किया था।

उपरोक्त राजनीतिक स्थिति के सम्पूर्ण एवं विस्तृत चित्रण की पृष्ठभूमि में ही माधव जी सिन्धिया के महान व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। इसी कारण इस उपन्यास में तत्कालीन सम्पूर्ण भारत का इतिहास समाविष्ट हो गया है। संक्षेप में इस उपन्यास में पूरी अठारहवीं सदी के भारत का सम्पूर्ण इतिहास वर्णित किया गया है। अपने इसी विस्तृत वर्णन में इस उपन्यास का महत्व एवं उपयोगिता छिपी हुई है। अनेक इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त भी तत्कालीन इतिहास का उतना विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है जितना कि इस एक उपन्यास से प्राप्त हो जाता है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक स्थिति, मराठों की पारस्परिक फूट, लालच, लूटमार की प्रवृत्ति तथा उनकी राजनीति, छूआछूत आदि सभी समस्याओं पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। तत्कालीन अराजकतापूर्ण परिस्थितियों में ही क्रमशः माधव जी के व्यक्तित्व का विकास हुआ है। इसलिए उस राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय इस उपन्यास के महत्व के प्रतिपादन के लिए अपेक्षित है।

इस उपन्यास का प्रारम्भ उस काल से होता है जब उत्तर भारत में मुगल सम्राट कठपुतली मात्र थे और सारा प्रदेश ईरानी, तूरानी आदि विदेशी जमींदारों के छोटे-छोटे खंड राज्यों में विभाजित हो गया था। उस समय अंग्रेज प्रबल नहीं हो पाये थे। वे व्यवसाय, सिपाहीगीरी, बेईमानी एवं धूर्तता द्वारा अपने पैर जमाने का प्रयत्न कर रहे थे। उस समय मराठा शक्ति सबसे प्रमुख थी। अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर कब्जा कर रखा था। सिन्ध, अजमेर तथा आगरा प्रांत मराठों की 'हिन्दू पद पादशाही' के अन्तर्गत थे। मराठे राजस्थान के राजाओं से 'खिराज' वसूल करते थे और न देने पर उन्होंने अनेक बार राजस्थानी रियासतों को खूब लूटा था। मराठा सरदार "महाराष्ट्र के बाहर जाकर चौथ, सरदेसमुखी का उगाहना, लूटमार करना और बंधे हुए हिस्सों के अनुसार उसका बाँटना, सरदारों को जागीरें और साधारण मराठा सिपाही को जमीन तथा सोना चाँदी देना" अपना प्रमुख कर्तव्य समझते थे। साधारण जनता इसी को स्वराज्य तथा मन्दिरों और मूर्तियों की रक्षा करने को 'हिन्दू पद पादशाही' समझती थी। मुसलमान तथा मराठे देश में चारों ओर लूटमार मचाते हुए अपना अधिकार जमाते रहते थे। किसानों के साथ कठोरता का वर्ताव होता था। बेगार की प्रथा प्रचलित थी।

मराठों के अत्याचारों तथा लूटमार से त्रस्त होकर भरतपुर के जाटराजा सूरजमल ने रुहेलों, जाटों, अवध के नवाब तथा राजपूतों का एक संघ बनाने का प्रयत्न किया था परन्तु वह असफल रहा। परिणाम स्वरूप अब्दाली ने दिल्ली को फतह कर जाटों के राज्य को लूटा और फिर ब्रज की भूमि को रक्तस्नान कराया। 'हिन्दू पद पादशाही' का स्वप्न देखने वाले पेशवाई सरदार और सैनिक राजपूताने को निचोड़ने में लगे रहे। पंजाब में सिक्ख अब्दाली का मुकाबला कर रहे थे परन्तु अभी पूरी तरह संगठित नहीं हो पाए थे। मराठे सरदार अपनी लूटमार की आदत के कारण जनता में बहुत बदनाम हो उठे थे। राजपूताने के राजागण असंगठित थे और प्रायः आपस में ही लड़ा करते थे।

उस समय मराठे यद्यपि सबसे प्रबल शक्ति माने जाते थे परन्तु उनमें भी आपस में फूट थी। शिवाजी का उत्तराधिकारी साहू अपने प्राण रक्षक कुत्ते को पालकी में बैठाकर चलता था और सरदारों को पहले राजा के इस प्रतिनिधि को प्रणाम करना पड़ता था। मराठा सैनिक प्रकृति की कठोर भूमि में पले होने के कारण चुस्त और फुर्तीले योद्धा थे। परन्तु उनमें भी अधिकार एवं धन की वृद्धि के साथ-साथ परस्पर ऊँच-नीच, परभोगी और परजीवी व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गई और द्वेष और कलह का सूत्रपात हो गया। वे दूर-दूर तक धावे मारने लगे। लूटमार करना मराठा

सरदारों का पेशा सा बन गया था। इसलिए युद्धों के समय ये जनता की सहानुभूति एवं सहयोग से प्रायः वंचित रहते थे। आरम्भ में मराठा सरदार बड़े चुस्त और बाँके योद्धा रहे परन्तु जैसे-जैसे उनके वैभव में वृद्धि होती गई वे मुगल सेना का अनुकरण करने लगे और अपनी प्रसिद्ध छापेमार लड़ाई 'गनीमी कावा' को भूलते चले गए। सदाशिवराव की सेना तम्बू, कनातें और मुगल बादशाहों जैसी टीमटाम के सामान के साथ धीमी गति से बढ़ती हुई दिल्ली पहुँची थी। संक्षेप में मराठा सरदार और सिपाहियों की व्यक्तित्व-मग्नता तथा उनका अतिशय व्यक्तिवाद उनकी पारस्परिक फूट और पतन के प्रधान कारण थे।

मराठा शक्ति के ह्रास का दूसरा प्रधान कारण पेशवाओं की अशक्तता, गृह कलह, रिश्वत खोरी, विलास तथा ब्राह्मण और अब्राह्मण का भेद था। पेशवा के सरदार जब भी उत्तर भारत में लड़ने के लिए गए तो उन्हें सदैव आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। पेशवा समय पर धन या सेना से उनकी सहायता करने में हमेशा असमर्थ रहा। विलास की स्थिति तो यह थी कि पानीपत की पराजय से १७ दिन पहिले पेशवा ने एक और शादी की थी। पानीपत में घिरी हुई मराठा सेना अन्न और हथियारों के अभाव में मृत्यु के मुख में जाने को थी परन्तु पेशवा अपने भोग-विलासों में मग्न था। राघोबा और भाऊ परस्पर द्वेष रखते थे। होल्कर दुश्मन से मिला हुआ था। भाऊ ने अपने ब्राह्मणत्व के गर्व में भरतपुर के जाट राजा का भरी सभा में अपमान कर बहुत बड़ी हानि उठाई थी। ब्राह्मणों के इसी दम्भ ने सरदारों और सैनिकों में भी द्वेष तथा गृह-कलह की भावना उत्पन्न कर रखी थी।

अपनी इन्हीं निर्बलताओं, गृह-कलह तथा पारस्परिक विश्वासघात के कारण मराठों की शक्ति दिन-प्रति-दिन क्षीण होती चली गई और पानीपत की पराजय के उपरान्त उनकी देशव्यापी प्रतिष्ठा एवं गौरव को भयङ्कर धक्का लगा। इसके उपरान्त हैदरअली, निजाम, रुहेले, अंग्रेज आदि शक्तियों से निरन्तर टक्कर लेते हुए भी मराठों का पतन होता चला गया और हिन्दू राज्य या 'हिन्दू पद पादशाही' का स्वप्न सदैव के लिए विलीन हो गया। माधव जी सिन्धिया ऐसे ही भयङ्कर उथल-पुथल के युग में उत्पन्न हुए थे। उनके जीवन के प्रारंभिक काल में अंग्रेजों का बंगाल में प्रभुत्व बढ़ने लगा था। और बाद में उन्होंने धीरे-धीरे सारे उत्तर भारत में अपने पैर जमा लिए। जीवन के अन्तिम समय तक माधव जी इन अंग्रेजों से सतर्क रहने के लिए अपने साथियों को सचेत करते रहे।

दिल्ली-सल्तनत नाम की ही सल्तनत रह गई थी। वहाँ थोड़े-थोड़े समय बाद नए-नए वजीर और साथ ही नए-नए बादशाह बनते और कत्ल होते रहते थे। 'सल्तनते जम्हूरियत' का आन्दोलन प्रबल रूप धारण करता गया और आगे चलकर इसने अत्यन्त भयङ्कर खेल खेले।

'माधव जी सिन्धिया' विभिन्न जातियों, प्रदेशों, राजाओं आदि के इसी विशाल संघर्ष की कहानी है। माधव जी इस अराजकता पूर्ण स्थिति में प्रारम्भ से ही भाग लेते दिखाई पड़ते हैं और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पेशवा के अत्यन्त शक्तिशाली एवं प्रभावशाली सरदार बन जाते हैं जो देश की एकता के लिए चिन्तित रहते हैं। राजनीतिक स्थिति के इस विशाल चित्रण के कारण सम्पूर्ण उपन्यास में इतिहास की प्रधानता रही है। सारा उपन्यास राज्यों के उत्थान-पतनों, षडयन्त्रों, युद्धों तथा उनमें भाग लेने वाले विभिन्न प्रकार के पात्रों के विशद् विवरणों से ओतप्रोत है। रवीन्द्र बाबू ऐतिहासिक उपन्यास में 'इतिहास' रस की प्रधानता मानते थे। इस उपन्यास में इस 'इतिहास-रस' का पूर्ण निर्वाह हुआ है। परन्तु साथ ही औपन्यासिक-रस का भी अभाव नहीं है। माधव जी और गन्ना बेगम की कथा में ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी कल्पना का प्रचुर उपयोग हुआ है। वर्माजी की ऐतिहासिक पकड़ और औपन्यासिक सूझ-बूझ मार्मिक है।

वर्माजी के पास ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भण्डार है, निर्भ्रान्त जीवन दर्शन है और ऐश्वर्यमयी कल्पना है। परन्तु केवल इन्हीं से युग का इतिहास

जगाया नहीं जा सकता। इतिहास की आत्मा को जगाने के लिए अपनी आत्मा में ही उसे रचाना पड़ता है और वर्माजी में यह गुण और शक्ति प्रचुर मात्रा में है। इस उपन्यास को पढ़ते समय वर्णित युग का समस्त वातावरण सजीव हो उठता है। घटनायें एवं पात्र चलचित्र के समान एक-एक कर आते और अपना प्रभाव छोड़कर चले जाते हैं। इसमें इतने विशाल क्षेत्र, उसमें रहने वाली जातियों, राज्यों एवं घटनाओं का समावेश किया गया है कि जिन्हें यदि विस्तार दिया जाता तो ग्रन्थ का कलेवर सहस्त्रों पृष्ठों का हो जाता। परन्तु वर्मा जी कुशल कथा-शिल्पी हैं। उनकी कथा दार्शनिक विश्लेषणों और रम्य कल्पना-विलास के आवर्तों में उलझ कर कहीं भी नहीं रुकती और न अपना ऋजु विकास-पथ छोड़कर इधर-उधर फैलती ही है। कथा के विकास में वर्माजी ने प्रारम्भ से ही पर्याप्त संयम से काम लिया है और कथा के सम्पूर्ण सूत्रों को कस कर अपने नियन्त्रण में रखा है। प्रत्येक घटना मूल उद्देश्य को आगे बढ़ाकर नाटकीय परिस्थितियों का निर्माण करती हुई आगे आने वाली घटना के लिए मार्ग प्रशस्त कर रंगमंच से हट जाती है। नित्य बदलती हुई भाग्यलक्ष्मी नए-नए पात्रों को रंगमंच पर लाती है और वे पात्र मूल कथा को गति देकर विलीन हो जाते हैं। यदि वर्माजी कथा-शिल्प के गठन में कहीं भी चूक जाते तो यह विशाल सम्भार विशृङ्खलित हो जाता।

इस उपन्यास में कथा-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है इसलिए उसके पूर्ण निर्वाह के लिए पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक है। जैसा कि वर्माजी ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है, इस उपन्यास का प्रत्येक पात्र ऐतिहासिक है। माधव जी सिन्धिया, गन्ना बेगम, उम्दा बेगम, पेशवा, राघोबा, भाऊ, ताराबाई, नजीब, शिहाब, शाहवली उल्लाह, अहमदशाह अब्दाली, दिल्ली सल्तनत के क्षण-क्षण पर बदलने वाले विभिन्न बादशाह, इब्राहीम गार्दी, रानेखाँ, गुलाम कादिर, सूरजमल, जवाहरसिंह आदि सभी पात्रों का ऐतिहासिक अस्तित्व रहा है। घटनाओं के संयोजन में कल्पना का प्रचुर उपयोग हुआ है परन्तु कोई भी घटना ऐसी नहीं जो किसी न किसी रूप में अपना ऐतिहासिक अस्तित्व न रखती हो। क्योंकि पात्र ऐतिहासिक हैं इसलिए उनसे सम्बन्धित घटनायें भी ऐतिहासिक हैं। केवल उनके वर्णन में औपन्यासिकता लाने के लिए कल्पना का उपयोग किया गया है जैसे कि माधव जी और गुनीसिंह (छद्मवेषिणी गन्ना बेगम) के विभिन्न प्रसंग।

पात्रों में दो प्रकार के पात्र हैं। सज्जन और दुष्ट। पात्रों के इन दोनों वर्गों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियों के व्यक्ति हैं। सज्जन पात्रों में माधवजी सिंधिया, उनके अनेक सेना नायक, रामशास्त्री, जवाहरसिंह, मन्यारसिंह, रानेखाँ, इब्राहीम गार्दी, पेशवा माधवराव आदि अपना विशेष महत्व रखते हैं। दुष्ट पात्रों में नजीब, अहमदशाह अब्दाली, शिहाब, कुतुबशाह, गुलाम कादिर, राघोबा, मल्हारराव होल्कर, सफदरजंग आदि की गणना की जा सकती है। इनके अतिरिक्त कुछ पात्र ऐसे भी हैं जो मूलत: बुरे नहीं हैं परन्तु उनके दम्भ, व्यक्तिगत स्वार्थ एवं परिस्थितियों से उत्पन्न विवशता ने उन्हें विनाशकारी कार्य करने के लिए प्रेरित किया है। सदाशिवराव भाऊ, ताराबाई, गोपिकाबाई, दिल्ली के कई सम्राट आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। दो पात्र ऐसे भी हैं जिन्होंने माधव जी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनकी रक्षा में अपने प्राण दे दिए थे। गुनीसिंह का साथी मनीसिंह नामक छद्मवेशी मुसलमान हिजड़ा तथा शिहाब द्वारा माधव जी का वध करने के लिए भेजा गया रामलाल, जो मुसलमान था।

इन विभिन्न पात्रों के मध्य रहते हुए माधव जी के चरित्र का विकास हुआ है। उनके चारों तरफ सदैव ऐसा वातावरण छाया रहा है जिसमें नृशंसता, विश्वासघात, छल, षडयन्त्र तथा स्वामिभक्ति, सदाशयता, उदारता, वीरता एवं सर्वस्व आत्म-समर्पण कर देने के स्वर गूंजते रहे हैं। अहमदशाह अब्दाली, नजीब, शिहाब तथा गुलाम कादिर की नृशंसता एवं अत्याचारों ने उस युग के इतिहास को हिला डाला था। नृशंसता की ऐसी मिसालें अन्य युगों में दुर्लभ ही होंगी। शिहाब जैसा

वजीर जब चाहता है ना एक बादशाह को कत्ल कर दूसरे को गद्दी पर बैठा देता है। गुलाम कादिर बादशाह से खजाने का पता लगाने के लिए उसकी आँखों में सूजे ठोंक देता है। ऐसे दीन, निरीह बादशाह भी केवल अठारहवीं सदी में हुए हैं तथा ऐसे अत्याचारी भी उसी समय के इतिहास में मिलते हैं।

रानेखाँ, इब्राहीम गार्दी आदि मुस्लिम पात्र उसी युग के हैं जिसमें नजीब, गुलामकादिर, शिहाब आदि हुए हैं। रानेखाँ और गार्दी भारतीय इतिहास के ऐसे ज्वलन्त रत्न हैं जिनकी वीरता, स्वामिभक्ति, देशभक्ति, निर्भीकता आदि सदैव स्मरण किए जाते रहेंगे। राने खाँ माधव जी का अन्त तक साथ देता है, अपने आभूषण आदि गला कर सेना के लिए रसद इकट्ठी करता है। माधव जी का जितना स्नेह एवं विश्वास रानेखाँ पर है उतना अन्य किसी भी सरदार पर नहीं। गार्दी अब्दाली के निमंत्रण को ठुकरा देता है और मरते दम तक देश के साथ विश्वासघात करने को प्रस्तुत नहीं होता। रानेखाँ और गार्दी भी मुसलमान हैं और अब्दाली नजीब, शिहाब, गुलामकादिर आदि भी। इनमें पूर्वोक्त दोनों पात्र इस्लाम के उज्ज्वल रत्न हैं जब कि अब्दाली आदि इस्लामी इतिहास के लिए कलङ्क हैं।

मराठा पात्रों में एक तरफ राम शास्त्री, दत्ता जी, माधव जी, नाना फड़नीस जैसे दूरदर्शी एवं विलक्षण राजनीतिज्ञ हैं तथा दूसरी तरफ राघोबा, होल्कर, तथा मल्हारराव जैसे विश्वासघाती एवं नीच पात्र भी हैं। इन व्यक्तिगत पात्रों के अतिरिक्त वर्मा जी ने सम्पूर्ण जातियों की चरित्रगत विशेषताओं का भी चित्रण किया है। मराठा, रुहेले, पठान, विदेशी मुसलमान आक्रान्ता आदि की अपनी-अपनी चरित्रगत विशेषतायें हैं।

मराठा जाति वीर है, गनीमी कावा (छापेमार) लड़ाई में सिद्धहस्त है। परन्तु मराठा सरदारों की लूटमार की आदत ने उसे सारे देश में बदनाम एवं अप्रिय बना रखा है। जनता उससे सहानुभूति नहीं रखती। युद्ध के समय उसे रसद आदि नहीं देती। उत्तर भारत की साधारण जनता मराठा सरदारों से घृणा करती है क्योंकि वह सदा इनसे लुटती रही है। मराठों की आर्थिक व्यवस्था निर्बल है। धन के अभाव के कारण ही उन्हें पानीपत का युद्ध हारना पड़ा तथा अन्य युद्धों में भी आर्थिक अभाव ही पराजयों का प्रमुख कारण रहा। मराठा शक्ति के केन्द्र—पूना—में सदैव रुपयों का अकाल पड़ा रहता है। सरदार एवं सैनिक साधारण जीवन को त्याग कर विलासी बनते चले जा रहे हैं। भाऊ की सेना के साथ मुगलिया टीमटाम एवं भारी सामान उसकी प्रगति को धीमी बना देता है। मराठा सरदारों में व्यक्तिगत स्वार्थ, स्पर्धा एवं राज्यसत्ता का मोह प्रबल हो उठा है। इनकी सिद्धि के लिए वे विश्वासघात करने में भी नहीं चूकते। राघोवा और होल्कर इसके प्रमाण हैं। आर्थिक संकट, जनता में अप्रियता, सरदारों के दम्भ एवं फूट के कारण मराठों का पतन होने लगता है।

विदेशी आक्रान्ता केवल लूटमार और जन-संहार के उद्देश्य से ही भारत आते हैं। जनता का वध करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। वे तैमूर और नादिरशाह के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। रुहेले और पठान अपने को विदेशी समझते हैं। इसलिए भारत की भूमि और जनता से उन्हें कोई हमदर्दी नहीं। वे केवल लूटमार और राज्य-स्थापना की घात में लगे रहते हैं। भारतीय किसान पीड़ित एवं निरीह है। उसे न मराठों से सहानुभूति है, न अफगानों, पठानों अथवा रुहेलों से। क्योंकि वह इन सब के द्वारा समान रूप से लूटा और पीड़ित किया जाता रहा है।

इस उपन्यास के पात्रों में माधव जी एवं गन्ना बेगम के चरित्र अत्यन्त मनोरम और आकर्षक हैं—विशेष रूप से गन्ना बेगम का चरित्र। माधव जी का रंगमंच पर प्रवेश एक नवयुवक के रूप में होता है। प्रारम्भ में उनका मराठा राजनीति में कोई महत्व नहीं दिखाई पड़ता। वे एक साधारण सरदार मात्र हैं। लगभग आधे उपन्यास तक इनके चरित्र की रेखाओं में उभार और भास्वरता नहीं आ पाई है। उनके चरित्र का विकास अत्यन्त धीरे-धीरे और अत्यन्त कलात्मक ढंग से होता है। वे धीरे-धीरे पाठकों के अधिकाधिक निकट

आते जाते हैं और उपन्यास के अन्त तक आते-आते वे मराठा राजनीति के एक प्रधान एवं प्रबल अङ्ग तथा अंग्रेजों के लिए भय का कारण बन जाते हैं। प्रारम्भ में माधव जी अपने बड़े भाई दत्ताजी के साथ युद्ध-मंत्रणा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनका बहुत कम बोलने का स्वभाव है परन्तु वे जितना भी कहते हैं उससे उनकी राजनीति, रणनीति तथा दूरदर्शिता का प्रमाण मिलता है। वे संकट के समय विचलित नहीं होते। प्रत्येक की गति-विधि पर उनकी सतर्क दृष्टि रहती है। उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे निकट भविष्य की ही बातें न सोचकर सुदूर भविष्य के विषय में गंभीरता के साथ सोचते हैं। वे वीरता को आवश्यक समझते हुए भी सेनानायक को वीरता से बढ़कर चतुराई से काम लेने की सलाह देते हैं। स्वराज्य के आदर्श को आगे बढ़ाना वे अपने जीवन का कर्त्तव्य समझते हैं और मृत्यु पर्यन्त उसी की प्राप्ति का प्रयत्न करते हुए विश्वासघाती द्वारा दिए गए विष से उनका प्राणान्त हो जाता है। मरते समय तक माधव जी को देश की ही चिन्ती रहती है। उन्हें भय हैं कि कहीं उनके साथी उनकी मृत्यु का बदला लेने के लिए उपद्रव न कर दें। इसलिए वे मृत्यु शय्या पर पड़े हुए अपने साथियों से आग्रह करते हैं—"हिन्दू गंगाजल की, मुसलमान कुरान की, ईसाई इंजील की सौगन्ध खावें कि मेरे बाद कोई उपद्रव न करेंगे।"

उनकी राजनीतिक सूझ-बूझ और रण-शास्त्र-कुशलता अद्वितीय है। इसी कारण उनको अनेक युद्धों में सफलता मिली थी। यदि पानीपत के युद्ध में भाऊ के स्थान पर माधव जी प्रधान सेनापति होते तो बाद का भारतीय इतिहास कुछ दूसरी ही प्रकार का होता। वे अन्त तक यही प्रयत्न करते रहे कि कि किसी प्रकार मराठे, जाट तथा देशभक्त मुसलमान संगठित होकर विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करें। मराठों की लूट-मार एवं पारस्परिक फूट एवं दम्भ से वे सदैव चिन्तित रहते थे। जब मराठा शक्ति का पतन होने लगा तो वे पेशवा द्वारा मराठा राजनीति को सुमार्ग पर लाने के लिए पूना चले गए परन्तु वहाँ भी नाना फड़नीस और तुकोजी के साथ उनका विग्रह रहा। देश रक्षा का उनका कोई भी प्रयत्न षडयन्त्रकारियों तथा स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा पूरा न हो सका। यदि मराठा शक्ति की बागडोर माधवजी के हाथ में होती तो सम्भवतः भारत में अंग्रेजी राज्य का स्वप्न कभी भी साकार न हो पाता। वे अंग्रेजों को भारतीय स्वाधीनता एवं एकता का सबसे बड़ा शत्रु समझते थे।

माधव जी के इसी सशक्त व्यक्तित्व से प्रभावित होकर विख्यात इतिहासकार डा० यदुनाथ सरकार ने लिखा था—"मराठा इतिहास में उनका चमत्कारपूर्ण गौरव अत्यन्त उच्च शिखर पर है—वे थे भारत के शासक बिना किसी सहयोगी के, बिना किसी दलबल के, बिना किसी योग्य या विश्वसनीय सचिव-वर्ग के। यदि नाना फड़नीस में चाणक्य की देशभक्ति और ईमानदारी आधी भी होती अथवा नाना में स्वार्थ का ही प्रवुद्ध विवेक होता और आरम्भ में ही माधव जी का साथ दे दिया होता तो उपरान्त के मराठा इतिहास की धारा भिन्न हो गई होती।"

व्यक्ति के रूप में माधव जी सरल, कोमलहृदय एवं उदार पुरुष हैं। मराठी और हिन्दी में कविता भी करते हैं। गन्ना बेगम उन्हीं के बनाये हुए हिन्दी-गीत को प्रायः उन्हें गाकर सुनाया करती थी। गन्ना बेगम के रहस्य से परिचित हो जाने के उपरान्त भी उन्होंने कभी उसके प्रति संकेत भी नहीं किया। गन्ना के लिये उनके हृदय में एक विशेष स्थान बन चुका था परन्तु उसमें वासना का नितान्त अभाव था। उन्होंने पेशवा से गन्ना की कथा सुनाते हुए कहा था—"न उसके हाथ जले थे और न मेरे। उस स्वर्ग की अप्सरा की अन्य सुन्दरियों से कोई तुलना नहीं की जा सकती।"

गन्ना बेगम इस उपन्यास का सबसे अधिक कोमल एवं आकर्षक पात्र है। उसका जीवन एक दुखिनी बाला का जीवन रहा है। सात हजारी मन्सबदार की पुत्री होकर भी, पिता की मृत्यु के उपरान्त उसे आश्रय के लिए इधर-उधर भटकना पड़ा। पहले वह जवाहरसिंह

के प्रति आकर्षित हुई परन्तु उसे प्राप्त न कर सकी। बलात् उसे शिहाब जैसे नृशंस व्यक्ति की बेगम बनना पड़ा और बाद में उम्दा बेगम की दासी। शिहाब के चंगुल से भागकर उसने गुनीसिंह का रूप धारण किया और अन्त में जाकर माधव जी के यहाँ खास कलम बन गई। उसने अपने छद्म-वेश को अन्त तक सफलता के साथ निभाने का प्रयत्न किया परन्तु अकस्मात् उसका रहस्य उसकी अचेतावस्था में माधव जी पर प्रकट हो ही गया। धीरे-धीरे माधव जी के गुणों पर वह मुग्ध हो गई। एक बार उसने अपने को संकट में डालकर माधव जी के प्राणों की रक्षा की तथा कई बार उन्हें अलभ्य सूचनाएं लाकर दीं और अन्त में इसी प्रकार की एक सूचना लाने के लिए जाते समय वह शिहाब के चंगुल में फंस गई और उसने विष खाकर आत्महत्या कर ली। मरते समय वह माधव जी के लिए अपना अन्तिम सन्देश छोड़ गई—"आह ग़मये गन्ना बेगम" अर्थात् अफसोस! गन्ना बेगम के लिए रोइए। यही वाक्य उसकी कब्र पर खुदे हुए हैं।

गन्ना बेगम का प्रसंग 'विराटा की पद्मिनी' के समान करुण, स्नेहाकुल एवं उज्ज्वल है। वर्मा जी के हृदय की सम्पूर्ण करुणा एवं स्नेह गन्ना के रूप में साकार हो उठी है। माधव जी सिंधिया और गन्ना बेगम हिन्दी-साहित्य में सदैव अमर रहेंगे।

(पृष्ठ ५२ का शेषांश)

भाषा की ढैयाँ छूकर उससे छिनक भी जाते थे। दायें-बायें जहाँ मौका पाते अपने अंग्रेजी-प्रेम को बिना टिकट ही प्रदर्शित कर देते थे।

पीतम को धरि ध्यान घरीक करै
मन ही मन काम किलोलैं।
पातहु के खरकें 'मतिराम'
अचानक ही अंखियाँ पुनि खोलैं।
पीतम ऐहैं अजौ सजनी !
अंगराय जंभाय घरीक यों बोलैं।
गावै घरीक गरे ही हरे-हरे
गेह के बाग हरे हरे डोलैं॥

ऐहैं प्रीतम आजु यों, निश्चय जाने बाम।
साजे सेज सिंगार सुख, वासक सज्जा नाम।

लेकिन सम्पादक जी अपने तमिल भाषी मित्रों की तलाबेली का वर्णन कैसे करूं? शिकायत भरे आये थे। भारत सरकार से चिढ़कर बंगाले के जादू का सहारा लेते हुए तमिल-देश-वासिनी मध्याकलहान्तरिता की फोटो भी टुक निहार लीजिये।

पाँयन आय परे तो परे रहे,
केती करी मनुहारि न झेली।
मान्यो मनायो न मैं 'मतिराम'
गुमान में ऐसी भई अलबेली।
प्यारो गयो दुख मान कहूं,
अब कैसे रहूं यह राति अकेली।
आप ते ल्याउ मनाय कन्हाई को,
मेरो न लीजियो नाम सहेली॥

दूसरे दिन राष्ट्रीय नायक लेखक की हैसियत से मंच पर बोलने आये। हमारी समझ में नहीं आता सम्पादक जी कि राष्ट्रीय नायक को हम दक्षिण, शठ, धृष्ट आदि में किस प्रकार का नायक मानें। बहरहाल अपनी सूझ बूझ के अनुसार हम उन्हें दक्षिण नायक मानते हैं। उन्होंने सभी प्रादेशिक भाषाओं से एक साथ स्नेह प्रकट किया। मतिराम जी के कथनानुसार—

एक भाँति सब तियन सौं जाको होय सनेह।
सो दच्छिन 'मतिराम' कहि बरनत है मतिगेह॥

सियावर रामचन्द्र की जय शरणम्।

बस, अब बहुत हुआ, हमसे नायिका भेद की अधिक फ़स्द न खुलवाइये। होली का मौसम है, नायिका भेद बखानते हुये जो कहीं हमारे मन में व्यभिचारी भाव आ गया तो हमसे पदम-पचासा छूट जायगा। इसलिये आज यहीं तक।

आपका

चौक, लखनऊ **नागर नायिकाभेदी**

पुस्तक-समीक्षा

अच्छी हिन्दी—लेखक पं० किशोरीदास वाजपेयी
प्रकाशक—हिमालय एजेन्सी, कनखल,
प्रथमसंस्करण १९५२, पृष्ठ संख्या १५७, मूल्य २॥)

"हिन्दी-भाषा" सीखने के लिए ही नहीं, "अच्छी हिन्दी" लिखने और पढ़ाने के लिए भी वाजपेयी जी की यह पुस्तक पठनीय है। हिन्दी-भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में आज बहुत विवाद उठाया गया है। बंगाल और तमिल देश से बार-बार यह आवाज़ उठ रही है कि जिस हिन्दी भाषा का कोई व्याकरण नहीं उस भाषा को "बाज़ारू भाषा" ही कहना चाहिए। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी "बाजारू भाषा" के रूप में ही हिन्दी को सरकारी भाषा के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं। कहा गया है कि हिन्दी में लिंग सम्बन्धी नियम नहीं हैं, हिन्दी में शब्दों को अनेक प्रकार से लिखा जाता है, उसमें एकरूपता का अभाव है। यह भी कहा गया है कि हिन्दी में शब्दों के अर्थ निश्चित हो ही नहीं सकते। ये सब आरोप गम्भीर हैं। हमारे पास इनके क्या उत्तर हैं। इस विषय में पत्र-पत्रिकाओं में लेख छपे हैं परन्तु अभी तक इन नई समस्याओं को भी सम्मिलित कर हिन्दी का व्याकरण नहीं बन पाया यह कितने दुःख की बात है। जब तक हिन्दी का नया व्याकरण नहीं बन जाता तब तक बंगाल, तमिल के पाठकों को केवल यह कहकर कि वे "हिन्दी-विरोधी हैं" संतुष्ट नहीं कर सकते।

"अच्छी-हिन्दी" हिन्दी के आदर्श व्याकरण निर्माण कार्य में वस्तुतः एक सहायक ग्रन्थ के रूप में अत्यधिक उपयोगी है। इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में "अच्छी हिन्दी" के इतने गुण बताए गये हैं—भाषा "अपवर्जित विप्लव" होनी चाहिए अर्थात् संस्कृत के सन्धि नियमों का अन्धानुकरण हिन्दी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। शुद्ध शब्द है "अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन" न कि अन्तर्राष्ट्रीय। प्रथम का अर्थ है इस देश के अतिरिक्त अन्य देशों का भी सम्मेलन। दूसरे शब्द का अर्थ है केवल इसी देश के भीतर के निवासियों का सम्मेलन। इसी प्रकार "राष्ट्रीय" शब्द शुद्ध है, राष्ट्रिय नहीं, यद्यपि अब भी लोग 'राष्ट्रिय' लिखे चले जा रहे हैं। "राजनैतिक" शुद्ध है न कि "राजनीतिक" पर लोग राजनीतिक लिखते हैं। यह हिन्दी की प्रकृति को न समझकर संस्कृत के व्याकरण का अन्धानुकरण ही है।

अच्छी हिन्दी की दूसरी विशेषता है "शुचौ", भाषा पवित्र होनी चाहिए। शुद्ध "अभिज्ञ" है न कि "भिज्ञ"।

वाजपेयीजी ने भाषा की हृदयग्राहिता, मंगलमयता, आदि पर अनेक उदाहरण देकर विचार किया है और महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं।

कहा जाता है कि हिन्दी का गठन दोषपूर्ण है, उसमें कोई नियम नहीं है। वाजपेयीजी ने इसका युक्तियुक्त खण्डन किया है। हिन्दी में बहुत थोड़ी-सी विभक्तियों से काम चल जाता है, एक भी अक्षर फालतू नहीं है।

गोविन्द फल देखता है
गोविन्द फल को देखता है

द्वितीय वाक्य में "को" अनावश्यक है अतः हिन्दी ने छोड़ दिया। परन्तु—

लड़की लड़की को देखती है
बन्दर बच्चों को डराते हैं

इन वाक्यों में "को" विभक्ति आवश्यक है अतः उनका प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार अन्य विभक्तियों को सोच-समझकर हिन्दी ने ग्रहण किया है। लेखक ने सभी विभक्तियों की वैज्ञानिकता का विस्तृत विवेचन किया है।

हिन्दी ने संस्कृत के 'तद्धित' शब्द लिए हैं क्योंकि वे आवश्यक हैं—नए शब्दों के निर्माण में हिन्दी को

इसीलिए कम कष्ट होता है। ज्वालापुर से ज्वालापुरी, कानपुर से कानपुरी ; इसी प्रकार देशी, विदेशी, शहरी आदि। कुछ प्रत्यय हिन्दी के अपने हैं, परन्तु हिन्दी उन्हें संस्कृत में नहीं लगाती यथा—

गहराई, भलाई, बुराई, पागलपन आदि।

समास-प्रकरण में लेखक ने बताया है कि हिन्दी में संस्कृत से लघु संस्कृत समास ही लिए गए हैं, सरलता के लिए। विशेषणों में हिन्दी ने संज्ञाओं के अनुसार विशेषण नहीं बनाए जैसा कि संस्कृत में है। "सुन्दर लड़की" में सुन्दर पुल्लिङ्ग है, लड़की स्त्रीलिङ्ग। आप विशेषणों का प्रयोग करें, संज्ञा स्त्रीलिंग हो या पुल्लिंग आप पुल्लिंग विशेषणों से काम चला सकते हैं। परन्तु विशेषण विशेष्य से जहाँ तादाम्य सम्बन्ध रखता है वहाँ वचन व लिंग दोनों का ध्यान रखा जाता है। यथा—

अच्छी धोती, अच्छी धोतियाँ।

क्रिया के गठन और अन्वय के विषय में लेखक ने महत्त्वपूर्ण विचार दिए हैं।

राम को पुस्तक पढ़नी चाहिए

राम को पुस्तक पढ़ना चाहिए।

इनमें प्रथम वाक्य शुद्ध है क्योंकि यह कर्मवाच्य है। भाववाच्य वाक्यों में "पढ़ना" का प्रयोग होगा यथा— "राम का पुस्तक पढ़ना अच्छा लगता है"।

इसी प्रकार "चाहिए" की जगह 'चाहिए' लिखना ग़लत है।

हिन्दी ने "वचन" में 'द्विवचन' को ग्रहण नहीं किया। सरलता के लिए।

हिन्दी सीखने वालों को लाक्षणिक प्रयोगों में 'वचन' सम्बन्धी कठिनाइयाँ होती हैं। सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कवि प्रायः लिंग, वचन की चिन्ता नहीं करते किन्तु ऐसे स्थानों में 'लक्षणा' शक्ति को ध्यान में रखना चाहिए—"हम लोगों का सिर नीचा हो गया"

यह लाक्षणिक प्रयोग है अतः 'सिर' एकवचन है। अभिधा में प्रयोग इस प्रकार होगा—हम लोगों ने अपने सिर नीचे कर लिए।

यहाँ 'सिर' बहुवचन है।

"शब्द-संग्रह" में सबसे अधिक सावधानी की आवश्यकता है। "मेमोरेंडम" का अनुवाद "आवेदन-पत्र" प्रचलित हो गया था परन्तु अब "स्मरण-पत्र" चल रहा है। लेखक के अनुसार प्रथम शब्द अधिक शुद्ध है।

कार्य-क्रम के लिए "पुरोगम", अल्टीमेटम् के लिए 'अन्तिमेत्थम्' का प्रयोग अशुद्ध है। इसी प्रकार लेखक ने अनेक शब्दों के शुद्ध अनुवाद दिए हैं और अनुवाद करते समय जिन बातों का ध्यान रखना चाहिए उनका भी विचार किया है।

वाजपेयीजी की "अच्छी-हिन्दी" राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण की तरह ही शिक्षाप्रद पुस्तक है। हम वाजपेयीजी से प्रार्थना करते हैं कि वाजपेयी जी राष्ट्रभाषा का अब एक नवीन व्याकरण तैयार कर दें, जिसमें इधर की नई समस्याओं पर भी विचार किया गया हो। पं० कामताप्रसाद गुरु के पश्चात् वाजपेयी जी शुद्ध और अच्छी हिन्दी-भाषा सिखाने के लिए सदैव स्मरणीय रहेंगे।

—उपाध्याय

—:S✽¿✽S:—

प्रेम अभिलाष—रचयिता—स्व० मुंशी साहबसिंह भटनागर, मूल्य ७) पृष्ठ संख्या—४६४,

प्रकाशक—श्रीमती सुमति भटनागर

आज जबकि हिन्दी कविता अपने संक्रान्ति मार्ग से गुजर रही है, हिन्दी के सहृदय पाठकों तथा सुधी समीक्षकों का यह कर्त्तव्य है कि वे हिन्दी कविता को जन-विरोधी साम्राज्यवादी फ़ौलादी शिकंजों से मुक्त करने के लिए एक ओर तो स्वस्थ तथा जीवन्त काव्य का सृजन करें और दूसरी ओर हिन्दी के अप्रकाशित श्रेष्ठ काव्य को प्रकाशन के माध्यम से शिक्षित समाज के सामने प्रतिष्ठित करें। प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन उक्त दूसरी कोटि के सुझाव के अन्तर्गत आता है। विषय की दृष्टि

से यद्यपि आज भक्ति परक काव्य ग्रन्थों के प्रकाशन की उपादेयता भले ही अपेक्षाकृत कम हो तथापि यह कहना अनुचित एवं अप्रासंगिक न होगा कि भक्तिकालीन साहित्य का साम्राज्य-विरोधी आंदोलन को सशक्त करने में परोक्ष रूप से अपना विशेष महत्त्व रहा है। मध्ययुग के सन्त कवियों ने राम तथा कृष्ण भक्ति के माध्यम से जिस जनवादी चेतना को प्रगति प्रदान की है उसका साहित्य के विराट् संदर्भ में अपना ऐतिहासिक महत्त्व है।

महाभारत, भागवत, पुराण तथा सूरसागर आदि अनेक अष्टछाप के कवियों के ग्रन्थों में जिस कृष्ण-भक्ति धारा का स्वाभाविक स्रोत फूटा था उसी का विकास वर्तमान युग में प्रिय-प्रवास, द्वापर तथा कृष्णायन जैसे काव्यों में हुआ। प्रेम अभिलाष का प्रकाशन इसी परंपरा को आगे बढ़ाने में सफल हुआ है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व सन् १८५६ ई० में हो चुकी थी किन्तु अनेक कारणवश इसका प्रकाशन समय पर न हो सका। वस्तुतः इस काव्य के प्रकाशित कराने का सम्पूर्ण श्रेय आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री कालिकाप्रसाद भटनागर को है जिनके स्तुत्यप्रयास स्वरूप आज यह बृहत्काय काव्य हमारे सम्मुख है।

'प्रेम अभिलाष' में मुख्य रूप से कवि ने कृष्ण जीवन से सम्बद्ध अनेक लीलाओं का विशद वर्णन किया है। इन लीलाओं का पावनधाम वृन्दावन है जिसके विषय में कवि ने स्वयं कहा है—

"यद्यपि मेरे मन रमण हैं व्रज के सब धाम।
तद्यपि वृन्दा विपिन सम और नहीं सुख धाम॥"

इसके साथ ही कवि ने निर्गुण-सगुण, ब्रह्मा-विष्णु एवं महेश आदि सभी देवता का स्तवन किया है। इस दृष्टि से हम कवि पर तुलसीकृत विनय-पत्रिका का विशेष प्रभाव देख सकते हैं। मूलतः कवि की वृत्ति कृष्ण के पल-पल परिवर्तमान गत्यात्मक सौन्दर्य के सुन्दर चित्रों के अङ्कन में अधिक रमी है।

रसवादी दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल रस भक्ति (शान्त) है तथा शृंगार, वीर आदि का अवान्तर प्रयोग केवल कृष्ण के अवतारी स्वरूप की लोकोत्तरता दिखाने के लिए ही किया गया है। भाषा सरल व्रज है जिसमें स्थान-स्थान पर अवधी, बुन्देलखण्डी और उर्दू-फारसी के शब्दों का भी सहज रूप से प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं पर तो 'रामचरितमानस' की शब्दावली का प्रयोग स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो जाता है। इस कृति पर व्रजवासीदास विरचित 'व्रजविलास' तथा तुलसी के मानस का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है। किन्तु लेखक ने कहीं भी अपनी मौलिकता का फतवा भी नहीं दिया है। वास्तव में प्रेम अभिलाषकार का आशय अपना काव्य-कौशल निदर्शन नहीं है प्रत्युत कृष्णभक्ति प्रचार ही उसका आद्योपांत परम काम्य रहा है।

पुस्तक में स्थान-स्थान पर प्रकृति के व्यापक तथा संश्लिष्ट चित्र दिए गए हैं। आलङ्कारिक रूप में प्रकृति के परम्परायुक्त उपमानों को तो कवि ने ग्रहण किया ही है साथ ही अनेक स्थलों पर उस पर तुलसी के उपदेशनिष्ठित प्रकृति चित्रण-विधान का भी प्रभाव पड़ा है। सूरदास के सूरसागर का भी लेखक ऋणी है।

सौंदर्य चित्रण व नखशिख वर्णन में भी यत्र-तत्र पुनरावृत्ति की गई है फिर भी सब मिलाकर इस कृति में लेखक का बहुत कुछ मौलिक भी है। आज के अनास्थावादी युग (हिन्दी कविता के एक विशेष वर्ग के मतानुसार) में इस प्रकार के काव्य प्रकाशन का अपना भिन्न महत्त्व है। यदि आज यह भक्ति प्रधान साहित्य हमारे जीवन के किसी व्यापक क्षितिज का वर्णन नहीं कर पाता तो क्या हुआ—ऐसे साहित्य की तुलना में तो जिसमें क्षणजीवियों की उथली और उलझी मनोबौद्धिक संवेदनाओं की कुण्ठित अभिव्यक्ति ही कला की ज्ञाता हो, इस प्रकार की कविता अपेक्षाकृत युग-सत्य के एक पहलू तक पहुँचने में अधिक सफल रही है।

अनिश्चित गन्तव्य वाली राहों के अन्वेषण की अपेक्षा कभी-कभी अनुभूत-अतीत की ओर लौट जाना ही अधिक श्रेयस्कर हुआ करता है।

मृच्छकटिक—मूलनाटककार शूद्रक, अनुवादक—डा० रांगेय राघव प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरीगेट, दिल्ली--६ पृष्ठ संख्या—२१२, मूल्य—३)।

यों तो संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों का प्रकाशन तथा अनुवाद कार्य पर्याप्त मात्रा में होता रहा है तथापि पिछले कतिपय वर्षों में, भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी हो जाने के पश्चात्, संस्कृत के प्रायः सभी काव्यों, नाटकों एवं समीक्षात्मक ग्रन्थों का अनुवाद अत्यन्त तीव्रता से हुआ है। प्रस्तुत संस्कृत नाटक के हिन्दी रूपान्तरकार सुप्रसिद्ध उपन्यासकार डाक्टर रांगेय राघव हैं।

प्रारम्भ में डा० साहब ने १४ पृष्ठ की एक भूमिका भी दी है जिसमें शूद्रक (मूल नाटककार) की ऐतिहासिक स्थिति, मृच्छकटिक की सार्थनामता, भाषा, अभिनेयता, चरित्र-चित्रण एवं तद्देशीय तथा तात्कालिक सामाजिक, राजनैतिक परिवेश का भी विस्तृत विवेचन किया है जिसमें स्पष्ट रूप से कीथ कृत 'संस्कृत ड्रामा' तथा मैक्डानल रचित 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' की स्पष्ट छाया है।

अनुवाद की भाषा सर्वदा सरल, सहज, स्वाभाविक तथा दोषरहित है। जो शूद्रक की भाषा की मौलिक चुस्ती है उसकी रक्षा अनुवाद में भली प्रकार से की गई है। कवित्वपूर्ण श्लोकों के अनुवादों की भाषा भी पूर्णतः निर्दोष है। अनुवादक ने राजश्यालक शकार की भाषा को हिन्दी में अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से रूपायित किया है यथा 'स' के स्थान पर सर्वथा 'श' का प्रयोग कराया गया है। रांगेय राघव के इस अनुवाद में एक अभाव अवश्य खटकने वाला है। वे स्वयं भी अच्छे कवि हैं, क्या ही सुन्दर होता यदि वे नाटक के पद्यस्थलों को पद्यान्तरित ही करते जैसा कि अनुवाद के मंगलाचरण तथा भरतवाक्य में उन्होंने किया है। फिर भी अनुवादक की भाषा में पण्डिताऊपन का दोष नहीं आ पाया है जो प्रायः संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद करते समय आ जाता है।

इस प्रकार के अनुवाद अनेक दृष्टियों से उपयोगी हैं। इन अनुवादों से न केवल हिन्दी भाषा का गौरव ही अभिवृद्ध होता है प्रत्युत हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति का भी विशद परिचय मिलता है।

पुस्तक की छपाई तथा गेटअप दोनों ही सुन्दर हैं; हाँ मूल्य में अवश्य कुछ कमी होती तो अधिक अच्छा रहता।

लेखक इस सर्वांग सुन्दर अनुवाद के लिए बधाई का पात्र है।

हिन्दी काव्य में छायावाद—ले०—दीनानाथशरण प्रकाशक—गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा मूल्य—५) पृष्ठ—३४०

'छायावाद और रहस्यवाद पर हिन्दी में पर्याप्त अध्ययन हो चुका है यद्यपि अभी वह पूर्ण रूप से निर्भ्रान्त नहीं हो पाया है। छायावाद के सम्बन्ध में भ्रम के दो कारण हैं, प्रथम—छायावादी कवियों द्वारा लिखी गई भूमिकाएं, द्वितीय—उन आलोचकों द्वारा लिखे गए निबन्ध जो छायावाद से चिढ़ते थे। यद्यपि यह मानना होगा कि उपर्युक्त दोनों वर्गों की आलोचनाओं में सत्य का अंश है। एक तीसरा कारण और है—प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध तक की सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों के कारण जिस मध्यमवर्ग द्वारा छायावाद की सृष्टि हुई, उसको ठीक-ठीक न समझ सकना। कोई काव्य या कला अपने काल की सामाजिक स्थिति के अध्ययन के बिना स्पष्ट नहीं की जा सकती। शम्भूनाथसिंह ने 'छायावाद' पर इसी दृष्टि से अपनी पुस्तक लिखी थी जिसमें मतभेदों के बावजूद उपर्युक्त दृष्टिकोण द्वारा किया गया 'प्रयास' अवश्य मिलता है। क्या शरण जी ने अपनी पुस्तक में ऐसा प्रयत्न किया है? उत्तर होगा 'नहीं'। पुस्तक में छायावाद की परिभाषा, आरम्भ व विकास, प्रेरक शक्तियाँ, प्रवृत्तियाँ, बाह्य प्रभाव, छायावाद, रहस्यवाद विषय-क्षेत्र, रचना विधान, सौन्दर्य-भावना, नारी, प्रवृत्ति, राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना, रस, अलंकार आदि

पर अलग अलग अध्यायों में विचार किया गया है, निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी पर स्वतंत्र रूप से भी विचार किया गया है, इन अध्यायों के क्रम में परिवर्तन की आवश्यकता है। सर्व प्रथम उस राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना का वर्णन अपेक्षित था जिसमें छायावाद का आगमन अवश्यम्भावी था। किन्तु ऐसा न होने से पुस्तक में मौलिकता का अभाव हो गया क्योंकि लेखक का दृष्टिकोण आकलनात्मक व अध्यापकीय है। किन्तु लेखक ने छायावाद पर बहुत सी सामग्री को पढ़ा है, श्रम किया है, विभिन्न मतों की चर्चा की है। छायावाद के प्रति लेखक का दृष्टिकोण नकारात्मक नहीं है यह एक शुभ प्रवृत्ति है। इस पुस्तक से छात्र-वर्ग का अवश्य हित होगा किन्तु आज के आलोचक का कार्य ही शायद यह है कि आलोचना को 'बाल-तोषिणी वृत्ति' से ऊपर उठाए। वस्तुतः इस कार्य से विद्यार्थियों का अधिक हित होगा क्योंकि प्रौढ़ आलोचना ही छात्र-वर्ग में प्रौढ़ता ला सकती है। शरण जी की पुस्तक में श्री रामखिलावन पाँडेय व नलिन विलोचन शर्मा की भूमिकाएं हैं। भूमिकाओं से यह पता अवश्य चलता है कि उनके लेखकों से 'शरण' जी कहीं अधिक संतुलित हैं।

— वि० ना० उपाध्याय

उनसे न कहना—लेखक-श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्ज, दिल्ली, मूल्य ५) पृष्ठ संख्या २९९।

स्वर्गीय प्रेमचंद के उपरान्त हिन्दी कथा-साहित्य काफी समृद्ध हुआ है। अनेक नई प्रतिभाएं प्रकाश में आई हैं। श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी हिन्दी के प्रौढ़ कथाकारों में अपना विशिष्ठ स्थान रखते हैं। अब तक उनकी सैकड़ों कहानियों तथा दर्जनों उपन्यासों का हिन्दी के पाठक रसास्वादन कर चुके हैं। "उनसे न कहना" उनका नवीनतम उपन्यास है। मानव का अहंकार उसके जीवन में कितनी विषमताओं एवं दुखों का सृजन करता है, इस उपन्यास में इसी का घटनापूर्ण और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। हमारा मध्यवित्ती और अल्पवित्ती नागरिक समाज अपनी कुण्ठित इच्छाओं तथा पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों के कारण कितने कष्ट उठाता है।

उच्च मध्यवर्ग की नारी और पुरुष अपने थोथे अहंकार के कारण अपने जीवन में स्वतः ही विषमताओं का सृजन करते हैं और उनकी सन्तान उनके उस अहं का कटु फल भोगती हुई स्वयं भी जीवन के प्रति कुंठित होकर नाना प्रकार के कष्ट भोगती है। कीर्तिदेव, कल्याणी एवं उनके पुत्र विजय की करुण कथा इसी अहंकार से उत्पन्न विषमताओं का परिणाम है।

राजेश्वरी, विजय और ब्रजमोहन भी इसी अहंकार के शिकार बनते हैं और राजेश्वरी और ब्रजमोहन का जीवन नष्ट हो जाता है। फातिमा, पन्ना आदि लड़कियाँ भी प्रेम के क्षेत्र में असफल रहती हैं। विजय की सौतेली बहन नयनतारा का जीवन ही उपन्यास के सम्पूर्ण पात्रों में सुखी जीवन है, अन्यथा अन्य सारे प्रमुख नारी पात्र गृह-कलह अथवा प्रेम में असफल होने के कारण दुखी रहते हैं।

नारी अपने स्नेह, क्रोध और अहं तथा आकांक्षाओं को अपने तक ही सीमित रखना चाहती है और जिसका परिणाम सदैव घातक और पीड़ा देने वाला निकलता है। "भावना का सौन्दर्य और रूप का आकर्षण" इस उपन्यास का मुख्य आधार है।

सारे पात्रों का चित्रण मनोविज्ञान के आधार पर हुआ है। घटनाओं की बहुलता एवं पात्रों की विविधता उपन्यास की रोचकता में न्यूनता नहीं आने देती। वाजपेयी जी का यह उपन्यास हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त कुंठा के निराकरण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। आशा है हिन्दी संसार इसका मुक्त हृदय से स्वागत करेगा। लेखक एवं प्रकाशक दोनों ही ऐसी सुन्दर कृति के लिए बधाई के पात्र हैं।

—राजनाथ

संकलित सामग्री

एक सम्पूर्ण लघु उपन्यास ✤ एक सम्पूर्ण नाटक ✤ एक प्रबन्ध-काव्य ✤ नौ कहानियाँ ✤ दो व्यंगचित्र ✤ रूपकथा ✤ शब्दचित्र ✤ शिशुकथा ✤ रेखाचित्र ✤ एकालाप ✤ लघुकथा ✤ संस्मरण ✤ जर्नल के अंश ✤ उपन्यास के अंश ✤ आत्मकथ्य ✤ ललित लेख ✤ दो एकांकी ✤ कविताएँ ✤ रेखाकृतियाँ ।

निकष के पिछले दो संकलनों में नवलेखन के वैविध्य का एक समुचित परिचय हमारे पाठकों को मिल चुका है। अतः तीसरे और चौथे संकलन में एक सर्वथा नये संदर्भ में नवलेखन को प्रस्तुत किया गया है। जीवन के किन मौलिक प्रतिमानों के प्रति नये लेखक सचेत हैं, या विक्षुब्ध मानवीय भाव-बोध के कौनसे पक्ष अधिक उभरकर उनकी कृतियों में आ रहे हैं, इसका एक समुचित सर्वेक्षण करने के लिए समस्त संकलन को दो खण्डों में विभाजित कर दिया गया है—संचयन और मूल्यान्वेषण। संचयन में निर्माल्य और नया बिरवा, आसपास के लोग, बच्चे और बड़े, आत्मा के सहचर, मृत्यु के सुन्दर और असुन्दर चेहरे, बंधे-बिखरे छन्द तथा क्षणिक का स्थिर राज—इन शीर्षकों के अन्तर्गत संग्रहीत कृतियों के अतिरिक्त कृष्णा सोबती का एक सम्पूर्ण लघु उपन्यास संकलित किया गया है : तथा मूल्यान्वेषण खण्ड में घोषणापत्र (क्षण की सार्थकता और नयी काव्य-दृष्टि), रंगीन रेत (विक्षुब्ध धरातल पर रागात्मक प्रतिक्रियाएँ), स्वयम् से साक्षात्कार (विवशता के निर्वासन में अपनेपन की खोज), मादा कैक्टस (पुरातन और नूतन के बीच का असमंजस) यन्त्रयुग और मूल्यों का विघटन, विषकारा (अस्तित्व, विकल्प और पूर्वनिर्धारित नियति), आत्मदान: वेदना: स्वातंत्र्य (चरम उपलब्धि की व्याख्या), असीम काल : एक अनन्त वर्तमान (आस्तिक श्रद्धा और मानवीय गरिमा), श्रद्धा : एक चमत्कार। करुणा : एक नकाब के अन्तर्गत सशक्त नई कृतियाँ, तथा एक सम्पूर्ण प्रबन्ध-काव्य 'मन्वंतर' संकलित है, जिसमें श्लथमनु और विवेकहीन श्रद्धा का निर्वासन तथा मनुपुत्रों की स्थापना के दायित्व का मौलिक प्रश्न उठाया गया है।

इस संकलन के लेखक—अजितकुमार, अनन्तकुमार पाषाण, अनिलकुमार, अमृतराय, अज्ञेय, अश्क, कमलेश्वर, कुँवरनारायण, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, कृष्णा सोबती, गजानन मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश, जगदीश गुप्त, दुष्यंत कुमार, देवेन्द्र इस्सर, धर्मवीर भारती, नर्मदेश्वर प्रसाद, नित्यानन्द तिवारी, प्रमोद गुप्त, फणीश्वरनाथ रेणु, भारतभूषण अग्रवाल, भाऊ समर्थ, भुवनेश्वर, मदन वात्स्यायन, मलयज, माखनलाल चतुर्वेदी, मार्कंडेय, मालती परुलकर, मुद्राराक्षस, मोहन राकेश, मुक्त, रघुवंश, रवीन्द्र भ्रमर, राजेन्द्र किशोर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, राजेन्द्र माथुर, राधाकृष्णसहाय, रामदरश मिश्र, लक्ष्मीकांत वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, वसन्तदेव, विजयदेव नारायण साही, विद्यानिवास मिश्र, वीरेन्द्रकुमार जैन, शमशेर, श्रवणकुमार दिव्य, श्रीलाल शुक्ल, सत्य, सत्येन्द्र श्रीवास्तव, सतीशचन्द्र चौबे, सर्वेश्वर, सुरेन्द्र दीक्षित, सियारामशरण गुप्त, हरिशंकर परसाई।

निकष

तीसरा और चौथा संयुक्त संकलन

साहित्य सहयोग के तत्वावधान में

साहित्य भवन (प्रा. लि.) प्रयाग द्वारा प्रकाशित

धर्मवीर भारती तथा **लक्ष्मीकांत वर्मा** द्वारा सम्पादित

पृष्ठ संख्या ४३२

मूल्य ६)

हिन्दी नव लेखन का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि संकलन

हिन्दी का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

लखनऊ विश्वविद्यालय की पी० एचडी० की थीसिस

सूर की भाषा

ले०—डा० प्रेमनारायण टंडन

('ब्रजभाषा सूर कोश' के सम्पादक)

हिन्दी-साहित्य में यह पहला प्रकाशन है जिसमें एक कवि-विशेष की भाषा का इतना विशद अध्ययन किया गया है । पृष्ठ ६२५ रायल अठपेजी । मूल्य २०)

आपके पुस्तकालय में इस ग्रंथ की एक प्रति अवश्य रहनी चाहिए ।

[नोट—मनीआर्डर से पूरा मूल्य भेजने पर डाक व्यय फ्री ।]

चिर-प्रतीक्षित पुस्तक का नया संस्करण छप गया !

शिक्षण-विधियों की रूपरेखा

ले०—श्री रामखेलावन चौधरी, एम० ए० एम० एड०

इसमें प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षण विधियों की विस्तृत विवेचना की गई है । पुस्तक का पहला संस्करण तीन महीने में ही बिक गया था । दूसरा संशोधित संस्करण इसी महीने में छपा है । पृष्ठ—६२५ मूल्य ८॥)

अपने पुस्तकालय में इसे अवश्य रखिए ।

[नोट—मूल्य मनीआर्डर से भेज देने पर डाक व्यय फ्री ।]

पता—हिंदी साहित्य भण्डार,

गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ ।

हिन्दी का सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला कहानी-मासिक

तुंग शृंग

(चोटी के कथाकारों की उत्कृष्टतम कहानियाँ)

एक प्रति : ५० नये पैसे

वार्षिक : ५. ५० नये पैसे

वार्षिक विज्ञापनदाताओं को भारी छूट तथा पत्र एजेन्टों को २५ प्रतिशत कमीशन और २५ प्रतिशत अनबिकी प्रतियाँ वापस लौटा लेने की सुविधा ।

पत्र लिखकर आज ही ग्राहक बनिए ।

किताब महल

जीरो रोड, इलाहाबाद—३

(धन-दौलत के दहेज के साथ-साथ विद्या का दहेज दो)

कन्याओं के दहेज के लिये सर्वोत्तम भेंट

६ अमूल्य पुस्तकों का सैट

कन्याओं को दहेज आदि उत्सवों पर देने के
लिए अनुपम भेंट।

(१) शाक रत्नाकर (लेखिका—सुशीला)

इस पुस्तक में प्रत्येक घर में बनने वाली शाक सब्जियों को बनाने के तरीके व उनमें पड़ने वाले मसाले आदि का वर्णन बड़ी सरल भाषा में सविस्तार किया गया है। इसकी सहायता से वह स्वादिष्ट शाक-सब्जियाँ बना सकती हैं। शाक-शब्जियों के विषय में पूर्ण जानकारी कराने वाली एक अनोखी व अमूल्य पुस्तक है। मूल्य २।) दो रुपया चार आने। डाक व्यय ।।।=)

नये-नये बेल-बूटे, डिजाइन, सीनरियाँ काढ़ने के
लिए इस पुस्तक को मंगाइये।

(२) आदर्श काशीदाकारी

जिसमें नये-नये डिजाइन और बूटियाँ, बेलें, क्राम स्टिच, कटवर्क, मोतियों का काम, सीनरियाँ, मोनोग्राम, तकिये पर दोहे, पेटीकोट के बोर्डर, कमीजों के गले, स्मोकिंग लेडीडेजी तथा आधुनिक ढंग की चीजें हैं। छोटे-बड़े दोनों प्रकार के बूटे तथा महीन और मोटा दोनों काम दिये गये हैं। मूल्य ३) । डाक व्यय १) अलग।

(३) ऊषा दसूती कढ़ाई शिक्षा

आजकल घरों में दसूती की कढ़ाई बहुत बढ़ गई है। कन्या पाठशालाओं तथा स्कूलों और सरकारी सेन्टरों में छोटी लड़कियों को यह काम सिखलाया जाता है। इस दसूती की पुस्तक में बेलें, पशु-पक्षी, चौपायों के चित्र तथा गुलदस्ते बनाकर दिखाये गये हैं। मूल्य ३) डाक खर्च ।।।=) प्रथक।

नारी जगत को हमारी अभूतपूर्व भेंट

(४) पाक भारती (लेखक—अमोलकचन्द्र शुक्ल)

पाकशाला की व्यवस्था, कच्ची रसोई, पक्की रसोई, दूध की चीजें, मुरब्बा, अचार, चटनी आदि देशी एवं बंगाली मिठाई, पाकरोटी, नान, बिस्कुट आदि और मांस, मछली, अण्डा तथा प्रत्येक प्रकार की आधुनिक एवं प्राचीन खाद्य सामग्रियों के तैयार करने का विधियों सहित वर्णन है। ६०० पृष्ठों की सचित्र सजिल्द रंगीन आवरण की पुस्तक का मूल्य ६) रुपये छः मात्र। डाक खर्च १।।)

इस पुस्तक को पढ़कर प्रत्येक नारी एक आदर्श पाक ज्ञाता बन सकती है।

विवाहित जीवन को सुखी और सफल बनाने
वाली जीवन साथी

(५) महिला मंजरी

(लेखक—सत्यकाम सिद्धान्त शास्त्री)

गृहस्थ धर्म को सुखी बनाने में स्त्री का स्थान सबसे ऊँचा है। महिला मंजरी पुस्तक में स्त्री जीवन सम्बन्धी समस्त आवश्यक बातें लिखी गई हैं। शादी से पहले की शिक्षा तथा विवाहित जीवन के बाद में किन-किन बातों से बचना चाहिये, पाक विज्ञान स्वास्थ्य विज्ञान तथा नारी का बनाव सिंगार आदि हर विषय पर पूरा प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ ३८४ पर मूल्य केवल ६) डाक व्यय १।)

नव विवाहित पति-पत्नी की पथ-प्रदर्शिका

(६) स्त्री-शिक्षा या चतुरगृहिणी

(लेखिका—श्रीमती साधना सैन)

यह पुस्तक प्रत्येक नारी के बाल्यकाल से मरण-पर्यन्त साथ रखने योग्य है, क्योंकि यह उसकी सच्ची जीवन सहचरी तथा गृहस्थी को सुखमय बनाने वाली है। इसमें बाल्यकाल और आरम्भकाल की शिक्षा अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाने की विधि शिल्प-विद्या, सीना-पिरोना, गर्भरक्षा, धात्री-शिक्षा, स्त्री-रोगों की चिकित्सा, बालकों का पालन-पोषण और धर्मोपदेश एवं अनेक प्रकार की रीति और व्रत त्यौहारों का वर्णन है। इसमें लड़की को अमूल्य शिक्षायें दी गई हैं। मूल्य २।।) डाक व्यय अलग।

प्रथक-प्रथक पुस्तकें मंगाने पर डाक व्यय ग्राहक को देना होगा।

उपरोक्त छः पुस्तकों की छपी कीमत २२।।।) होती है पूरा सैट मंगाने वाले सज्जनों को केवल २०) की वी० पी० की जायेगी।

केवल चार आने (२५ नए पैसे) के टिकट पोस्टेज वास्ते भेजकर हजारों पुस्तकों का बड़ा सूचीपत्र अमूल्य मंगावें।

केवल बारह आने (७५ नए पैसे) के टिकट लिफाफे में भेजकर नये वर्ष १९५८ की श्री बापू राष्ट्रीय मशहूर जंत्री मंगायें।

देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार (६) दिल्ली-६

हिन्दी परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये—

आलोचनात्मक अध्ययन (प्रश्न और उत्तर में)

निम्नलिखित सभी पुस्तकों का सम्यक् विवेचन, प्रश्न और उत्तर में विद्वान और अनुभवी लेखकों ने किया है। इन पुस्तकों में उन सभी प्रश्नों को ले लिया गया है जो समय समय पर परीक्षाओं में पूछे गये हैं और जिनकी सदैव ही आने की सम्भावना बनी रहती है।

१. सूरदास—वासुदेव शर्मा शास्त्री २॥)

२. तुलसीदास —प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए० २॥)

३. बिहारी ,, ,, २॥)

४. जायसी ,, ,, २॥)

५. भाषा विज्ञान ,, ,, २॥)

६. साहित्यालोचन ,, ,, २॥)

७. उद्धवशतक ,, ,, २॥)

८. कामायनी ,, ,, १)

९. साकेत ,, ,, १॥)

१०. प्रियप्रवास ,, ,, १)

११. आधुनिक तीन महाकाव्य [कामायनी, साकेत और प्रियप्रवास तीनों पुस्तकें एक ही जिल्द में] ,, ३॥)

१२. प्रेमचन्द—श्री राजनाथ शर्मा एम० ए० २॥)

१३. कबीर ,, ,, २॥)

१४. निराला ,, ,, २॥)

१५. ग़बन (प्रेमचन्द) ,, ,, १)

१६. गोदान ,, ,, २॥)

१७. हिन्दी साहित्य का इतिहास ,, २॥)

१८. हिन्दी भाषा का इतिहास ,, २॥)

१९. कवि प्रसाद—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय २॥)

२०. गद्यकार प्रसाद ,, ,, २॥)

२१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र —श्री रामजीलाल एम० ए० २॥)

२२. संस्कृत साहित्य का इतिहास —डा० द्वारिकाप्रसाद २॥)

२३. विद्यापति—श्री मुरारीलाल उप्रैति: एम० ए० २)

सभी पुस्तकें सफेद प्रिंटिंग कागज़ पर प्रकाशित की गई हैं। सुन्दर छपाई, कलात्मक आवरण पृष्ठ एक विशेषता होगी।

अपने नगर के किसी भी पुस्तक विक्रेता से उपरोक्त पुस्तकें प्राप्त करें, न मिलने पर हमको लिखें।

हमारी प्रकाशित अन्य साहित्यिक पुस्तकों का भी सूचीपत्र मंगाइए।

आप किसी भी विश्वविद्यालय से हिन्दी में बी० ए०, एम० ए० अथवा कहीं से कोई भी हिन्दी परीक्षा दे रहे हों, हमारी प्रकाशित आलोचनात्मक सहायक पुस्तकें आपको पूरा पूरा लाभ देंगी।

हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा।

— डा. रामविलास शर्मा

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति भारतीय इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। इस घटना का प्रस्तुत-पुस्तक में वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

चकित कर देने वाले अनेकों नवीन ऐतिहासिक तथ्य इस पुस्तक में मिलेंगे। सन् ५७ से सम्बन्धित साहित्य में इस पुस्तक का पठन व संग्रह प्रत्येक पाठक के लिये अनिवार्य है।

सचित्र : सजिल्द

डिमाई साइज के ५०० से भी अधिक पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल १०)

प्रकाशक व विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा।

समालोचक

हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक पत्र

अंक में—

१. सम्पादकीय — डा० रामविलास शर्मा
२. लामार्तीन और हिन्दू संस्कृति — डा० रा० गा० हर्षे
३. आगरा के पं० श्री मन्नूलाल कृत रेखता रामायण — श्री अगरचन्द नाहटा
४. ग़ालिब के पत्र — श्री श्रीराम शर्मा
५. संत मत में साधना का स्वरूप — श्री प्रतापसिंह चौहान
६. कला और काव्य — डा० रामानन्द तिवारी
७. आलोचक बालमुकुन्द गुप्त — डा० नन्थनसिंह
८. प्रसाद का नाट्य विधान पश्चिमी शैली का है — डा० गोपीनाथ तिवारी
९. नई कविता में चमत्कारवाद — प्रो० रमाशंकर तिवारी
१०. भाषा विज्ञान और उसके विभिन्न स्कूल — श्री कैलाशचन्द्र भाटिया
११. अरविन्दवाद और सौन्दर्य शास्त्र — श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
१२. स्वर्गीय श्री चन्द्रवली पाण्डेय — श्री उमाशंकर शास्त्री
१३. यदि मैं समालोचक होता — श्री अमृतलाल नागर

...क मूल्य : ५ रु०
...ति : ५० न. पै.

सम्पादक
डा. रामविलास शर्मा

आगरा
अप्रैल १९५८

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा तथा साहित्यरत्न परीक्षाओं के लिए नई विवरण पत्रिका सं० २०१५ (सन् १९५८) को प्रकाशित हो गई है—

आप १।।।) मनीआर्डर द्वारा भेजकर मंगा सकते हैं—

[संक्षिप्त, अमूल्य भेजी जाने वाली सूचियाँ छप रही हैं, अप्रैल के अंत तक भेजी जा सकती हैं।]

इन सभी परीक्षाओं की

पाठ्य पुस्तकें तथा सहायक पुस्तकें

आप सुविधा के साथ हमसे मंगाइये—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

'समालोचक' का तृतीय अङ्क आपके सम्मुख प्रस्तुत है। इसके प्रचार और प्रसार में स्वयं ग्राहक बनकर तथा अपने मित्रों को ग्राहक बनाकर हमें प्रोत्साहित कीजिए।

आपको अपने विद्यालय व पुस्तकालय

के लिए

हिन्दी की साहित्यिक पुस्तकों की आवश्यकता है

हम आपको सुविधा के साथ हिन्दी के प्रमुख लेखकों की चुनी हुई श्रेष्ठ पुस्तकें भेजने में समर्थ हैं।

आज ही अपना एक बड़ा आर्डर भेज कर हमें पुस्तकें भेजने का आदेश दें।

विनोद पुस्तक मन्दिर,

हिन्दी पुस्तकों के विक्रेता

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

[सूचीपत्र के लिए आज ही लिखें]

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा द्वारा प्रकाशित

आलोचनात्मक साहित्य

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	—डा० रामविलास शर्मा	५)
२—भारतेन्दु युग	,,	३)
३—काव्य कला और शास्त्र	—डा० रांगेयराघव	३)
४—काव्य यथार्थ और प्रगति	,,	३)
५—समीक्षा और आदर्श	,,	३)
६—महाकाव्य विवेचन	,,	३)
७—भारतेन्दु साहित्य	—रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०	६।।)
८—हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ	—जयकिशनप्रसाद एम० ए०	६)
९—हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल	,,	३।।)
१०—महादेवी का वेदना भाव	,,	३।)
११—चिन्तामणि दर्शन	—डा० हरिहरनाथ टंडन	३)
१२—हिन्दी साहित्य चिन्तन	—इन्द्रपालसिंह एम० ए०	६)
१३—जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त	—डा० शम्भूनाथ पाण्डेय	२।)
१४—जयशंकर प्रसाद और ध्रुवस्वामिनी	—फूलचन्द्र जैन 'सारङ्ग' एम० ए०	१।)
१५—सुमित्रानन्दन पन्त और उत्तरा	—तारकनाथ बाली एम० ए०	३)
१६—जयशंकरप्रसाद और अजातशत्रु	,,	२)
१७—सुमित्रानन्दन पन्त और आधुनिक कवि	,,	२।)
१८—महादेवी वर्मा और आधुनिक कवि	,,	२।)
१९—दिनकर और कुरुक्षेत्र	,,	२)
२०—आचार्य शुक्ल और त्रिवेणी	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	२)
२१—प्रेमचन्द और गोदान	—रामवाशिष्ठ एम० ए०	२।)
२२—प्रेमचन्द और कर्मभूमि	,,	२।)
२३—प्रेमचन्द और ग़बन	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	१।)
२४ महाकवि घनानन्द	—रामवाशिष्ठ एम० ए०	३।)
२५—गीतकार विद्यापति	,,	२।)
२६—विनयपत्रिका दर्शन	—तपेशकुमार चतुर्वेदी एम० ए०	२।)
२७—युगद्रष्टा कबीर	—तारकनाथ बाली एम० ए०	२।)
२८—महादेवी वर्मा	,,	२।)
२९ - सुमित्रानन्दन पन्त	,,	१।)
३०—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	२।)
३१—हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास	,,	१।)

३२—हमारे प्रमुख साहित्यकार	—रामनरायन मिश्र एम० ए०	१॥)
३३—हिन्दी और उसके कलाकार	—फूलचन्द्र जैन 'सारङ्ग' एम० ए०	६)
३४—शैलियाँ	,,	१॥)
३५—काव्य-शास्त्र	—डा० शम्भूनाथ पाण्डेय	३)
३६—रस अलंकार पिंगल	,,	२॥)
३७—भाषा विज्ञान तत्व	—प्रभुनारायण शर्मा एम० ए०	१॥)
३८—साहित्यालोचन सिद्धान्त	,,	१॥)
३९—हिन्दी आलोचना के भिन्न भिन्न स्त्रोत और उनके विकास का इतिहास	,,	१।)
४०—चित्रलेखा : परिचय	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	।॥)
४१—जीवन यज्ञ : परिचय	,,	१॥)

निबंध

४२—लोक जीवन और साहित्य	—डा० रामविलास शर्मा	३॥)
४३—प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं	,,	३॥)
४४—विराम चिह्न	,,	६)
४५—साहित्यिक निवन्ध	—राजनाथ शर्मा एम० ए०	७॥)
४६—सार संचयन	,,	६)
४७—साहित्य समीक्षांजलि	—डा० सुधीन्द्र	५)
४८—साहित्य के पृष्ठ	—गजानन शर्मा एम० ए०	५)
४९—हिन्दी निवन्ध	—रामजीलाल बधौतिया एम० ए०	२)
५०—आदर्श निबन्ध	—विद्याराम एम० ए०	२)

थीसिस

५१—कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन	—डा० द्वारिका प्रसाद	१०)
५२—हिन्दी गद्य के निर्माता बालकृष्ण भट्ट (जीवन और साहित्य)	—डा० राजेन्द्र शर्मा	१०)
५३—हिन्दी नीति काव्य	—डा० भोलानाथ तिवारी	१०)
५४—कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत	—डा० श्यामसुन्दर लाल	१०)
५५—ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली	—डा० कपिलदेव सिंह	८)

सभी पुस्तकें सफेद प्रिंटिंग कागज़ पर प्रकाशित की गई हैं। सुन्दर छपाई कलात्मक आवरण पृष्ठ एक विशेषता होगी।

हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

पुस्तकालयों के लिए उपयोगी पुस्तकें

(अ) आलोचनात्मक प्रकाशन

१. मानस की (रूसी) भूमिका
—डा० केसरीनारायण शुक्ल ३।।)

२. प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला
—डा० प्रेमनारायण टंडन ३।।)

३. हिन्दी के दो वाद (रहस्यवाद : छायावाद)
—डा० प्रेमनारायण टंडन २)

४. हिन्दी सेवी संसार (संशोधित द्वितीय संस्करण)
—डा० प्रेमनारायण टंडन ७।।)

५. हिन्दी साहित्य : कुछ विचार
(उच्चकोटि के १४ निबंध ,, ७।।)

६. सं० सूरसागर (विस्तृत भूमिका सहित)
—डा० प्रेमनारायण टंडन ६)

७. हिन्दी साहित्य: पिछला दशक
—प्रतापनारायण टंडन ४।।)

८. आधुनिक साहित्य (निबंध) ,, ४)

९. उर्दू साहित्य का सरल इतिहास ,, २।।)

१०. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास
(तीसरा संस्करण) २)

११. काव्यांग-परिचय (रस, अलंकार, पिंगल आदि) १।।)

१२. हिंदी रचना की झाँकी (व्याकरण, निबंध) ३।।)

१३. हिंदी के प्रतिनिधि कवि (कवियों की आलोचना) ४)

१४. हिंदी साहित्य की रूपरेखा
—डा० प्रेमनारायण टंडन २।।)

१५. श्रीकृष्ण चरित (काव्य)
—रूपनारायण पांडेय ४।।)

१६. अमला (भावपूर्ण सामाजिक उपन्यास) ,, २)

(ब) शिक्षा-संबंधी प्रकाशन

१. शिक्षण-विधियों की रूपरेखा
—रामखेलावन चौधरी ८।।।)

२. शिक्षा के आधार-स्तम्भ ,, ७।।)

३. हिंदी शिक्षण कला ,, ४)

४. प्राचीन शिक्षण विधियकों तथा
हरबार्ट की पंचपदी १।।)

५. शिक्षा में मनोवैज्ञानिक क्रांति-डाल्टन-
योजनाविधि १।।)

६. प्रगतिवादी शिक्षा में इन्द्रिय शिक्षण-फ्रोबेल-
मांटेसरी विधि १।।)

७. शिक्षा में नवीन प्रयोग-स्वयं ज्ञान एवं लेख विधि १)

८. शिक्षा में गांधीवादी योजना-बुनियादी शिक्षा २)

९. शिक्षा में आधुनिक प्रयोग २।।)

१०. शिक्षा शास्त्र प्रश्नोत्तरी (६० प्रश्नोत्तर) ३।।।)

११. शिक्षा मनोविज्ञान प्रश्नोत्तरी (६० प्रश्नोत्तर) ३।।।)

१२. शिक्षा सिद्धान्त एवं बाल मनोविज्ञान
प्रश्नोत्तरी १।।)

[नोट—पुस्तकालयों को यथोचित कमीशन भी दिया जाता है । मूल्य मनीआर्डर से भेजने पर डाक व्यय फ्री रहेगा ।]

पता—हिन्दी साहित्य भण्डार,

गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ ।

सम्मतियाँ

'**समालोचक**' मैंने देखा। वास्तव में सर्वाङ्ग सुन्दर विशेषाङ्क है। लब्धप्रतिष्ठ एवं सुविख्यात विद्वानों के सुचिन्तित लेखों से वह सुसज्जित है। प्रधान–सम्पादक डॉक्टर शर्मा जी हिन्दी साहित्य जगत् के मूर्द्धन्य समीक्षक तथा यशस्वी साहित्यकार हैं। उनके कारण हिन्दी संसार के विशेषज्ञ और विशिष्ट विद्वानों का हार्दिक सहयोग इसे प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आपने उसको प्रकाशित करके हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। इसके समान सुसम्पादित पत्र को हिन्दी प्रेमी अवश्य अपनावेंगे। ईश्वर से प्रार्थना है कि यह चिरायु हो। इससे साहित्य का सुधार, निर्माण और श्रृङ्गार होता रहे, यही मेरी आन्तरिक शुभ कामना है।

बाबू शिवपूजनसहाय
मन्त्री
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

मुझे अङ्क बहुत पसन्द आया है। सौन्दर्यशास्त्र पर इतनी सामग्री एकत्र हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलेगी। आपके लेख तथा सम्पादकीय टिप्पणी में मुझे अनेक गम्भीर और मौलिक विचार मिले। आशा है पत्रिका भविष्य में सफल बनेगी।

डा० रामअवध द्विवेदी

'**समालोचक**' का प्रथम अङ्क सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक अपने विषय का सन्दर्भ-अङ्क ही बन गया है। इसमें सौन्दर्य शास्त्र के सभी अङ्गों पर विद्वतापूर्ण प्रकाश डाला गया है।

श्री विनयमोहन शर्मा

'**समालोचक**' का स्तर बहुत अच्छा है—उसमें प्रायः सभी लेख गम्भीर और शास्त्रीय हैं। आवश्यकता इस बात की है कि यह स्तर यथावत् बना रहे। हिन्दी में पत्रिकाओं की संख्या कम नहीं है, परन्तु अनेक कारणों से अच्छे पत्र भी अपने स्तर की रक्षा नहीं कर पाते। मुझे विश्वास है कि आपका उत्साही सम्पादक-मण्डल इस दिशा में सतर्क रहेगा।

डा० नगेन्द्र

समालोचना साहित्य का एक अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण अंग है और साहित्य में सौन्दर्य लाना ऋषियों तथा लेखकों का मुख्य कर्तव्य है। यदि आदमी की सौन्दर्य-भावना जागृत हो जाए तो हमारे आस-पास घरों की समाज तथा राष्ट्र की बहुत सी गन्ध दूर हो जाए। पर यदि साहित्य में सौन्दर्य न हो तो वह अच्छा नहीं लगेगा। '**समालोचक**' पत्र ने अपने जीवन का आरम्भ सौन्दर्यशास्त्र पर एक बड़ा विशेषांक निकालकर किया है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। हिन्दी में आलोचना साहित्य विपुल संख्या में निकल रहा है, 'आलोचना' के

पश्चात् यह **'समालोचक'** उसमें एक सराहनीय वृद्धि है। 'समालोचक' के इस बड़े अंक में डा० रामविलास, डा० गुलाबराय, डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री, डा० राज हर्ष, तथा डा० दि० के० वेडेकर आदि विद्वानों के सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी इकत्तीस विचारपूर्ण तथा उत्तम कोटि के लेख हैं। इतना सुन्दर, बढ़िया तथा पठनीय अङ्क निकालने के लिये सम्पादक तथा प्रकाशक हिन्दी जगत की बधाई के पात्र हैं। हम इस पत्र का हृदय से स्वागत करते हैं और इसकी सफलता के लिए हार्दिक कामना करते हुए चाहते हैं कि हिन्दी संस्थाएं, विद्वान्, पुस्तकालय तथा कालेज आदि इसे अपने यहां अवश्य मंगावें।

दैनिक हिन्दुस्तान, १६ मार्च १९५८

'समालोचक' का प्रथम अङ्क मिला है। जैसा सुन्दर इसका बहिरंग है, वैसा ही सुन्दर अन्तरंग भी। सभी निबन्ध अध्ययन एवं चिन्तन की प्रसूति प्रतीत होते हैं। सौन्दर्य शास्त्रीय विवेचन के लगभग प्रत्येक परि-पार्श्व पर रोचक सामग्री संकलित हो गई है। काव्य और कला के अध्येता को सौन्दर्य-सम्बन्धी इतनी प्रभूत ज्ञान-राशि अन्य किसी एक पुस्तक में नहीं उपलब्ध होगी। भारतीय तथा यूरोपीय, दोनों वर्गों के चिन्तकों एवं आचार्यों ने जो उत्तमोत्तम विचार-विलोड़न किया है, उसका सुन्दर सार प्रस्तुत अङ्क में सन्निविष्ट हो गया है। **'समालोचक'** का यह प्रथम अङ्क श्रेष्ठ समीक्षात्मक साहित्य में आदर के स्थान का अधिकारी होगा। ऐसे सुरम्य अङ्क के लिए सम्पादक मण्डल बधाई का पात्र है।

श्री रमाशंकर तिवारी

'समालोचक' के दो अङ्क (१ तथा २) देखने को मिले। मैं बहुत प्रसन्न हूं। ऐसा लगा कि स्वास्थ्य वृद्धि हो रही है। बहुत ही अच्छे स्तर का पत्र है। त्रैमासिक न होकर इसका मासिक प्रकाशन विशाल पाठक वर्ग से निरन्तर और नियमित सम्पर्क स्थापित कर सकेगा। यही सम्पर्क वह शक्ति होगी जो हिन्दी में प्रकाशनों की इन्द्रश्रृङ्खला की अनर्गलताएं रोकने तथा स्वस्थ मूल्याङ्कन एवम् समीक्षा अग्रसर करने के मार्ग खोलेगा।

श्री वीरेन्द्र मिश्र

Samalochak is a new monthly published from Agra under the editorship of Dr. Ram Vilas Sharma. The editorial note lays down the policy which, it is gratifying to notice, is pre-eminently generous and sound. This monthly is going to entertain articles from all able and talented writers to whatever creed and conviction they might belong. The first number is a special number containing a large number of articles on aesthetics and allied subjects. So far as we know, for the first time so many articles on a difficult subject like aesthetics have been published together in a single magazine. What is more, all articles have been written after much study and with great care. We have every hope that under the able editorship of Dr. Sharma Samalochak will soon become popular.

Hindi Review, March 1958.

दोनों अङ्क मिले हैं—ऐसी उत्तम सामग्री का मूल्यांकन किंचित सा भी कर सकी 'लहर' तो यह 'लहर' का सौभाग्य ही होगा।

सम्पादक 'लहर' मासिक

'समालोचक' हमारे सामने है। सुदृढ़, सुगठित, नातिकृश, नातिस्थूलकाय, भव्य आकर्षक मुद्रा, गम्भीर किन्तु सौम्य, स्वच्छ और कांतियुक्त ! स्वागत ! अभिनन्दन !!

आते ही सौन्दर्य की समीक्षा आरम्भ !

सौन्दर्य क्या है ? यह वस्तु निष्ठ है या आत्मनिष्ठ ? प्राचीन साहित्यकारों की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा क्या थी ? अर्वाचीन मनीषी सौन्दर्य के सम्बन्ध में क्या कहते हैं ? पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारकों ने 'सौन्दर्य' को किस दृष्टिकोण से परखा है ? संस्कृत और हिन्दी के लेखकों के अतिरिक्त मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं के विद्वान् इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं ? सौन्दर्य के साथ रस का क्या सम्बन्ध है ? आदि आदि प्रश्नों की सयुक्तिक सप्रमाण मीमांसा पढ़िये !

वर्तमान साहित्य के मूर्धन्य मनीषियों के विवेचनापूर्ण प्रामाणिक लेखों से **'समालोचक'** का कलेवर सुसज्जित है। आरम्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक उद्धरण दिया गया है। 'समालोचक' हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, अपितु अध्यापकों एवं विवेचकों के लिए भी महत्वपूर्ण उपादेय सामग्री से पूर्ण है।

'समालोचक' का प्रथम अङ्क 'सौन्दर्य शास्त्र की समीक्षा' पर विशेषांक के रूप में सामने आया है। इसे देखकर विश्वास होता है कि 'समालोचक' शीघ्र ही हिन्दी के समीक्षा क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेगा।

साप्ताहिक ज्वाला, २० फर्वरी १९५८

पत्र और **समालोचक** के दो अंकों के लिए बहुत आभारी हूँ।

आजकल एक ऐसे पत्र की विशेष आवश्यकता थी कि जो विशेष रीति से समालोचना के लिए हो। स्वस्थ और संतुलित मापदंड बनाकर जो उसमें लिखा जायगा उससे पाठकों को अपनी रुचि परिष्कृत और संयत करने का अवसर मिलेगा। मैं **समालोचक** की उन्नति चाहता हूँ। अर्थात् उसे हिन्दी पठित जनता को विश्वास प्राप्त हो।

—डा० हरिवंश राय बच्चन

—:✤✤✤:—

समालोचक के नियम

१—'**समालोचक**' प्रत्येक मास की पहली तारीख को प्रकाशित होता है।

२—'**समालोचक**' के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं।

३—महीने की १० तारीख तक 'समालोचक' न मिलने पर पन्द्रह दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जाएगी।

४—किसी तरह का पत्र—व्यवहार अपने पूरे पते और ग्राहक संख्या के साथ होना चाहिए।

५—फुटकर अङ्क मंगाने पर प्रत्येक अङ्क का मूल्य आठ आना होगा।

६—'**समालोचक**' में कविता, कहानी, रेखाचित्र, नाटक आदि नहीं छपते। **केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं।** अस्वीकृत लेख वापस कर दिए जाते हैं।

७—लेख की स्वीकृति और अस्वीकृति में सम्पादक-मण्डल का निर्णय अन्तिम होगा। स्वीकृत लेखों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन का अधिकार सम्पादक-मण्डल को होगा।

८—'**समालोचक**' में प्रत्येक विचारधारा के लेख प्रकाशित किए जाते हैं।

९—रिव्यू-लेखक और लेखक के विचारों के साथ सम्पादक-मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

१०—'**समालोचक**' का वार्षिक मूल्य ५) तथा एक अङ्क का आठ आना है। अलग से विशेषांक का मूल्य २) होगा। वार्षिक ग्राहकों को विशेषाङ्क निःशुल्क मिलेगा।

११—वी. पी. से अङ्क मंगाने वालों को १) अतिरिक्त देना पड़ेगा।

समालोचक के उद्देश्य

१—'समालोचक' आलोचनात्मक मासिकपत्र के रूप में हिन्दी आलोचना के स्तर को उच्चतर करने में प्रयत्नशील होगा।

२—विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य-परिचय हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाएगा।

३—विदेशी-साहित्य के विषय में अधिकाधिक जानकारी देने का प्रयत्न किया जाएगा।

४—विभिन्न आलोचनात्मक विचारधाराओं और दृष्टिकोणों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाएगा।

५—स्वस्थ साहित्य का समर्थन और दूषित साहित्य का विरोध किया जाएगा।

६—हिन्दी साहित्य की अधुनातम प्रवृत्तियों और समस्याओं का विवेचन और विश्लेषण किया जाएगा।

७—प्रत्येक अङ्क में किसी नवीन साहित्यिक समस्या पर डा० रामविलास शर्मा का एक लेख प्रकाशित किया जाएगा।

८—'यदि मैं समालोचक होता' इस शीर्षक से एक स्थायी स्तम्भ होगा, जिसके लेखक होंगे—श्री अमृतलाल नागर।

९—प्रत्येक अङ्क में हिन्दी भाषा में प्रकाशित किसी शोध-प्रबन्ध की आलोचना दी जाएगी।

१०—प्रत्येक अङ्क में भाषा सम्बन्धी समस्याओं पर एक लेख रहेगा।

११—प्रत्येक अङ्क में नवीन प्रकाशन की समीक्षा दी जाएगी, इसके लिए प्रकाशकों को प्रति पुस्तक की दो दो प्रतियाँ भेजनी चाहिए।

१२—समालोचक में प्रकाशित प्रत्येक लेख पर लेखक को पारिश्रमिक दिया जाएगा।

विषय-सूची

क्रम			पृष्ठ
१.	सम्पादकीय	—डा० रामविलास शर्मा	१
२.	लामार्तीन और हिन्दू-संस्कृति	—डा० रा० ग० हर्षे	५
३.	आगरा के पंडित श्री मन्नूलाल कृत रेखता रामायण	—श्री अगरचन्द नाहटा	१२
४.	गालिब के पत्र	—श्री श्रीराम शर्मा	१५
५.	सन्त मत में साधना का स्वरूप	—श्री प्रतापसिंह चौहान	१८
६.	कला और काव्य	—डा० रामानन्द तिवारी	२४
७.	आलोचक बालमुकुन्द गुप्त	—डा० नत्थनसिंह	३१
८.	प्रसाद का नाट्यविधान पश्चिमी शैली का है	—डा० गोपीनाथ तिवारी	३७
९.	नई कविता में चमत्कारवाद	—प्रो० रमाशङ्कर तिवारी	४१
१०.	भाषाविज्ञान और उसके विभिन्न स्कूल	—श्री कैलाशचन्द्र भाटिया एम० ए०	४८
११.	अरविन्दवाद और सौन्दर्यशास्त्र	—श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	५१
१२.	स्वर्गीय श्री चन्द्रबली पाण्डेय	—श्री उदयशङ्कर शास्त्री	५६
१३.	यदि मैं समालोचक होता	—श्री अमृतलाल नागर	६०
१४.	पुस्तक समीक्षा		६४

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

प्रधान सम्पादक

डा० रामविलास शर्मा

सम्पादक

राजनाथ शर्मा : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

वार्षिक मूल्य ५)] [एक प्रति : ५० नये पैसे

प्रथम वर्ष **आगरा, अप्रैल १९५८** **अंक ३**

सम्पादकीय

महाकवि वल्लतोल

गत १३ मार्च को एरनाकुलम् में ७९ वर्ष की आयु में महाकवि वल्लतोल नारायण मेनन का देहावसान हुआ। उनका निधन मलयालम साहित्य ही नहीं, भारतीय साहित्य के एक युग की समाप्ति है। वह उस राष्ट्रीय और मानवतावादी पीढ़ी के कवि थे जिसके प्रतिनिधि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्यम् भारती और जयशंकर प्रसाद थे। रामायण और महाभारत की संस्कृति के साथ नये राष्ट्रीय जीवन की भावधारा उनके साहित्य में घुलमिल गयी थी। वह विशेष रूप से केरल के सर्वाङ्गीण सांस्कृतिक जीवन के उन्नायक थे। केरल-कलामण्डलम् की स्थापना करके उन्होंने अपने जातीय प्रदेश की नाट्यकला—कथाकलि—का उद्धार किया। इस नवजागरण का प्रभाव भारत के अन्य प्रदेशों के सांस्कृतिक अभ्युत्थान पर भी पड़ा।

महाकवि वल्लतोल संसार की प्रगतिशील शक्तियों के साथ कदम मिला कर आगे बढ़ने वाले लोगों में थे। भारत में अंग्रेजी राज के दिनों में देशी-विदेशी प्रतिक्रियावादियों के उकसाने की चिन्ता न करके उन्होंने भारत-सोवियत मैत्री के लिये विशेष कार्य किया था। स्वाधीन भारत में उन्होंने विश्व-शान्ति कायम रखने के लिए सतत प्रयत्न किया था और भारतीय जनता के प्रतिनिधि रूप में विश्वशान्ति समारोहों में भाग लिया था। महाकवि वल्लतोल के निधन से भारतीय जनता ने अपना श्रेष्ठ सांस्कृतिक प्रतिनिधि खोया है।

अंग्रेज़ी-प्रेमी भारतवासी

अंग्रेज़ी भाषा के आदि कवि चौसर की प्रसिद्ध पुस्तक "कैण्टरबरी टेल्स" के "प्रोलोग" (भूमिका) में एक पेशकार ("समनर") है जिसे लैटिन से बहुत प्रेम है। अदालत की कार्यवाही के सिलसिले में वह लैटिन के शब्द सुना करता है; इसलिए कुछ लैटिन शब्द उसे भी याद हो गये हैं। वैसे तो वह लोगों से अंग्रेज़ी में बातें करता है लेकिन जब शराब के नशे में होता है तब लैटिन छोड़ कर बात नहीं करता।

अंग्रेज़ी राज की कृपा से कुछ लोगों ने अंग्रेज़ी भाषा सीखी है। वैसे तो वे अपनी भाषा में भी बात कर लेते हैं लेकिन जब हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा बनाने का सवाल उठता है, तब वे अंग्रेज़ी छोड़कर बात नहीं करते।

ये अंग्रेज़ी-प्रेमी भारतवासी अंग्रेज़ों से, विशेषकर अंग्रेज़ी साहित्य से, यह सीख सकते थे कि अपने देश और अपनी भाषा से कैसे प्रेम करना चाहिये। इनका मुख्य तर्क है कि अंग्रेज़ी समृद्ध है, विश्वभाषा है, हिन्दी दरिद्र है, चालीस फीसदी या उससे भी कम की भाषा है। थोड़ी देर के लिये हम यह तर्क स्वीकार कर लेते हैं। यदि इस मनोवृत्ति के लोग इंगलैण्ड में होते तो शायद आज वहाँ अंग्रेज़ी को भी राजभाषा का पद न मिला होता, लोग "समनर" की तरह लैटिन में ही राजकाज करते होते।

एक युग ऐसा भी था जब अंग्रेज़ी आज की हिन्दी से कहीं अधिक दरिद्र थी, और अंग्रेज़ी जितना हिन्दी से बढ़कर आज है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेज़ी के मुकाबले में लैटिन बढ़कर थी। लैटिन यूरोप की अन्तरराष्ट्रीय भाषा थी; वह ईसाइयों के संगठित धर्मसंघ की भाषा थी। सत्रहवीं सदी तक यूरोप और इंगलैण्ड के लोगों में लैटिन द्वारा परस्पर कूटनीतिक सम्पर्क कायम रहता था और अन्तरराष्ट्रीय वाद-विवाद लैटिन में होता था। इंगलैण्ड में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अंग्रेज़ी को क्षणभंगुर और लैटिन को स्थायी भाषा मानकर उसी में, अथवा उसमें भी, अपने शाश्वत मूल्यों वाले ग्रन्थ रचते थे। लैटिन ही नहीं, १४-१५ वीं सदी में फ्रांसीसी भाषा अंग्रेज़ी से अधिक विकसित और समृद्ध थी। इंगलैण्ड में ऐसे साहित्यकार भी थे जो फ्रांसीसी में रचना करके अमर होना चाहते थे। किन्तु इतिहास ने लैटिन और फ्रांसीसी में लिखे हुए इनके ग्रन्थों को कूड़े के ढेर में फेंक दिया जहां वे अब केवल अनुसन्धानकर्ताओं के काम आते हैं।

अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर शासन किया; अंग्रेज़ों के देश पर भी रोमनों और फ्रांसीसियों ने शासन किया था। किसी समय इङ्गलैंड के अभिजातवर्ग पर फ्रांसीसी भाषा का वैसा ही रोब ग़ालिब था जैसा आज के समनरगोत्रीय भारतवासियों पर अंग्रेज़ी का है। किन्तु लैटिन या फ्रांसीसी को अधिक समृद्ध मान कर अंग्रेज़ जनता ने उसे राष्ट्रभाषा न मान लिया। उसके साहित्यकारों ने अपनी भाषा को समृद्ध किया और उसे यूरोप की नवीन और प्राचीन भाषाओं की पांति में सम्मानप्रद आसन दिलाया। अंग्रेज़ी समृद्ध होने के बाद राजभाषा नहीं बनी; राजभाषा होने के बाद वह समृद्ध हुई। वह लैटिन और फ्रांसीसी भाषाओं की तुलना में समृद्ध हुई जिनके हिमायती उसके उचित आसन से उसे हटाना चाहते थे।

अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ की जनता के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास को रोका। उन्होंने यहाँ की भाषा के ऊपर साम्राज्ञी की तरह अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठित किया। अंग्रेज़ी भाषा को अंग्रेज़प्रेमी भारतवासियों के पूर्वजों ने विधान-सभा में प्रस्ताव पास करके स्वीकार न किया था। वह अंग्रेज़ आततायियों द्वारा लादी हुई भाषा थी। संसार में अंग्रेज़ी का बोलबाला

मिल्टन और शेली के कारण नहीं हुआ, उसका प्रसार करने वाले क्लाइव और डलहौजी की बिरादरी के थे। उत्तरी अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देशों में अंग्रेज़ी का प्रसार करने वाले वे आक्रमणकारी थे जिन्होंने वहाँ के आदिवासियों के नरमेध रचाये थे, जिनका मिल्टन और शेली से इतना ही सम्बन्ध था कि दोनों ही अंग्रेज़ी बोलते थे (कैसी अंग्रेज़ी बोलते थे, यह प्रश्न छोड़ दीजिये)। यदि समृद्धि के बल पर कोई भाषा अंग्रेज़ी की तरह "विश्वभाषा" बनती तो पाणिनि और कालिदास की भाषा मृत भाषा न कहलाती; दान्ते, गेटे, तोल्स्तोय की भाषाएं भी विश्वभाषा बन जातीं। अंग्रेज़ी के समर्थक उसके प्रसार के लिये मिल्टन और शेली का नाम लेते हैं; उस ब्रिटिश साम्राज्य की कहानी भूल जाते हैं जिसमें कभी सूर्यास्त न होता था और अर्नेस्ट जोन्स के शब्दों में जिसकी धरती पर कभी रक्त न सूखता था।

अंग्रेज़ी-प्रेमी भारतवासी अपनी प्रिय विश्व-भाषा के पक्ष में जितनी दलीलें देते हैं उनमें एक भी ऐसी नहीं है जिसे पहले "लिबरल" राजनीति-विशारदों ने न दिया हो। ये "लिबरल" भद्रजन अंग्रेज़ी राज और अंग्रेज़ी भाषा के मामले में अत्यन्त उदार थे, हिन्दुस्तानी जनता के राज और हिन्दी भाषा के बारे में अत्यन्त अनुदार थे। वे अंग्रेज़ी राज को प्रगतिशील मानते थे, अंग्रेजों को भारतीय अराजकता दूर करके यहाँ न्याय और शान्ति की व्यवस्था कायम करने वाला मानते थे। कमी इतनी ही थी कि अंग्रेज उच्च-पदों पर इन्हें नियुक्त न करते थे। भारतीय जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन से त्रस्त ये उदारपन्थी महानुभाव नौकरियों में रियायतें पाने के लिये परम प्रगतिशील अंग्रेज़ शासकों के सामने प्रार्थना-पत्र पेश करने में महान् गौरव अनुभव करते थे। उन्हीं की परम्परा निबाहने वाले ये वर्तमान "लिबरल" हैं जिनके लिये अंग्रेज़ी के राजभाषा न रहने से राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जायगा, देश में गृहयुद्ध छिड़ जायगा, हिन्दी वाले सब नौकरियाँ हथिया लेंगे, विश्व-संस्कृति से आदान-प्रदान के द्वार बन्द हो जायेंगे, इत्यादि। अंग्रेज़ों के चले जाने से बहुसंख्यक हिन्दू अल्पसंख्यक मुसलमानों और अछूतों को खा डालेंगे, राउंड टेबल कान्फ्रेंसों में जैसे ब्रिटिश प्रधान मन्त्री यह दलील पेश करते थे, वैसे ही स्वाधीन भारत के ये "लिबरल" अंग्रेज़ी के बारे में कहते हैं, अंग्रेज़ी गई नहीं कि हिन्दी वाले सारी नौकरियाँ हथिया लेंगे, उत्तर वाले दक्षिण पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लेंगे, अहिन्दी भाषाओं का नामनिशान मिट जायगा। यह बात नहीं है कि राउंड टेबल कान्फ्रेन्सों के दिनों में सम्प्रदायवादी रूढ़िवादी हिन्दू नहीं थे जो अछूतों को गुलाम बनाकर रखना चाहते, जो मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे। किन्तु इनसे अछूतों और मुसलमानों की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक न था कि हिन्दू-अहिन्दू सभी अंग्रेज़ों की शरण जाते। आज भी ऐसे हिन्दी-प्रेमी हैं जो अहिन्दी भाषाओं को दबाकर हिन्दी को वही स्थान देना चाहते हैं जो अंग्रेज़ी को प्राप्त था। इनसे अहिंदी भाषाओं की रक्षा करने का मार्ग यह नहीं है कि हम अंग्रेज़ी की शरण में जायं।

अंग्रेज़ी को राजभाषा बनाये रखने के पक्ष में उदार पन्थियों की दलीलों का खंडन देशभक्त भारतवासियों ने ही न किया था, वरन् उनका खंडन भारत-प्रेमी अंग्रेज़ों ने भी किया था। उदाहरण के लिये उदार-हृदय सी० एफ्० ऐण्डूज ने "दि ट्रू इण्डिया" नाम की अपनी पुस्तक में लिखा था: "अभी तक अंग्रेज़ी भाषा को समझने वाले मुट्ठी भर बुद्धिजीवी ही हैं किंतु यह उभरती हुई साधारण भाषा, जो 'हिन्दुस्तानी' कहलाती है, उत्तर और मध्यभारत में पच्चीस करोड़ जनता द्वारा आसानी से समझी जाती है, दक्षिण में भी जहाँ द्रविड़ भाषाएं बोली जाती हैं, उत्तर की इस भाषा से लोग थोड़ा-थोड़ा परिचित हो गये हैं। यहाँ मद्रास प्रेसीडेन्सी के इस तिरुपत्तुर आश्रम में जब मैं लोगों की बातचीत सुनता हूँ तो उत्तर के उन संस्कृत शब्दों को पहचान लेता हूँ जो तमिल में घुलमिल गये हैं। कल एक व्यक्ति मुझसे मिलने आया था; उससे जब मैंने अंग्रेज़ी में बातचीत करने की कोशिश की तो उसने कहा, 'कृपा करके

हिन्दुस्तानी में बात कीजिये'। और जब मैं उस भाषा में बोला तो वह मेरी बात आसानी से समझ गया।''

सी० एफ० ऐराड्रूज़ की यह पुस्तक १९३९ में प्रकाशित हुई थी; तब से दक्षिण में हिंदी पढ़नेवालों और हिंदी समझनेवालों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। अंग्रेज़ी पढ़नेवालों और अंग्रेज़ी समझनेवालों की संख्या उसी अनुपात में नहीं बढ़ी। अंग्रेज़ी के समर्थक अब भी मुट्ठी भर बुद्धिजीवी ही हैं।

भारत प्रेमी ब्रिटिश महिला ऐनी बेसेंट ने ''इरिडया: बौराड और फ्री'' में राजभाषा अंग्रेज़ी के विरुद्ध अपनी अन्य किसी रचना से यह कथन उद्धृत किया था। ''जब मैकौले ने अंग्रेज़ी शिक्षा पर जोर दिया था, तब वह भारत के महान् साहित्य को घृणा की दृष्टि से देख रहा था। उसने यह न अनुभव किया था कि अंग्रेज़ी शिक्षा पर ज़ोर देकर वह विशाल जनता को अज्ञान के हवाले कर रहा था। रोटी के बदले वह पत्थर दे रहा था। लड़के शिक्षा पाते थे और अपने देश की श्रेष्ठ कृतियों से अपरिचित रहते थे। वे अंग्रेज़ी में वक्तृता झाड़ सकते थे, अपनी मातृभाषा में नहीं। **किसी देश में राष्ट्रीयता के भाव नष्ट करने का इससे अधिक कुशल उपाय नहीं है कि एक विदेशी भाषा को उच्च वर्गों की भाषा, कानून और अदालतों की, कालेजों की भाषा बना दिया जाय और सरकारी नौकरियों के लिये उस विदेशी भाषा की जानकारी आवश्यक कर दी जाय।''** (शब्दों पर ज़ोर हमारा है।)

ऐनी बेसेंट का कथन जितना युक्तिपूर्ण तब था, उतना ही आज भी है। अंग्रेज़ों के जाने के बाद साम्राज्यवाद से भारतीय जनता का अन्तर्विरोध समाप्त नहीं हो गया। इन्दोनीशिया, पाकिस्तान, मिस्र, सीरिया आदि एशिया के देशों में साम्राज्यवाद अपने सांस्कृतिक मित्रों की तलाश में है जिनकी सहायता से वह इन देशों के आन्तरिक जीवन में हस्तक्षेप करे। इसलिये भारतीय जनता की राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने की ओर हमें सचेत रहना चाहिये।

ऐनी बेसेंट ने ''इरिडया: बौराड और फ्री'' में उपर्युक्त कथन उद्धृत करने के बाद लिखा था, ''मैं यही कहना चाहूँगी कि इंगलैराड ने बहुत कुछ, यद्यपि पूरी तरह नहीं, उसी शिक्षा-नीति का अनुसरण किया था जिसे पोलैराड में रूस ने लागू किया था। स्कूलों में पोलिश भाषा में शिक्षा देना बन्द करा दिया गया था और वहाँ रूसी का वैसे ही प्रयोग होता था जैसे यहाँ अंग्रेज़ी का। सभी देशों के तानाशाह एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं।''

आज उसी तरह कुछ अंग्रेज़ी-प्रेमी सज्जन शिक्षा-संस्थाओं में भारतीय भाषाओं की तुलना में अंग्रेज़ी को उच्चतर स्थान देना चाहते हैं। इससे भारतीय भाषाओं के विकास में कितनी क्षति होती है, इसकी ओर वे ध्यान नहीं देते। अंग्रेज़ी भाषा के आधुनिक ''लिबरल'' हिमायतियों से ऐराड्रूज़ और बेसेंट के विचारों की तुलना कीजिये तो पता चल जायगा कि इन भद्रजनों का दृष्टिकोण कितना प्रतिक्रियावादी है। राज्यसत्ता जनता के लिये है, जनता राज्यसत्ता के लिये नहीं है, यह सत्य उनकी समझ से परे है। वे राज्यतन्त्र को उसी पुराने नौकरशाही ढंग से चलाना चाहते हैं जिसमें नौकरशाह जनता के नौकर न होकर उसके शाह होते थे। यह युग जनतंत्र का है; जनता अधिक से अधिक शासनतन्त्र में भाग लेगी। शासनतन्त्र जनता के उत्पीड़न का यन्त्र न होकर उसकी सेवा का माध्यम बनेगा। इस शासनतन्त्र में जनता अपनी भाषाओं द्वारा और केन्द्रीय राजकाज में हिन्दी द्वारा ही भाग ले सकती है। अंग्रेज़ी चाहे जितनी समृद्ध हो और हिन्दी चाहे जितनी दरिद्र हो, राजभाषा के रूप में अंग्रेज़ी का भविष्य अन्धकारमय है, हिन्दी का भविष्य अत्यन्त उज्वल। अंग्रेज़ी के समर्थक इतिहास की प्रगति से युद्ध कर रहे हैं; इसलिये उनकी पराजय निश्चित है।

राजभाषा की समस्या किसी भाषा के समृद्ध होने की कसौटी पर न तो अन्यत्र हल हुई है, न यहाँ होगी। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की आवश्यकताओं ने अनेक बुद्धिजीवियों को भारतीय भाषाएं अपनाने पर पहले भी बाध्य किया था, आगे भी करेंगी। इन आव-

(शेष पृष्ठ ६३ पर)

लामार्तीन और हिन्दू-संस्कृति

डॉ० रा० ग० हर्षे, डी० लिट् (पॅरिस)

आल्फोंस द लामार्तीन फ्रांस के सर्वश्रेष्ठ ध्येयवादी कवि हैं (ई० १६८०-१७६८) । फ्रांसीसी संस्कृति का एक उच्चतम आदर्श उनकी जीवनी में कुसुमति हुआ था । एक प्राचीन किन्तु छोटे जनपदीय सामन्त घराने में आपने जन्म पाया । पाँच लड़कियों के अनन्तर एक ही सुपुत्र होने के कारण न केवल वे अपने माता पिता के किन्तु सब कुटुम्बियों के प्रीतिभाजन बने ।

सौजन्यशाली पिता और अत्यन्त बुद्धिमान तथा पुण्यशीला सहृदया माता से लामार्तीन ने अपना सद्‌गुण संघ प्राप्त किया था । भावनामय अन्त:करण, उदात्त विचार सरणि, अप्रतिम बुद्धिमत्ता, अप्रतिहत अध्ययन, पवित्र, दयाशील और दानशील आचरण, इन्हीं से लामार्तीन का काव्यमय जीवन भरा हुआ था । पहले ही काव्य संग्रह से ("काव्य चिन्तनिका" ई० १७२०) उनका कीर्ति मन्दिर में प्रवेश हुआ और दस वर्ष के अनन्तर फ्रांस की सर्वोच्च साहित्य परिषद के सदस्य का सम्मान उन्होंने प्राप्त किया । न केवल कवि किन्तु वे अच्छे उपन्यासकार और इतिहासकार भी थे । वे फ्रांस के बादशाह के शरीर संरक्षक, फ्लोराँस (इताली) के वकालत के सचिव, परराष्ट्र मन्त्री और ई० स० १७४७ के अल्पकालिक फ्राँस के गणतन्त्र राज्य के प्रमुख चुने गये थे । इसी वर्ष कम्युनिस्ट लोगों ने रक्तमय क्रान्ति मचाई थी और क्रान्ति के बाद फ्राँस का पुराना झण्डा बदल कर लाल झण्डा रखने का उनका उद्देश्य था । गणतन्त्र फ्राँस के अध्यक्ष के नाते से लामार्तीन कम्युनिस्टों की सभा में अचानक उपस्थित हुये । उनको देखकर कुछ कम्युनिस्टों ने "गोली से मार डालो" ऐसी चिल्लाहट मचाई । किन्तु लामार्तीन ने अपना वक्ष:स्थल खोलकर कहा—"मेरी हत्या से मेरे भाइयों की आत्मशाँति हो सकती है और देश रक्त लाञ्छित क्रान्ति से बच सकता है तो गोली चलाओ और मुझे मार डालो !" इस वीरता का विराट प्रदर्शन देखकर और लामार्तीन के आवेशपूर्ण वक्तृत्व से मोहित होकर कम्युनिस्टों ने अपना विरोध छोड़ दिया और फ्राँस में शान्ति का साम्राज्य प्रस्थापित हुआ ।

लामार्तीन का अन्तःकरण संस्कारशील था । भावनामय सरलता उनके उदात्त हृदय में भर रही थी । पर भाव को इसमें स्थान नहीं था । उन्होंने अपनी वृद्धावस्था में उपजीविका के लिये एक नियतकालिक (Periodical) चलाया था जिसमें वे विविध देशों के साहित्य का परिचय देते रहे थे । संस्कृत साहित्य के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । लामार्तीन जैसे कवि, साहित्यकार और रसिक विद्वान् ने संस्कृत साहित्य का विवेचन जिस तरह किया है वैसा व्याकरण, टिप्पणियां और अनुवाद में अपना बुद्धि-सर्वस्व खर्च करनेवाले पश्चिम और पूर्व के प्राच्य भाषा के पण्डितों ने अभी तक नहीं किया । संस्कृत साहित्य का समालोचन साहित्यिक दृष्टि से और रसिकावलोकन पद्धति से होने की कितनी आवश्यकता है इसकी प्रतीति लामार्तीन का अभिप्राय पढ़ने से ही आ सकती है । इसलिये उसका परिचय अनुवाद रूप से यहाँ दिया जाता है ।

सर विलियम जोन्स ने जब ई० स० १७७८ में कालिदास के शाकुन्तल का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया तब युरोप में संस्कृत साहित्य के विषय में बहुत ही कुतूहल उत्पन्न हुआ । अनेक विद्वान् संस्कृत साहित्य के संशोधन के लिए बद्ध परिकर हो रहे । चार्ल्स विल्किन्स ने भगवद्‌गीता का जो अंग्रेजी अनुवाद महाभारत से चुने हुये धर्म, नीतिशास्त्र विषयक उद्धृत अंश के साथ प्रकाशित किया था उसका फ्राँसीसी अनुवाद पार्‌रो ने ई० स० १७८६ में किया । किन्तु जब प्रो० विल्सन ने

अपना "हिन्दू रंगभूमि का चुना हुआ संग्रह" प्रकाशित किया तब युरोप में सनसनी मच गई और बहुत लोग संस्कृत की ओर आकर्षित हुये। पॅरिस (फ्रांसीसी उच्चारण "पारी") युनिवर्सिटी के कोलेऽज द फ्रांस में संस्कृत साहित्य का अध्ययन-पीठ निर्माण हुआ और संस्कृत के सर्वप्रथम प्राध्यापक द शेसी के स्फूर्ति शाली वक्तृत्व से चारों ओर से विद्वान् पॅरिस में आकर्षित हुये। संस्कृत की गंध न होने पर भी अंग्रेजी अनुवाद से प्रभावित हुये शातोब्रियाँ, रनाँ, मीश्ले, लामार्तीन, व्हिक्तोर ह्युगो, ल कोन्त द लील, बोदलेड़र इत्यादि प्रथम श्रेणी के फ्रांसीसी साहित्यकारों ने संस्कृत साहित्य, तत्त्वज्ञान और भारतीय लोगों के विषय में कुछ न कुछ लिखा है। इतना ही नहीं किन्तु भारतीय विषयों पर कविता लिखने वाले कवियों की संख्या भी काफी है। उदाहरण:

(१) व्हिक्तोर ह्युगो—"लेप्वी दे जंद" (भारतीय स्त्रोत)

(२) ल कोन्त द लील—उनके 'पुरानी कविताए' नाम के संग्रह में—१. "सूर्या-इम्न वेदीक," २. "प्रियेऽर वेदीक दे मोर (वैदिक मृत्युगीत)" ३. "ला मोर द वाल्मीकि" (वाल्मीकि की मृत्यु), ४. "लार्क द शिव" (शिवधनुष्य), ५. शुनःशेप, ६. "लाव्हीझियों द ब्रह्मा" (ब्रह्मदर्शन); दूसरे 'ले पोएऽम बारबार' नामक संग्रह में—७."नूरमहाल", ८. "जिहान आरा," ९. "ल कोंसेऽय्य द्यु फकीर" (फकीर का उपदेश)

(३) बोदलेऽर—"आयुन मलबारेऽझ" (मलाबार की सुन्दरी को)

(४) लेत्रों हालेएही—"ला जऽन अंदिएन्न" (हिंदयुवती को) इत्यादि, इत्यादि।

मध्ययुगीन काल से फ्रांसीसी लोगों को हिंदुस्थान की जानकारी थी। बेर्नियें जैसे यात्री ने अपने प्रवास वर्णनात्मक ग्रन्थ में भारत के सम्बन्ध में बहुत लिखा है। वॉल्टेऽर ने अपने "लिस्त्वार युनिव्हेर्सेल्ल" (विश्व का इतिहास) नामक ग्रन्थ में हिन्दुस्थान के सम्बन्ध में कुछ लिखा है किन्तु शातोब्रियाँ ने अपने "जेनी द्यु क्रिस्त्यानीझम" ग्रन्थ में सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थों से उद्धृत किये हुए वचन दिये हैं। लामार्तीन को संस्कृत साहित्य का जो परिचय हुआ वह बारों देक्ष्टाइन के लेखों से। अनुवाद के माध्यम से क्यों न हो किन्तु संस्कृत साहित्य पढ़ने की उत्सुकता लामार्तीन को कैसी हुई उसका वृत्तान्त लामार्तीन ने खुद ही दिया है। "संस्कृत पद्यों के कुछ स्फुट पन्ने मैंने देखे और प्रथम दर्शन से ही मेरे अन्तःकरण पर उन पद्यों का पावित्र्यपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस प्रसंग की अच्छी याद मुझे हमेशा आती है। इन स्फुट पद्यों का अनुवाद जिन्होंने किया है वे अपने अतिरिक्त दूसरे जगत् में संचार करने वाले तथा उसका अध्ययन करके उसमें से बहुमूल्य रत्नों की खोजकर संग्रह करने वाले और केवल इसी कार्य में व्यस्त होकर अपनी प्रतिभा और अपना जीवन इस कार्य को समर्पित किये हुये लोगों में गणनीय हैं। उनका शुभनाम "बारों देक्ष्टाइन" था। वे तत्त्वज्ञ, कवि, राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक और प्राच्य विद्या विशारद थे। वे पश्चिम के ब्राह्मण! स्वकीयों को अज्ञात और एक काल-खण्ड में रहकर दूसरे कालखण्ड का चिन्तन करते रहना ऐसी उनकी वृत्ति!"

बारों देक्ष्टाइन के साथ लामार्तीन का बहुत पुराना परिचय होने की संभावना है। क्योंकि अठारहवें लुई के निमंत्रण पर ई० स० १७१७ में वे पॅरिस आये थे और १७६१ में उनकी मृत्यु होने तक पॅरिस में ही रहे थे। इस समय लामार्तीन भी बादशाह के शरीर संरक्षक थे। ई० स० १७३४ के पूर्व ही उन्होंने संस्कृति साहित्य का अध्ययन निश्चित रूप से शुरू किया था। मऽस्यऽऽ गय्यिमं ने लामार्तीन का जो "ले व्हीझीयों" नामक अपूर्व काव्य प्रकाशित किया है उसकी प्रस्तावना में उन्होंने लामार्तीन के मऽस्यऽऽ व्हीरियऽ को लिखे हुये पत्र का उल्लेख किया है जिसमें (१८ अक्टूबर १७३४) लामार्तीन लिखते हैं; "निसर्ग के समान अनन्त होने वाली हिंदू कविताएं अपने पढ़ने के लिये हैं ही!" इससे ज्ञात होता है कि लामार्तीन न केवल स्वयं ही संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते थे किन्तु अपने सन्मित्रों को भी इसका परिचय कराते थे।

"सोस्येते आझिआतीक" संस्था के सचिव ज्यूल मोल ने बारों देक्ष्टाइन के मृत्युलेख में लिखा है: "उनकी पसन्दी और व्यासंग विषय साहित्य, विशेषत: संस्कृति के उद्‌गम का इतिहास था। राजनैतिक व्यग्रता में भी उन्होंने अपना अध्ययन अखंडित रखा था और उनके आखिर के दिनों में वह उनका एकमेव व्यसन था। उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराज "हिंदू संस्कृति का प्रारम्भ" था। कितने ही वर्ष तक वे अपने ग्रन्थ के अंश अपने मित्रों के मनोरंजन के लिए पढ़ते थे। आखिर के २५ वर्ष तक उन्होंने वेदों का और विशेषत: महाभारत का अध्ययन इतने उत्साह से और तत्परता से किया कि उनके समान इन ग्रन्थों का निरलस अध्ययनशील पाठक दूसरा नहीं था।"

लामार्तीन का संस्कृत साहित्य का अध्ययन और हिंदू तत्त्वज्ञान की यथार्थ जानकारी नि:संदेह देक्ष्टाइन के सहवास का और संभाषण का फल है। लामार्तीन के ऊपर हिंदू धर्मग्रन्थों का जो प्रभाव था वह उत्तर-कालीन था ऐसा गीय्यमं का अभिप्राय गलत है। इस सम्बन्ध में लामार्तीन का कहना ही ग्राह्य समझना चाहिये। एक समय गोल के जङ्गल में शिकार के लिये लामार्तीन गये थे। अपने को "एक अज्ञान और अज्ञात युवक" बता कर उन्होंने अपनी यह शिकार की कहानी कही है। इससे गीय्यमं के विधान का खण्डन अपने आप हो सकता है।

गोल के जंगल के मध्यभाग में एक ध्वस्त किला था। इसके अवशिष्ट भागों में से एक सुरक्षित बुर्ज के कमरे में वे उस वक्त ठहरे हुये थे। वहाँ उन्होंने आकस्मिक रीति से पढ़े हुये संस्कृत काव्य का उनके मन पर कैसा प्रभाव पड़ा इसका सुन्दर और काव्यमय वर्णन किया है:

"मैं अपने बिछौने पर पढ़ रहा था। इतने में एक तीस-चालीस पंक्तियों का ग्रन्थांश मेरे देखने में आया। इनकी रोशनी ऐसी थी कि वे पंक्तियाँ कवि ने मशीपात्र में लेखनी डुबाकर लिखने के बजाय हीरे की बुकनी से और अग्निवर्ण किरणों से लिखी हैं ऐसा मुझे आभास हुआ। मैंने उन पंक्तियों को पढ़ लिया, पुन: पुन: पढ़ा और अब तक भी पढ़ता रहा हूं। मेरे मुंह से एक दम आश्चर्योद्‌गार निकले। सानन्द कौतुकातिशय के कारण मेरे मुंह से एक भी शब्द बाहर नहीं आया। मुझे ऐसा लगा कि कोई धक्का देकर मुझे शैय्या से बाहर खींचने लगा है। मैंने कूद कर शैय्या को छोड़ दिया। पैरों में कुछ नहीं था। हाथ में पुस्तक थी, पैर काँपने लगे। इस अवस्था में मुझे ऐसी चेतना हुई कि यह पन्ना खड़ा रह कर, बैठकर और बिछौने पर लेटकर नहीं पढ़ना चाहिए किन्तु पूजा के लिये और प्रार्थना के लिये जैसे आप घुटने टेकते हैं उस प्रकार घुटने टेक कर ही पढ़ना चाहिये क्योंकि वह इतना पवित्र और सौन्दर्य पूर्ण था! उस सूर्योदय के समय मैंने खिड़की के पास जाकर घुटने टेके, खिड़की से प्रकाश का स्रोत अन्दर आ रहा था, किन्तु वह प्रकाश उस पन्ने के प्रकाश से कम ही भासमान हुआ था। मैंने वे पंक्तियाँ धीरे से और भक्तिपूर्ण अन्त:करण से पढ़ीं। मेरी आँखों से अश्रु बाहर नहीं आये क्योंकि धार्मिक श्रद्धा और दु:ख के आवेग के कारण मेरे नयनों से क्वचित् अश्रु टपकते हैं—किन्तु जिनको ईश्वर की कल्पना इतनी सुस्पष्ट, इतने स्फूर्तिमय शब्दों में व्यक्त करने की संभावना होती है उनके (आर्य) वंश में मुझे ईश्वर ने जन्म दिया इसलिये मैंने खड़े होकर उच्च स्वर से ईश्वर को धन्यवाद दिया।"

हिन्दू मन की और आर्य संस्कृति की यथार्थ जानकारी उनके मन में हो रही थी इसका रहस्य यह ही है कि उन्होंने केवल हिन्दू ग्रन्थ पढ़े ही नहीं अपितु उनकी प्रखर कल्पनाशक्ति और भावनातरल हृदय के कारण इन ग्रन्थों में व्यक्त हुये विचारों के साथ उनका हृदय समरस हुआ। स्वभावत: ही उनका हृदय समान धर्मी था इसलिये हिन्दू संस्कृति से वे इतने प्रभावित हो रहे थे। ल कोन्त द लील प्रभृति कवियों का एकमात्र उद्देश्य हिन्दी विषयों पर कविता लिखने का ही था। इसका कारण केवल काल महिमा! उन्नीसवीं शताब्दी फ्रांस में हिन्दू संस्कृति के अध्ययन का प्रारम्भकाल था और

तत्कालीन काव्यात्मवादी (Romantic) कवियों ने इस नूतन साहित्य का लाभ उठाकर फ्राँसीसी काव्य-वाङ्मय को विषय वैचित्रता प्रदान की। हिंदू संस्कृति की उनकी रुचि केवल साहित्यिक और क्षणिक थी। किन्तु लामार्तीन के सम्बन्ध में ऐसा नहीं था। ई० स० १७३४ के अनन्तर रचे हुये उनके ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति के पडिसाद (echoes) कम और अधिक परिमाण में फैले हुये हैं।

"कूर द लित्तेरात्युर" (साहित्यिक अध्ययन) नामक अपने नियतकालिक (Periodical) में लामार्तीन ने संस्कृत साहित्य के विषय में जो प्रवचन किया है उसी में तत्वज्ञान के भीतर वैदिक सूक्त, उपनिषद् और भगवद्गीता; महाकाव्यों में से रामायण और महाभारत तथा नाट्यवाङ्मय में से कालिदास का शाकुन्तल और भवभूति का उत्तर रामचरित की समालोचना उन्होंने की है। इस समय प्रकाशित हुये फ्राँसीसी और अंग्रेजी अनुवादात्मक ग्रन्थों से उन्होंने इन ग्रन्थों का परिचय प्राप्त किया और उनका उद्धृत किया हुआ अंश उन्होंने लाँगल्वा तथा पार्‌रो के अनुवादित ग्रन्थों में से लिया होगा। उद्धृत करते समय उन्होंने इनके अनुवाद में कुछ फेरफार भी किया है किंतु देक्ष्टाइन प्रभृति के उसके श्रेयभागी होने की सँभावना है। मूलग्राही और निर्दोष अनुवाद की कसौटी इन प्रथम प्रयत्नों में देखना समुचित नहीं है। क्योंकि लामार्तीन प्राच्यविद्या विशारद नहीं थे किन्तु तत्त्वज्ञान और साहित्य के उद्धृतांश चुनने में उनकी सुसंस्कृत अभिरुचि व्यक्त होती है और उनकी समालोचना से उनके विचार कैसे सुयोग्य थे इसका भी प्रत्यय होता है। इस अवस्था में लामार्तीन संस्कृत भाषा पढ़ते तो कितना अच्छा हुआ होता ऐसा भी विचार मन में उठने लगता है।

लामार्तीन ने हिन्दू धर्म और तत्वज्ञान के विषय में जो विचार प्रदर्शित किये हैं उनमें से कुछ विचारों का निर्देश करना समुचित होगा। वे कहते हैं—"यह यथार्थ दर्शियों का तत्त्वज्ञान है। इसमें बहुरंग और बहुढंग मानवता का अन्तर्बाह्य यथार्थ चित्रण मिलता है। धर्म-श्रद्धा और बुद्धिवाद का मनोहर मिश्रण इसमें है। और सत्य तथा समाधान एक ही समय अपने को यहाँ प्राप्त होते हैं। इस तत्त्वज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त और तत्सम्बन्धी उपदेश भारत के इस सर्वप्रथम वाङ्मयीन स्मारक में अपने को मिलते हैं। केवल काव्यालापों की अपेक्षा इसमें विचारशीलता अधिक है और दु:खमूलकता में दु:ख परिमार्जन के दो पथ उनको मिले हैं। वे हैं दु:ख स्वीकार और तद्द्वारा अन्त:शुद्धि"

हिन्दू तत्त्वज्ञान का योग्य आकलन और यथार्थ आदर इससे अच्छी तरह प्रकट हुआ अन्यत्र क्वचित् मिलेगा। परन्तु इस तत्त्वज्ञान का आधार लेकर जब वे मनुष्य की अमर्यादित परिपूर्णावस्था, सातत्य और ईश्वर रूप होना जैसे तत्कालीन फ्राँसीसी तत्त्ववेत्ताओं के सिद्धान्तों का निषेध करने लगते हैं तब इन सिद्धान्तों के विषय में हिन्दू तत्त्वज्ञान का कहना क्या है उसका लामार्तीन का अज्ञान स्पष्ट होता है। क्योंकि "अनेक जन्मों की संसिद्धि से मानव ईश्वर रूप हो सकता है" यह हमारे तत्त्वज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। अपना भवितव्य अपने अच्छे और बुरे कर्म पर निर्धारित है और अपनी आध्यात्मिक प्रगति अनेक जन्म चल रहने पर भी उसका अन्तिम ध्येय सायुज्य प्राप्ति ही है। "उद्धरेदात्मनात्मानम्" कह कर हिंदू तत्त्वज्ञान ने मनुष्य मात्र के लिये एकमेव आशास्थान निर्माण किया है। हर एक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसलिये अखिल मानवता की आध्यात्मिक प्रगति का यथार्थ मापन नहीं हो सकता। एक ही समय एक ही समाज में भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक तलों पर लोग रहते हैं और पूर्णावस्था प्राप्त किये हुए सिद्धों को भी देह धर्म के आगे सिर झुकाना पड़ता है। ऐसी पूर्णावस्था पर पहुँचे हुये मनुष्यों के लिये पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त और एक इन्द्रिय होने की आवश्यकता लामार्तीन ने प्रतिपादित की है। किन्तु हिंदू तत्वज्ञान में "मन" को ग्यारहवाँ इन्द्रिय माना गया है और यह ही बन्ध और मोक्ष का कारण है।

लामार्तीन ने और भी कहा है—"परन्तु मानव तथा अखिल सृष्टि के सम्बन्ध में सहानुभूति पूर्वक प्रेम हिंदू तत्त्वज्ञान का और साहित्य का दैवी गुणविशेष है।" प्राणिमात्र के लिये यह कारुणिकता देखकर लामार्तीन का मन बहुत प्रकार से संस्कारित हुआ और उसका काव्यमय वर्णन उन्होंने किया है :—

"मेरे मन पर इस साहित्य का जो प्रभाव हुआ है वह आपसे कहने की मेरी इच्छा है", ऐसी प्रस्तावना करके उन्होंने अपनी शिकार का, जिसका उल्लेख ऊपर आया है, जो वर्णन किया है उसका सारांश यह है: लामार्तीन सामंत घराने में जन्म पाने से शिकार के बड़े प्रेमी थे। एक दिन शिकार ढूंढ़ते-ढूंढ़ते उन्होंने हरियाली के मैदान पर हर्ष से नाचता-कूदता एक हरिण का बच्चा देखा। ऐसे आनन्दी प्राणी को कारण के बिना जीवन से वंचित क्यों करना चाहिए ऐसा विचार क्षणमात्र मन में आया किन्तु सच्चे शिकारी का खून शरीर में होने के कारण उन्होंने बन्दूक का घोड़ा खींचकर हरिण के बच्चे को गोली मार दी, किन्तु मन विचलित होने से और अन्य किसी कारण से निशाना असफल होकर सिर के बजाय टाँग पर गोली लगी और वह घायल होकर गिर पड़ा और तड़फड़ाने लगा। अपना कुत्ता साथ लेकर लामार्तीन उसके पास गये। उसका करुण क्रन्दन सुनकर और उसका दुःखावेग देख कर लामार्तीन का हृदय व्याकुल हुआ। उनकी सदसद्विवेक बुद्धि उनको चुभने लगी। 'तुम अपराधी हो' ऐसा भाव उनके हृदय में उत्पन्न हुआ। एक क्षण पहले हर्ष से नाचता-कूदता हरिण का बच्चा और इस समय की उसकी शोचनीय अवस्था ये दोनों चित्र उनके मनश्चक्षु के सामने आये। हरिण की टाँग के बाजू में खून का एक छोटा सा पोखर बन रहा था। न केवल स्वयं धनी को किन्तु उसके कुत्ते के समान मूक प्राणी को भी वह करुण प्रसंग देखकर उद्वेग प्राप्त हुआ था। वह कुत्ता उस हरिण के बच्चे के पास नहीं गया और उसको स्पर्श भी नहीं किया। लामार्तीन अत्यन्त शोकाकुल हो गये। उन्होंने बन्दूक दूर फेंक दी और उद्विग्न मनः स्थिति में दूर जाकर वे हरियाली के मैदान पर लेटे रहे। किन्तु हरिण के बच्चे का करुण क्रन्दन असह्य हो रहा था। उसको दुःख मुक्त करने के लिये फिर बन्दूक लेकर उसके सिर पर गोली मार दी और उसको मरण सुख का अनुभव दे दिया। उसकी हलचल सदैव के लिये समाप्त हुई ! उस शिकार को साथ लेने की इच्छा नहीं रही थी। शिकार छोड़कर वे और कुत्ता दोनों अपने निवास स्थान पर चले गये। विमनस्क होने के कारण लामार्तीन को क्षुधा नहीं रही थी और उन्होंने कुछ खाया भी नहीं। व्यस्त चित्त से उन्होंने जेब में हाथ डाला और एक पुस्तक बाहर निकाल कर कृत्रिमता से उसके पन्ने उलटने लगे और यहाँ वहाँ पढ़ना प्रारम्भ किया। कर्म-धर्म संयोग से वह अंश महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व का था। "मेरे साथ आये हुये कुत्ते को आप अन्दर आने नहीं देते तो मुझे भी स्वर्ग नहीं मिलना चाहिये" ऐसे उदाराशय युधिष्ठिर का देव दूतों के प्रति उत्तर पढ़कर लामार्तीन रोने लगे। इनको अपनी क्रूरता की तीव्र जानकारी हुई और इस पश्चात्तापदग्ध मनःस्थिति में उन्होंने फिर कभी भी शिकार न करने की शपथ ले ली !

लामार्तीन लिखते हैं—"इतर जीवों की हत्या मनोरंजन का विषय समझने वाले मानव की इस पाशवी वृत्ति के सम्बन्ध में मैंने आज तक कभी नहीं सोचा था। किसी प्रकार आवश्यकता न होने पर भी अन्याय, निर्दयता और अनधिकार से प्राणियों का जीवन हरण करना !—और यदि वे प्राणी मानव के समान बुद्धिमान होते, उनके पास हथियार होते, मनोरंजन करने वाले खेल में मानव के समान क्रूर होते और मनुष्य का शिकार करने का अधिकार उन्होंने प्रस्थापित किया होता तो ?—" सारांश, महाभारत के कथानक से प्रभावित होकर उस दिन से उनका शिकारीपन सदा के लिये समाप्त हुआ।

संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में लामार्तीन ने गौरवपूर्ण लिखा है। ग्रीक और संस्कृत साहित्य की तुलना करने वाले बार्तलेमी सँतीलेऽर के मतों का खंडन करके उन्होंने लिखा है—"इस विषय में हमारी राय से वह

(संस्कृत साहित्य) सहस्र गुना अधिक सुन्दर है क्योंकि वह साहित्य अधिक नीतिपरक, अधिक पवित्र और अपने में परोपकार बुद्धि उत्पन्न करने वाला होकर दैवी संपत्ति से युक्त है। इसके विपरीत युनानी साहित्य वैषयिक—मनोविकार का वांङ्मय है।" संप्रति, नीति दृष्टि से साहित्य का मूल्यमापन करने की प्रथा नहीं है इसलिये लामार्तीन के अभिप्राय का महत्व विशेष है। कवित्व के सम्बन्ध में महाराष्ट्रीय सन्तों की कल्पना लामार्तीन के अभिप्राय से भिन्न नहीं है।

वेदों के सम्बन्ध में लामार्तीन जितने उत्साहपूर्ण आवेश से बोलते हैं उतनी ही सत्यता उनके निवेदन में है। किसी प्राच्यविद्या विशारद के समान वे अन्य विद्वानों के मतों का संग्रह करके निर्देश नहीं करते किन्तु पढ़े हुये सूक्तों के विषय में स्वयं उन्हें कैसा अनुभव होता है वह ही कहते हैं :

"यह उद्धृतांश दूसरे शब्दों में निगूढ़ आत्मा का स्वाभाविक विकास था। बुद्धि के विहंगम के ऊपर सवार होकर वह ईश्वर को पुकारता है, यहाँ वहाँ उसको खोजता है, और अन्त में ईश्वर मिलने से वह उसको दृढ़ालिगन दे रहा है ऐसा लगता है। वह सद्-गुण, आत्मयज्ञ और मृत्यु का बुद्धि, काव्यशक्ति और स्फूर्ति द्वारा सम्यग् दर्शन ही था। अनन्त के समान उसके स्वर गूढ़ और गम्भीर थे। प्रकाशयुक्त वातावरण के समान उसके शब्द पारदर्शी थे। उसकी सचेतन उपमा-उत्प्रेक्षाएं, समुद्र के दर्पण में असंख्य तारकों से युक्त आकाश का जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसके समान उनकी मनोवृत्तियों की निदर्शक थीं। अनन्त के प्रवाह में मानो उनकी भावलहरियाँ ऊपर उछलतीं थी। तेज का मूलस्थान जो सूर्य है उससे दूर तक फैले हुये उष्णता के और प्रकाश के झोलों के समान वह लगता था। सारांश, देव के सामने बने हुये स्थंडिल के ऊपर रखे हुये रत्न-दीपों के समान प्रकाशयुक्त आकाश ज्योतियों की ओर से वह अनन्त का दीपोत्सव ही था।"

रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों के अन्तरंग का परिचय देकर लामार्तीन ने उनमें से कुछ चुने हुये प्रसंग उद्धृत किये हैं और उनकी युरोपीय साहित्य के सदृश प्रसंगों के साथ तुलना भी की है। उनका एतद्विषयक संस्मरणीय अभिप्राय उल्लेखनीय है :

"इस काव्य (महाभारत) में जो करुण-सुन्दर कथानक होते हैं उनमें नलदमयन्ती के प्रणय का एक कथानक है। मिल्टन की ईव और होमर की पेनेलोप का प्रणयाविष्कार भी इतना सहज सुन्दर, अव्यभिचारी नहीं है....नल एक तरुण और शीलसंपन्न वीर पुरुष है। वह होमर के आकिलिस के समान सुन्दर किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक मधुर स्वभाव का है.... रोमियो के शोकपर्यवसायी नाटक में, शेक्सपिअर के ज्यूलिएट में भी दमयन्ती से अधिक प्रेमोत्कटता, विषण्णता और निरालसता नहीं है। वर्तमानकाल के गूढ़वादी महाकवि डाँटे के तीनों काव्यों में ऐसा कथा प्रसंग और हिंदू साहित्य के इस काव्य कल्पना से अधिक सरस कथाप्रसंग और सुरस काव्यकल्पना क्यों मिलती है ? और इस विशाल काव्य कल्पना के अंगोपांगों का विकास इतना सहज सुन्दर और परिणामकारक हो रहा है कि वह उसकी उदात्त-भव्यता को शोभा देता है।...नल की तलाश करने के लिये जिस अरण्य में दमयन्ती घूम रही है उस वनश्री की शोभा यथार्थ रूप में चित्रित करने में समर्थ एक भी मानवी चित्रकार अथवा अपने उद्दिष्टों की यथार्थ अभिव्यक्ति करने वाले विविध रंग भी युरोप में नहीं हैं।" नलदमयन्ती का कथानक उनको इतना पसंद आया है कि उन्होंने इस काव्य के खिस्ती टीकाकार रे० डा० विल्सन के विरुद्ध अपने कवि का जोरदार समर्थन किया है।

इस खिस्ती टीकाकार की राय से इस काव्य में नायक की लोकविलक्षण और आत्यंतिक क्षमाशीलता इस काव्य का एक नैतिक दोष है। अपराधियों पर शासन करने वाली न्यायनिष्ठुर नीति इसमें नहीं। लामार्तीन कहते हैं: "क्षमा—जिसके लिये कीमत देनी पड़ती है—यह धार्मिक हिंदू काव्य वाङ्मय की विशेषता है और इसमें न्याय से भी वरिष्ठ ईश्वरी क्षमा की प्रति-च्छाया पड़ी हुई दिखाई देती है। न्याय बुद्धि से क्षमा

श्रेष्ठ है। क्योंकि यह दैवी सद्गुण होकर मानव इसमें अपने शक्यानुसार ईश्वर का अनुकरण करने का प्रयत्न करता है। इतना ही नहीं, पूर्णता प्राप्त हुये मानव का यह कर्तव्य ही है। क्योंकि, अच्युत परमेश्वर ही अनुशासन कर सकता है। स्वयं प्रतिपद गलतियाँ करने वाला मानव अनुशासन के लिये कैसे योग्य माना जायगा? इसलिए मानव को सर्व व्यवहारों में निरपवादत: क्षमा शील रहना चाहिए।''

''प्राचीन भारत के इस लाक्षणिक और धार्मिक महाकाव्य में नीत्युपदेश जितना दिव्य है उतना इसका काव्य भी उदात्त है। इसमें ऐसी स्निग्धता फैली हुई है कि वह अपनी कल्पनाशक्ति को न केवल प्रमुदित करती है किन्तु अपना मन भी उन्नत करती है। पुस्तक पढ़ने के बाद न केवल आनन्द ही होता है किन्तु आप पूर्व की अपेक्षा अधिक अच्छे हुए हैं, ऐसा लगता है। इस काव्य का निर्माता कवि मन के ऊपर पावित्र्य का संस्कार करने वाला है। उसकी वीणा से उन्मादकता नहीं बाहर निकलती किन्तु देव के सामने जलते हुए सुगन्धी धूप की वर्तुलाकृति तरंग ही ऊपर आ रही है ऐसा लगता।''

प्राचीन हिंदू रंगभूमि के विषय में लिखते समय लामार्तीन का ऐसा समझना कि ग्रीक नाट्य संस्था ने प्राचीन हिंदू नाट्य संस्था का ऋण लिया है सयुक्तिक नहीं है। ग्रीक नाट्य संस्था का विकास स्वतंत्र ढंग से हुआ है और उसका प्रारम्भ डायोनिसस के उत्सव में हुआ है। लामार्तीन का ऐसा समझने का कारण दोनों नाट्य संस्था के कुछ सिद्धान्त और अधिनियम के विषय में साम्य है। उनकी राय से वे अधिनियम हिंदुस्थान से ग्रीस, ग्रीस से रोम और वहां से फ्रांस में आये हैं। किन्तु ऐसा सम्भवनीय है कि अॅरिस्टॉटल ने अपने समय के परम्परागत नियमों का संकलन करके अपने काव्य-शास्त्र विषयक ग्रन्थ में समाविष्ट किये हों। लेकिन भारतीय नाट्य शास्त्र के नियम ग्रीस देश में प्रविष्ट होने का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। उलटे ''डोरियन लोगों ने दु:खान्त और आनन्द प्रधान नाटक निर्माण किया'' ऐसा अॅरिस्टाटल का कहना है। लामार्तीन से दूरतम सीमा तक जाकर वुइंडिश प्रभृति पंडित 'ग्रीक नाट्य संस्था का ही प्रभाव भारतीय नाट्य संस्था के ऊपर पड़ा है' ऐसा कहते हैं। परन्तु ये दोनों मत गलत हैं। लामार्तीन का मत बारों देक्ष्टाइन के लेखों पर आधारित है। वे कहते हैं: ''ये सब नियम अपने को योग्य प्रकार से पृथक्करण पूर्वक अभ्यास करने के बाद लिखे हुये बारों देक्ष्टाइन के निबन्ध में मिलते हैं।''

हमारे संस्कृत नाट्यवाङ्मय के विषय में लामार्तीन के प्रदर्शित किये हुये सर्व सामान्य विचार आप महत्त्व पूर्ण मानेंगे। केवल प्राथमिक परिचय से ही जिनका लामार्तीन के मन पर असर हुआ उनका निर्देश भी अन्य किसी पाश्चात्य प्राच्य विद्या विशारद ने नहीं किया। इसलिये वे उद्धृत करने चाहिये:

''मनोविकार नहीं, किन्तु सद्गुण भारतीय काव्यात्मक नाटकों का प्रारम्भ से नीतिपरक उद्देश है। उनका काव्य अपने काव्य की अपेक्षा अधिक तत्त्व प्रवण होता है और प्रेक्षक-श्रोताओं के हृदय में विक्षेप निर्माण करने के बजाय वह उनको मन: शान्ति देता है। भावनाओं का सहज सुन्दर मिलन सिद्ध होने से मन के आरोग्य की अपने आप रक्षा होती है और औत्सुक्यपूर्ण जिज्ञासा को अवास्तव अवधि नहीं दी जाती। उनके नाट्यवाङमय विषयक नियम आपको विदित कराते हैं कि अत्यन्त प्राचीनकाल में प्रेक्षकों की भावना को किस प्रकार सचेतन करना, किस तरह से उनका मनोरंजन करना, उनकी उत्कण्ठा कैसी बढ़ जायगी और कैसी शात हो जायगी, इस विषय में उनकी निश्चित और दूरगामी विचार से सुप्रतिष्ठित कल्पनाएं थीं और अपने नाटक के द्वारा मानसिक पावित्र्य और नैतिक उन्नति कैसी प्राप्त होगी यह भी वे जानते थे।''

''उनके नाटकों के काव्यात्मक लेखन शैली के विषय में कुछ कहना तो उपमा-उत्प्रेक्षा, निर्दोषण, सुसंगतता इत्यादि प्राचीन-अर्वाचीन कवियों में जिन

(शेष पृष्ठ १४ पर)

आगरा के पंडित श्री मन्नूलाल कृत रेखता रामायण

श्री अगरचन्द नाहटा

अहिन्दी भाषी प्रान्तों ने हिन्दी की जो महान सेवा की है उसकी ओर हमारा ध्यान शीघ्र जाना चाहिए। यदि हम उन प्रान्तों में निर्मित हिन्दी साहित्य की जानकारी अधिकाधिक प्रकाश में ला सकें तो उन प्रान्त वालों का हिन्दी को सहज ही स्नेह और बल मिलेगा। उनके सामने जब यह तथ्य आ जायगा कि हमारे प्रान्त ने शताब्दियों से हिन्दी की सेवा की है तो उन्हें स्वतः प्रेरणा होगी कि हमारा भी उस कार्य को आगे बढ़ाना कर्त्तव्य है। वे हिन्दी को अपने लिए नई और लादी जाने वाली भाषा नहीं मानेंगे। अपने प्रान्त की प्राचीन परम्परा का पता लग जाने पर वे स्वयं हिन्दी के प्रति आकर्षित होंगे। अतः शोध प्रवन्धों के लेखकों का ध्यान इस अछूते विषय की ओर शीघ्र ही जाना चाहिए। एक तो वे अहिन्दी भाषी प्रान्तों में निर्मित साहित्य के क्षेत्र में काम करें; दूसरा हिन्दी की बहिनें रूप सभी प्रांतीय भाषाओं के साहित्य को भी अपने शोध एवं अध्ययन का विषय बनायें। इससे उन भाषाओं से हिन्दी का निकट सम्बन्ध स्पष्ट हो सकेगा। साथ ही उन भाषाओं में जो अच्छी रचनायें हैं उनका हिन्दी जगत् को परिचय मिलेगा। इससे अन्य प्रान्त वालों की हिन्दी के सम्बन्ध में जो कटुता नजर आती है वह स्वयं समाप्त हो जायेगी। वास्तव में यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरवशाली पद पर बनाये रखना है तो प्रान्तीय बोलियों के शब्द, मुहावरे, कहावतें, शैलियों आदि विशेषताओं को आत्मसात करना ही होगा। तभी हिन्दी समृद्ध और सबल बन सकेगी।

राजस्थान में राजस्थानी भाषा के साथ-साथ हिन्दी में भी बहुत बड़ा साहित्य निर्माण हुआ है। दूसरे प्रांत वालों की हिन्दी रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ भी यहाँ बहुत अच्छे परिमाण में सुरक्षित हैं। अतः राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज का काम, जो अब तक बहुत ही कम हो पाया है, तेजी से होना चाहिए।

गत तीन वर्षों में मैंने करीब बीस हजार हस्तलिखित प्रतियाँ अपने ग्रन्थालय में संग्रहीत की हैं और इस संग्रह कार्य में बहुत से व्यक्तियों की उल्लेखनीय सहायता मिली है। मेरे विद्वान् मित्र स्वामी नरोत्तमदास जी ने भी अपने संग्रह की शताधिक हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे संग्रहालय को प्रदान की हैं जिनमें से एक अज्ञात हिन्दी ग्रन्थ का परिचय इस लेख में दिया जा रहा है। इस ग्रन्थ का नाम है "रेखता रामायण"।

यह ग्रन्थ खड़ीबोली में आगरे के निवासी पंड्या मन्नूलाल ने काशी में रहते हुए बनाया है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र भारतीय संस्कृति के महान् आदर्श व्यक्ति थे। उनके जीवन-प्रसंग को लेकर भारत की सभी भाषाओं में बहुत बड़ा साहित्य निर्माण हुआ। हिन्दी भाषा में रचित तुलसीदास की रामायण, बहुत ही लोकप्रिय हुई है। उसके बाद कई कवियों और लेखकों ने सम्पूर्ण रामकथा या उसके किसी अंश को लेकर अनेकों छोटी-बड़ी रचनाएँ की हैं। प्रस्तुत 'रेखता रामायण' भी उसी श्रृङ्खला की एक कड़ी है। रामकथा साहित्य की हारमाला का यह एक सुन्दर मनका है। रेखता में बहुत सरल भाषा में इसकी रचना हुई है। संवत् १८८५ के फागुन सुदी ९ भृगुवार को काशी में रहते हुए इसकी रचना मन्नूलाल ने की। उन्होंने अपनी इस रचना की कई प्रतियाँ लिखी थीं जिनमें से दो प्रतियों के पद मुझे प्राप्त प्रति में प्राप्त हैं। रचना के डेढ़ वर्ष बाद की ही लिखित यह प्रति स्वामी सीतलदास जी के पठनार्थ स्वयं मन्नूलाल ने काशी जी में ही लिखी है। अतः लेखक के हाथ की लिखी होने के कारण इस प्रति का महत्व और

भी बढ़ जाता है। दूसरे अयोध्या काण्ड का प्रथम पत्र खो गया है। और तीसरे अरण्य काण्ड के समाप्त होने के बाद किष्कंधाकाण्ड प्रारम्भ होता है उस पत्र से सम्बन्धित अगला पत्र इस प्रति में नहीं है। दूसरी प्रति के अरण्यकांड के चार पत्र उसके साथ जुड़े हुए हैं। किष्किन्धाकांड की दूसरी प्रति वाले पत्र इस प्रति में रह गए हैं और दूसरी प्रति के अरण्यकांड का अन्तिम पत्र इस प्रति में रह गया है। इस तरह इन दो कांडों के दो प्रतियों के पत्र गडबड़ हो गये लगते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ सात कांडों में विभक्त है। उसमें से एक प्रति में प्रत्येक कांड की पत्र संख्या स्वतन्त्र रूप से दी गई है। दूसरी प्रति के अयोध्या और किष्किधाकांड के जो पत्र इसमें हैं उनकी पत्र संख्या संलग्न याने क्रमिक है। सातों कांडों के पद्यों एवं पत्रों की संख्या इस प्रकार है—

१. बालकाण्ड	पत्र	६	पद्य	५३
२. अयोध्याकाण्ड	,,	१३	,,	६३
३. अरण्यकांड	,,	८	,,	३८
४. किष्किन्धाकांड	,,	४	,,	२०
५. सुन्दरकाण्ड	,,	८	,,	३३
६. लंकाकाण्ड	,,	२६	,,	२३२
७. उत्तरकाण्ड	,,	११	,,	३१

इनमें से लंकाकाण्ड में पद्याङ्क दो-दो पंक्तियों के बाद लगा देने से पद्यों की संख्या अधिक हो गई है जब कि दूसरे काण्डों में ६ पंक्तियों के बाद पद्याङ्क लगाया गया है। ग्रन्थ के आदि अन्त के कुछ पद्य नीचे दे रहे हैं—

आदि—अथ रामायण देखता मंनूलाल कृत लिख्यते—
पहले गणेशजी को, हे दिल में मैंने धारे।
इक दंत चंदमा पै गोरा, ओ शिव के बारे।
मंगल के हैं यहै कर्त्ता, और विघ्न बहुत टारे।
कछु रामकथा कहि रे, लह लालसा हमारे॥
यह है चरित्र राम का, सुन कान धरके प्यारे।
लो राम नाम हरदम और कछु मत विचारे॥१॥
जो जो शरन ही आये हैं, रामजी के बारे।
पापी पतित अधम भी, सब रामजी ने तारे।
भक्तों के आशरण है, हमारे न कछु तुम्हारे।
उनको मिलाये आप में, जो नाम ले पुकारे॥यह०२।
जो रामकथा शिव ने, गौरी को सुनाई।
और बाल्मीकि लीला, रघुनाथ की गाई।
और तुलसीदास ने भी, भाषा में बनाई।
जिन रामभक्त कीनी, उन रामकथा पाई॥यह०३॥
यह अरज है कि मेरी, सुन लीजै राम जी।
कुछ भक्ति अपनी मुझको, भी दीजै राम जी।
लीला अगाध सिन्ध है, क्या कीजै राम जी।
तेरी कृपा से बुंद एक, पीजै राम जी॥यह०४॥

अन्त—
यह राम का चरित्र, पढ़े और सुनावै।
तो अश्वमेध जग्य का फल सहज ही जो पावै।
धन धान्य रहै पूरन, और रिद्ध सिद्ध आवै।
बंझा के पुत्र होवे, जो मन लगा के ध्यावै॥
फिर राम की कृपा से, बैकुंठ को गाजै।
सुनने से इस कथा के, सब दुख दरिद्र भाजै॥२६॥
संवत् हजार आठ सै, पिचासी मास फागुन।
थी शुक्ल पक्षी नौमी, भृगुवार जानियै मन।
यह राम की कृपा से, जो कथा हुई पूरन।
अब राम राम कहैयै, राम जपौ सब जन।
जो मंनूलाल पंड्या, है आगरे का वासी।
उसने चरित्र गाया, अब तो मुकाम काशी॥३०॥
काशी में विश्वनाथ की रहता हूं मैं शरन।
हर रोज गंगा न्हाकर, परसूह में चरन।
अन्नपूर्णा जो दैवी, पूजे है सब बरन।
दंडोत मैं भी करता हूं अष्टाङ्ग से धरन।
फिर काल भैंरों जी को, जा शीश नवाऊं।
जिनके प्रताप मंनू, तन ताप (सब) नसाऊं।३१।

इति श्री रामायण छन्द रेखता। कांड उत्तर, मन्नूलाल कृत समाप्त। शुभमस्तु कल्याण शस्तु लिखितम् पंड्या मन्नूलाल। सुपठनार्थम स्वामीजी शीतलदासजी संवत् १८७७ कार्तिक शुक्ल पक्ष १५ रविवार लिखी श्री काशी जी में श्री सीताराम जी सहाय।

हिन्दी भाषा मध्य प्रदेश की बोली है। उस समय के मध्यप्रदेश में आगरा और ग्वालियर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इधर दिल्ली, मेरठ, और मथुरा आदि व्रज प्रदेश भी हिन्दी का प्रधान क्षेत्र है। कई पुरानी रचनाओं में हिन्दी का नाम "ग्वालेरी भाषा" प्रयुक्त मिला है। खड़ी बोली का हिन्दवी व हिन्दी नाम मिलता है ही। इधर की खोजों से "ग्वालेरी भाषा" की उल्लेख योग्य कई रचनाएं प्रकाश में आई हैं। और ग्वालियर के श्री हरिहर निवास द्विवेदी का "मध्यदेशीय भाषा" नामक ग्रन्थ भी निकल चुका है। १५ वीं शताब्दी से १६ वीं तक के ग्वालेरी भाषा के अनेकों ग्रन्थ प्राप्त हैं। इसी तरह आगरा ने भी हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा की है। पचासों जैन, जैनेतर कवि आगरा व उसके आसपास हो गये हैं और उनकी बनाई हुई सैकड़ों रचनाएं प्राप्त हैं। भारतीय साहित्य में प्रकाशित "जगतराय रचित छन्द रत्नावली" लेख में मैंने इसकी कुछ चर्चा की है। आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी विद्यापीठ का तो यह सब से पहला काम होना चाहिए कि आगरा और उसके आसपास के हिन्दी साहित्य की खोज भली भाँति करके इस प्रदेश के कवियों और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में एक अध्ययन पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करे। इसी तरह एक एक प्रदेश के हिन्दी साहित्य की खोज हो। वास्तव में अब ऐसे शोध प्रबन्धों की ही अधिक आवश्यकता है।

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

गुणों का आप कौतुक करते हैं वे समान मात्रा में या अधिक परिमाण में उनके यहाँ होते हैं। काव्य की रचना, अनुरूप शब्द योजना, उपमा-उत्प्रेक्षाओं का प्रसाद, शब्दों का अनुरणन, श्लेषार्थ की विविधता, निर्दोष तथा सुन्दर भाषा शैली से किसी राष्ट्र के रीति-रिवाज और संस्कृति की परिपूर्णता परख सकते हैं। हिन्दुस्थान के काव्य और नाट्य पद्धति से ही ज्ञात होता है कि उनका अति प्राचीन साहित्य कैसा आदर्श पूर्ण था। उस आदर्श की परिपूर्णता कदाचित् अनेक ज्ञातकों का समुच्चयात्मक परिणाम भी होगी।"

हमारे वाङ्मय का तथा तत्त्वज्ञान का इतना योग्य, सत्यार्थवाची रस ग्रहण किसी अन्य व्यक्ति ने किया होगा ऐसा नहीं मालूम होता। अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि इस संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन के प्रारम्भिककाल में परावलम्बी लामार्तीन से बहुत गलतियाँ भी हुईं। उदाहरणार्थ हनुमान का वर्णन वे "लंगड़ा विदूषक देव" ऐसा करते हैं। किन्तु वह इनका दोष नहीं। उसका आधार तत्कालीन प्राच्यविद्या विशारद पंडित हैं! उन्होंने हनुमान जी को देवों के दरबार का फॉल्स्टाफ बना दिया है। वे संस्कृत अनुवाद करने वाले लिखते हैं— 'यह (हनुमान) है लेयाँ, राजियाँ, सीलेन, मोमु, संको, फॉल्स्टाफ—देवों के दरबार का विदूषक !"

तात्पर्य, लामार्तीन जैसे रसिक और ललित लेखक ही हमारे वाङ्मय की समालोचना करने के लिये योग्य हैं। इसके लिए आवश्यक होने वाले गुण उनमें थे किन्तु वे संस्कृत नहीं जानते थे इस लिये मन विषण्ण होता है।

गालिब के पत्र

श्री श्रीराम शर्मा

गालिब ने स्वतंत्र रूप से खड़ीबोली के गद्य में कोई पुस्तक नहीं लिखी फिर भी उनका नाम इस बोली के गद्य-साहित्य में अमर रहेगा। इसका श्रेय गालिब के उन पत्रों को है, जो उन्होंने समय-समय पर अपने मित्रों, परिचितों और सम्बन्धियों तथा शिष्यों को लिखे थे। ये पत्र फारसी लिपि में छपे हैं, किन्तु उन पर हिन्दी भाषा का भी उतना ही अधिकार है जितना कि उर्दू भाषा का। गालिब के समूचे पत्र उर्दू और हिन्दी की मिली-जुली सम्पत्ति हैं। यदि इन पत्रों को नागरी लिपि में छापा जाये और किसी को यह न बताया जाये कि इनका लेखक 'गालिब' है तो पाठक सहज ही इस बात पर विश्वास नहीं करेगा कि इन पत्रों का लेखक उर्दू और फारसी के श्रेष्ठतम कवियों में गिना जाता था। एक प्रकार से गालिब के समय में भी हिन्दी-उर्दू गद्य-क्षेत्र में सर्वथा प्रथक् नहीं हुई थीं।

गालिब के ये पत्र लल्लूलाल और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बीच के लगभग सौ वर्षों में हिन्दी-गद्य के विकास-क्रम को समझने में अत्यधिक सहायक हो सकते हैं। इन पत्रों में न तो प्रान्तीय प्रभाव है और न व्याकरण की अस्थिरता। भाषा के अतिरिक्त गालिब के इन पत्रों का साहित्यिक महत्व भी कम नहीं है। किसी भी भाषा के गद्य-साहित्य में पत्र—चिट्ठी-पत्री—का साहित्य कम महत्वपूर्ण नहीं होता। कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध की तरह पत्र-साहित्य भी स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। आधुनिक उर्दू को गालिब, सैयद अहमदखाँ और शिबली जैसे यशस्वी कवि, गम्भीर विचारक और अध्ययन शील लेखक के एक हजार से अधिक पत्र प्राप्त हुए। जहाँ तक गालिब और सैयद अहमदखाँ के पत्रों का सम्बन्ध है, उन्हें लिप्यन्तरमात्र से हिन्दी-साहित्य का अभिन्न अङ्ग बनाया जा सकता है।

साहित्यिक विशेषताओं और भावों की सूक्ष्मता और व्यंजकता के कारण फारसी और उर्दू साहित्य में गालिब का चाहे जो स्थान निर्धारित किया जाये, किन्तु इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि गालिब उर्दू में और जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है फारसी में भी एक युगांतरकारी कवि थे। उनकी अपनी शैली थी। यह शैली अपने आप में इतनी मौलिक थी कि उसका अनुकरण प्रयत्न करने पर भी परवर्ती कवि नहीं कर सके। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है वे अपने समय से बहुत आगे थे। यद्यपि उनके काव्य की भाषा जन-भाषा से बहुत दूर है किन्तु जहाँ तक अलङ्कारों का प्रश्न है, दीर्घ समासावलियों से कविता की पंक्तियों को सुसज्जित करने का प्रश्न है, जहाँ तक अन्त्यानुप्रास की विविधता से ही अपनी कविता को सफल मानने का प्रश्न है, गालिब अपने समकालीन और पूर्ववर्ती कवियों से सर्वथा भिन्न हैं।

हिन्दी और उर्दू के गद्य का उस समय प्रारम्भ काल था। गालिब ने हिन्दी या उर्दू अथवा खड़ीबोली में जो पत्र लिखे हैं, उनका समय सन् १८५० के पश्चात् प्रारम्भ होता है। इससे पहले वे फारसी में पत्र लिखते थे। १८५० के पश्चात् फारसी में पत्र लिखना उन्होंने सर्वथा बन्द कर दिया था। यह क्रम मृत्यु पर्यन्त अर्थात् सन् १८६९ तक चलता रहा। इन १९ वर्षों में इन्होंने तीन सौ से अधिक पत्र लिखे। हो सकता है अब तक कुछ पत्र प्रकाश में न आये हों। इन पत्रों की भाषा सरल से सरल होती गई। आज भी कुछ लोग पत्र लिखते समय अपने पाण्डित्य के प्रकाश के लिए संस्कृत अथवा अरबी-फारसी के शब्दों का आश्रय लेते हैं, किन्तु गालिब इस प्रवृति से बहुत कुछ बचे रहे। कविता के क्षेत्र में भाषा को लेकर उनका जो क्रान्तिकारी स्वरूप

पूरी तरह प्रकट नहीं हुआ था वह इन पत्रों में पूरी तरह व्यक्त होता है। जिन पत्रों में उन्होंने अपने शिष्यों को कविता के सम्बन्ध में परामर्श दिया है, उन्हें छोड़कर सभी पत्रों में दैनिक व्यवहार की भाषा का प्रयोग करके उन्होंने कम साहस नहीं किया था। इन पत्रों के कारण उन्हें उन दिनों आसानी से अशिष्ट और गंवार माना जा सकता था, किन्तु गालिब ने अपने पत्रों को कभी भी विद्वता प्रदर्शित करने का माध्यम नहीं बनाया।

उनका यह क्रान्तिकारी रूप केवल भाषा के क्षेत्र तक सीमित नहीं था। उन्होंने पत्र लेखन की कला को पूरी तरह आधुनिक रूप देने का प्रयत्न किया। गालिब का अधिकांश जीवन बहुत व्यस्त रहा। १८५७ तक वे प्रतिदिन दिल्ली के लाल किले में अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह 'जफर' से मिलने जाते थे और उनकी कविताओं का संशोधन करते थे। किले में कुछ राजकुमार भी उनका समय लेते थे। ऐसे शिष्यों की कमी कभी नहीं रही जो उनके पास प्रति सप्ताह अपनी कविताएँ डाक से संशोधन के लिए न भेजते हों, फिर प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक मिलने-जुलने वालों का ताँता लगा रहता था। कविता में भी उनकी देन परिमाण की दृष्टि से कम नहीं है, इतना होते हुए भी वे पत्र लेखन के लिए समय निकाल लेते थे। उनके पत्रों की प्रभावशालिता का सबसे बड़ा रहस्य यह हो सकता है कि वे स्वयं पत्रों के लिए लालायित रहते थे। पत्र लिखना उनके लिए केवल समय काटने का साधन नहीं था, वे अपने पत्रों में अपना हृदय खोलकर रख देते थे। एक महाकवि अपने युग के सम्बन्ध में कैसे सोचता है। उसे भी किसी की सहानुभूति कितनी प्यारी लगती है, समय और परिस्थिति के घात-प्रतिघातों को सहन करके भी कवि किस तरह कला की आराधना करता है, इन सब बातों का परिचय इन पत्रों से चलता है। बहुत कम ऐसे महाकवि होंगे, जिनके व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए इतनी प्रामाणिक सामग्री हम लोगों के लिए उपलब्ध हो। कवि इन पत्रों में मारे उल्लास के किलकारियाँ भरता है और व्यथा के मारे उसकी आँखों में जो पानी छलछला आता है, उसकी आर्द्रता से भी ये पत्र नहीं बच सके। गालिब के लिए इन पत्रों का महत्व इसलिए था कि—"मैंने वो अन्दाजे तहरीर (लेखन शैली) ईजाद (आविष्कृत) किया है के मुरासिले (पत्र) को मुकालिमा (संवाद) बना दिया है। हजार कोस से बजबानेकलम (लेखनी के द्वारा) बातें किया करो। हिज्र (वियोग) में विसाल (मिलन) के मजे लिया करो।"

गालिब का यह कथन सर्वथा सत्य है। मिर्जा गालिब अपने एक स्नेही को रामपुर से पत्र लिख रहे हैं, उसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है, "अहा हा! हा! मेरा प्यारा मीर मेहदी आया। आओ भाई, मिजाज तो अच्छा है! बैठो ये रामपुर है।" एक बार उसी स्नेही को पत्र लिखते-लिखते भोजन का समय हो गया। रसोई से बार-बार भोजन करने का बुलावा आने लगा। पत्र में मन इतना रम गया था कि गालिब भूल गये वे पत्र लिख रहे हैं। जिसे पत्र लिख रहे थे गालिब ने सोचा वह सामने ही बैठा है। उनकी लेखनी ने लिखा—"लो भाई अब तुम चाहे बैठे रहो, चाहे जाओ अपने घर। मैं तो रोटी खाने जाता हूँ। अन्दर बाहर सब रोजदार हैं, यहाँ तक के बड़ा लड़का बाकरअली खाँ भी। सिर्फ एक मैं और एक मेरा प्यारा बेटा हुसेनअलीखां जिसका ये हम रोजाखार (रमजान के दिनों में भी भोजन करने वाले) हैं। वही हुसेन अलीखां जिसका रोजमर्रा हैं—"खिलौने मंगा दो, मैं भी बाजार जाऊंगा।" एक पत्र का प्रारम्भ इस तरह होता है—"मीरन साहब कहाँ हैं? कोई जाये और बुला लाये। हजर आये। सलामलेकुलम। मिजाजे मुबारक? कहिये....।" एक पत्र का सम्बोधन है—"आओ, साहब! मेरे पास बैठ जाओ।" इसके बाद पत्र प्रारम्भ होता है। आज भी उर्दू और हिन्दी में ऐसे पत्र लिखने वालों की कमी नहीं है जो पोस्टकार्ड का तीन-चौथाई हिस्सा सरनामे में खर्च कर देते हैं। हिन्दी में इस तरह की पत्र लेखन कला का कुछ बंधाबंधाया ढंग इस प्रकार होता है—सिद्ध श्री शुभस्थान जोग लिखी....से अमुक अमुक का अमुक अमुक

श्री श्री १०८, सकल गुण निधान, सर्वोपरि विराजमान, धर्मधुरीण, जाति भूषण···· ।'' यह सरनामे का संक्षिप्त रूप है । सरनामे के पश्चात फिर रूढ़िबद्ध ढंग से "यहाँ परमात्मा की कृपा से सब प्रसन्न हैं, आपकी प्रसन्नता····" आदि का उल्लेख किया जाता है । जो तीन चौथाई स्थान रहता है उसमें हवा-पानी, बाजार व भाव आदि का उल्लेख करना अनिवार्य है । जब यह बात हिन्दी की है तब उर्दू के पत्रों की कल्पना की जा सकती है । जहाँ तक शाब्दिक शिष्टाचार का प्रश्न है, उर्दू की शब्दावली बहुत समृद्ध है । पुराने ढंग की उपर्युक्त शैली के पत्र गालिब के समय भी लिखे जाते थे और आज भी लिखे जाते हैं। अन्तर इतना ही हुआ कि आज से २५–३० वर्ष पहले तक इस तरह के पत्र लिखने की प्रणाली सभ्य समाज में भी थी और आज सभ्य समाज अथवा पठित समाज इस शैली से बहुत कुछ दूर हट गया है । गालिब ने आज से सौ वर्ष पहले इस प्रणाली से पूरी तरह हाथ खींच लिया था । उन्होंने अपने समय के कुछ बड़े विद्वानों को भी पत्र लिखे हैं, किन्तु उन पत्रों के सम्बोधन में भी एक-दो शब्दों से अधिक आदरवाचक शब्द नहीं हैं। रामपुर के नवाब से उनका पत्र व्यवहार था, किन्तु उनके पत्रों में कहीं भी वैसा संबोधन नहीं है जैसा कि इन नरेशों को सन् १९४८ तक सम्बोधित किया जाता था । गालिब ने एक दो शब्द, और वे भी बड़े संयम के साथ, प्रयुक्त किये हैं । कुछ लोग गालिब का ऐसा पत्र पाकर गालिब को अशिष्ट समझने की गल्ती कर सकते थे । एक जगह गालिब ने पुरानी शैली के पत्रों का उल्लेख करते हुए लिखा है—'तुम मेरे हम उम्र (समवयस्क) नहीं जो सलाम लिखूँ । मैं फकीर नहीं जो दुआ लिखूं । तुम्हारा दिमाग चल गया है, लिफाफे को कुरेदा करो । मसविदे के कागज को बराबर देखा करो, पाओगे क्या ? याने तुमको वो मुहम्मदशाही रविशें पसन्द हैं—'यहाँ खैरियत है, वहाँ आफियत (कुशलता) मतलूब (अभीष्ट) हैं । खत तुम्हारा बहुत दिन के बाद पहुँचा । जी खुश हुआ । हमेशा इसी तरह खत भेजते रहो ।' क्यों सच कहियो, अगले के खुतूत की तहरीर की यही तर्ज (लेखन की यही शैली) थी या और ? हाय क्या अच्छा शेवा (ढंग) है । जब तक यों न लिखो वो खत ही नहीं है ।"

नवाब अनवरद्दौला सादुद्दीनखाँ को एक पत्र में पुरानी शैली के पत्र और अपने पत्र की तुलना करते हुए गालिब लिखते हैं, "क्यों कर कहूँ के मैं दीवाना नहीं हूं । इतने होश बाकी हैं के अपने को दीवाना समझता हूँ । वाह क्या होशमन्दी है, किब्लए अरबाबे होश (आदरणीय विवेकशील व्यक्ति) को खत लिखता हूँ, न अलकाब न आदाब (न उपाधियाँ और न शिष्टाचार,) न आदाब, न बन्दगी, न तसलीम । सुन गालिब, हम तुझसे कहते हैं, बहुत मुसाहिब न बन । हो अयाज, (अयाज महमूद गजनी का एक गुलाम था) हद्दे खुद बशनास (अपनी स्थिति का ज्ञान स्वयं प्राप्त कर) । माना के तूने कई बरस के बाद रात को ९ बैंत की गजल लिखी है और आप अपने कलाम पर वज्द कर रहा है (अपनी रचना की स्तुति स्वयं करता है) मगर ये तहरीर की क्या रविश है । पहले अलकाब (उपाधियाँ) लिख, फिर बन्दगी अर्ज कर, फिर हाथ जोड़ कर मिजाजे मुबारक की खबर पूछ, फिर इनायत नामे (कृपा पत्र) के आने का शुकर अदा कर और ये कह के जो मैं तसब्बुक (कल्पना) कर रहा था, वो हुआ; याने जिस दिन सुवह को मैंने खत भेजा उसी दिन आखिरे रोज हुजूर का फरमान पहुँचा ।"

गालिब को पत्र लिखने में कितना आनन्द आता था इसका पता इसी से चल सकता है कि चाहे घर में खाने के लिए पैसे न हों किन्तु कार्ड और लिफाफे के लिए वे कहीं न नहीं से जुगत लगा लेते थे । बुढ़ापे में कलम चलाना कठिन हो गया था । आँखों से कम दीखता था, बीमारी और वृद्धावस्था के कारण बैठे रहने में कठिनाई होती थी, मगर किसी मित्र को पत्र लिखना होता तो वे अपने शरीर में अपूर्वशक्ति अनुभव करने लगते थे। उत्तर देने में कभी विलम्ब नहीं होता था । १८५७ में जब दिल्ली की गलियों में गोली चल रही थी तपता का

(शेष पृष्ठ २३ पर)

सन्त मत में साधना का स्वरूप

श्री प्रतापसिंह चौहान

सृष्टि के प्रारम्भ में जब से जीव ब्रह्म से वियुक्त हुआ है वह अपने को अभाव ग्रस्त अनुभव करता आ रहा है। तभी से अपने सांग रूप की प्राप्ति के लिये उसकी जिज्ञासा अनन्त विषयों की सर्जना करती आ रही है। यदि हम इसे और भी स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि संसार का संसारत्व उसकी अतृप्त जिज्ञासा पर ही अवस्थित है। जिज्ञासा और असन्तोष ही सान्त जगत को अनादि और अनन्त बनाये हुए हैं। किन्तु सतत जिज्ञासा एवं असन्तोष जीव को अभीष्ट नहीं है। वह अपनी जिज्ञासा को पूर्ण तथा शान्त करना चाहता है और अपनी पूर्ण शान्ति की प्राप्ति की इस सतत यात्रा में उसे दो मार्ग दृष्टिगोचर हुए हैं। पारिभाषिक शब्दों में उन दोनों मार्गों की संज्ञा भौतिक और आध्यात्मिक है। इन दोनों में प्रथम वहिमुखी है तथा द्वितीय अन्तर्मुखी। भारतीय दार्शनिकों ने उन्हें अपरा और परा विद्या की संज्ञा दी है। आधुनिक विज्ञान के अन्वेषणों तथा आविष्कारों द्वारा आत्म-तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास वहिर्मुखी साधना का स्थूल स्वरूप है। इन्द्रियों को संयमित कर अपने अभ्यन्तर में उस सच्चिदानन्द की टोह अन्तर्मुखी साधना की संक्षिप्त परिभाषा है। प्रस्तुत निबन्ध में हम इसी अन्तर्मुखी साधना के विविध रूपों की शृङ्खला में सन्त मत में प्रतिष्ठित साधना के महत्व पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

वहिर्मुखी साधना की सर्वोत्कृष्ट प्राप्ति की परि-कल्पना प्राचीत भारत में समग्र ऐश्वर्य सम्पन्न सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। किन्तु सम्राटोचित भोग-विलासों के अन्तर्गत डूबे हुये राजों-महाराजों का मन फिर भी अभाव ग्रस्त बना रहा। उनके मन की अतृप्ति की तड़प विषयों के भोग में और भी प्रचण्ड होती गई। इन्द्र इन्हीं ऐहिक सुखों का मूर्तिमान प्रतीक है। उसे परमानन्द—जिसे वह संसार के अनेक विषयों में खोजता रहा है—के लिये आत्म-विद्या की दीक्षा लेनी पड़ी, अपनी वहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करना पड़ा। और यही भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय है, अपरा पर परा का शंखनाद है।

परा की प्राप्ति अथवा अन्तर्मुखी साधना प्रक्रियाओं की भी प्रतिष्ठा दो वर्गों में दृष्टिगोचर होती है। उन दोनों में से प्रथम का प्रकर्ष बहिर्मुखी है तथा द्वितीय का आभ्यान्तरिक। इन द्विविध प्रक्रियाओं के मूल में एक महत्वपूर्ण तथा स्वाभाविक कारण है और वह यह कि मानव की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक आदि वहिर्मुखी हैं। तात्पर्य यह है कि वे वाह्य विषयों का आस्वाद अनायास ही करती रहती हैं। अतएव, मानव ने सर्वप्रथम इसी वाह्य भूमि के अनुकूल समग्र तुष्टि की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक साधनों की सर्जना की। भक्ति का विकास द्वैत भावना की इसी पुष्ट भूमि पर हुआ। नवधा भक्ति की स्थापना इसी के फल स्वरूप हुई प्रतीत होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्तिमूलक उपासना के संस्थापन द्वारा व्यक्ति ने चरम सुख अथवा परम चैतन्य की कल्पना ब्रह्म में की होगी और कालान्तर में राम, कृष्ण तथा अन्य देवी देवताओं में उसकी इस प्रगाढ़ श्रद्धा तथा अगाध आस्था का विकास हुआ होगा। किन्तु भक्ति के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्त द्वैत-मूलक है। साधक और उसका इष्ट कभी भी तादात्म्य की स्थिति में नहीं हो सकता, वरन् भक्त तो सदैव अपना अस्तित्व भगवान से पृथक रख कर उस अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनन्द का आस्वाद करना चाहता है। किन्तु द्वैत में पूर्ण सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि द्वैत में ही दुख-सुख, मान-अपमान आदि युग्मों

की स्थिति रहती है जिनके कारण जीवात्मा संसार की सांसारिकता से मुक्त नहीं हो पाता। दूसरे शब्दों में संसार के संसरण का कारण यह द्वैत भावना ही है। इस द्वैत को सर्वतोभावेन मिटाने के लिये कुछ साधना प्रक्रियाओं का प्रवर्तन हुआ। यह साधना पद्धतियाँ अत्यन्त एकान्तिक होने के कारण विशुद्ध अन्तर्मुखी भूमि पर प्रतिष्ठित हुईं। भारतीय दर्शन की परिभाषा के अन्तर्गत इन्हें योग की संज्ञा दी गई। स्थूल रूप से इन प्रक्रियाओं को दो भागों में विभाजित किया गया १—हठयोग तथा २—राजयोग।

हठयोग तथा राजयोग दोनों की साधना में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के द्वारा मन को संकल्प विकल्प विहीन करके ही समाधि सुख प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु रूढ़ हठयोग में आसन प्राणायाम को अधिक प्रकर्ष दिया गया है। निस्संदेह योग की यह प्रक्रिया राजयोग की अन्य साधना प्रक्रियाओं की सरणि में प्रथम चरण ही समझनी चाहिये। अर्थात् रूढ़ हठयोग अन्तर्मुखी साधना के मार्ग में प्रथम प्रयास के रूप में ही है। अभी उससे द्वैत नहीं छूटा है। शरीर में अनुरक्ति के कारण ही प्राणायाम और आसन उस प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं। वैसे हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार स्वामी रामस्वामी ने 'हठ' की व्याख्या इस प्रकार की है। 'ह' का अर्थ चन्द्र है तथा 'ठ' का अर्थ है सूर्य। 'ह' से 'पिंगला' नाड़ी तथा 'ठ' से इड़ा नाड़ी का प्रतीकात्मक अर्थ भी लिया जाता है और इन्हीं दोनों नाड़ियों का त्रिकुटी पर सुषुम्ना से सङ्गम समग्र योगों की चरम उपलब्धि है। सिद्धों और सन्तों की यही त्रिवेणी है। योग की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं में इड़ा तथा पिंगला का महत्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त योग की रूढ़ हठयोगिक प्रक्रिया के अतिरिक्त जिसमें अन्तर्मुखी होने पर भी देह भावना का भान रहता है कुछ अन्य सूक्ष्म साधनों का भी उल्लेख योग ग्रंथों में प्राप्त होता है। इन अन्य साधना-पद्धतियों का आविष्कार इसी देह भावना अथवा स्थूल से पूर्ण व्यामोह निरसन के लिए ही मनीषी ऋषियों ने किया होगा, इसे असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—लययोग, मन्त्रयोग तथा राजयोग। नीचे संक्षेप में इन पर प्रकाश डाला जा रहा है :—

लययोग—हठयोग प्रदीपिका में लय योग की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है 'लयोविषय विस्मृतिः' अर्थात् विषयों का पूर्ण विस्मरण लय है। इसकी साधना के विषय में उसी में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है 'भुवो मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते'। अर्थात् भुवों के मध्य त्रिकुटी में मन को एकाग्र करना चाहिए। अन्यत्र इस साधन प्रक्रिया को त्राटक कहा गया है।

मन्त्रयोग—मन्त्र योग तथा भक्तियोग प्रायः पर्याय हैं। तुलसी अथवा रुद्राक्ष की माला के माध्यम से गायत्री आदि मन्त्रों का विधिवत् जप मन्त्र योग के अन्तर्गत आता है और यही जप भक्ति योग का भी प्राण है। भक्त अथवा मन्त्रयोगी माला के द्वारा अपने इष्ट के नाम का जप करता है। मनोलय का यह भी एक साधन है—कदाचित प्रणाली के रूप में सर्वाधिक सरल।

राजयोग—राजयोग का स्वरूप निर्धारित करने में प्रायः हिन्दी के समीक्षकों को अत्यन्त भ्रम रहा है। इस सम्बन्ध में मैंने जितने शोध ग्रन्थ पढ़े हैं उनमें प्रतिपादित राजयोग का स्वरूप असन्दिग्ध रूप से बड़ा भ्रामक है। वास्तव में रूढ़ हठयोग के अतिरिक्त मन की शस्ति की सम्पूर्ण अन्तर्मुखी प्रक्रियायें राजयोग के अन्तर्गत आती हैं। जितने भी प्रकार के अजपाजप हैं सभी राजयोगिक ही हैं। चाहे वह लय योग हो और चाहे ध्यान योग हो और चाहे चित्त वृत्ति निरोध की अन्य कोई प्रक्रिया। इसके अतिरिक्त वेदान्तियों द्वारा निर्धारित चिन्तना द्वारा अहं निरसन की साधना भी राजयोग का विषय है। महर्षि रमण का 'Know thyself' (अपने को खोजो) वाला सिद्धान्त उपनिषदों में प्रतिपादित आत्म ज्ञान के सिद्धान्त का ही अधुनातन रूप है। इन सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को राजयोग

के अन्तर्गत ही लेना चाहिये। अस्तु, वे सारी साधना पद्धतियाँ राजयोग के अन्तर्गत आती हैं, जिनमें चित्त वृत्ति निरोध का विधान किया गया है। निश्चय ही इनमें वाह्य प्रतीकों का आश्रय नहीं लिया जाता।

प्रश्न किया जा सकता है कि राजयोग के अन्तर्गत अनेक प्रकार की साधना पद्धतियों की प्रतिष्ठा का क्या कारण है ? क्या चित्त वृत्ति निरोध के लिए एक ही साधना मार्ग पर्याप्त न था ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मानव मन का सदा से यह स्वभाव रहा है कि वह अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए कम से कम समय में सरल से सरल निर्विघ्न मार्ग का अभिलाषी होता है। राजयोग की अनेक साधनाओं के प्रवर्तन में भी उसकी यही मनोवृत्ति रही है। सन्तों ने अध्यात्म-यात्रा के समग्र साधना-मार्गों को सरलता तथा जटिलता की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित किया है। उन वर्गों के नाम क्रमशः पिपीलिका, मीन और विहंगम मार्ग हैं। इन मार्गों के विषय में अन्यत्र विस्तार से प्रकाश डाला जायगा। इस स्थल पर केवल इतना ही अभीष्ट है कि सन्तों द्वारा स्वीकृत साधना-मार्ग विहंगम है।

राजयोग की इस विहंगम मार्ग की साधना का दूसरा पारिभाषिक नाम 'सुरति शब्द योग' है। महात्मा कबीर दास से लेकर आज तक इस सन्त-परम्परा की साधना का महनीय इतिहास है। सन्तों के समीक्षकों ने इस परम्परा का उद्गम वेदों, उपनिषदों, बौद्धों के तन्त्र ग्रन्थों तथा सरहपा आदि सिद्धों में भी खोज निकाला है। इसमें सन्देह नहीं कि इस परम्परा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। सन्तों द्वारा मान्य तथा प्रतिपादित योग की इस प्रणाली के विषय में कुछ लिखने से पूर्व हम यह देखना चाहते हैं कि अनेक अन्तर्मुखी साधना-पद्धतियों के होते हुए भी सन्तों ने 'सुरति-शब्द योग पर ही क्यों सर्वाधिक प्रकर्ष दिया। आखिर, इस साधना पद्धति में ही क्या ऐसी विशेषता थी, जिसकी प्राप्ति के साथ वे अन्य साधना-पद्धतियों से उदासीन हो गए। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जीव को अपने स्वरूप की प्राप्ति पूर्ण 'अहं' (Ego) के निरसन में ही हो सकती है। उन्होंने अनुभव किया था कि अन्य साधनाओं के माध्यम से 'अहं' का सम्पूर्ण निरसन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। कबीर ने तो एक दोहे में इस ओर इङ्गित करते हुए 'सुरति योग' की स्थापना भी की है। वह दोहा इस प्रकार है :—

'जपा मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नहिं खाय।

जप अथवा जपा से उनका तात्पर्य भक्ति-परक वाह्य-साधनाओं से है तथा अजपा से वे उन अन्तर्मुखी साधना-प्रक्रियाओं की ओर संकेत करते हैं, जो राजयोगान्तर्गत हैं। वास्तव में 'सुरति-शब्द-योग' की सर्वाधिक महत्ता संस्थापन में महात्मा कबीर दास जी का यह कोरा प्रलाप नहीं है। 'सन्त-मत में प्रवेश करने की सबसे पहली शर्त ही यह है कि आप 'दीन' बनें, 'निरभिमान' बनें। क्योंकि बिना निरभिमान हुए द्वैत-भावना से मुक्ति नहीं मिल सकती और बिना द्वैत के छूटे अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। कबीर ने एक दोहे में इस तथ्य को बड़े सुन्दर ढङ्ग से रखा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहिं॥

पर दैन्य का ग्रहण इतना सरल नहीं है। 'अहं' के ऊपर विजय प्राप्त करना हंसी खेल नहीं है। कबीर ने 'अहं' के पूर्ण उपसंहार को अत्यन्त कठिन माना है। वे अपने मार्ग में प्रवेश पाने के जिज्ञासु साधक के लिए शर्त लगाते हुए कहते हैं :—

शीश उतारै भुइं धरै, तापर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥

वास्तव में इस 'अहंकार' से मुक्ति पाना अपने हाथ से शिर काट कर उस पर पैर रख कर चलना ही है। 'अहंकार' की व्याप्ति अत्यन्त सूक्ष्म है। वह मानव-मन को अनेक रूपों में अपना दास बनाए हुए है। कोई भी इससे मुक्त नहीं हो सका। काम, क्रोध, मद तथा लोभ से पूर्ण निवृत्ति पाने पर ही तथा उनके द्रष्टा के रूप में ही इस अहं की कारा से छुटकारा मिल सकता है।

ऐसा होने पर ही साधक को आत्म-साक्षात्कार हो सकता है।

'सुरति शब्द योग' में इस अहङ्कार से मुक्ति पाने का बहुत अच्छा विधान है। योग की इस प्रक्रिया के अभ्यासी होने पर शुभ और अशुभ कर्म नहीं बनते। मन स्वतः द्वैत से ऊपर उठकर अपने स्वरूप में स्थित होने लगता है। और अन्ततोगत्वा वह सहज समाधि में लीन हो जाता है। इसके पूर्व कि मैं इस बात पर प्रकाश डालूँ कि मन पर यह चमत्कारिक प्रभाव कैसे पड़ता है, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि 'सुरति-शब्द-योग' की साधना पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाय।

'सुरति-शब्द' योग में दो शब्द हैं—(१) सुरति तथा (२) शब्द। इन दोनों शब्दों के विषय में सन्तों के समीक्षकों के विभिन्न मत रहे हैं। सर्व प्रथम मैं इन मतों के विषय में एक तालिका प्रस्तुत करूंगा, जो सन्तों के समीक्षकों ने 'सुरति' के सम्बन्ध में निर्धारित की है। डा० बड़थ्वाल ने अपने 'योग-प्रवाह' के पृष्ठ २७ में सुरति को 'स्मृति' के अर्थ में ग्रहण किया है। डा० सम्पूर्णानन्द इसकी व्युत्पत्ति स्रोत से मानते हैं (विद्यापीठ चतुर्थ पत्रिका वाल्यूम २ पृष्ठ १३५), गुलाल साहब ने सुरति का अर्थ मन बतलाया है। (एम. बी. पृष्ठ १६६)। राधास्वामी मत वाले इस शब्द का अर्थ जीवात्मा मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सुरति का अर्थ अन्तर्मुखी वृत्ति से लिया है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने सुरति का अर्थ 'स्वरत' हो जाना लिया है। तात्पर्य यह है कि इस शब्द की मान्यता के विषय में अर्थ वैचित्र्य की एक अच्छी खासी प्रदर्शनी देखने को मिलती है। और इस अर्थ विपर्यय का मूल कारण उपर्युक्त विद्वानों की इस साधना के प्रति बौद्धिक अटकलें रही हैं। यदि वे सुरति के साथ इस शब्द को जोड़कर अर्थ निकालने की चेष्टा करते तो यह विपर्यय न उपस्थित होता। यदि ये समीक्षक साधक होते तो उनकी एतद् विषयक उपपत्तियों में भेद न होता।

अस्तु, सुरति के ऊपर अपना अभिमत प्रकट करने के पूर्व यह आवश्यक है कि मन की प्रकृत गति को समझ लिया जाय। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि प्रकृत्या मन की गति परिधोन्मुखी है। और इसी हेतु वह विषयों में संलग्न रहता है। और यही संसार का संसारत्व है। यह मन अपना चिर अन्वेषी है। किन्तु, ऐन्द्रिक विषयों में लिप्त होने के कारण उस शाश्वत आनन्द को नहीं प्राप्त कर पाता जो उसका चिर अभीष्ट है। अद्वैतवाद विश्व को केवल एक तत्व में निहित होना मानता है। वह उस तत्व की संज्ञा ब्रह्म या परब्रह्म देता है। स्रष्टा होने के कारण उसका द्वितीय नाम है मूल प्रकृति। अतः मूल प्रकृति का जब अधोमुखी विवर्तन होता है (अर्थात् जब उसका अवरोहण सूक्ष्म से स्थूल की ओर होता है) तो उसका प्रथम स्थूल रूप आकाश होता है। आकाश की तरङ्गों से वायु के संघर्षण से तेज अथवा अग्नि प्रकट होते हैं, अग्नि के संघर्षण से जल और तत्पश्चात् पृथ्वी का निर्माण होता है। और इसी पृथ्वी पर सम्पूर्ण जागतिक व्यापार चलते हैं। ब्रह्म का यह अवतरण जहाँ एक ओर स्थूल भूमि का पर्याय बन गया है, वहीं ब्रह्म से वियुक्त होकर आत्मा मन की संज्ञा प्राप्त करती है। गीता में आत्मा के इस विवर्तन को इस प्रकार कहा गया है :—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मन सस्तु पर बुद्धिर्योबुद्धेः पर तस्तु सः।

अर्थात् इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों—से सूक्ष्म मन है। मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से सूक्ष्म आत्मा है। और यही आत्मा परब्रह्म है। यह विवर्तन आरोहण पद्धति के अनुसार दिखाया गया है। आत्मा का अवरोहण गत विवर्तन ठीक इसका विलोम है। अर्थात् ऐन्द्रिक विषयों को मन में लीन करना पड़ेगा, मन को बुद्धि में और बुद्धि को आत्मा में, तभी जीव को आत्म साक्षात्कार प्राप्त हो सकेगा। अस्तु इन्द्रियों का सम्राट मन ही हमारे बन्ध-मोक्ष का कारण है। इसकी प्रकृत गति को मोड़ कर ऊर्ध्वमुखी करने से ही हम अपने वास्तविक गृह को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके लिए कबीर ने बड़ी आकुलता के साथ एक पद में सभी से अनुनय की है, यथा, "हमको बहु घर कोउ न बतावा,

कि जेहि घर ते जिउ आवा।" कबीर की उलट धार इसी आरोहण सिद्धान्त पर अवलंबित है। मन की इसी पतनोन्मुखी वृत्ति की धारा को उलट देने से ही हम अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच सकते हैं। मन ही ने हमें आवागमन के चक्र में फंसा रक्खा है। इसकी शक्ति के विना हमारा कल्याण नहीं। अस्तु, मन की इसी सतत निम्नगा वृत्ति को ऊर्ध्वमुखी करके शब्द के साथ नियोजित कर देना 'सुरति-शब्द-योग' है। मन की ऊर्ध्वमुखी चिन्तना को सन्तों ने 'सुरति' की संज्ञा दी है। 'सुरति' को शब्द के साथ संलग्न करने की विधि सद्गुरु के उपदेश के विना संभव नहीं। अतएव, सन्तों ने एक स्वर से सद्गुरु की महत्ता स्वीकार की है। सद्गुरु के विषय में संत शिरोमणि तुलसी साहब की एक विनय भरी कुण्डलिया उद्धृत की जा रही है :—

बार बार बिनती करूँ, सतगुर चरन निवास।
सतगुर चरन निवास बास मोहि दीन्हें लखाई।
नित-नित करूँ विलास पास घर अपने आई॥
मैं अति पति, मति हीन दीन देखा मोहिं साँईं।
लीन्हा अंग लगाय कहूँ अस कौन बड़ाई॥
तुलसी मैं अति हीन हूँ दीन्हा अगम अवास।
बार-बार बिनती करूँ, सतगुर चरन-निवास॥

(तुलसी साहब शब्दावली भाग १ पृष्ठ ४३, पद २४)

दो शब्द सन्तों की शब्द-मान्यता के विषय में कह कर इस निवन्ध को समाप्त किया जा रहा है। प्रश्न उठता है कि वह कौन सा शब्द है जिसका गुण गान करने में सन्तों की जिह्वा नहीं थकती। निश्चय ही वह कोई साधारण 'शब्द' नहीं हो सकता। डा. त्रिगुणायत ने अपने शोधग्रन्थ 'कबीर की विचार-धारा' के पृष्ठ ३१४ पर 'सुरति शब्द योग पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं, "शब्द ब्रह्म रूप है। सुरति को हम आत्म रूप मानेंगे। आत्मा-साधन के सहारे शब्द ब्रह्म में लीन करने की प्रक्रिया को ही 'शब्द-सुरति-योग' कहा गया है।" किन्तु, इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता। क्योंकि यदि आत्म-साक्षात्कार हो जाय तो समझो ब्रह्म-साक्षात्कार हो गया। समझ में नहीं आता कि डा. त्रिगुणायत को आत्मा से क्या अभीष्ट है और ब्रह्म से उनका क्या तात्पर्य है? और शब्द से वे किस प्रकार से उसका संबंध स्थापित करते हैं। शब्द के विषय में सन्त तुलसी साहेब का मत इन सभी समीक्षकों से भिन्न है, शब्द सम्बन्धी उनकी मान्यता की एक कुण्डलिया नीचे दी जारही है:—

सब्द सब्द सब कहत हैं और सब्द सुन्न के पार।
सब्द सुन्न के पार सार सोई सब्द कहावै।
पच्छिम द्वार के पार पार के पार समावै॥
दो दल कंवल मंझार मद्ध के मधि में आवै॥
सन्तन दिया लखाय सार सोई सब्द कहावै।
तुलसी सत सतलोक से कहूँ कुछ भेद विचार।
सब्द-सब्द सब कहत हैं सब्द सुन्न के पार॥

(तुलसी साहब शब्दावली भाग १ पृष्ठ ४२, कुण्डलिया २०)

उपर्युक्त कुण्डलिया के अन्तर्गत महात्मा तुलसी साहब ने 'शब्द' को 'सुन्न' के भी पार बतलाया है। इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी 'शब्द' की महत्ता स्वीकार की है। कबीर के उपर्युक्त दोहे में 'सुरति समानी शब्द में ताहि काल नहिं खाय' द्वारा 'शब्द' के अतिशय महत्व को स्वीकार किया गया है। सन्तों ने इस 'शब्द' के स्वरूप की व्याख्या अन्यत्र 'रा रा कार' अथवा 'रं रं कार' ध्वनि के रूप में की है। यह ध्वनि 'राम!' शब्द की पर्याय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सन्तों की यह मान्यता है कि इस शब्द का उच्चारण जिह्वा से नहीं हो सकता। इसकी ध्वनि को साधना द्वारा स्फुरित किया जाता है। अर्थात् यह अनुभव गम्य है। प्रसङ्ग पारिजात में (जो स्वामी रामानन्द जी का अधुनातम प्रकाशित जीवन चरित है) इस शब्द अथवा नाम की व्याख्या इस प्रकार मिलती है "यह नाम ऊंकार का प्राण है।" इसका भाव यह है कि वह शब्द रेफ़ (ँ) मात्र है।

ऊँ से यदि (ँ) निकाल दिया जाय तो वह निर्जीव हो जायगा। और इस (ँ) का उच्चारण जिह्वा से नहीं हो सकता। इसी शब्द में सुरति अथवा मन की अन्तर्मुखी वृत्ति को नियोजित करना पड़ता है और तभी उस शब्द को सुना जा सकता है। सन्तों का विश्वास है कि इस प्रकार शब्द का साक्षात्कार करने के पश्चात् साधक को आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता। मन का इसी शब्द के साथ सतत संयोग मनोलय है, सन्तों की सहज समाधि है। साधक को इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात फिर कुछ करने को नहीं रह जाता।

'सन्त-मत में साधना' की प्रतिष्ठा इसी रूप में हुई है। इस साधना की प्रक्रिया को समझने वाले व्यक्तियों की संख्या आज कल बहुत कम है।

—:o:—

(पृष्ठ १७ का शेषांश)

पत्र गालिब को मिला और गालिब ने—"इस वक्त तुम्हारा खत पहुँचा और इसी वक़्त मैंने यह खत लिख कर डाक के हरकारे को दिया।"

गालिब जहाँ स्वयं पत्र लिखते थे, वहाँ अपने परिचित लोगों के पत्र के लिए लालायित भी रहते थे। उनके प्रिय शिष्य तफ्ता ने सिकन्दराबाद (उ. प्र.) से बहुत दिनों तक पत्र नहीं लिखा। गालिब इसका उलाहना देते हैं—"मुझ से क्यों खफ़ा हो? आज महीना भर हो गया होगा या बाद दो चार दिन के हो जायगा के आपका खत नहीं आया। इन्साफ करो, कितना कसीरुल अहबाब (बहुमित्र) आदमी था (सन् १८५७ से पहले)। कोई वक्त ऐसा न था कि मेरे पास दो-चार दोस्त न होते हों।....सुनो साहब अपने पर लाजिम कर लो, हर महीने में एक खत मुझको लिखना। अगर कुछ काम आ पड़ा दो खत, तीन खत, वर्ना सिर्फ खैरो आफियत (कुशल समाचार)।" लेकिन उस पत्र में हृदय होना चाहिए। यदि पत्र में हृदय की धड़कन न होती तो वे पत्र-लेखक को फटकारते—"क्या खत लिखा है! इस खुराफात के लिखने का फायदा? बात इतनी ही है कि मेरा पलँग मुझको मिला, मेरा बिछौना मुझको मिला। मेरा हमाम मुझको मिला।"

जहाँ तक गालिब का सम्बन्ध है, उसने अपने पत्रों में अपना हृदय खोलकर रख दिया है। अपने एक प्रशंसक को उन्होंने लिखा है—"मियाँ क्या बातें करते हो; मैं किताबें कहाँ से छपवाता? रोटी खाने को नहीं, शराब पीने को नहीं। जाड़े आते हैं, लिहाफ-पोशाक की फिकर है, किताबें क्या छपवाऊँ?" और अपनी डाढ़ी की कहानी उन्होंने इस तरह लिखी है—"जब डाढ़ी मूँछ में सफेद बाल आ गये, तीसरे दिन चिवँटी के अंडे गालों पर नजर आने लगे, इससे बढ़कर ये हुआ कि आगे के दो दाँत टूट गये। नाचार मिस्सी भी छोड़ दी, और डाढ़ी भी।....फकीर ने जिस दिन डाढ़ी रखी, उसी दिन सर मुंडवाया।"

कला और काव्य

डा० रामानन्द तिवारी

अनेक कृतित्वों की समगति और उनका समन्वय सहज सम्भव होने के कारण संगीत की कला मानवीय संस्कृति के समात्मभाव के सबसे अधिक अनुरूप है। इसीलिये लोक-संस्कृति की परम्पराओं में संगीत ही सबसे अधिक प्रचलित और आदृत रहता है। संस्कृति की विविधता और समृद्धि के नाते चित्रकला और नृत्य का भी लोक संस्कृति में बहुत कुछ स्थान रहा है, किन्तु इनकी लोकप्रियता की तुलना संगीत से नहीं की जा सकती। उत्तर भारत में मुसलमानी आधिपत्य के कारण संगीत के कलाधर को अनैतिकता का कलंक लग गया। अत: उसके विकसित रूप की परम्परा समाज और परिवारों में अनादृत होगई। किन्तु बंगाल और महाराष्ट्र के समाज और परिवारों में संगीत की एक समृद्ध और विकसित परम्परा आज तक सुरक्षित है। नृत्य संगीत की अपेक्षा कम प्रचलित है और चित्रकला उससे भी कम। इसका कारण मनुष्य अथवा समाज का कलाओं के प्रति भेदभाव अथवा पक्षपात नहीं है। जीवन और संस्कृति के साथ कलाओं के माध्यमों और रूपों के सम्बन्ध का यह स्वाभाविक परिणाम है। संस्कृति मानवीय सम्बन्धों की समात्मभावना से प्रेरित एक सृजनात्मक परम्परा है। प्रकृति के आधार पर संस्कृति की प्रतिष्ठा और उसके विकास से मानव जीवन पूर्णत: सफल होता है। प्रकृति की सीमाओं की कठोरता संस्कृति के विकास और जीवन की पूर्णता में बाधक होती है। चित्रकला और नृत्य में प्रकृति के अनुषंग संगीत की अपेक्षा अधिक शेष रह जाते हैं। संगीत में स्वर के उद्गम की केन्द्रीयता और अनेक इकाईयाँ रहते हुये भी स्वर के रूप और प्रवाह अनायास मिलकर एक हो जाते हैं। स्वर विधान के क्षितिजों की समृद्धि और उनके वैभव में इकाईयों के विन्दु प्रवाह में बुदबुदों के समान अन्तर्हित हो जाते हैं। इसी कारण संगीत सामाजिक संस्कृति की आत्मा के अधिक अनुरूप है। चित्र और नृत्य में व्यक्तियों का ऐसा समात्मभाव सम्भव नहीं है। जहाँ चित्रकला कलाकार के विशेष कृतित्व का ही अवसर है, वहाँ संगीत साक्षात् जीवन का स्वरूप है। चित्रकला जीवन और जगत के साथ केवल कलाकार के रागात्मक सम्बन्ध का फल है। किन्तु संगीत अनेक व्यक्तियों की आत्माओं की समगति की अन्तर्ध्वनि से निर्मित जीवन का समृद्ध राग है। चित्रकला में सौन्दर्य का रूप ही साकार होता है, किन्तु संगीत में जीवन में व्याप्त आत्मा ही मानों मुखर हो उठती है। वैयाकरणों का 'शब्द-ब्रह्म' और संगीताचार्यों का 'नाद' जीवन और संस्कृति के एक महत्व पूर्ण सत्य का संकेत करते हैं।

शब्द और स्वर की इस महान् शक्ति के कारण ही कदाचित् मनुष्यों में बुद्धि और चेतना के विकास के साथ-साथ भाषा का विस्तार हुआ तथा साहित्य और संस्कृति की परम्पराओं में काव्य और संगीत की समृद्धि हुई। शब्द की व्यंजना-शक्ति के कारण ही कदाचित् आंगिक संकेतों और चित्र रूपों की प्राचीन लिपियों का स्थान मुखर भाषा ने ले लिया। इसी कारण शब्द हमारे भाव विनिमय और व्यवहार का सबसे अधिक प्रचलित और लोकप्रिय माध्यम बन गया। व्यवहार की यह भाषा अर्थ से संयुक्त शब्द है। यही शब्दार्थ का 'सहित भाव' आचार्यों के अनुसार काव्य का भी लक्षण है। किन्तु संगीत अर्थ और भाव से रहित शुद्ध स्वर योजना है। इस स्वर योजना में भी हमारे हृदय को स्पर्श करने की अद्भुत शक्ति है। भाव का आधान न रहने पर भी स्वर योजना का भाव-मय प्रवाह होता है। वाद्य-संगीत के प्रवाह में शुद्ध संगीत की इस भाव-शक्ति की प्रामा-

रणिक परीक्षा हो जाती है। संगीत की इसी सहज भाव प्रवणता के कारण हीगल ने उसे गीतात्मक कला का प्रतिनिधि माना है। काव्य क्रम की दृष्टि से गीत में भाव का ही आधिक्य रहता है। इसके अतिरिक्त संगीत को माध्यम की सूक्ष्मता, सहजता, सुलभता, प्रेषणीयता और जटिलता का भी वरदान है। चित्रकला और नृत्य के माध्यम रूप, वर्ण, मुद्रा और भंगिमा के स्थूल विधान हैं। इसके विपरीत शब्द एक अरूप और सूक्ष्म माध्यम है। सूक्ष्मता के कारण उसमें प्रेषणीयता भी अधिक है। यद्यपि शब्द के उत्पादन और ग्रहण का माध्यम भी ऐन्द्रिक है, फिर भी रूप की तुलना में शब्द सूक्ष्म और अलक्ष्य हैं। उसका उत्पादन और ग्रहण अधिक गम्भीरता से युक्त होते हुए भी अधिक सहज है। जहाँ रूप हमारी सम्वेदना को सन्तुष्ट करता है, वहाँ शब्द हमारी आत्मा का स्पर्श करता है। अर्थ से युक्त होने पर उसकी यह प्रभविष्णुता और अधिक बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त रूप और भंगिमाओं की तुलना में कहीं अधिक अल्प आयास से यथेष्ट परिमाण में शब्द की सृष्टि की जा सकती है। कर्मेन्द्रियों में सम्भवत: वाणी की गति ही सबसे अधिक सहज और विपुल है। कदाचित इसीलिये कर्मेन्द्रियों की गणना में वाक् प्रथम है (वाक् पाणिपाद पायूपस्थानाम्)। उत्पादन की सहजता के कारण माध्यम तत्व की दृष्टि से शब्द सबसे अधिक सुलभ भी है। यदि स्पेन्सर के विकासवाद के अनुसार जटिलता को विकास और समृद्धि का लक्षण माना जाय, तो हमारे माध्यमों में कदाचित शब्द सबसे अधिक जटिल है। इन्द्रियों के निर्माण में भी श्रवणेन्द्रिय की निर्मिति सबसे अधिक सूक्ष्म और जटिल है। चित्रकला के रूपों और वर्णों तथा नृत्यकला की भंगिमाओं में बहुत कुछ जटिलता सम्भव है। किन्तु संगीत के स्वर-भेदों और उसकी राग-योजनाओं में कदाचित् सबसे अधिक जटिलता की सम्भावना है। स्वर का वैज्ञानिक विवेचन इस जटिलता को स्वर का एक विशेष लक्षण मानता है। इसी जटिलता की विशेषता से व्यक्तियों के स्वर और स्वरों से व्यक्ति पहिचाने जाते हैं। स्वर की एकरूपगत सूक्ष्मता और जटिलता के अतिरिक्त उसकी जटिलता की व्यक्तिगत विशेषतायें इसे भाव-सम्भव और कलात्मक अभिव्यक्ति का कहीं अधिक समर्थ, सम्पन्न और समृद्ध माध्यम बना देती हैं।

शब्द की इन विभूतियों में मिलकर अर्थ उसे और समर्थ तथा सम्पन्न बना देता है। अर्थ शब्द का मानसिक अथवा चिन्मय तत्व है। कला के प्रसंग में हम इसे "भाव" कह सकते हैं। काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं में भी इसका आधान रहता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं। अन्य कलाओं के माध्यमों में युक्त होकर भाव उनके रूप को अधिक समृद्ध और लोकप्रिय बना देता है। एक वर्ष में चित्रकला और संगीत में भाव के कुछ रूपों, विशेषत: भाव-क्षणों और भंगिमाओं को व्यक्त करने की शक्ति कविता की अपेक्षा अधिक है। रूप तो चित्रकला की विशेष सम्पति है। रूप के वैभव में चित्रकला की तुलना कोई भी कला नहीं कर सकती। संगीत अथवा काव्य में शब्द के माध्यम से जो रूप की रचना के प्रयत्न किये जाते हैं, वे चित्रकला के समान स्पष्ट और प्रभविष्णु रूप की विवृति में सफल नहीं होते। जो कुछ सफलता उन्हें मिलती है, वह भी शब्दों से प्रेरित मानसिक चित्रकला पर निर्भर है। "कोटि मनोज लजावन हारे" और "चन्द्र मुख" से भी मानवीय रूप-लावण्य की वह सजीव अभिव्यक्ति नहीं होती, जो किसी श्रेष्ठ चित्रकार की रचना से हो सकती है। रूप के अतिरिक्त चित्र में भाव की अभिव्यक्ति की वृत्ति भी है। जिस प्रकार मनुष्य के मुख और अंगों की आकृति भावों को व्यक्त करने में समर्थ है, उसी प्रकार चित्रों की रूपयोजना भी भावों की सजीव व्यंजना करती है। स्मृति में भी रूप और उसका भाव बहुत स्थिर रहता है। कदाचित दृष्टि के साथ मस्तिष्क का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए इन्द्रियों में अक्ष प्रधान है और सर्व इन्द्रियों के सामान्य 'प्रत्यक्ष' को यह नाम मिला। किन्तु चित्रकला में रूप और भाव के क्षणों का ही अङ्कन सम्भव है। काल के क्रम तथा जीवन की प्रगति को चित्रकला की परिधि में समेटना कठिन है।

इसीलिये चित्रकला संस्कृति की परम्परा की वाहक नहीं बन सकती। कला की दृष्टि से अपनी विलक्षण विशेषताओं के कारण उसका गौरव अक्षुण्ण है, किन्तु सांस्कृतिक परम्पराओं के निर्माण और निर्वाह में उसका योग कम है। सांस्कृतिक कला की अपेक्षा उपयोगिता के क्षेत्र में इसका महत्व व्यापक रहा है। वस्त्रों, वस्तुओं आदि के निर्माण में रूप का सौन्दर्य सभ्यता में आत्मसात हो रहा है। यह चित्रकला और जीवन के व्यवहार में ऐन्द्रिक संवेदना, विशेषतः दृष्टि संवेदना, की प्रमुखता के कारण है।

इसके अतिरिक्त चित्र में शब्द का अभाव है। यह प्रकृति के विधान में तथा इन्द्रियों के निर्माण में गुणों की विविक्तता के कारण हैं। शब्द में मानों जीवन की आत्मा मुखर हो उठी है, इसीलिये शब्द को 'ब्रह्म' माना जाता है। शब्द सजीवता का लक्षण है। चित्र के रूप में सजीवता और स्पष्टता बहुत होती है, फिर भी शब्द के अभाव के कारण वह निष्प्राण जान पड़ता है। उर्दू के शायर की इस परेशानी में चित्रकला की एक अपूर्णता का ही संकेत है— 'मैं परेशाँ हूँ इसी तदबीर में, कि जान आजाये तेरी तस्वीर में।' हम कितनी बार चाहते हैं कि हमारे आत्मीयों और इतिहास के परिचितों के अलावा कल्पना के रूपों के ये चित्र हमसे बोल उठते। चित्र के रूप में वाणी का संयोग करने में सफल होने के कारण ही सवाक् चित्रपट आज इतना लोकप्रिय हो रहा है। वस्तुत: 'शब्द' जीवन के भाव की बड़ी सूक्ष्म और सबल अभिव्यक्ति है। शब्द की ध्वनि में मानों प्राणों का स्पन्दन साकार हो उठता है। अर्थ और भाव से रहित शुद्ध संगीत की शब्दयोजना का प्रभाव भी कितना मर्मस्पर्शी है। अर्थ से युक्त होने पर उसकी शक्ति और समृद्ध होजाती है। रूप की संवेदना परस्पर भाव-विनिमय, सम्वाहन और सम्प्रेषण का माध्यम है। दृश्य रूप का अभाव होने के कारण शब्द में रूप की विवृति की सामर्थ्य उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार चित्रकला में शब्द की क्षमता नहीं है। चित्र का रूप मौन है, उसी प्रकार शब्द नीरूप है। यदि पारिभाषिक अर्थ में हम संगीत की लय-योजना को ही 'रूप' मान लें तो दूसरी बात है। यह दृश्य रूप नहीं है, वरन् स्वर योजना का आकार है। किन्तु जहाँ शब्द का अभाव चित्र को निष्प्राण बनाता है, वहाँ रूप का अभाव शब्द के माध्यम को अधिक सूक्ष्म तथा पारस्परिक सम्प्रेषण के अधिक योग्य बनाता है। शब्द का यह गुण उसे समात्मभाव के अधिक अनुकूल बनाता है। चित्र-निर्माण और चित्र-दर्शन में भी समात्मभाव सम्भव है। किन्तु वह चित्रकला का स्वरूपगत अंग नहीं है, उसकी सामाजिक परस्थिति का अनुषंग हो सकता है। शब्द के सम्बन्ध में यह समात्मभाव उसके स्वरूप का ही अंग है। हम अकेले भी शब्द और स्वर का उत्पादन कर सकते हैं, किन्तु उसमें शब्द की सार्थकता नहीं है। इसीलिये वह बहुत कम देखने में आता है। व्यवहार और कला दोनों में एक उत्पादन दूसरों के ग्रहण के लिए किया जाता है। रूप का एकान्त सृजन और दर्शन सम्भव है, किन्तु शब्द की सार्थकता परस्परता के समात्मभाव में ही है।

इस दृष्टि से शब्द और स्वर कला के स्वरूप के अधिक निकट हैं। इसीलिये संगीत और काव्य चित्रकला की अपेक्षा अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हैं। किन्तु यदि रूप मौन है, तो स्वर नश्वर है। मर्म-स्पर्शी होते हुए भी उसका प्रभाव श्रवणकाल में ही रहता है। चित्रों की रूप-रचना जीवन के क्षणों को ही साकार बनाती है। नश्वर होते हुए भी शब्द और स्वर में सन्तानक्रम है, जिससे संगीत में भाव और जीवन की एक लघु परम्परा मूर्त्त हो सकती है। किन्तु इस विस्तार की सीमा अल्प है। इसके अतिरिक्त नश्वर होने के कारण शब्द का प्रभाव तत्काल में ही होता है और नीरूप होने के कारण स्मृति में उसका आधान चित्र की अपेक्षा कठिन है। स्वर की अपेक्षा अर्थ की धारणा स्थायी होती है। अर्थ भाव-रूप है। इस भाव का आधान ही संगीत के स्वर को अधिक मर्मस्पर्शी बनाता है। अर्थ के संयोग से स्वर की मर्मस्पर्शिता स्मृति में स्थायी बन जाती है। इसीलिए पशुओं के अर्थ हीन शब्द के स्थान पर मनुष्य की भाषा में सार्थक शब्द का विकास हुआ।

इसीलिए संगीत में भी अर्थपूर्ण स्वर-योजना अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रही है। स्मृति मनुष्य स्वभाव की एक अद्भुत विशेषता है। धारणा पर ही इतिहास, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति आदि का प्रासाद आधारित है। स्मृति की धारणा ही व्यवहार और विचार में संगति का सूत्र है। अर्थ और भाव धारणा के सबसे अधिक अनुकूल हैं। चित्र की धारणा का कारण रूप की दृश्यता और स्पष्टता है। किन्तु वह भी कालक्रम से मन्द होती जाती है। जीवन और अनुभव के आरम्भ की स्पष्टता और सजीवता उसमें क्रमशः कम होती जाती है। इसका कारण यह है कि एक क्षण का अंकन करने के कारण काल-परम्परा के निरूपण तथा उसके द्वारा काल के अनुकूल चलने की सामर्थ्य गतिहीन चित्र में नहीं है। अर्थ हीन स्वर तत्काल में तो काल के अनुकूल चलता है और एक परम्परा का निर्माण करता है, किन्तु नश्वर होने के कारण उस परम्परा को स्मृति में स्थायी बनाने में समर्थ नहीं है; इसके विपरीत 'अर्थ' धारणा के अधिक अनुकूल है। शब्द के संयोग से वह एक दीर्घ कालिक परम्परा में भी साकार हो सकता है और साथ ही धारणा में स्थायी भी बन सकता है। शब्द के साथ अर्थ का संयोग अर्थ को एक कालगत परंपरा बनाने में समर्थ है। चेतना के साथ अर्थ का घनिष्ठ संयोग उसे स्थायी और कालजयी बनाता है। संयोग की अपेक्षा इसे समन्वय कहना अधिक उचित है। यदि अर्थ चेतना का स्वरूप नहीं तो उसके साथ समवेत अवश्य है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं की अपेक्षा अर्थ में चेतना का अधिक आन्तरिक रूप अभिव्यक्त होता है। कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरण में पार्वती की उपमा वाक् से तथा परमेश्वर की उपमा अर्थ से दी है। चेतना का स्वरूप आन्तरिक अनुभव में विवृत होता है। काँट के अनुसार काल आन्तरिक अनुभव का रूप है, इसीलिए चिन्मय होने के कारण अर्थ काल-परम्परा के अधिक अनुरूप है। किन्तु साथ ही काल चेतना का विषय भी है, अतः चेतना कालातीत है। आत्मा के नित्यत्व का यही प्रमाण है। चेतना के कालातीत होने के कारण उसमें समवेत अर्थ काल-परम्परा में अनुगत होने के साथ साथ कलजयी भी है। यही धारणा में अर्थ के स्थायित्व का रहस्य है।

काल-परम्परा के अनुरूप तथा साथ ही कालजयी और स्थायी होने के कारण 'अर्थ' मानवीय जीवन की अद्भुत शक्ति और संस्कृति की अद्भुत विभूति बन गया है। विषय, तात्पर्य, लक्ष्य, प्रयोजन आदि अनेक अर्थों में उसका प्रयोग उसकी सम्पन्नता का द्योतक है। भाषा, संस्कृति और समाज की परम्परा और व्यवस्था का सूत्र यही अनेक-रूप 'अर्थ' है। एक ओर चेतना से समवेत और दूसरी ओर शब्द से समन्वित होने के कारण सम्बन्ध और व्यवहार में अर्थ की संवहनशीलता तथा प्रेषणीयता प्रचुर है। शब्द की भाँति अर्थ की सफलता और सार्थकता भी सम्प्रेषण में है। अतः 'अर्थ' संस्कृति और कला के समात्मभाव का मूल सूत्र है। अर्थ के बिना चेतना तक निराकार और स्वरूपगत सत्ता रह जाती है तथा शब्द एक तात्कालिक और अल्प-प्रयोजन माध्यम रह जाता है। अतः अर्थ ही जीवन, कला और संस्कृति की सबसे समर्थ और सम्पन्न विभूति है। अर्थ में साकार होकर ही चेतना सम्बन्धों के समात्मभाव में रस और सौन्दर्य का स्रोत बनती है। अर्थ से अन्वित होकर ही शब्द साहित्य और संस्कृति की अनन्त परम्परा का माध्यम बना है। अर्थ के रूप में ही कला और काव्य के भाव स्मृति की स्थायी विभूति बनते हैं। इस स्थायित्व में कला और सौन्दर्य का अमृतत्व है। अर्थ के अन्वय से ही संगीत की स्वर-योजना की मर्मस्पर्शिता इतनी समृद्ध और लोकप्रिय हुई है। शब्द और अर्थ की संगति स्थायित्व और समात्मभाव के अनुरूप होने के कारण काव्य कला का सबसे श्रेष्ठ रूप है। अतः अर्थ-युक्त संगीत और काव्य कला के सर्वोत्तम रूप हैं। दोनों में ही अर्थ और लय का समन्वय होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि संगीत में अर्थ की प्रचुरता होते हुये भी स्वर योजना प्रधान है। कविता में शब्द की प्रचुरता में स्वर और लय का समन्वय होता है फिर भी उसमें अर्थ का ही प्रभुत्व है। कला का सर्वोत्तम रूप स्वर और

अर्थ का सन्तुलन, समानुपात और समन्वय है। आधुनिक हिन्दी के गीत काव्य में कला का यही रूप एक नई आभा से निखर रहा है। प्राचीन काव्य तथा संगीत में भी कला का यही समन्वित रूप सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। वैदिक काव्य में तो कला का यही रूप आदि-काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। लोकगीतों की परम्परा में भी कला का यही रूप सुरक्षित तथा दीर्घ-जीवी रहा है। गीत गोविन्द, आल्हखंड, सूरसागर, रामचरितमानस आदि के स्थायित्व और उनकी लोक-प्रियता का भी यही रहस्य है। मध्यकाल के हिन्दी मुक्तक काव्य में भी संगीत का पर्याप्त समन्वय है। लौकिक संस्कृत के रूप में वैदिक संस्कृत स्वर-सन्निवेश नहीं है, फिर भी संस्कृत भाषा का गठन स्वभावतः ही ऐसा है कि उसमें नाद और स्वर का बड़े समृद्ध रूप में समा-वेश है। यही कारण है कि संस्कृत भाषा को न समझने वाला व्यक्ति भी संस्कृत काव्य के नाद-सौन्दर्य से ही मुग्ध हो जाता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में बंगला में यह नाद-सम्पत्ति सबसे अधिक है। इसीलिये बंगला संगीत अथवा कविता-पाठ भाषा न समझने वालों को भी प्रिय लगता है।

यह नाद-सौन्दर्य स्वर के मूल परिमाण के विस्तार, उसकी गूंज और झंकार में रहता है। स्वर के बिन्दुओं का यही विस्तार संगीत का स्वरूप है। अर्थ में यह विस्तार आकूति कहलाता है। शब्द और अर्थ की यह व्यापनशीलता कला के सम्प्रेषण को समृद्ध बनाती है। इन दोनों का समन्वय कला के सुवर्ण में सुगन्ध का संयोग है। वैदिक मंत्र और लोक गीतों में यह समन्वय एक उत्तम रूप में मिलता है। सामूहिक होने के कारण इन में समात्मभाव की सम्भावना भी काव्य तथा संगीत के अन्य व्यक्तिगत रूपों की अपेक्षा अधिक है। अतः इनमें कला की आत्मा और उसका रूप उत्कृष्ट रूप में साकार तथा सजीव हुए हैं। सामान्यतः सभी काव्य और सार्थक संगीत में शब्द और अर्थ का समन्वय मिलता है। अतः सभी संगीत और काव्य कला के उत्तम रूप हैं। किन्तु जिस संगीत में नाद सौन्दर्य अधिक होता है तथा जिस काव्य में आकूति की व्यंजना अधिक होती है वह अधिक श्रेष्ठ और समृद्ध है। शास्त्रीय संगीत और काव्य का विकास इसी समृद्धि की दिशा में हुआ है। किन्तु इस विकास में संगीत में अर्थ-सम्पत्ति तथा काव्य में स्वर-विभूति कम हो गई। समन्वय विछिन्न हो जाने से दोनों एकांगी हो गये। यहाँ यह स्मरण रखना आव-श्यक है कि स्वर की अपेक्षा अर्थ का महत्व अधिक है। स्वर माध्यम और साधन है, अर्थ साध्य है। स्वर शक्ति है, किन्तु अर्थ शिव है। स्वर-शक्ति के बिना अर्थ का शिव निष्प्राण (शव) है। किन्तु अर्थ के बिना स्वर का महत्व स्वल्प है। अर्थ से रहित स्वर मर्म स्पर्शी होते हुये भी एक तात्कालिक संवेदना मात्र रह जाता है। अर्थ ही स्वर के माध्यम से अभिव्यंग्य भाव-विभूति को धारणा में स्थायी बनाता है। अतः काव्य में अर्थ के आधान को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इसी अर्थ प्राचुर्य के कारण बाण, माघ और श्रीहर्ष की कृतियाँ संस्कृत में तथा राम-चरित मानस और कामायनी हिन्दी में अधिक प्रतिष्ठित हैं। अर्थ में एक सूक्ष्म ध्वनि और नाद निहित है, जो शब्द के संयोग से अधिक व्यक्त होता है। संस्कृति का विकास भी अर्थ-विभूति के रूप में ही हुआ है। अर्थ चिन्मय भाव है। संस्कृति चेतना की ही समृद्धि है। अर्थ का चिन्मय भाव ही समात्मभाव का सूत्र है। यही चिन्मय भाव कला की भी विभूति है। संगीत का स्वर भी लय-योजना के कौशल से उसी का प्रयत्न करता है। किन्तु स्वर माध्यम और साधन है, साध्य नहीं। अर्थ और भाव साध्य है। आकूति व्यंजना के द्वारा अर्थ की समृद्धि है। अर्थ और आकूति में ही समात्मभाव और संस्कृति की परम्परा स्मृति की धारणा में स्थायी बनती है।

अस्तु काव्य में अर्थ अथवा आकूति के साथ स्वर अथवा शब्द का समुचित समन्वय होता है। अर्थ और शब्द दोनों ही सम्मिश्रण अथवा संवहन के अनुकूल है, अतः समात्मभाव के अनुरूप हैं। अर्थ सम्मिश्रण का विषय और समात्मभाव आधार-तत्व है। अर्थ चिन्मय भाव है, अतः समात्मभाव के साथ उसकी एकात्मता

कल्पनीय है। शब्द अर्थ का माध्यम और सम्मिश्रण का सूत्र है। वैसे तो सभी कलाओं में तत्व और माध्यम की एकात्मता से ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है, किन्तु शुद्ध चित्रकला और शुद्ध संगीत में तत्व का साधन आवश्यक नहीं है। इन कलाओं में पूर्णतः रूपात्मक रचना भी देखी जाती है। किन्तु सामान्यतः इनके तत्व से समन्वित रूप ही प्रचलित रहे हैं। इनमें जहाँ ऐन्द्रिक प्रभविष्णुता अधिक है, वहाँ धारणा का स्थायित्व कम है। सम्वेदना प्रधान होने के कारण चेतना की परम्परा में एकात्म होने की क्षमता भी इनमें कम है। इसीलिये इनकी साधना सौन्दर्य और रंजन से युक्त रही है, किन्तु सामाजिक संस्कृति के निर्माण और विकास की एक स्थायी और प्रगतिशील परम्परा है। काव्य में अर्थ अथवा भाव का सन्निवेश प्रधान होने के कारण वह कलाओं में संस्कृति के सबसे अधिक अनुरूप है। इस दृष्टि से हम उसे सबसे अधिक सांस्कृतिक कला कह सकते हैं।

संस्कृति सौन्दर्य और श्रेय का समन्वय है। कलात्मक अभिव्यक्ति सौन्दर्य का स्वरूप है। श्रेय जीवन का चिन्मय भाव है। जीवन की पूर्णता, समृद्धि, शान्ति, प्रेम, आनन्द आदि सांस्कृतिक भाव के अंग अथवा लक्षण हैं। समात्मभाव इन सबका मूल आधार है। कलात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी इस समात्मभाव में ही फलित होता है। तत्व और माध्यम दोनों की दृष्टि से काव्य संस्कृति और समात्मभाव दोनों के सबसे अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त काव्य की एक और विशेषता है। वह शुद्ध-कला और तत्व बोध की सुन्दर सन्धि है। जिन कलाओं में तत्व का निधान गौण है उनमें अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का आकर्षण भले ही अधिक हो किन्तु सांस्कृतिक कल्याण की सम्भावना कम रहती है। इसी कारण इन कलाओं के प्रदर्शनों में तात्कालिक अनुराग तो बहुत लोग दिखाते हैं और तत्काल में इनके प्रति बहुत उत्सुक हो जाते हैं किन्तु इनमें स्थायी अनुराग बहुत कम लोगों का होता है। ऐन्द्रिक सम्वेदना के लिए तीव्र उत्तेजना न रहने के कारण कविता की ओर लोगों की ऐसी उत्सुकता नहीं होती। फिर भी सत्य यह है कि कविता के प्रति ही लोगों का सबसे अधिक स्थायी और व्यापक अनुराग रहा है। आधुनिक युग में कविता की प्रतिष्ठा का जो ह्रास हो रहा है वह सांस्कृतिक मूल्यों के सामान्य ह्रास का ही एक अंग है। भौतिक वैभव और ऐन्द्रिक रंजन आधुनिक सभ्यता की दो मुख्य धुवायें हैं। पहले की प्रधानता ने सभी कलाओं को ऐन्द्रिक रंजन का साधन बना दिया है। चित्रकला, संगीत और नृत्य में ऐन्द्रिक सम्वेदना का सन्निवेश अधिक रहने के कारण तत्काल में इनके प्रति लोगों की रुचि अनायास जागरित हो जाती है। ऐन्द्रिक रंजन की सम्पूर्णता के कारण ही सिनेमा इतना लोकप्रिय हो रहा है। दृष्टि रंजन के कारण अशिक्षित और अल्प शिक्षित लोग भी धर्मयुग, फ़िल्म फेयर आदि रंगीन और सचित्र पत्रिकाओं को देखते तथा खरीदते हैं। शिक्षित लोग भी उन्हें पढ़ने की अपेक्षा देखते अधिक हैं। नृत्य और संगीत के प्रदर्शन से मार्ग की भिखारिन भी कुछ अनुरागियों को इकट्ठा कर सकती है किन्तु कवियों को आज रसिक श्रोताओं का अभाव है। पत्रिकाओं और कवि सम्मेलनों में भी भाव दृष्टि से ऐन्द्रिक रंजन के अधिक निकट होने वाली कवितायें ही ज्यादा पसन्द की जाती हैं। ऐन्द्रिक रंजन प्राकृतिक धरातल का व्यापार है। उसका स्वभाव भी स्वार्थमय है। पारस्परिकता और समात्मभाव की भूमि पर ही संस्कृति का उदय होता है। समात्मभाव में ही कला का अतीन्द्रिय सौन्दर्य और सांस्कृतिक रूप निखरता है। भाव और शब्द के समन्वय के कारण काव्य सांस्कृतिक कला का सबसे उत्कृष्ट रूप है।

काव्य में भाव ही प्रधान है। शब्द की ऐन्द्रिक सम्वेदना सम्वहन का साधन मात्र है। शब्द भी पूर्णतः ऐन्द्रिक नहीं है। 'शब्द-दर्शन' में उसकी अतीन्द्रिय कोटियाँ भी मानी गई हैं। मुखर और ऐन्द्रिक शब्द में भी उनका अन्तर्भाव रहता है! अतएव शब्द के साथ भाव का समन्वय अधिक पूर्ण है। काव्य की श्रेष्ठता का एक यह भी कारण है। भाव का सन्निवेश होते हुये भी अन्य कलाओं में ऐन्द्रिक सम्वेदना का आधिक्य रहता

है। इसके अतिरिक्त भावों के अनेक रूप अतीन्द्रिय हैं जो ऐन्द्रिक रूपों के माध्यम से अधिक सफलता पूर्वक व्यक्त नहीं हो सकते। अनेक शब्द ऐन्द्रिक भावों के भी प्रतिनिधि हैं, किन्तु दूसरी ओर उसमें अतीन्द्रिय भावों की अभिव्यक्ति की शक्ति भी विकसित हुई है। शब्द में अतीन्द्रिय रूप और शक्ति के अन्तर्भाव के कारण तथा शक्ति और सूक्ष्मता के नाते भाव-विनिमय के उच्चतम धरातलों पर प्रयुक्त होने के कारण अतीन्द्रिय भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता रूप और स्वर के माध्यम की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित हुई है। भाव की व्यापकता और उसके उत्कर्ष दोनों की दृष्टि से शब्द का माध्यम काव्य की प्रतिभा का अद्भुत बल है। दृश्य रूप इन्द्रिय का विषय है। चित्रकला में वह साक्षात उपस्थित होता है। अत: रूप की अभिव्यक्ति में तो काव्य चित्रकला की तुलना नहीं कर सकता। किन्तु भाव की अभिव्यक्ति में वह चित्रकला की अपेक्षा कहीं अधिक समर्थ है। संगीत के स्वर और शब्द का समन्वय काव्य में सहज सम्भव है। वेद में मंत्रों, लोकगीतों और गीत काव्य में तो संगीत का समन्वय प्रचुर मात्रा में है। सामान्य काव्य में भी यह समन्वय बहुत कुछ अंश में वर्तमान है। नृत्य में जिस गत्यात्मक सजीवता के साथ भाव की अभिव्यक्ति होती है वह किसी भी अन्य कला में सम्भव नहीं। किन्तु जिस प्रकार शब्दों के द्वारा रूप की अभिव्यक्ति सम्भव है उसी प्रकार शब्द गति के वाहक भी बन सकते हैं। एक दृष्टि से गति ही उनका क्रम है। इसके अतिरिक्त भी नृत्य की सजीवता के साथ तो नहीं किन्तु बहुत कुछ सफलता के साथ वे गत्यात्मक भावों की व्यंजना कर सकते हैं। अभिधान ही शब्दों की शक्ति की अन्तिम सीमा नहीं है। चेतना की कल्पना शक्ति को प्रेरित करके व्यंजना अथवा आकृति की समृद्ध शक्ति के द्वारा वे रूप और गति की भी बहुत अधिक सफल अभिव्यक्ति कर सकते हैं। इसीलिये प्रकृति-वर्णन अभियान, युद्ध आदि के स्थल कविता में रूप और गति के सजीव तथा साकार अनुभव उद्भावित कर सकते हैं। एक ओर जहाँ कविता में सभी कलाओं से अधिक अतीन्द्रिय भावों की अभिव्यक्ति की शक्ति है, वहाँ दूसरी ओर उसमें अन्य कलाओं के समान रूप और गति को भी बहुत कुछ अंश तक सजीवता और साकारता के साथ अङ्कित करने की क्षमता है। यह कविता की सम्पन्नता और समृद्धि का प्रमाण है। इसी समृद्धि और सम्पन्नता के कारण वह कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है।

काव्य-कला की इस सम्पन्नता का रहस्य इसके माध्यम की विशेषताओं में है। अन्य कलाओं के माध्यम की अपेक्षा शब्द का माध्यम अधिक समर्थ और व्यापक है। यह समर्थता और व्यापकता भावों का सामान्य गुण है। इसीलिये साहित्य और संस्कृति की सबसे अधिक समृद्धि भाषा के द्वारा हुई। भाषा का माध्यम एक मात्र काव्य का अधिकार नहीं है। साहित्य के अन्य रूप भी भाषा के माध्यम से विकसित हुये। अत: जहाँ एक ओर काव्य के माध्यम की समर्थता और व्यापकता काव्य-कला को अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक समर्थ बनाती है वहाँ दूसरी ओर यह जानना भी आवश्यक है कि साहित्य के अन्य रूपों में भाषा के प्रयोग की तुलना की दृष्टि से काव्य में भाषा का प्रयोग किस प्रकार भिन्न है ? माध्यम की दृष्टि से भाषा की समर्थता और व्यापकता का कारण शब्द में अर्थ का अन्वय है। यह अर्थ का अन्वय शब्द की अभिव्यक्ति को माध्यम के अन्य रूपों की अपेक्षा व्यापक बनाने के साथ-साथ चेतना के संस्कारों और स्मृति की धारणा में उसके तात्पर्य को स्थायी बनाता है। अर्थ के स्थायी संस्कार व्यक्ति और समाज की चेतना में एक परम्परा बनकर संस्कृति के वाहक बनते हैं।

शब्द का यह प्रयोग साहित्य के सभी रूपों में समान है इसीलिये साहित्य कलाओं के साथ-साथ संस्कृति का भी महत्वपूर्ण वर्ग बन गया है। वस्तुत: साहित्य संस्कृति का इतिहास और स्वरूप दोनों ही है। इसके बितरीत कलाओं में केवल संस्कृति का स्वरूप ही साकार होता है। उनकी परम्परा में यह पौर्वापर्य क्रम नहीं है जो उन्हें एक सजीव इतिहास का रूप दे सके।

(शेष पृष्ठ ३६ पर)

आलोचक--बालमुकुन्द गुप्त

डा० नन्थनसिंह एम० ए०, पीएच० डी०

साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी-आलोचना का श्री गणेश भारतेन्दु युग की एक विशेषता है। इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुई थीं। इन्हीं पत्रिकाओं में नाटक, उपन्यास तथा निबन्धादि अन्य काव्य-विधाओं के साथ आलोचना के प्रारम्भिक रूप का आविर्भाव 'बुक-रिव्यू' के अनुकरण पर 'पुस्तक-परिचय' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत हुआ। 'कवि वचन सुधा' (१८६८), 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३), 'बालाबोधिनी' (१८७४), 'ब्राह्मण' (१८८३) 'हिन्दी प्रदीप' (१८७६), 'आनन्द कादम्बिनी' (१८८१) और 'भारत मित्र' (१६७८) आदि पत्रों में नवीन पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचनायें प्रकाशित हुआ करतीं थीं, जिनमें यदा-कदा आलोचना का उत्कट रूप भी प्रकट हो जाया करता था। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी की लेखनी से आलोचनात्मक भूमिकाओं के रूप में भी आलोचना की एक नवीन शैली का जन्म हुआ था। उसी से मिलता-जुलता आलोचना का एक रूप लाला श्रीनिवासदास के संयोगिता स्वयम्वर की आलोचना के रूप में पं० बालकृष्ण भट्ट एवं प्रेमघन जी द्वारा प्रस्तुत किया गया। उस युग के लेखकों का ध्यान प्राचीन कवियों और आचार्यों के जीवनवृत्त प्रकाशित करने की ओर भी आकृष्ट हुआ था जिनमें उनके जीवन-विषयक तथ्यों की अभिव्यंजना के साथ-साथ उनके साहित्यिक उत्कर्ष का भी उल्लेख होता था। बाबू बालमुकुन्द गुप्त के आलोचना कार्य की यह पृष्ठभूमि थी।

आलोचक गुप्तजी पर विचार करने से पूर्व उनके पूर्ववर्ती-युग की आलोचना के प्रतिमानों एवं साहित्य-सृजन के प्रेरणा-स्रोतों पर विचार कर लेना भी असङ्गत न होगा। भारतेन्दु-युग के साहित्यकार की प्रवृत्ति समाजोन्मुखी थी। लोकमङ्गल, समाजहित, सामाजिक एकता तथा उपयोगितावाद के सैद्धान्तिक पक्ष का समर्थन करते हुए मध्यवर्गीय संस्कारोच्छेदन, अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादिता पर बने भवन को समूल विनष्ट कर देने के लिए वे लोग कटिबद्ध थे; उनकी कविता, नाटक, प्रहसन तथा निबंध आदि सभी विधाओं में सामाजिक क्रांति और राजनैतिक विरोध का स्वर उग्र था। आलोचना में में भी इसी दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा। अस्तु, आलोचकों का ध्यान रचना के भावों एवं मनोविकारों की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचना की ओर कम और रचनागत लोकमङ्गल के भाव की अभिव्यंजना की ओर अधिक था। पूर्ववर्ती युग की ये सभी सामान्य विशेषताएं गुप्तजी में वर्तमान थीं। वे साहित्य के विशुद्धतावाद एवं शाश्वतवाद के अन्धसमर्थक न थे। उसे समाज-कल्याण एवं जन-हित-साधना का अंग मानते थे। वे इस तथ्य से भली प्रकार अवगत थे कि आलोचना सामाजिक और साहित्यिक प्रगति का एक सबल साधन है। इस साधन को अपने मनोनीत साध्य की उपलब्धि के हेतु प्रयोग करने में भी उन्होंने पूर्ण प्रयास किया था। उनका साहित्यिक दृष्टिकोण विशुद्ध उपयोगितावादी था। अस्तु आलोचना का रूप सदैव लोक-प्रिय और विषय समाज-हितैषी रहा था।

अपने युग की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार बालमुकुन्द गुप्त ने पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० देवकीनंदन तिवारी, साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० देवीसहाय, पं० प्रभुदयाल पाण्डे, बाबू रामदीन सिंह, पं० गौरीदत्त, पं० माधव प्रसाद मिश्र और मुंशी देवी प्रसाद हिन्दी के; श्री योगेन्द्र चन्द्र वसु बंगला के; मौलवी मुहम्मद हुसेन आजाद तथा सर सैयद अहमद खाँ उर्दू के और हरबर्ट स्पेन्सर एवं मैक्समूलर आदि अंग्रेजी के विद्वानों के जीवन वृत्त 'भारत मित्र' में प्रकाशित किए

थे। इन जीवन वृत्तों की शैली इतिवृत्तात्मक अल्प एवं आलोचनात्मक अधिक है। हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, बंगला तथा अंग्रेजी-लेखकों के जीवन वृत्त प्रकाशित करके गुप्त जी ने हिन्दी आलोचना में एक नवीन परंपरा का बीजारोपण किया था जो हिन्दी के उत्कर्ष की दृष्टि से महान् उपयोगी एवं सामयिक थी, किन्तु उनके उपरांत यह परम्परा जीवित न रह सकी।

गुप्त जी द्वारा लिखित इन जीवन-चरित्रों की विशेषता यह है कि इनमें वस्तु-वर्णन की नीरस तथा तथ्य आकलन की एकरसता व्यंजक शैली के दर्शन नहीं होते, प्रत्युत साहित्यिक लेखनी से प्रसूत काव्यात्मक सरसता सर्वत्र लक्षित होती है। गुप्त जी आलोच्य व्यक्ति के जीवन की सामान्य घटनाओं को प्रसाद एवं माधुर्य से वेष्टित करके, उन्हें काव्यात्मक प्रबन्ध के अधिक निकट पहुँचा दिया है। इन आलोचनात्मक जीवन-वृत्तों की विशिष्टता यह है कि इनमें चरित-नायक की केवल साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण मात्र ही नहीं, प्रत्युत उसकी व्यावहारिक विशेषताओं का भी विवेचन किया गया है। पं० प्रताप नारायण मिश्र विषयक आलोचनात्मक प्रबन्ध में गुप्त जी मिश्र जी की आशु काव्य-क्षमता एवं सुन्दर भाषा लिखने की प्रतिभा को स्पष्ट करते हुए उनकी तुलना युग-प्रवर्तक भारतेन्दु तथा व्यंग्य-लेखन-कौशल की समता व्यंग्यकार भारतेन्दु से करते हैं। इस प्रकार उन्होंने मिश्रजी को प्रतिभावान कवि, श्रेष्ठ लेखक, उत्तम व्यंग्यकार, विनोदी एवं वार्तालाप कुशल प्रमाणित करके उनका सही रूप में मूल्याँकन किया था और साथ ही हिंदी-आलोचना में तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का प्रारम्भ।

प्राचीन लेखकों की स्मृति के पुनरावर्तन तथा साहित्य की मौलिकता-संरक्षण से आलोचक गुप्त जी की शोध-प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। 'प्रयाग-समाचार' के जन्मदाता पं० देवकीनन्दन तिवारी के विस्तृत जीवन वृत्त प्रकाशनार्थ समकालीन लेखकों को पत्र लिखना और पं० बालकृष्ण भट्ट से प्राप्त सामग्री को आलोचकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित करना उनकी इस प्रवृत्ति का द्योतक है। हिन्दी-आचार्यों एवं जयपुर के पत्र 'समालोचक' पर बंगला लेखकों से चोरी करके लिखने का आरोप लगाने वाले पत्र 'प्रवासी' को दिया गया उनका उत्तर इस गुण को और भी अधिक स्पष्ट करता है। आपने अपने दो लेख—'प्रवासी की आलोचना' तथा 'बंगला साहित्य'[1] में साहित्यिक चोरी के दोषी हिन्दी लेखकों का मार्ग प्रदर्शन तो किया ही; साथ ही, अंग्रेजी से नकल करके लिखने वाले बंगला लेखकों का रहस्योद्घाटन करके बंगला साहित्य की मौलिकता बनाए रखने की आवाज भी उठाई। बंगला लेखकों की उन कृतियों को खोजना तथा अंग्रेजी की उन पुस्तकों का पता लगाना जिनसे उनमें सहायता ली गई थी, उनके गहन अध्ययन तथा शोध प्रवृत्ति का परिचायक है। पं० श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' और 'ऊजड़ ग्राम' का भद्दा अनुवाद करने वाले सुसील कवि (पत्तन लाल) की भर्त्सना करना गुप्त जी की मौलिकता-संरक्षण तथा साहित्यिक चोरी की विरोधी भावना को ही प्रकट करता है।

गुप्त जी की आलोचना का अपर रूप समकालीन लेखकों पर लिखी आलोचनाओं से ज्ञात होता है। 'अश्रुमती नाटक', 'तारा उपन्यास', 'तुलसी-सुधाकर', 'प्रवासी', 'अधखिला फूल', 'समालोचक', 'गुलशने हिंद' तथा भाषा-सुधार विषयक आलोचनाएं गुप्त जी को आलोचक के उच्च स्थान पर आसीन करती हैं।

'अश्रुमती' बंगला का एक नाटक है जिसकी कथा-वस्तु वीर शिरोमणि प्रताप के चरित्र पर कलंक-कालिमा पोतती है। रचनाकार ने ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करते हुए अश्रुमती को प्रताप की पुत्री माना है और उसे जहाँगीर के प्रेम में व्यथित दिखाया है। नाटक में प्रेम के उद्गारों और कथावस्तु की घटना-योजना में नग्नकामुकता एवं अतिशय श्रृङ्गारिकता का आश्रय लिया गया है। गुप्त जी की सांस्कृतिक उत्कर्ष की भावना इस अशोभनीय कल्पना को सहन कर सकी थी। वे साहित्य द्वारा सुरुचि एवं आदर्श रक्षा के प्रबल

१—भारतमित्र, सन् १९०३ ई०।

समर्थक थे। अतः २८ सितम्बर १९०१ के 'भारत-मित्र' में उक्त नाटक के अनुवाद पर गुप्त जी ने आलोचकीय मत अभिव्यक्त कर दिया। अनुवादक थे, मुंशी उदित नारायण। गुप्त जी की सांस्कृतिक एवं आदर्श परक आलोचना से प्रभावित होकर मुंशी जी ने अनुवाद की समस्त प्रतियों को गंगा जी में प्रवाहित कर दिया था और इस कार्य की सूचना गुप्त जी के पास भेजदी थी। गुप्त जी ने अपनी आलोचना में मूल लेखक की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक भूलों का भी उल्लेख किया था। 'प्रेमघन' जी की संयोगिता-स्वयंवर की आलोचना की भाँति ही गुप्त जी की यह आलोचना पथ-प्रदर्शक बन गई थी।

किशोरीलाल गोस्वामी ने 'तारा' नामक उपन्यास में भाई-बहन के मध्य बड़े शृङ्गारिक कथोपकथनों की आयोजना की थी, जिनसे कामुकता एवं कुरुचि का आभास होता था। गुप्तजी का संस्कारशील मन इस विषैले घूंट का पान न कर सका। उन्होंने गोस्वामी जी के साथ-साथ काशी नागरी प्रचारिणी सभा को भी फटकार लगाई थी क्योंकि उसने अपने एक सदस्य को ऐसा असंस्कृत कार्य करने से रोका न था। दूसरे, बम्बई के श्री वेंकटेश्वर समाचार को भी ललकारा था, क्योंकि उक्त पत्र ने 'तारा' की एक ऐतिहासिक भूल पर तो टीका-टिप्पणी की थी, किंतु 'तारा' की शृङ्गारिक भावना के विषय में मौन साध लिया था। गुप्त जी ने गोस्वामी जी द्वारा नियोजित दाराशिकोह और जहाँनारा के कथोपकथनों को उद्धृत करते हुए उनके नवीन स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण पर करारी चोटें कीं और उनसे कहा—"भाई बहनों की कैसी कुरुचि पूर्ण बातें हैं। हमारे गोस्वामी जी के सिवा ऐसी रुचि सम्पन्न बातें और कौन लिख सकता है।"[१]

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रणीत 'प्रियम्वदा'[२] नामक कविता भी गुप्त जी की आलोचना का विषय बनी थी। यह कविता पारसी नारी की साज सज्जा, रूप यौवन, शृङ्गारिक हाव-भाव तथा चित्र दर्शकों पर पड़े वासनात्मक प्रभाव का वर्णन करती है। कविता की स्त्री का चित्र भी सरस्वती में प्रकाशित हुआ था। गुप्त जी की मान्यता थी कि द्विवेदी जैसे युग-विधायक सम्पादक के गौरवानुकूल ऐसी शृङ्गारिक रचना नहीं है। इस रीति-कालीन परम्परा के पुनरावर्तन एवं तत्कालीन साहित्यिक तथा नैतिक मानों की अवहेलना के विरुद्ध गुप्त जी की धारणा थी कि राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक नव चेतना के प्रसार काल में उद्बोधन के गीत न गाकर नख-शिख वर्णन या नायिका-भेद की शैली पर शृङ्गारिक कविता लिखना आत्महनन है। आपने लिखा था—"नायिका-भेद, बाग बगीचा, चन्दन-चाँदनी तथा खस-खासे आदि के वर्णन में शक्ति का अपहार न करके पेट का धन्धा करने, बाल-बच्चों को पालने तथा कुछ अर्जित करने का कार्य करना चाहिये।"[१] इस आदर्श की परिपूर्णता हेतु गुप्त जी भारतेन्दु की ही भाँति साहित्य को विलासिता एवं कामुकता परक रचनाओं की अपेक्षा नव-चेतना तथा सांस्कृतिक जागरण की उन्नायक रचनाओं से भरना चाहते थे। उक्त आलोचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी की आलोचनाओं में रचना का कलात्मक मूल्यांकन गौण और रूप की लोक-प्रियता प्रमुख है। इसी प्रकार विषय वस्तु के कलात्मक निरूपण की ओर उनका ध्यान नगण्य और उसके समाज हितैषी पक्ष की ओर अधिक है। न तो उन्होंने 'अश्रुमती' एवं 'तारा' के नाटकीय तथा औपन्यासिक तत्वों के सफल एवं असफल निरूपण की शास्त्रीय शैली का अनुसरण किया और न आधुनिक आलोचक की भाँति संधि, अर्थ प्रकृति, कार्यावस्था तथा अभिनेयता आदि का विवेचन किया। इसके विपरीत सामाजिकों तथा पाठकों के दिल-दिमाग पर पड़ने वाले रचना के सम्भाव्य प्रभाव की विवेचना की है। अस्तु, उक्त रचनाओं में गुप्त जी एक प्रभाववादी आलोचक के रूप में प्रकट हुए हैं।

अश्रुमती की आलोचना से आलोचक गुप्त जी के

१—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, पृ० ५६५।
२—सरस्वती, भाग ७, संख्या १२, पृ० ४८९।

१—भारतमित्र, २० जौलाई, सन् १९०१ ई०।

विषय में यह भी ज्ञात हो जाता है कि वे नाटककार के कर्त्तव्य एवं अधिकार से पूर्णतः अवगत थे। उन्होंने नाटककार को कल्पना के लिए दोषी नहीं ठहराया, किंतु उनके मतानुसार वही कल्पना श्रेष्ठ कही जायेगी जो यथार्थ के समन्वय से मूलकथा की प्रेषणीयता तथा प्रभावशीलता का उत्कर्ष करती हो; इसके विपरीत मूल ऐतिहासिक तथ्यों का विलोपन करने वाली कल्पना निंदनीय समझी जायेगी। सुतराँ, स्पष्ट है कि गुप्त जी की प्रवृत्ति आदर्शात्मक थी। उन्हें इतिहास का भी समुचित ज्ञान था। उन्होंने मुस्लिम इतिहासकारों तथा अंग्रेज लेखकों के ग्रन्थों के आधार पर नाटककार की कल्पना के विरुद्ध प्रमाणित कर दिया था कि अश्रुमती प्रताप की पुत्री न थी और न उसका पृथ्वीराज एवं जहाँगीर के साथ प्रेम था। गुप्त जी ने प्रताप एवं पृथ्वीराज के आदर्श चरित्रों की रक्षा करके लोक-रुचि को स्थायी बनाये रखने का प्रबल प्रयास किया था और कामुकतापरक रचनाओं की वृद्धि पर अवरोध खड़ा करके हिन्दी भाषा तथा साहित्य का परम हित किया था। वे स्वयं आदर्श के प्रबल समर्थक थे और अपनी आलोचना द्वारा दूसरों को भी उसके संरक्षण के लिए विवश करते थे।

गुप्त जी साहित्यांतर्गत सुरुचि, आदर्श-प्रियता, उपयोगिता और समाज हितैषिता आदि के जहाँ प्रबल समर्थक थे, वहाँ सरलता आदि गुणों के भी पोषक थे। 'तुलसी-सुधाकर' पर लिखी गुप्त जी की पंक्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि उनकी दृष्टि में सरल, सुबोध और सरस रचनाएं साहित्य की अमर निधियाँ हैं, इसके प्रतिकूल पांडित्य प्रदर्शनार्थ प्रणीत रचनाएं निरर्थक एवं अनुपयोगी। सुधाकर द्विवेदी ने 'तुलसी-सतसई' के क्लिष्ट दोहों पर कुण्डलियाँ लिखीं, जो मूल दोहों से अधिक दुर्बोध एवं कूट थीं। गुप्त जी की मान्यता थी कि तुलसी के दोहे के अर्थ-गाम्भीर्य को समझकर सुधाकर जी ने सामान्य पाठकों को समझाने का प्रयास नहीं किया, यदि ऐसा करते तो उनका श्रम सफल और साहित्य का परम हित होता। 'तुलसी-सुधाकर' की आलोचना आलोचक गुप्त जी के इस गुण की परिचायक है कि उन्होंने सदैव सरल, स्वाभाविक और बोधगम्य भाषा का प्रयोग किया तथा अपने समकालीन लेखकों को भी इसी प्रकार की भाषा लिखने के लिए बाध्य किया। उन्होंने भाषा में यह गुण उत्पन्न करने के लिए पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तक को टोका था। गुप्त जी ने गद्य-लेखक के रूप में हिन्दी की जातीय शैली की स्थापना की, यह उनकी सबसे प्रमुख विशेषता है।

आलोचक गुप्त जी की एक विशेषता नए लेखकों को प्रोत्साहित करना भी था। आपने पं० प्रतापनारायण मिश्र से 'जपौ निरन्तर एक जबान, हिन्दी, हिन्दू, हिंदुस्थान' का महामन्त्र धरोहर स्वरूप ग्रहण किया था। इस साध्य की साधना में रत जितने भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये, गुप्त जी ने उनके उत्साह की वृद्धि की। प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को खोज-खोजकर गुप्त जी ने उत्साहित किया और उन्हें कुशल लेखक बनाया। मुस्लिम कालीन भारतीय इतिहास के ज्ञाता, हुँमायूँनामा, जहाँगीर तथा खानखाना आदि उपयोगी पुस्तकों के प्रणेता मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़, उनके सुयोग्य पुत्र तथा होनहार कवि पीताम्बर प्रसाद, सत्यानारायण कविरत्न, महावीर प्रसाद गहमरी, 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादक हरिकृष्ण जौहरी, 'वीरभारत' (कलकत्ता) के सम्पादक रामानंद शर्मा तथा नवजादिक लाल श्रीवास्तव, जिन्होंने मतवाला' मण्डल में रहने के बाद 'चाँद' में कार्य किया था, पं० श्रीधर पाठक, ब्रजनाथ गोस्वामी, साहित्यवाचस्पति पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय, 'राजस्थान' पत्र के सम्पादक श्री गंगाप्रसाद आदि लेखकों का गुप्त जी ने सदैव उत्साह वर्द्धन किया। कई व्यक्ति तो उनकी भाषा-शैली के अनुकरण पर हिन्दी-लेखन-कार्य में दीक्षित हुए और कितनों की रचनाओं को 'भारतमित्र' में प्रकाशित करके प्रोत्साहन दिया गया। पं० श्रीधर पाठक के प्रोत्साहन हेतु लिखीं निम्न पंक्तियों से उनके कार्य की गुरुता का आभास होता है। गुप्त जी ने लिखा था—"क्या ही अच्छा होता, यदि आप केवल कविता लिखते और आलोचना करने वालों की बात का बुरा-भला न

मानते। आपको उत्तर की क्या जरूरत, जबकि आपकी उत्तम कविता आप-से-आप लोगों को मोहित कर लेती है।XX XX यदि आप कुछ लिख जावेंगे, तो सौ-दो-सौ वर्ष बाद शायद आपके नाम की पूजा तक हो सकती है।[1]

गुप्त जी की सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा-सुधार विषयक लेख-माला एवं अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'अधखिला फूल' पर लिखे गए लेखों में दीख पड़ता है। इन लेखों में गुप्त जी ने द्विवेदी जी की भाषा की कुछ भूलों—शब्दों के अशुद्ध प्रयोग, मुहावरों का गलत प्रयोग, अप्रचलित एवं क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग, लिंग एवं वचन विषयक अशुद्धियाँ तथा विराम चिन्हों की अवहेलना आदि का उल्लेख बड़ी स्पष्टता के साथ किया है। इसी प्रकार अयोध्या सिंह उपाध्याय द्वारा प्रयुक्त अशुद्ध तद्भव शब्दों एवं मुहावरों पर खेद प्रकाश किया है। आलोचक गुप्तजी भाषा के रूप-निर्माण एवं शैली-विधान के विषय में बड़े सचेष्ट थे। उन्होंने आलोचक के पावन स्थान से भाषा की व्यावहारिकता एवं जातीयता के विकास पर अपार बल दिया था।

आलोचक गुप्त जी की निर्भीकता एवं निष्पक्षता के साथ सिद्धान्त प्रियता का प्रमाण मुरादाबाद निवासी लाला शालिग्राम को उनकी पुस्तक 'कामशास्त्र' पर दी गई फटकार है। इस पुस्तक की प्रशंसात्मक आलोचना लिखाने के लिए उसे गुप्त जी के पास भेजा था और किसी प्रसिद्ध योगी से स्वप्न में प्राप्त होने का उल्लेख किया था। किंतु, गुप्त जी साहित्य में सुरुचिपूर्ण तथा लोक-हित-विधायक रचनाओं का समर्थन करने वाले आलोचक थे। अतः आपने लेखक की आत्मश्लाघा एवं अहम्मन्यता पर करारी चोट करते हुए, उसे समाज तथा देश-हित-विधायक रचना करने का परामर्श दिया।

'गुलशने-हिन्द' की आलोचना में कृति के रचना काल की परिस्थितियों का अध्ययन करके गुप्त जी ने उर्दू के रूप-परिवर्तन पर प्रकाश डाला है। दिल्ली के ह्रास पर उर्दू के लेखकों ने लखनऊ में आश्रय पाया था। उस समय उनकी भाषा-विषयक नीति पूर्णतः परिवर्तित होगई थी। वे उर्दू से साधारण बोल-चाल के शब्दों का बहिष्कार करके उनके स्थान पर अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों को प्रश्रय दे रहे थे। इस पुस्तक की आलोचना में गुप्त जी हिन्दी-उर्दू विषयक कितनी ही ज्ञातव्य बातों के उल्लेख की दिशा में एक वैज्ञानिक आलोचना की भाँति बढ़ रहे थे, पर उन्हें शीघ्र महायात्रा के लिए तैयार होना पड़ा। पुस्तक की भूमिका पर लिखी गुप्तजी की आलोचनात्मक पंक्तियाँ भाषा-इतिहास के सम्बन्ध में अच्छे निष्कर्षों पर पहुँचतीं हैं।

आलोचक गुप्त जी के रचना दृष्टिकोण, विचार-धारा और साहित्य सृजन की दिशा से परिचित होने के लिए अन्य पत्र-सम्पादकों एवं लेखकों को लिखे पत्रों पर भी विचार करना आवश्यक है। आपने निरुत्साहित पं० श्रीधर पाठक को अकाल ग्रस्त जनता के उद्धार के लिए बच्चों की ओर से एक कविता लिखने का परामर्श दिया था, जिसमें बादलों से वर्षा की प्रार्थना की जाये।[1] इससे स्पष्ट है कि गुप्त जी कोरे कल्पना जीवी लेखक तथा आलोचक न थे, बल्कि लोक-कल्याण तथा देश-हितैषिता के भाव ही उनकी रचना के प्रेरणास्त्रोत थे। गुप्त जी की जागरूकता एवं राष्ट्रभक्ति का ज्ञान 'जमाना' सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम के लिए लिखे गए पत्र से होता है, जिसमें उन्होंने उनको 'जमाना' द्वारा देश की खिदमत करने तथा स्वाधीनता परक रचना करने का पावन परामर्श दिया था।[2] गुप्त जी की आलोचना का यही उद्देश्य था। साहित्य उनके लिए आज के अधिकांश आलोचकों की भाँति व्यसन नहीं, एक मिशन था; साध्य नहीं, एक साधन था; मनोरंजन एवं मनोविनोद का माध्यम नहीं, सामाजिक एवं राजनैतिक क्रान्ति का प्रबल अस्त्र था। यही कारण है कि गुप्त जी की आलोचना का रूप सर्वदा लोकप्रिय और विषय वस्तु समाज हितैषी

१—गुप्त जी का पाठक जी को लिखा पत्र, २६-११, १९०० ई०।

१—गुप्त जी का पं० श्रीधर पाठक को पत्र, २६-११-१९०० ई०।

२—जमाना, अक्टूबर-नम्बवर, सन् १९०७, पृ० ३०३।

रहती थी। उन्होंने आलोचना को सामाजिक और साहित्यिक प्रगति के एक समर्थ साधन के रूप में स्वीकार किया था। अस्तु, गुप्त जी भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हिंदी-आलोचना की जातीय परम्परा के समर्थ उन्नायक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। गुप्त जी द्वारा प्रवर्तित एवं पल्लवित हिन्दी-आलोचना की लोक-मंगल की साधना वाली पद्धति वाद में आचार्य शुक्ल जी द्वारा पूर्ण विकसित की गई। गुप्त जी की इस जागरूकता एवं सजग दृष्टिकोण वाली आलोचना पद्धति का आधुनिक प्रगतिशील आलोचना पद्धति पर अधिकांश में प्रभाव पड़ा है। सुतराँ, गुप्त जी देशभक्त, अंग्रेजी शासन तथा उसके समर्थक भारतीयों के निर्भीक आलोचक, समाज शास्त्री, बहुपठित, सहानुभूति पूर्ण प्रोत्साहन दाता, कला को उपयोगिता की तुला पर तोलने वाले समर्थ लेखक तथा तुलनात्मक एवं लोक मंगल की साधना वाली समीक्षा पद्धति के जन्मदाता एवं जागरूक आलोचक थे।

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

इसके अतिरिक्त रूप-प्रधान होने के कारण ये कलायें लोक में इतनी अधिक प्रचलित भी नहीं जितना कि काव्य अथवा सार्थक संगीत है, जो काव्य के अत्यन्त निकट है। भारतीय परम्परा में 'साहित्य' का प्रयोग काव्य अथवा अर्थ-युक्त शब्द के माध्यम में साकार होने वाली नाटक आदि कलाओं के अर्थ में हुआ। साहित्य का आधुनिक प्रयोग अत्यन्त व्यापक है। काव्य, नाटक आदि के अतिरिक्त उसमें विज्ञान, शास्त्र, दर्शन आदि सभी प्रकार की रचनायें सम्मिलित हैं जिनका माध्यम सार्थक शब्द है। यह स्पष्ट है कि इन सबको कला की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं समेटा जा सकता। कला का लक्ष्य सौन्दर्य है। विज्ञान, शास्त्र दर्शन आदि का सौंदर्य से कोई प्रयोजन नहीं होता। उनका एकमात्र प्रयोजन सत्य का अनुसन्धान होता है। सम्भवत: मनुष्य जीवन में इस सत्य का प्रयोजन भी है। किन्तु विज्ञानों और शास्त्रों में एक तटस्थ भाव से उदासीन रूप में सत्य का निर्णय किया जाता है। इसी भाव को और स्पष्ट करके यह कहा जा सकता है कि विज्ञान और शास्त्र सत्य के अनुसंधान और उद्घाटन हैं। इनके विशारद सत्य का निर्माण नहीं करते। दूसरे अर्थों में विज्ञान और शास्त्र रचनात्मक नहीं हैं। सत्य सौन्दर्य के समान रचना का विषय नहीं है।

काव्य के अतिरिक्त साहित्य के अन्य रूपों को पृथक करने के लिए उनके सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं। साहित्य के विज्ञान शास्त्र आदि अंगों का प्रयोजन सत्य का उद्घाटन है, सौन्दर्य का सृजन नहीं। कला और सौन्दर्य का विवेचन करने वाले शास्त्र भी रचनात्मक नहीं वरन् अन्य शास्त्रों के समान ही कला और सौन्दर्य के स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। मानवीय चेतना का धर्म होते हुये भी जीवन के प्रयोजनों से इनका आवश्यक सम्बन्ध नहीं। ज्ञान को समृद्ध बनाना तो इनका उद्देश्य है किन्तु जीवन को समृद्ध बनाना इनके ध्येय का अङ्ग नहीं हैं। मानवीय जीवन-सम्बन्धी विज्ञान और शास्त्र भी सामाजिक सत्य का उद्घाटन करते हैं। वे न अपने स्वरूप में रचनात्मक हैं और न समाज की रचनात्मक योजना उनका ध्येय है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कला साहित्य के प्राचीन और नवीन सीमित और व्यापक प्रयोगों की विभाजक है। सौन्दर्य का साधक रचनात्मक साहित्य 'कला' है और कला के समान ही वह जीवन को समृद्ध बनाता है। शब्द के माध्यम में मूर्त होने वाली यह 'साहित्य कला' एक ओर समस्त विज्ञानों और दर्शनों की अर्थ सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी है तथा दूसरी ओर शब्द की व्यापक सामर्थ्य के कारण उसे सभी कलाओं की रूप-विभूति प्राप्त है। जिसे काव्य शास्त्र की परम्परा में कवि का महान भार कहा जाता है वह उसका गौरव भी है। कला और ज्ञान, सौन्दर्य और सत्य की दो महान् विभूतियों का उत्कृष्टतम समन्वय होने के कारण साहित्य अथवा काव्य कला और संस्कृति का सबसे अधिक सम्पन्न रूप है।

प्रसाद का नाट्यविधान पश्चिमी शैली का है

डा० गोपीनाथ तिवारी

प्रसाद जी की पृष्ठभूमि में स्थित हैं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनका काल। भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में पूर्वी नाट्य-शास्त्र के साथ-साथ पश्चिमी नाट्य शैली का भी विवेचन किया है। उनके नाटकों में भी दोनों शैलियों के नाटक हैं। एक ओर संस्कृत नाट्य-शास्त्र की कसौटी पर खरी उतरने वाली चन्द्रावली नाटिका है तो दूसरी ओर पश्चिमी नाट्य शैली के अनुसार लिखा 'नीलदेवी' एक दुखान्त नाटक है। इतने पर भी यह कहना पड़ेगा कि भारतेन्दुजी की दृष्टि प्रधानतः भारतीय नाट्यशैली की ओर थी। इसके विपरीत प्रसाद जी ने अपने नाटकों में पश्चिमी नाट्य शैली को अपनाया है। यह युग का तक़ाजा था और प्रसाद जी का अपना दृष्टिकोण था।

कथानक—प्रसाद जी के नाटकों के कथानक का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है। प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। केवल जनमेजय के नाग यज्ञ में थोड़ी सी पौराणिकता आगई है। ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटक के अन्तर को बताने वाला शब्द है "अलौकिकता"। ऐतिहासिक नाटक में मानवी जीवन मिलता है जबकि पौराणिक नाटक में "अतिमानवी" या "अलौकिक" जीवन। असाधारणता एवं अलौकिकता में बड़ा अन्तर है। नैपोलियन असाधारण वीर था किन्तु अलौकिक पुरुष नहीं। हमारे राम एवं कृष्ण अलौकिक देवता हैं। काश्मीर अभियान में कुछ भारतीय वीरों ने असाधारण साहस दिखाया था परन्तु यदि कोई नाटककार आगे चलकर यह दिखा दे कि सेना-नायक ने हथेली बजाई और पहाड़ छूमंतर होगया और इस कृत्य की कोई तार्किक व्याख्या प्रस्तुत न करे तो नाटक पौराणिक बन जायेगा। हमारे पुराण इतिहास ही हैं किन्तु हम उन्हें पुराण कहते हैं क्योंकि उनमें अलौकिकता भरी पड़ी है। एक घटना के विश्लेषण से यह अन्तर अधिक स्पष्ट हो जायेगा। रामचरितमानस में लिखा है कि इन्द्र के पुत्र जयन्त ने काक का रूप बनाकर सीताजी के चरणों में चोंच मारी। यह अलौकिकता है। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने अपने नाटक "सीता हरण नाटक" में इसे दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। जयन्त एक पक्षी-विशेषज्ञ था। उसने सैकड़ों पक्षी पाल रक्खे थे। उन्हें वह भिन्न-भिन्न कार्यों की शिक्षा देता था जैसे कि आज कबूतरों और कुत्तों को सेना एवं पुलिस में शिक्षित किया जाता है। जयन्त ने सीता को देख राम की परीक्षा करने की एक विधि निकाली। उसने अपने एक शिक्षित काक द्वारा सीता के पैर का मांस नुचवा डाला। यहाँ घटना अलौकिक नहीं है वरन् मानवी जीवन के अनुरूप है, जो तर्क सम्मत है। डा० रांगेयराघव एवं श्री के० एम० मुंशी ने अपनी 'प्रतिदान' एवं 'भगवान परशुराम' नामक पुस्तकों में द्रोणाचार्य्य एवं परशुराम जैसे पौराणिक पुरुषों को शुद्ध मानवी रूप दे दिया है। ये दोनों ग्रन्थ ऐतिहासिक होगये हैं, पौराणिक नहीं रहे हैं। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक रूप की रक्षा की है। नाग यज्ञ नाटक ही अकेला अपवाद रूप है। उसमें मनसा मंत्र बल से एक जादू भरा दृश्य सरमा को दिखाती है (१-१)। इस दृश्य में कृष्ण एवं अर्जुन वार्त्तालाप करते हैं और खांडव वन को जला डालते हैं। मनसा इसकी व्याख्या करती हुई कहती है कि यह 'इन्द्रजाल' था। यह उसी प्रकार का दृश्य है जैसा कृष्ण ने गीता में अर्जुन को दिखाया था। वहाँ उसे योगबल कहा गया है, यहाँ मंत्र बल। इस थोड़ी सी पौराणिकता को छोड़कर 'नागयज्ञ' नाटक ऐतिहासिक है। इसमें जनमेजय महाभारत के अनुरूप यज्ञ में सर्पों को नहीं जलाता। वरन् नाग एक अनार्य

जाति थी। जनमेजय उनको पराजित करता है, क्रुद्ध होकर कुछ मुख्य नाग-पुरुषों को आग में डालने का दंड देता है। इस प्रकार 'नागयज्ञ' नाटक को ऐतिहासिक बना लिया है। यह ऐतिहासिक दृष्टि आधुनिक युग की देन थी जो पश्चिम से आई थी। अपने नाटकों की भूमिकाओं में उन्होंने ऐतिहासिक तथ्य भी दिये हैं जिनके आधार पर नाटकों का निर्माण हुआ है।

इस ऐतिहासिक कंकाल में प्रसाद जी ने कल्पना का रक्त भरा है और राष्ट्रीयता की प्राण-प्रतिष्ठा की है। अपने सभी नाटकों में प्रसाद जी की राष्ट्रीयता मुखर है। यह राष्ट्र-भावना अनेक रूपों में प्रतिबिंबित है। अलका चन्द्रगुप्त नाटक में भीड़ के साथ समवेत स्वर में राष्ट्रीय गीत गाती है "हिमाद्रि तुंग शृङ्ग" (४—६)। कार्नेलिया और धातुसेन विदेशी होते हुए भी भारत को प्यार करते हैं (चन्द्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त)। लगभग सभी नाटकों में राष्ट्रीय भावना से भरे शब्द कहीं न कहीं पात्रों के मुख से निकल पड़ते हैं। अतीत भारत का गौरव-गान भी इसी के अन्तर्गत है।

पश्चिमी नाटकों में संघर्षपूर्ण एवं चमत्कार सम्पन्न गत्यात्मक कथानक को प्रधानता दी गई थी। प्रसाद जी में ये दोनों गुण भरपूर मात्रा में हैं! प्रसादजी के सभी ऐतिहासिक नाटकों का कथानक संघर्ष के धरातल पर टिका है। यह संघर्ष दो प्रकार का है, वाह्य-संघर्ष एवं हार्दिक संघर्ष। वाह्य संघर्ष रूप में कहीं भारतीयों का विदेशियों से संघर्ष है। चन्द्रगुप्त नाटक में यूनानियों से लोहा लिया जाता है, स्कन्दगुप्त में शकों एवं हूणों से युद्ध होता है। कहीं यह संघर्ष भारतीय राज्यों के बीच ही होता है (अजातशत्रु)। आर्य-अनार्य संघर्ष भी मिलता है (नागयज्ञ)। पारिवारिक संघर्ष तो जगह-जगह खड़ा है। (स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी)। कहीं यह प्रवृत्तियों का प्रतीक बन जाता है (कामना)। हृदय संघर्ष तो सर्वत्र ही मिलता है। मागंधी, देवसेना, विजया, विरुद्धक, स्कन्दगुप्त का जीवन इस हार्दिक संघर्ष के उदाहरण हैं। पश्चिमी आलोचकों का मत है कि संघर्ष प्रधान नाटक ही उत्तम होता है। दुखान्त नाटकों के मूल में संघर्ष ही भरा होता है।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में चमत्कार पूर्ण घटना गति को भी प्रचुरता से प्रश्रय दिया है। उनके नाटकों में पात्रों का सहसा प्रवेश इसका ज्वलन्त उदाहरण है। चन्द्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त में एक दर्जन से अधिक बार सहसा प्रवेश होता है। कल्याणी या देवसेना आत्मघात करना चाहती है, सहसा नायक का प्रवेश होता है। देवसेना वलि दी जाने वाली है, सहसा स्कन्दगुप्त वहाँ आ जाता है। राज्यश्री चिता में कूदना ही चाहती है कि सहसा हर्ष का प्रवेश होता है। घटना प्रवाह को वदलने का यह चमत्कार पूर्ण ढङ्ग प्रसादजी में अधिकता से है। कुभा में वहती स्कन्द की सेना अथवा सुएन च्वांग की वलि होते समय आँधी का प्रकोप भी चमत्कार से भरे दृश्य हैं। चन्द्रगुप्त एवं नागयज्ञ में दांड्यायन एवं व्यास की भविष्यवाणियाँ भी इसी चमत्कार भावना पर प्रकाश डालती हैं।

भारतीय नाट्यविधान में अङ्कों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया जाता किन्तु प्रसाद जी ने ऐसा किया है। दृश्यों का आरम्भ एवं अन्त भी पश्चिमी शैली का है। दृश्य के आरम्भ में रंग सज्जा दी है, पात्रसूची या पात्र की मुद्रा भी। उदाहरण स्वरूप—

(क) स्थान—काश्मीर का एक कुंज, पास ही हरा भरा खेत, (शिलाखंड पर बैठा हुआ स्नातक विशाख) (विशाख १—१)

(ख) स्थान—पत्नीशाला की पिछली खिड़की (आस्तिक टहल रहा है) (योद्धा के वेश में मणिमाला का प्रवेश) (नागयज्ञ ३—५)

(ग) स्थान—प्रकोष्ठ (राजकुमार अजातशत्रु, पद्मावती, समुद्रदत्त और शिकारी लुब्धक (अजातशत्रु १—१)

(घ) स्थान—तक्षशिला के गुरुकुल का मठ, (चाणक्य और सिंहरण) चन्द्रगुप्त (१—१)

दृश्यान्त में भी पश्चिमी शैली दिखाई पड़ती है। चमत्कार के साथ-साथ प्रकाश-व्यवस्था का भी संकेत किया है।

(क) सब स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त को देखते हैं और चन्द्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है। एक दिव्य आलोक। (चन्द्रगुप्त १–११)

(ख) दोनों ही सिल्यूकस के पास जाते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि। (४–१४ चन्द्रगुप्त)

(ग) सब उतरना चाहते हैं, कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है, सब बहते हुए दिखाई देते हैं। (स्कन्दगुप्त ३ का अन्तिम दृश्य)

(घ) पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़ कर नेपत्य में ले जाता है, देवसेना चकित होकर स्कन्द का आलिंगन करती है। (स्कन्दगुप्त अङ्क ३)

(ङ) सैनिक प्रहार करते हैं। 'आग, आग' का हल्ला। नरदेव घबरा कर भीतर भागता है। चन्द्रलेखा और विशाख को लेकर नागलोग भागते हैं। आग फैल जाती है। प्रेमानन्द, राजा को अग्नि में से घुसकर उठा लाता है, और पीठ पर लाद कर चला जाता है।
(विशाख ३–४)

(च) सुरमा के साथ सब विकट नृत्य करने लगते हैं। भिक्षु प्रार्थना करता है। अकस्मात् आँधी के साथ अन्धकार फैलता है। सब चिल्लाने लगते हैं—"दस्यु-पति, उस भिक्षु को छोड़ दो। उसी के कारण यह विपत्ति है, छोड़ो उसे। प्रार्थना करते हुए सुएनच्वांग को सब धक्का देकर हटा देते हैं (राज्यश्री ३–४)

भारतीय नाट्यशास्त्र द्वारा वर्जित दृश्य, जो चमत्कार एवं वास्तविकता की दृष्टि से उचित माने जाते हैं, प्रसाद जी के नाटकों में बहुतायत से हैं। ऊपर के उद्धरणों में आलिंगन एवं आग का लगना चित्रित है। स्कन्दगुप्त एवं नागयज्ञ में युद्ध के दृश्य हैं। आत्मघात एवं मृत्यु की तो नाटकों में हाट लगी है। प्रेमचन्दजी एवं प्रसाद जी पात्रों को मारने में बड़े दक्ष हैं। निश्चय ही ये सब पश्चिमी शैली अपनाने के कारण नाटकों में प्रदर्शित हुए हैं।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों में संधियों की अनिवार्यता स्वीकृत है (नाट्यशास्त्र, निर्णयसागर, १९–१०२, १०३)। क्या प्रसादजी ने अपने नाटकों में सन्धि-समन्वित कथानक रक्खा है। कुछ विद्वान् आलोचकों एवं खोजकों ने प्रसादजी में संधियाँ खोजी भी हैं। नाट्यशास्त्र में संधियों की अनिवार्यता इसीलिये रक्खी गई थी कि कथानक शृङ्खलित बन जाय। अतः जहाँ भी शृङ्खलित एवं व्यवस्थित कथानक प्राप्त हो जाय वहाँ संधियाँ ढूंढ़ी जा सकती हैं। इसी दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में संधियों का अध्ययन किया गया है। भारतेन्दु जी ने स्वयं अपने 'नाटक' नामक निबंध में मत दिया था "अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृत्ति नाट्यालङ्कार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं पंचसंधि, वा ऐसे ही विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही" (भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहिला भाग, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० ७२२)

यह युग की माँग थी। प्रसाद जी के निकट तो युग और आगे बढ़ गया था। वे कैसे संधियों के पचड़े में सिर खपाते? उनके नाटक भी यही बताते हैं कि उन्होंने संधियों का ध्यान नहीं रक्खा है। संधि का अर्थ है अर्थ प्रकृति एवं कार्य अवस्था का मेल। अर्थ प्रकृतियाँ कथा के पाँच अंश हैं। अतः ये सर्वत्र प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु कार्य अवस्थाओं की प्राप्ति दुखान्त नाटकों में संभव नहीं है। प्राप्त्याशा तीसरी अवस्था है। इसमें फल प्राप्ति की सम्भावना होनी चाहिए। यह भी संघर्ष की कथा में मिल सकती है। किन्तु नियताप्ति एवं फलागम के लिए नाटक में सङ्घर्ष की शान्ति एवं सुखान्तता आवश्यक हैं। वास्तव में कार्य अवस्थाओं के नाम से ही ज्ञात होता है कि इनकी अवधारणा के पीछे सुखान्त नाटकों की स्थिति है। दुःखान्त नाटकों के प्रसङ्ग में नियताप्ति एवं फलागम नाम उचित नहीं जंचते हैं। यही हाल सन्धियों का है। गर्भसन्धि में सङ्घर्ष की तीव्रता एवं उसका ह्रास प्रदर्शित हो जाना चाहिये। विमर्श सन्धि में श्राप इत्यादि से गति में थोड़ा व्यवधान पड़ सकता है परन्तु फल सुनिश्चित सा हो जाता है। निर्वहण में तो फल की सन्निधि ही दिखाई जाती है। प्रसाद जी ने सन्धियों को ध्यान से नहीं रक्खा है, यह बात

उनके नाटकों से प्रकट हो जाती है। स्कन्दगुप्त में सङ्घर्ष अन्त तक चलता है। केवल अन्तिम से पूर्व दृश्य में हूण पराजित होते हैं एवं विमाता अपना पक्ष हार बैठती है। इससे स्पष्ट है कि नियताप्ति की अवस्था तो है ही नहीं, फलागम की भी सम्पूर्णता नहीं है। फलतः विमर्श एवं निर्वहण सन्धियों का विकास नहीं हुआ है। विशाख एवं नागयज्ञ का भी लगभग यही हाल है। एकाध वाक्यों के बल पर नियताप्ति एवं विमर्श की सङ्घटना नहीं मानी जा सकती। इसके लिए पूरी विकसित अवस्था अपेक्षित

अजातशत्रु एवं चन्द्रगुप्त में भी चरमसीमा के बाद अन्त होता है। सन्धियों का स्फुरण नहीं है। वास्तव में प्रसादजी ने पश्चिमी पाँच कथाँश (प्रारम्भ, प्रगति, चरमसीमा, निर्गति एवं उतार) का अधिक ध्यान रक्खा है। यदि प्रसाद जी सन्धियों का ध्यान रखते तो जो अनावश्यक दृश्य नाटकों में गुंथ गये हैं, वे न गुंथ पाते। स्कन्दगुप्त के चौथे अङ्क के दो दृश्य—नगर प्रान्त में पथ एवं विहार के समीप चतुष्पथ—कथा की अनिवार्यता के अङ्ग नहीं बन सके हैं। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त एवं जनमेजय का नागयज्ञ के दांड्यायन आश्रम (चन्द्रगुप्त १–११) एवं व्यासाश्रम (नागयज्ञ ३–१) वाले दृश्य कथा प्रवाह के अनिवार्य्य अंग नहीं है। अजातशत्रु में कारायण एवं शक्तिमती का स्त्रियों पर वाद-विवाद भी सरलतया हटाया जा सकता है (अजातशत्रु ३–४)। पश्चिमी शैली से इन दृश्यों की योजना सदोष नहीं है किन्तु सन्धि स्थापना के विचार से ये दृश्य ठीक नहीं उतरते हैं।

पात्र—पात्र अथवा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी विचार करें तो पश्चिमी शैली ही प्राप्त होती है। अनेक आलोचकों ने नायकों को दृष्टि में रखकर निष्कर्ष निकाला है कि प्रसाद जी ने यहाँ भारतीय नाट्य विधान अपनाया है और उनके नायक धीरोदत्त या धीरललित हैं। प्रसाद जी आदर्शवादी कलाकार हैं अतः उनमें आदर्शोन्मुख नायक प्राप्त होते हैं। कुछ धीरोदात्त भी हैं जैसे चन्द्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त। किन्तु अजातशत्रु एवं जनमेजय धीरोदात्त नहीं हैं। और न वे कोई आदर्श सामने रखते हैं। ध्रुवस्वामिनी एवं चन्द्रगुप्त तो किसी प्रकार से भी भारतीय प्रणाली पर खरे न उतरेंगे (ध्रुवस्वामिनी नाटक)। विशाख ब्राह्मण है अतः भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार वह धीर प्रशान्त बन सकता था किन्तु प्रसाद जी ने उसे प्रेमी-नायक बनाया है जो धीर ललित कहला सकता है। वह धीर ललित भी नहीं क्योंकि एक ब्राह्मण की हत्या कर देता है। स्त्रियों को प्रधानता देना एवं उनको आधुनिक रूप में रखना भी भारतीय नाट्य विधान के अनुरूप नहीं है। वरन् यह भी पश्चिमी प्रभाव है। भिन्न-भिन्न नाटकों में स्त्रियों की भिन्न-भिन्न समस्याओं को उठाया है।

रस—भारतीय नाट्य शास्त्र में रस को अत्यधिक प्रधानता प्राप्त हुई है। आचार्य धनंजय रूपक-भेद का आधार रस बताते हैं—दशधैव रसोप्रयम (दश रूपक १-७) नाटक में वीर या श्रृङ्गार को प्रधानता देनी पड़ती है। प्रसाद जी का अध्ययन हम भले ही रस की दृष्टि से कर लें किन्तु उनके नाटकों में रस को प्रधानता नहीं मिली है। स्कन्दगुप्त में कौनसा रस प्रधान माना जाय ? अन्त तो करुण ही है। नाटक की समाप्ति के बाद भी दर्शक के कानों में स्वर गूँजते रह जाते हैं "आह ! वेदना मिली बिदाई" और उसका हृदय स्कन्द के इन वाक्यों के साथ बैठकर रोता है। "देव सेना, देवसेना ! तुम जाओ, हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !! !" अन्त को ध्यान में रक्खा जाय तो 'करुण' रस को प्रधान माना जा सकता है। किन्तु करुण रस प्रधान है नहीं क्योंकि उसके सब अंग विकसित नहीं हुए हैं। पूरे कथानक को देखने से वीर प्रधान माना जा सकता है। किन्तु वीररस का पर्यवसान करुण में दिखाना रस की दृष्टि से उचित नहीं है। भारतीय नाट्य विधान में रस को दृष्टि में रखकर नियम बनाया गया था कि नाटकों का अन्त, सुखांत होगा। प्रसाद जी के दो तीन नाटकों का अन्त ऐसा ही है जैसे नागयज्ञ, विशाख। किन्तु प्रसाद जी के अधिकांश नाटक सुखांत नहीं कहे जा सकते। प्रसाद जी जान बूझकर सुखांत अवस्था में दुख की धारा बहा देते हैं। अजातशत्रु में

(शेष पृष्ठ ४७ पर)

नई कविता में चमत्कारवाद

प्रो० रमाशङ्कर तिवारी एम० ए०

नई कविता स्थिर गति से आगे बढ़ती जा रही है। 'सौन्दर्य-बोध के नए स्तर' एवं 'यथार्थ के नए धरातल' उसमें विकसित होते जा रहे हैं। कवि अपने नवीन प्रयोगों की व्याख्या तथा समर्थन करने में भी तत्पर दिखाई पड़ रहे हैं। लेकिन, इनमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी पनपती जा रही हैं, जो सामान्य पाठक अथवा भावक को कठिनाई में डाल देती हैं। कुछ कविताओं में अस्पष्टता, दुरूहता, कुरुचि एवं व्यर्थ का कुतूहल प्रविष्ट हो जाते हैं और भावक के लिए उन्हें तर्क-संगत धरातल अथवा आधार पर व्याख्यायित करना एक समस्या बन जाती है। इन सम्पूर्ण तत्त्वों को हमने 'चमत्कारवाद' के भीतर गृहित किया है। प्रस्तुत निबन्ध में कुछ नई कविताओं की परीक्षा की गई है तथा प्रयत्न यह किया गया है कि पाठकों के एक विशिष्ट समुदाय की प्रतिक्रियाएँ स्पष्ट रूप से सामने आ जायँ।

एक कवि की "प्रेम की कुछ कविताएँ" हमारा ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करती हैं।[1] शीर्षक से ऐसा लगता है, मानो अलग-अलग कई कविताएँ होंगी। लेकिन, जिस रूप में रचना प्रकाशित है, उससे यह प्रतीति खंडित हो जाती है। सम्पूर्ण कविता में छः बार पूर्ण विराम का प्रयोग हुआ है। कभी जान पड़ता है कि ये सभी खंड परस्पर अनुस्यूत हैं और कभी लगता है कि बात ऐसी नहीं है। प्रथम खंड यों है—

"तुममें कहीं कुछ है
कि तुम्हें उगता सूरज,
मेमने, गिलहरियाँ,
कभी-कभी का मौसम
जंगली फूल, पत्ते, टहनियाँ भली लगती हैं

१ 'युगचेतना', जनवरी १९५७

आओ उस कुछ को हम दोनों प्यार करें
एक दूसरे के लिए विगलित मन को स्वीकार करें।"

कवि अपनी प्रेमिका के 'उस कुछ' की दाद दे रहा है। यह 'कुछ' एक दूसरे के लिए 'विगलित मन' ही है जैसा कवि स्वयं स्पष्ट कर देता है। मन ही वह तत्त्व है जो सूरज, मेमने इत्यादि पर रीझ सकता है तथा जो अपने प्रिय के लिए विगलित हो सकता है। कवि का अनुरोध है कि 'आओ, हम दोनों उसी को स्वीकार करें।' अब कठिनाई यह है कि उस मन को प्यार करने तथा स्वीकार करने का क्या अर्थ हो सकता है? अथवा यदि यह 'कुछ' मन नहीं है, तो फिर कौन-सा अनिर्वचनीय तत्त्व है जो प्रेम के परिचित राज्य में प्रवेश कर, एक विचित्र प्रकार का रहस्यवाद उत्पन्न कर देता है?

'कुछ' नई कविता का प्यारा तत्त्व बनता जा रहा है। एक कवि ने "सब कुछ कह लेने के बाद कुछ ऐसा है जो रह जाता है" कह कर, उस 'कुछ' को "अपने पावन विश्वासों की छाया", "गूँगे अभ्यासों की पूँजी" इत्यादि कहा है और उसे वाणी न देने का ही निश्चय किया है।[1] एक अन्य ने "आस्था" की पहेली बुझा कर, इसी 'कुछ' पर अपनी समस्त श्रद्धा एवं पूजा अर्पित कर दी है।[2] यह 'कुछ' पाठकों में विचित्र कुतूहल की सृष्टि करता है।

अब "प्रेम की कुछ कविताएँ" के दूसरे खंड पर विचार कीजिए—

"जब मैं तुम्हारी दया अंगीकार करता हूँ
किस तरह मन इतना अकेला हो जाता है
सारे संसार की मेरी वह चेतना

१ 'नयी कविता' (२), पृ० ४६-४७
२ वही पृ० ७६

निश्चय ही तुममें लीन हो जाती होगी
तुम उसका क्या करती हो मेरी लाड़ली
अपनी व्यथा के संकोच से मुक्त होकर
जब मैं तुम्हें प्यार करता हूँ
जब मैं तुम्हारी दया अंगीकार करता हूँ।"

'लाड़ली' की 'दया अंगीकार' करने का क्या अर्थ हो सकता है? दया याचक को ही मिलती है, फिर उसे अंगीकार करने का याचक के लिए क्या प्रश्न है? दया का अर्थ प्रेम-दान हो सकता है। जब प्रेमिका द्वारा दिया गया प्रेम-दान कवि स्वीकार कर लेता है, तो उसका मन 'इतना अकेला' हो जाता है क्योंकि उसकी संसार-विषयक सम्पूर्ण चेतना प्रेमिका में ही विलीन हो जाती है। यह प्रेम की एक ऐसी दशा अवश्य है जब प्रेमी प्रिय-चिंतन में निमग्न होकर 'अकेलापन' का अनुभव करता है। और, 'जब मैं तुम्हें प्यार करता हूं', तब 'तुम उसका क्या करती हो?' कवि यहाँ पुनः पहेली बुझा रहा है। प्यार को क्या किया जाता है? उसका संचय—किन्तु, तब यह प्रश्न पूछने की कौन आवश्यकता है? 'व्यथा के संकोच' का अर्थ क्या है? 'संकोच' के दो अर्थ हो सकते हैं, 'लाज' और 'समेटना'। 'व्यथा की लाज' निरर्थक है; 'लाज की व्यथा' अवश्य समझ में आती है। 'व्यथा की सिमटन' से मुक्ति पाने में भी कोई बुद्धि-संगत तथ्य हाथ नहीं लगता। पुनः व्यथा से मुक्त होकर प्यार करना भी नई कल्पना है। शायद कवि ने प्रेमिका को जो प्यार किया है उसमें व्यथा का अंश नहीं है, वह उन्मुक्त प्यार है जिसमें किसी प्रकार की कसक, ललक नहीं वर्तमान है—उसमें व्यथानुभूति के कारण संकोच आ जाता है और जब व्यथा का संस्पर्श हट गया है, तो वह विशुद्ध प्रेम बन गया है। लेकिन, मन के 'अकेलापन' में व्यथा का अंश मौजूद है।

उसके बाद—

"क्या होगा इस कभी कभी के मधुर मिलन की घड़ियों
का जीवन की टूटी टूटी इन छोटी छोटी कड़ियों का,
कैसे इनकी विशृङ्खलना मुझको तुझको जोड़ेगी
क्या नाता वही जोड़ेगा, आज जहाँ वह तोड़ेगी।
मैं अलग रहूँ
तेरे चुम्बन से मेरी यह विशालतर करुणा अलग रहे यह कैसे सम्भव है।"

मधुर मिलन की घड़ियाँ जीवन की छोटी-छोटी कड़ियाँ हैं। ये विशृङ्खल हैं। औपपत्य के कारण, अथवा किसी अन्य व्यवधान-वश, कवि अपनी प्रेयसी से मिल नहीं पाता, स्वतन्त्रतापूर्वक। आज मिल कर वे पुनः विप्रयुक्त हो जाएंगे। लेकिन प्रेम का 'नाता' उन्हें वहीं जोड़ देगा। कवि प्रिया के चुम्बन से अलग नहीं रहना चाहता। लेकिन, फिर यह 'विशालतर करुणा' क्या वस्तु है? दूसरे खंड में कवि ने प्रेमिका की 'दया' की बात कही है, और यहाँ अपनी 'करुणा' की घोषणा कर रहा है जो उसकी दया से 'विशालतर' है। पूरी कविता मालूम पड़ती है विप्रलम्भ शृङ्गार की। उसमें 'करुणा' की छाया तो रह सकती है, किन्तु कवि द्वारा किए गऐ प्रिया-मुख-चुम्बन के साथ करुणा का यह लिपटना कुछ अर्थ नहीं रखता।

कवि ने पुनः सलाह दी है—"तू मिल मिल कर शान्त होजा। वह मिलना भूलजा। तेरे उस सुख से मेरा जीवन-धन कैसे अलग रहे।" जिस मिलन के भूलने की बात कही गई है, उससे कवि का जीवन भी लिपटा हुआ है। वह मिलन क्यों भुलवाया जाय? क्या इस लिए कि वह वासना-मूलक था? अबकी बार का मिलन शायद अन्तिम मिलन है जब प्रेमिका की प्यास शान्त हो जानी चाहिए।

कविता की अन्तिम पंक्तियाँ सर्वाधिक स्पष्ट हैं जिनमें प्रेयसी के रूप में कवि की तन्मयी भवन-दशा का कथन किया गया है। जैसा प्रारम्भ में कहा है, पूरी रचना को एक कविता मानकर, अर्थ की अन्विति स्थापित करने की चेष्टा की जा सकती है; और तब यह शीर्षक "प्रेम की कुछ कविताएँ" भ्रामक सिद्ध होगा। यदि यह माना जाय कि जितनी बार पूर्ण विराम प्रयुक्त हुआ है, उतनी संख्या वाले विच्छिन्न-चित्र अङ्कित हुए हैं, तो फिर प्रश्न होगा कि उन चित्रों से

पाठक को क्या कोई रागात्मक तृप्ति मिली ? मन चाहता तो यह है कि प्रेमिका को परकीया मान कर, विप्रलम्भ शृङ्गार के धरातल पर, कवि-मानस के साथ एकरसता स्थापित की जाय। लेकिन, 'करुणा', 'मिल कर शान्त हो जाने' इत्यादि के उल्लेख से कवि का अनुभव इतना वैयक्तिक बन गया है कि उसमें दुरूहता भी आ गई है।

इसी कवि की एक अन्य कविता है "हमारी हिन्दी"।[१] उसमें साधारण मध्यवर्गीय नारी की परिस्थिति का जो चित्र अंकित हुआ है, उसमें यथार्थ का निरावृत्त चित्रण हुआ है, लेकिन वह यथार्थ फूहड़ बन गया है इस कथन से—"और सन्तान भी—जिसका जिगर बढ़ गया है; जिसे वह मासिक पत्रिकाओं पर 'हगाया' करती है।" यदि 'हगाना' नहीं आया होता, तो भी चित्र की यथार्थता अथवा कवि की उसके उन्मलीन के व्यग्रता में कोई कमी नहीं आई होती। विकसित सौन्दर्य बोध की आड़ में ऐसा नग्न, साथ ही अति रंजित, यथार्थ चित्रित करना सुरुचि-सम्पन्नता के विरुद्ध विद्रोह कहा जाएगा जिसे सामान्य पाठकों का अनुमोदन नहीं मिल सकता।

कुछ कविताओं में, नए मूर्ति-विधान के चमत्कार के प्रति आग्रह के कारण, अस्पष्टता आ गई है। "बौनों की गठरी" शीर्षक एक कविता उदाहरण-रूप में ली जा सकती है।[२] कविता वर्षा का 'स्केच' है। वर्षा की बून्दों को बौने बताया गया है; और काले बादलों को यह रूप प्रदान किया गया है—

"अनगिन बौनों की गठरी को सिर पर लादे, कंधों पर बरसाती लम्बी, हाथों में बरसाती जूते, गाँठ गाँठ तक पैण्ट उठाये, कालर बाँधे, बाँह सकेले, बीच नाक पर उल्टी छतरी की डण्डी लटकाये, काली कमरी ओढ़, अंधेरी रातों इन गलियों में, कीचड़ का पेण्ट-बाक्स ले घूम रहा है........"

इन विवरणों से ऐसे व्यक्ति का चित्र तो अवश्य सम्मुख आ जाता है जो रात को बरसात में पैंट उठाए, काली कमरी ओढ़े गलियों में घूमता हो। लेकिन, इस चित्र से काले मेघों के बिम्ब-ग्रहण में क्या सहायता मिलती है, यह समझ में नहीं आता। कवि अथवा उनके मित्र सम्पादक ऐसी आलोचना ग्रहण करने को तैयार नहीं होते; लेकिन सामान्य पाठक तो इस भूल भुलैया में पड़ ही जाता है।

एक अन्य कविता "संस्कृति का आत्म बोध" लीजिए।[१] कविता गम्भीर विषय पर होने के कारण गम्भीर प्रतीत होती है। इसमें संस्कृति प्रेमिका के रूप में अपना बोध करा रही है। शिल्प की दृष्टि से कविता कसी हुई है और पाठक का ध्यान, अपनी अर्थगत सम्भावनाओं का लोभ फेंककर, सद्यः आकर्षित करती है। कविता यह है—

"अनावृता ही रहने दो मुझे यों।
अपारस्परिकता के मध्य कातर हूँ, सुखी हूँ।
प्रिय ओ, मैं नहीं हूं तुम्हारी, पर तुम्हीं तक हूँ बस,
अप्लाविता ही रहने दो, मुझे यों।
तटस्थता के अन्तरालों में असम्भव हूँ, स्फुट हूँ।
प्रिय ओ, मैं नहीं हूं भुजाओं की आतुर, पर उन्हीं भर हूं, बस।
अयाचिता ही रहने दो मुझे यों।
कामावेग की रेखा-गति में अनस्पृष्ट हूँ, स्थिर हूँ।
प्रिय ओ, मैं नहीं हूं तृषा से तरंगिनी, पर उसी से हूँ, बस।
अपुष्पिता ही रहने दो मुझे यों।
उल्लासन की प्रक्रिया में भी अकृष्ट हूं, अनुर्वर हूँ।
प्रिय ओ, मैं नहीं हूँ, जिजीविषा से स्पंदिनी, पर उसी तक हूं, बस।

नारी प्रिय से प्रार्थना करती है कि उसे उन्मुक्त (अनावृत), अप्लावित, अयाचित तथा अपुष्पित ही रहने दिया जाय। वह प्रिय की अपनी निजी वस्तु नहीं है, किन्तु उसका अस्तित्व उसी तक है; वह बाहुलताओं में बंधना नहीं चाहती, किन्तु उसकी सार्थकता भुजाओं तक ही है; वह तृषा या वासना से तरंगित नहीं है,

१ 'युगचेतना', जून, ५७
२ 'नयी कविता' (१), पृ० १४-१५

१ 'युगचेतना', नवम्बर, ५७

किन्तु वासना से ही वह अर्थवती है; उसमें जीवनेच्छा का स्पन्दन नहीं है, किन्तु उसीसे उसकी सत्ता अनुभूयमान है। उसके बाद, वह नारी 'अपारस्परिकता', 'तटस्थता', 'कामावेग' और 'उल्लासन की प्रक्रिया' में अपने को छिपा लेती है। प्रथम दो पद्यों में यौन भाव दबा हुआ है, लेकिन अन्तिम दो में वह स्फुट होगया है। यहाँ तक कि 'अपुष्पिता' तथा 'अनुर्वर' में रजस्वला की गन्ध एकदम स्पष्ट हो गई है। अत्यन्त कठोर मानसिक व्यायाम के बाद भी संस्कृति के स्वरूप का बोध पाठक को नहीं होता। कवि ने कितने परिश्रम से, यह कसावट-भरा चित्र अङ्कित किया है, इसकी प्रतीति तो हमें होती है, लेकिन ऐसा लगता है कि शब्दों की काट-छांट कर एक सुन्दर पहेली तैयार की गई है। 'अनस्पृष्ट' तथा 'अपारस्परिकता' शब्दों में जो अर्थ भरा गया है, वह भी समझ एवं संगति को चुनौती ही प्रतीत होता है।

नई चित्रमत्ता का मोह तथा उससे जन्य दुरूहता का एक और उदाहरण देखिए—

"सहज चुम्बन, सहज आलिंगन,
सहज-सी भूल।
थके मुख पर उस सफर की धूल।
कौन समझेगा कि कैसे नर्क से
मिला मुझको ज्ञान,
ईश्वर, गीत, आत्माभिमान ?........
वासना की घोर अंधी तहों में
अनुभूतियों के सत्य
अपने में छिपाए वे अलौकिक तथ्य
जो ऐहिक सुखों के तीव्रतम क्षण में
समाहित हो अचानक
चौंक पड़ते किन्हीं सपनों से उझक !
हाय, छोटी-सी तलैया, बंधी गंदली,
क्या करे ? सागर ललकता
जबकि अपने चन्द्रमा को छू न सकता !"

कविता पढ़ने से जान पड़ता है कि मानो कवि किसी वासनापूर्ण, पथभ्रष्ट जीवन से सहसा ऊब कर, अपनी पत्नी के सहज स्नेह की प्रतीति से स्पंदित हो गया है। लेकिन, अन्तिम तीन पंक्तियों में 'तलैया', 'सागर' और 'चन्द्रमा' का जो चित्र संकेतित है, वह अस्पष्ट एवं दुर्बोध बन गया है।

नई कविता के "कुछ" का ऊपर उल्लेख हो चुका है। उसीसे सम्बद्ध एक अन्य रूढ़ि भी उसमें विकसित होती-सी दिखाई पड़ रही है। वह है 'प्रश्न पूछना'। नए कवि बार-बार, प्रत्येक प्रसंग में, बात-बात में, प्रश्न पूछते हैं। ऐसा करके वे अपनी बौद्धिकता की विज्ञप्ति करना चाहते हैं। वे कभी प्रश्नों को उड़ा देते हैं और उत्तरों को स्थायी बताते हैं, और कभी उत्तरों की अनुपलब्धि में प्रश्नों को स्थायी बताते हैं। इसमें उसी कोटि का चमत्कार सन्निविष्ट है जो प्राचीन कवियों के दृष्टकूट के पदों में लक्षित होता है। एक 'प्रश्नाहत' कवि के "प्रश्न का विस्तार" यों देखिए—

"नील पारावार,
तुम खड़े हो आज भी अपने हृदय को खोल,
अपने मौन अपनी व्याप्ति में
लाखों युगों को घोल
ठीक कहते हो बड़ी है आत्मा......
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो।

× × ×

और बारम्बार पाया
शून्य नीलाकाश
तुम ईश्वर नहीं हो,
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो।"

प्रश्नों के मिटने और उत्तरों के रहने की बात सुनिए—

"ऐसी परिस्थिति को
मेरे मनोबल भला कब तक सहेंगे ?
लगता है
होगा इस बार भी वही
प्रश्न मिट जाएंगे—उत्तर रहेंगे।"[१]

यों-तो माथापच्ची करने पर कोई-न-कोई अर्थ ऐसी

१ 'युगचेतना', अक्टूबर, ५७, पृ० ३०,

रचनाओं से निकाला ही जा सकता है, लेकिन इनसे इस बात का पता तो चलता ही है कि ये कवि सीधी व्यंजना का आश्रय न लेकर, एक प्रकार के कूटों की सृष्टि करना चाहते हैं। प्रश्न पूछना एक फैशन-सा हो गया है। लेख का कलेवर बढ़ने के भय से अधिक उदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं।

कभी-अभी असंबद्ध या विच्छिन्न सम्वेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान कर, चमत्कार की सृष्टि की गई है। कवियों की तर्कना इसके अनुमोदन में यह है कि वे सम्वेदनाएं उनके अन्तर्मानस की अनियंत्रित प्रसूतियाँ हैं जिन्हें व्यक्त करना वे अशोभन नहीं समझते। एक ऐसी ही कविता यह है—

"आसमान की सूखी पंजरियों में—
अटका
काला बादल !—
या गम था ?—
होठों पर मुसकान
बिजली सी चमकी
(पीड़ा की अंगुली
फिरने लगी ज्यों
भाल की छंद-सी रेखाओं पर !)
जाने क्यों आँख भर आई :
फूल-फूल पुरनम था !"[1]

प्रस्तुत रचना के चित्र असंबद्ध हैं। कविता की पूरी कल्पना ही पहेली बुझाने की भावना से अनुप्राणित है। अर्थ की सङ्गति अथवा अन्विति यदि किसी प्रकार बिठाई भी जा सके, तो भी इतना तो निश्चित ही है कि कवि चमत्कार उत्पन्न करने के मोह में पड़ गया है।

नए कवि अपने द्वारा अवलोकित अथवा अनुभूत प्रत्येक तथ्य का चित्रण करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में सभी प्रकार की वस्तुएं कविता की सीमा में गृहीतव्य हैं। प्रश्न अत्यन्त मौलिक महत्त्व से पूर्ण है— क्या कवि को यह नैतिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह जिस किसी भी विचार, मनोदशा अथवा अनुभव को कविता में चित्रित कर सके ? आंग्ल कवि वर्ड्सवर्थ ने ऐसे प्रयोग किए थे, लेकिन उन्हें पाठकों का अनुमोदन प्राप्त नहीं हो सका था। मनुष्य के अनुभवों की सीमा नहीं हो सकती—अन्तश्चेतनावादियों ने तो जैसे लक्ष-लक्ष मनोभंगियों की संभावनाओं के द्वार उद्घाटित कर दिए हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पाठकों के लिए प्रत्येक अनुभव का मूल्य हो सकता है ? दूसरों का अनुभव हमारे लिए ग्रहणीय तभी हो सकता है, जब उसके आदान से हमारे व्यक्तित्व के समृद्ध होने की सम्भावना हो, अथवा उससे जब हमारे भीतर कोई नवीन चेतना आविर्भूत हो सके। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि नई कविता में चित्रित अनुभवों का एक यथेष्ट अंश बिलकुल निष्प्रयोजन सिद्ध होता है। "परछाईं के पर" शीर्षक एक कविता[1] देखिए—

"टूटे
फूटे
मन्दिर,
उजड़े घर
ख
ए
ड
ह
र
जिन पर
मेरी परछाईं
के
पर।"

कवि का यह कोई 'अनुभव' भी है—इस बात में घोर सन्देह है। यदि वातावरण का चित्रण अथवा उस स्थल-विशेष की भग्नावस्था की प्रतीति कराना कवि का इष्ट है, तो भी पाठक तो पूछेगा ही कि क्या इस चित्र से उसे कोई रागात्मक किंवा बौद्धिक ही, उपलब्धि हुई ? उत्तर स्पष्टतया निषेधात्मक होगा। यहाँ यह कह देना हम आवश्यक समझते हैं कि कविता से प्रत्यक्ष आलंबन

१ 'युगचेतना', मई, ५७

१ 'युगचेतना', नवम्बर, ५७

पर भावक को उतनी आपत्ति नहीं होगी जितनी इस बात पर कि उस आलंबन के आश्रयण से क्या भाव या बोध प्रेषणीय कराया जा रहा है। प्रधानता तो कवि की अनुभूतियों की होती है जिन्हें व्यक्त करने के लिए वह उचित आलंबन प्राप्त कर लेता है। टी० एस. ईलियट का प्रसिद्ध सिद्धान्त 'Objective Correlative' अर्थात् 'वस्तुमूलक सम्बन्ध-रूप' उसी काव्य-प्रक्रिया को सूचित करता है।[1] परछाईं को लेकर ही लिखी एक-अन्य कविता[2] की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रहीं हैं जिनसे ज्ञात हो जाएगा कि कवि को कुछ अनुभूतियाँ प्रेषणीय हैं और परछाईं की लीलाओं को देख कर, वे जागृत हो गई हैं—

"सुबह से शाम तक
परछाइयाँ हैं साथ,
एक छाया दुबकती-सी
डोलती है हर पहर।
× × ×
भोर की हल्की-भली परछाइयाँ
दुपहरी में छोड़ देतीं साथ,
शाम की रंगीनियों में एक पल आ
रात में फिर लौट जातीं गाँव।
× × × ×
जिन्दगी की हर दुपहरी सत्य
जिन्दगी की हर अमावस भव्य
क्योंकि इस क्षण,
साथ की परछाइयों का भ्रम नहीं है।"

एक अन्य कविता "फ्लू" शीर्षक से गत वर्ष छपी है।[3] इसमें कोरा चमत्कार है, कवि की 'एनर्जी का वेस्ट' है, यदि उसमें कोई 'एनर्जी' व्यय हुई है, तो।

नई कविता का चमत्कारवाद केवल कथ्य वस्तु से ही सम्बन्धित नहीं है, प्रत्युत उसका अधिक सम्बन्ध व्यंजना से है। परिचित लय का हनन, गद्य-रूप का ग्रहण, शब्दों को तोड़-तोड़ कर लिखना, विराम-चिन्हों की अवमानना अथवा उनका मनमाना प्रयोग, व्यंजना में ताजगी एवं शक्ति लाने के बहाने से ग्राम्य शब्दों का बेहिचक समावेश इत्यादि अनेक साधनों का उपयोग नए कवि उन्मुक्त भाव से करते जा रहे हैं। जहाँ-तहाँ कुछ विचित्र लय-भंगियों के दर्शन होते हैं जिनसे यह विश्वास दृढ़ होता है कि कवि नवीनता का चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लालायित है। "चिड़ियाँ चुग गईं खेत" शीर्षक एक कविता[1] की निम्नोद्धृत पंक्तियाँ देखिए—

"चिड़िया चुग गई खेत.......
× × ×
(अमाँ औंधी खोपड़ी !)
× × ×
(भई वाह ! क्या प्रतिभा !)
× × ×
—मजा चख बेटा !"

'मजा चख बेटा' सुरुचि का परिचायक नहीं है। 'भई वाह ! क्या प्रतिभा !' जैसी पंक्तियों से हमें उन भाँड़ों की याद आ जाती है जो विवाहादि अवसरों पर, बिना बुलाए उपस्थित हो जाते हैं और कमर में बंधे ढोलक पर हाथ फेरते हुए, एक विशिष्ट स्वरभंगी में वाणी की कैंची चलाने लगते हैं। हमें भय है कि इस प्रकार के प्रयोग संयत-बुद्धि भावकों को आकृष्ट करने में सफल नहीं होंगे।

नई कविता के जिस चमत्कारवाद का हमने ऊपर विश्लेषण किया है, वह हमारी समझ में उसका दुर्बलतम अंश है। लेकिन, सम्पूर्ण नई कविता इस दोष से दूषित हो, ऐसी बात नहीं है। अनेक कविताएं इधर

१—हर्बर्ट रीड का 'Objective Equivalence' 'वस्तुमूलक समरूपता' वाला सिद्धान्त भी लगभग इसी प्रकार का है।—लेखक।

२—'युगचेतना', मई, ५७

३—वही, सितम्बर, ५७।

१ 'युगचेतना', जनवरी, ५७, पृ० ५३

ऐसी प्रकाशित हुई हैं, जो काव्य की अत्यन्त कठोर परिभाषा वा कसौटी पर सटीक सिद्ध होंगी। तथापि, चमत्कार की प्रवृत्ति नए कवि के अन्तर्मानस में अवश्य छिपी-सोई है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। 'सुरुचि' अथवा 'शिष्टता' नामक किसी तत्व को अंगीकार करने के लिए वह आज सन्नद्ध नहीं है। यह अवश्य श्लाघ्य एवं स्पृहणीय है कि वह सम्प्रति समस्त परिवेश के प्रति जागरूक है तथा उसके उपयोग के लिए लालायित है। लेकिन, जब वह 'कुरुचि' अथवा 'भदेस' को अपनाने लगता है, तब जान पड़ता है जैसे वह सम्पूर्ण मानव-संस्कृति का प्रत्याख्यान करने पर तुल गया हो। यदि कविता से हमारी चित्तवृत्तियों का परिष्कार या प्रसरण नहीं होता, तो वह व्यर्थ ही समझी जानी चाहिए। ''अविचारितरमणीय'' की पुरानी सीमाओं आज कविता को अवश्य बन्दिनी नहीं बनाया जा सकता।[1] लेकिन, कवि अपनी अलस एवं असंयत संवेदनाओं को भी वाणी का परिधान प्रदान करे—यह कथमपि अनुमोदनीय नहीं होगा, क्योंकि नया कवि भी यह मानता है कि साहित्य व्यक्ति नहीं, वरन् व्यक्ति द्वारा बृहत् की अभिव्यक्ति है।[2]

१ 'कवि-रहस्य', पृ० ४६

२ 'नयी कविता' (३), पृ० ५२ (नरेश महता)

(पृष्ठ ४० का शेषांश)

सुखान्त अवस्था आई थी कि बिम्बसार की मृत्यु करा दी गई है; चन्द्रगुप्त में चाणक्य एवं मौर्य गृह त्यागकर चले जाते हैं और कामना में नाव डूबती है। आलोचकों ने प्रसाद जी के नाम पर इस सुख-दुख की मिश्रित अवस्था वाले अन्त को प्रसादांत नाम दिया है। यह 'अन्त' भारतीय नाट्य विधान के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में भी उनका मत न भारतीय नाट्य विधान के मेल में है और न भारतेन्दु जी के अनुरूप। संस्कृत नाटकों में भाषा-भेद है। वहाँ नियमत: स्त्रियाँ एवं निम्न वर्गीय पुरुष अनेक प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग करते हैं। प्रसाद जी ने एक सी भाषा का प्रयोग कराया है। अंग्रेजी नाटकों में भी भाषा भेद नहीं के बराबर है। यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी में जो कविता की प्रवृत्ति है वह संस्कृत नाटकों की परम्परा में है जो भारतेन्दु जी से होती हुई आई है। संस्कृत नाटकों में कविता की अधिकता है; वे काव्य मय हैं। किन्तु शेक्सपियर के नाटकों में भी आकर्षक एवं मनोहर कविता की कमी नहीं है। प्रसाद जी ने 'गीतों' को प्रश्रय दिया है जो कवितामय हैं। यह गीत प्रवृत्ति भारतेन्दु काल में चल पड़ी थी जो पारसी-नाटकों की देन है।

फलत: हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी के नाटकों में पश्चिमी शैली की प्रधानता है।

भाषा-विज्ञान और उसके विभिन्न स्कूल

श्री कैलाशचन्द्र भाटिया एम० ए०

जिस भारत-भूमि पर आज से २००० वर्ष पूर्व भाषा-विज्ञान का श्रीगणेश हुआ था, आज उसी भूमि के निवासी कालचक्र के प्रभाव से उसके वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। सभी विद्वानों की दृष्टि में भाषा-तत्त्व क्षेत्र में पाणिनि आज भी अपना सर्वोच्च स्थान प्राप्त किए हुए हैं। उनके द्वारा अपनाई गई विधि पूर्ण तथा वैज्ञानिक थी, जिसके समक्ष विश्व का आज कोई भी भाषा-वैज्ञानिक नहीं टिक सकता।

विवरणात्मक भाषा-तत्त्व या भाषा-विज्ञान से तात्पर्य भाषा के अध्ययन से है। यह अध्ययन भाषा के उस स्वरूप का होता है, जिसमें वह भाषा बोली जाती है। प्रत्येक व्यक्ति भाषा का व्यवहार करता है किन्तु उसका ज्ञान उसको नहीं होता है। वह उसको बोलता है, उसका व्यवहार करता है, उसमें अपनी विचारधारा और मान्यताओं की पुष्टि करता है, पर उसके विश्लेषण की ओर उसकी अनभिज्ञता उसी प्रकार रहती है जैसे एक किसान की पौधे की ओर रहती है। जिस प्रकार एक वनस्पति-शास्त्री (Botanist) किसी पौधे का अध्ययन करते समय अपनी दृष्टि पौधे के स्वरूप पर ही रखता है, उसी प्रकार भाषा-शास्त्री भी भाषा के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन प्रस्तुत करता है।

भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध जीवित भाषा के बोलचाल के रूप से है और उसका अध्ययन प्रस्तुत करना ही भाषा-शास्त्री का काम है। जीवित बोलचाल की भाषा के ढाँचे को वह पर्याप्त विश्लेषण के पश्चात् ही प्रस्तुत कर पाता है। भाषा के विवरण के दो मुख्य भाग होते हैं—प्रथम का सम्बन्ध ध्वनि-प्रक्रिया से है और दूसरे का व्याकरण से। ध्वनि-प्रक्रिया के अंतर्गत भाषा की ध्वनियाँ, उनके प्रयोग की विधि, उनकी क्रम व्यवस्था, बलाघात, स्वराघात आदि का वर्णन आता है। दूसरे शब्दों में ध्वनि-प्रक्रिया के अन्तर्गत स्वनिम Phoneme और उनके अनुक्रम का अध्ययन तथा व्याकरण के क्षेत्र में रूपमात्र, पद एवं पदानुक्रमों का अध्ययन आता है। डा० विश्वनाथ प्रसाद राग-तत्त्व पर भी विशेष बल देते हैं। प्रो० बल इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि "भाषा-विज्ञानी किसी भाषा को बार-बार सुनता है और उसकी ध्वनि-पद्धति को समझने का प्रयत्न करता है। वह यह जानना चाहता है कि उस भाषा में प्रयुक्त उपयोगी ध्वनियाँ कौनसी हैं, भिन्न स्थितियों में उन ध्वनियों की क्या नियोजन प्रणाली रहती है, किस प्रकार ये ध्वनियाँ मिलकर बड़े रूप खड़े करती हैं तथा उन रूपों को वाक्यों में किस स्थिति में रक्खा जाता है।"

यह तो भाषा-विज्ञान का वास्तविक रूप है, जिसका उद्गम स्थल भारत है तथा आज उसके स्वरूप का दर्शन अमेरिका और यूरोप के कुछ देशों में किया जा सकता है। इससे पूर्व कि इस शास्त्र से सम्बन्धित विश्व के प्रमुख स्कूलों का विवेचन किया जाय, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इसकी अन्य शाखाओं से भी परिचय प्राप्त कर लिया जाय। भाषा-विज्ञान के विस्तृत क्षेत्र में निम्नलिखित रूप आते हैं :

[अ] विवरणात्मक भाषा-विज्ञान।
[आ] ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान।
[इ] तुलनात्मक भाषा-विज्ञान।

विवरणात्मक भाषा-विज्ञान क्या है इसका विवेचन किया जा चुका है। हिन्दी से अधिक भ्रान्ति अंग्रेजी की तत्सम्बन्धी शब्दावली में है। अमेरिका में लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) और फिलॉलॉजी (Philology)। दोनों में स्पष्ट भेद किया जाता है। वहाँ पर फिलॉलॉजी

से तात्पर्य भाषा-विज्ञान कदापि नहीं माना जाता; दूसरी ओर यूरोप में फिलॉलॉजी शब्द का पर्याप्त प्रचार है और वहाँ इस शब्द का इतना संकुचित अर्थ नहीं जितना अमेरिका में है। आज सर्वसाधारण रूप से भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में फिलॉलॉजी से तात्पर्य ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पक्ष से माना जाता है तथा लिंग्वस्टिक्स से भाषा-तत्त्व या भाषा-विज्ञान।

भाषा-विज्ञान की अन्य शाखाओं का प्रचार और प्रचलन यूरोप में ही सबसे अधिक हुआ पर उस क्षेत्र (ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक) में भी श्रेय भारत को ही प्राप्त होता है। सर विलियम जोन्स (सन् १७८६) जिन्होंने भारत में आकर संस्कृत का अध्ययन किया था इस शास्त्र के आदि प्रणेता माने जा सकते हैं। संस्कृत के अध्ययन के पश्चात् ही यह ज्ञात हो सका कि सुदूर पश्चिम में स्थित यूरोप की भाषाओं से संस्कृत का निकट सम्बन्ध है। उन्होंने ही सर्व प्रथम संस्कृत का महत्व बतलाया और यह घोषणा की कि गठन में संस्कृत ग्रीक तथा लेटिन दोनों के निकट है। इस प्रकार १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस दिशा में कार्य प्रारम्भ हुआ, जिसका विस्तार १९ वीं शताब्दी में हो सका। यूरोप के अनेक देशों में इस ओर पर्याप्त प्रगति हुई फिर भी जर्मन विद्वानों का इस दिशा में किया गया प्रयास स्तुत्य है। गत शताब्दी में इस शाखा का इतना अधिक विकास हुआ और साथ ही तुलनात्मक क्षेत्र में इतनी अधिक लोकप्रियता बढ़ी कि विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में इसका पर्याप्त प्रचार हो गया। इस शास्त्र के द्वारा जहाँ एक ओर नवीन तथ्यों का उद्घाटन हुआ वहां दूसरी ओर सुदूर स्थित भाषाओं में निकटतम सम्बन्ध स्थापित हुए। अभी तक योरोपीय भाषाओं का ही तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हो सका है, संसार के अन्य भागों की भाषाओं पर इस दृष्टि से अभी काफी कार्य होना शेष है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के साथ-साथ ऐतिहासिक पक्ष का भी विवेचन होता रहा और अनेक योरोपीय मनीषियों ने इस क्षेत्र में पर्याप्त परिश्रम कर नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया। पर इन दोनों ही शाखाओं का सम्बन्ध भाषा के सजीव व बोलचाल के रूप के स्थान पर लिखित और प्राचीन रूपों से रहा। इनके अध्ययन के फलस्वरूप कुछ नवीन तथ्य अवश्य सामने आये, कुछ पुरानी गुत्थियाँ अवश्य सुलझीं पर जीवित भाषाओं[1] की समस्याएं हल न हो सकीं और इसके समाधान के लिए ही 'फोनेमिक्स' आदि नवीन शास्त्रों का प्रणयन हुआ जिस पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। इस क्षेत्र में अमेरिका अग्रणी है फिर भी इससे सम्बन्धित विभिन्न स्कूलों का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इस समय चार प्रमुख स्कूल हैं :—

१—प्राग स्कूल।
२—लन्दन स्कूल।
३—अमेरिकन स्कूल।
४—ग्लोसेमेटिक स्कूल।

निस्संदेह आज अमेरिकन स्कूल, जिसको फोनेमिक्स स्कूल के नाम से भी जाना जाता है, इन सबमें अग्रणी है, जिसने अफ्रीका तथा अमेरिका के आदिवासियों की भाषाओं का विश्लेषण किया है, फिर भी अन्य देशों की भाषाओं का अध्ययन अन्य तत्सम्बन्धी स्कूल भी कर कर रहे हैं।

विभिन्न स्कूलों से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन करने में सबसे अधिक परेशानी पारिभाषिक शब्दावली की है। एक ही पारिभाषिक शब्द का विभिन्न स्कूलों में पृथक-पृथक अर्थ समझा जाता है। उदाहरणार्थ

---

१. जीवित भाषाओं का महत्व सर्वोपरि है। संसार में लगभग ३००० भाषाएं है, जिनमें से अब तक वे भाषाएं जिनका कोई लिखित स्वरूप है, केवल १००० के लगभग हैं, शेष २००० के लगभग भाषाएं बोली जाती हैं लेकिन उनका कोई लिखित रूप नहीं। इस प्रकार इन भाषाओं के स्वरूप को जानने के लिए और समझने के लिए 'फोनेमिक्स' की आवश्यकता हुई जिसके फलस्वरूप फिर से भाषा-विज्ञान के वास्तविक स्वरूप का पुनः आन्दोलन चल पड़ा।

आप 'फोनोलॉजी' शब्द को ही ले सकते हैं, जिसको हिन्दी में अधिकाँश भाषा-शास्त्री ध्वनि-प्रक्रिया नाम से अभिहित करते हैं। इस शब्द का जहाँ इङ्गलैंड में अर्थ ध्वनियों के इतिहास से समझा जाता है वहाँ फ्रांस में ध्वनियों की दैहिकी (Physiological) प्रक्रिया से समझा जाता है। योरोपियन या प्राग स्कूल में इसका अर्थ 'फोनोमिक्स' समझा जाता है। कुछ अमेरिकन विद्वान भी जैसे हॉकेट[1] महोदय भी इसकी संज्ञा फॉनोलॉजी से देते हैं। अमेरिकन स्कूल के भाषा-विद् इसके अन्तर्गत ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) और स्वनिम विज्ञान (Phonemics) दोनों को मानते हैं। ग्लोसेमेटिक्स स्कूल के आचार्य इस शब्द का ही प्रयोग नहीं करते, वे इसके स्थान पर 'फोनेमेटिक्स' (Phonematics) स्वनग्रामिक का प्रयोग करते हैं। इसको ही निम्नलिखित रूप में रक्खा जा सकता है :—

शब्द	स्कूल	अभिहितार्थ
ध्वनि-प्रक्रिया	लन्दन	ध्वनियों का इतिहास
Phonology	अमेरिकन	ध्वनि-विज्ञान तथा स्वनिम-विज्ञान
	प्राग	स्वनिम-विज्ञान

प्रत्येक स्कूल की प्रणाली और उसका अन्य स्कूलों से तुलनात्मक विवेचन भी अपेक्षित है जिस पर फिर कभी प्रकाश डाला जायेगा। साधारण तौर पर यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि लन्दन स्कूल का मुख्य क्षेत्र इंगलैंड है। प्रसिद्ध भाषा-विद् डा० डेनियल जौन्स इसके प्रमुख प्रवक्ता रहे हैं। लन्दन स्कूल द्वारा ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में किया गया कार्य भाषा-विज्ञान के लिए अपूर्व देन है, जिसके आधार पर बहुधा इस स्कूल को 'फोनेटिक' स्कूल भी कह दिया जाता है। इसके दूसरे प्रमुख प्रवक्ता डा० फर्थ हैं, जिन्होंने भाषा में राग-तत्त्व पर विशेष बल दिया है। हाउस होल्डर, ट्रिम, कानर आदि इससे सम्बन्धित अन्य विद्वान हैं।

प्राग स्कूल का भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में एक अद्वितीय स्थान रहा है। इस स्कूल से सम्बन्धित विद्वानों ने अधिकाँश कार्य जर्मन, फ्रेंचादि योरोपियन भाषाओं में किया। ट्रुब्स्कोय (Trubitzkoy), यकब्सन्, मारटीने आदि विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपूर्व कार्य किया है।

अमेरिकन स्कूलों के आदि आचार्यों में प्रसिद्ध भाषा शास्त्री ब्लूमफील्ड महोदय हैं, जिन्होंने इस शताब्दी के द्वितीय दशक में इस क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। जिस प्रकार इंगलिश स्कूल ध्वनिशास्त्र पर बल देता है उसी प्रकार अमेरिकन स्कूल स्वनिम विज्ञान पर। इसी आधार पर इस स्कूल को 'स्वनिम-स्कूल' (Phoneme school)[1] नाम से भी प्रचारित करते हैं। इसके प्रमुख प्रवक्ताओं में ब्लाख, ट्रेगर, ग्लीसन, हैरिस, हॉगन, जूस पाइक, ट्वेडेल आदि उल्लेखनीय हैं। यहाँ यह उल्लेख भी समीचीन प्रतीत होता है कि आज विश्व में इस स्कूल की ही विशेष धाक है और भारत में डकन कालेज पूना के तत्त्वावधान में होने वाले स्कूलों को भी इसी स्कूल का प्रश्रय प्राप्त है। इसमें सन्देह नहीं कि इन स्कूलों में प्रतिवर्ष इंगलैंड और अन्य यूरोपीय देशों से संबंधित भाषा-शास्त्री भी बुलाए जाते हैं।

ग्लोसेमेटिक स्कूल का प्रधान कार्य-क्षेत्र डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन है। इसका संबंध नार्वे, स्वीडनादि देशों के भाषा-शास्त्रियों से है। इस स्कूल के प्रमुख प्रवक्ताओं में येलम्स्लेव Hjelmslev तथा उल्डाल महोदय हैं। यह स्कूल नवीन है, जिसकी स्थापना सन् १९३६ में हुई।

इन सब स्कूलों से पृथक् रह कर जिन व्यक्तियों ने भाषा-क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य किया है और जिनकी विचारधाराओं का प्रभाव विभिन्न स्कूलों से संबंधित व्यक्तियों पर समान रूप से पड़ा तथा जिन्होंने २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस शास्त्र को पुनर्जीवन प्रदान

(शेष पृष्ठ ५५ पर)

१. हाकेल्ट-मैन्युल अव् फोनोलाजी, सन् १९५५ द्रष्टव्य है।

१. फौनेमिक्स के लिए अमेरिका में किया गया कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है, पर यह स्मरणीय है कि फौनीम 'Phonime' का सर्व प्रथम प्रयोग सन् १८७९ में एक रूसी द्वारा किया गया था।

अरविन्दवाद और सौन्दर्यशास्त्र

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

आज की प्रचलित विचारधाराओं में 'अरविन्द-दर्शन' भी एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। 'अरविन्द-दर्शन' प्रातिभज्ञान (intuition) पर आधारित है। अरविन्द के अनुसार इस दृश्यमान् जगत् के पीछे एक शुद्ध चिन्मय सत्ता है जो स्वयं अपनी शक्ति द्वारा इस भौतिक जगत् के रूप में अभिव्यक्त हुई है, अत: जगत् भी, "सर्वम् खलु इदं ब्रह्म" श्रुति की साक्षी से ब्रह्म का ही एक रूप है। शुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) ही लीला की इच्छा से, निम्न-विकास (involution) द्वारा इस भौतिक जगत् के रूप में परिवर्तित होता है। इसका क्रम इस प्रकार है—

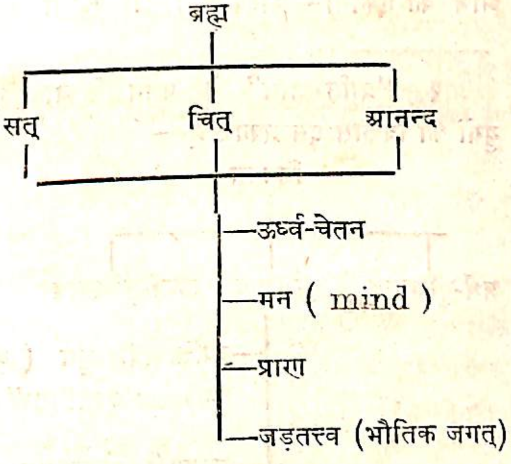

इस प्रकार बुद्धि, मन, प्राण और जड़तत्त्व—सब एक ही चैतन्य के विभिन्न सोपान हैं। केवल मन अथवा बुद्धि (Reason) द्वारा जो जगत पर विचार करते हैं, वे या तो ब्रह्म को एकमात्र सत्ता मानकर जगत का निषेध करते हैं (तथाकथित आदर्शवादी (idealists, उदाहरणत: बर्कले, नागार्जुन, शंकराचार्य आदि) अथवा केवल जड़तत्त्व (Matter) की सत्ता मानकर ब्रह्म का निषेध कर देते हैं (तथाकथित भौतिकवादी (Materialists उदाहरणत: चार्वाक, मार्क्स, लेनिन आदि)। बुद्धि द्वारा सत्य का एक पक्ष ही सम्मुख आता है, क्योंकि बुद्धि विभाजित करके देखती है। पूर्ण सत्य का साक्षात्कार बुद्धि से नहीं हो सकता। सत्य के निर्णय के लिए बुद्धि से भी ऊपर चेतना (आत्मा) के महत्तर रूप प्रातिभज्ञान या स्वयंप्रकाश्य (intuition) का विकास करना चाहिए, तभी हम पूर्ण सत्य को पा सकते हैं।

प्रातिभ ज्ञान योग द्वारा मन, चित्, बुद्धि के स्वच्छ होने पर स्वत: स्फूर्त होता है। इस स्थिति में हम जगत, जीव, ब्रह्म आदि किसी भी समस्या पर विचार करें, हमें शुद्ध निर्णय मिलता है। अतएव "सौन्दर्य" के विषय में हमारा मनन तभी शुद्ध होगा जब हम इस 'प्रातिभज्ञान' से सहायता लें, अन्यथा केवल बुद्धि द्वारा आलोचकों के अशुद्ध और एकांगी निर्णयों से हम कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

प्रातिभज्ञान व सौन्दर्य का विकास—चूंकि मन, चित्, बुद्धि आदि शक्तियाँ 'आत्मा' के ही निम्न सोपान हैं और 'आत्मा' इनके माध्यम से अभिव्यक्त होती है अतएव 'आत्मा' की दो स्थितियाँ प्रस्तुत होती हैं। प्रथम स्थिति में 'आत्मा' मन, चित्त आदि से सहायता नहीं लेती, यह शुद्ध समाधि की अवस्था होती है। इस स्थिति में ज्ञाता व ज्ञेय, दृश्य व द्रष्टा के भेद नहीं रह जाते, 'आत्मा' अपने रूप में स्थित रहती है। द्वितीय स्थिति में 'आत्मा' मन, चित्त आदि से सहायता लेती है। इस स्थिति में ही "कला" की सृष्टि होती है। इस स्थिति में भी दो स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, प्रथम स्थिति में मन, चित्त तथा बुद्धि के संकल्प, विकल्प और चिन्तन में "आत्म-ज्ञान" संयुक्त रहता है और द्वितीय स्थिति में

अज्ञान की अधिकता के कारण केवल मन के संकल्प-विकल्पों, आशा-आकांक्षाओं, कल्पनाओं एवं विचारों की व्यंजनाएँ होती हैं, इस द्वितीय स्थिति में ऐन्द्रिक और एकांगी कला का जन्म होता है, केवल 'प्रकृति' के वाह्य रूपों का अनुकरण (imitation) या पुनर्उपस्थिति (Reproduction) अथवा चित्रण होता है, अथवा मानवीय भावनाओं—प्रेम, क्रोध, घृणा, हर्ष आदि की व्यंजनाएँ होती हैं। अरविन्द के अनुसार यह रचना निम्नकोटि की रचना है। द्वितीय स्थिति में आत्मा से संयुक्त होकर सृष्टि की जाती है। इसमें ऐन्द्रिकता (Sensuousness) के साथ-साथ अतीन्द्रिता के भी यत्र-तत्र स्पर्श होते हैं। परन्तु उच्चतमकोटि की सौन्दर्य सृष्टि 'स्वयंप्रकाश्य ज्ञान' द्वारा ही होती है। इस स्थिति में आत्मा का प्रकाश ही मन, चित्त, बुद्धि आदि को संचालित करता है। चेतना के उच्चतम शृंग से आता हुआ प्रकाश, मन, बुद्धि के स्तरों को पूर्ण अनुशासन में रखता हुआ "दिव्य-सृष्टि" कराता है। वैदिक ऋषियों ने इसी स्वयंप्रकाश्य ज्ञान द्वारा वेद-मन्त्रों की रचना की है। निश्चित् रूप से ऋषि के भावजगत का उपभोग मन्त्रों में मिलता है; परन्तु वह सामान्य भावजगत से उच्चकोटि का है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश्य ज्ञान द्वारा अनुशासित, प्रेरित और प्रकाशित है—अत: सौन्दर्य की सृष्टि का चरम रूप वेद-मन्त्रों में सुरक्षित है। काव्य-कला का सर्वश्रेष्ठ रूप "मन्त्र-काव्य" है। इस मन्त्रकाव्य का सौन्दर्य हम बुद्धि द्वारा समझना चाहते हैं जो असम्भव है क्योंकि प्रातिभज्ञान द्वारा सृष्टि प्रातिभज्ञान द्वारा ही समझी जासकती है। इस सृष्टि में वस्तु का वाह्य अंकन नहीं होता, वस्तु के पीछे स्थित, वस्तु द्वारा संकेतित आनन्दमयी सत्ता का उद्घाटन होता है। अतएव इन्द्रिय-बोध, कल्पना, निजी संकल्प-विकल्प, विचार—इन सबसे परे अखण्ड सौन्दर्य का उद्घाटन ही वास्तविक सृष्टि है।

'मन्त्र-युग' के पश्चात्—उपनिषदों के पश्चात् संस्कृत-प्राकृत तथा अन्य भाषाओं में जो सौन्दर्य सृष्टि हुई है, वह चेतना के निम्नस्तरों की सृष्टि है, स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान द्वारा नहीं, अत: कालिदास, भास, अश्वघोष भारवि, माघ आदि का सौन्दर्य उच्चतम कोटि का सौंदर्य नहीं है।

आलोचना-क्षेत्र में भी मन्त्र युग के पश्चात् मनुष्य ने केवल "बुद्धि" से ही कार्य लिया। अत: भ्रान्त और एकाङ्गी निर्णय प्राप्त हुए हैं (अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा अन्य विचारकों के निर्णय बुद्धिवादी निर्णय हैं, योरोप के आलाचकों का भी यही हाल है, तभी बुद्धि द्वारा निर्णीत सौन्दर्य-शास्त्रीय मान्यताओं से हमें सन्तोष नहीं होता।) अरविन्द के अनुसार बुद्धिवाद का निकृष्टतम रूप साम्यवादी व्यवस्था में दिखाई पड़ता है अत: साम्यवादी विचारकों के निर्णय सबसे अधिक एकाङ्गी और हठधर्मी पर आधारित होते हैं।[1]

साम्यवाद के वाद अध्यात्मवादी युग (Supra-mental age) में जिस सौन्दर्य की सृष्टि होगी, वह वैदिक युगीन सौन्दर्य सृष्टि के सदृश्य होगा, अत: आज की एकांगी—काव्य-कला, चित्रकला आदि इसी

---

१ "प्रातिभज्ञान" के पतन के बाद बुद्धिवादी युगों का विकास इस प्रकार है—

विकास
- अर्ध-बुद्धिवाद
- बुद्धिवाद
  - —व्यक्तिवादी युग (बुद्धिवादी युग) "एकांगिता"
  - —सरकारी साम्यवाद (बुद्धि-वाद की चरम सीमा) "अतिशय एकांगिता"
  - —आध्यात्मिक निरंकुशतावादी युग (प्रातिभ-ज्ञान का उपयोग) सत्य, सौन्दर्य, शिव का साक्षात्कार
- ऊर्ध्व-बुद्धिवाद

द्रष्टव्य—The Human cycle—Aurbindo

आगामी युग की ओर संकेत कर रहे हैं। यह आगामी-युगीन सौन्दर्य सृष्टि तभी प्राप्त हो सकती है, जब हम साम्यवादी बुद्धिवादी दृष्टि से ऊपर उठकर 'प्रातिभ-ज्ञान' द्वारा सत्य, शिव व सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न करें और इस प्रतिभज्ञान के लिए आधुनिक शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन कर योग-शिक्षा को प्रारम्भ करें। आगामी मन्त्र-युग के प्रथय लक्षण ह्विटमैन, कारपेन्टर तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि में दिखाई पड़ने लगे हैं।

अरविन्द के अनुसार सौन्दर्य-भावना के भी मानसिक स्थितियों के सदृश तीन स्तर पाए जाते हैं। प्रथम सोपान में शैली व भाषा का सौन्दर्य हमें अधिक प्रिय होता है। द्वितीय सोपान में रचना के विचार, भाव और कल्पना के सामंजस्य को हम अधिक पसन्द करते हैं। अभी यहीं तक सौन्दर्य-भावना का विकास हुआ है। परन्तु सौन्दर्य का एक तीसरा स्तर और है जिसमें सापेक्ष वस्तु के अन्तर में स्थित निरपेक्ष सौन्दर्य के दर्शन प्रातिभज्ञान द्वारा होते हैं। यह 'सौन्दर्य' सामान्य इन्द्रिय बोध तथा प्रवृत्तियों (Instincts) से पीछे शुद्ध अतीन्द्रिय सौन्दर्य (Super sensuous Beauty) है। इसे बुद्धि नहीं समझ सकती। इस सौन्दर्य के जाग्रत हो जाने पर प्रकृति की प्रत्येक—लघु, विराट वस्तु में सत्य, शिव व आनन्द का एक साथ साक्षात्कार होता है। सौन्दर्य की सृष्टि करना वस्तुत: 'आत्मा' में स्थित ब्रह्म की शक्ति व मूर्त्ति को बाहर निकालकर रखता है।[1] मन के संकल्पों का नहीं, आत्मा के संकल्पों का वर्णन—अलौकिक, अतीन्द्रिय अनुभवों की व्यंजना ही सच्ची सौन्दर्य-सृष्टि है।

अरविन्द के अनुसार उपर्युक्त दृष्टि से 'कला' का मर्म समझने में सुविधा हो जाती है। 'कला के मर्म' को हम वाह्य विचार-शक्ति द्वारा नहीं समझ सकते। 'विचार' (Thought) का एक आन्तरिक अंश (Soul-idea) भी रहता है। इसी प्रकार 'भाव' (emotion) के बाह्य अंश को ही 'रसानुभूति' के नाम पर हम समझते हैं; परन्तु भाव का एक आन्तरिक अंश (The soul of the emotion) होता है। विचार प्रभाव के आन्तरिक अंश को समझना ही 'कला का मर्म' (The essence of poetry) समझना है। यह आन्तरिक सत्य, शिव व **आनन्दमय** है, अतः इसी की व्यंजना ध्येय है, वस्तु - विचार या भाव के वाह्य रूपों का अङ्कन वर्णन या चित्रण वास्तविक सौन्दर्य-सृष्टि नहीं है। 'मन्त्र-युग' में ऋषि इसी अंतर्दृष्टि द्वारा सत्य का उद्घाटन करता था। कला के उपकरण हैं—अनुभूति (experience), अन्तर्दृष्टि (Vision), सत्यशोधन, लय, छन्द, और भाषा। ये सभी तत्त्व केवल वैदिक मन्त्रों में मिलते हैं, अन्यत्र नहीं। वस्तु का चित्रण अपने में लक्ष्य-रहित होने से महत्त्वहीन है, परन्तु सूर्य, वरुण, द्यावा-पृथ्वी, अग्नि, सोम, उषा, मरुत् आदि वस्तुएँ आन्तरिक सत्यों के उद्घाटन के लिए मन्त्रों में 'स्तुति विषय' के रूप में स्वीकृत हैं।[1]

वस्तु, विचार व भाव के बाह्य अंशों व रूपों का चित्रण हमें साँसारिकता में मग्न करता है। परन्तु चिन्मय सत्ता पर आधारित सौन्दर्य - सृष्टि मनुष्य को दिव्य-भाव भूमियों की ओर उन्मुख करती है। बुद्धिवादी आलोचक समझता है कि सृष्टि केवल सामान्य बुद्धि से होती है, परन्तु सच्ची सृष्टि तो अन्तर्दृष्टि से होती है। "प्रतिभा" सर्वदा ऊर्ध्व-बुद्धिवादिनी होती है, क्योंकि 'प्रतिभा' प्रातिभ ज्ञान से प्राप्त होती है न कि बुद्धि आदि निम्नस्तरों से।[1]

बुद्धिवाद ने शिल्प, बुद्धि तथा रुचि (Taste) की प्रधानता होने पर "क्लासिकल कला" तथा व्यक्तिगत दृष्टि से मार्मिक प्रतीत होने वाली सुन्दरता का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति प्रधान होने पर "रोमाँटिक-

1. To find highest beauty is to find God, to reveal, to embody, to create, as we say, highest beauty is to bring out of our souls, the living image and power of God. (The Human cycle, page 160).

1. The Future poetry—page 280

कला'' ये दो भेद किए गये हैं, परन्तु इस प्रकार के भेद भ्रामक हैं। उच्चकोटि की कला में ये दोनों तत्त्व सम्मिलित् रहते हैं, बुद्धिवादी आचार्यों के इस प्रकार के सभी विभाजन एकाङ्गी अत: अग्राह्य हैं--'सौंदर्य' को खण्डों में बाँट कर नहीं देखा जा सकता। सौन्दर्य सृष्टि के समय कलाकार के अन्त:करण में ऊर्ध्व-चेतना के स्तरों से जब स्वयं प्रकाश्य ज्ञान अन्तर्दृष्टि (Vision) के रूप में अवतरित होता है, तभी अनुपम, लोकोत्तर, अभूतपूर्व अनुभूतियों और रूपों की सृष्टि होती है। यही "सौन्दर्य दर्शन" व सौन्दर्य सृष्टि है—दोनों की पद्धति एक है। भेदों से परे रहने पर विभाजित करने वाली बुद्धि की पहुँच से ऊपर उठ जाने पर जो सौंदर्य-सृष्टि होगी उसे सामान्य बुद्धि द्वारा बनाए गये "मापदण्डों" में बाँधना न तो सम्भव है और न उचित। ऐसी कला का विवेचन यही उपर्युक्त अन्तर्दृष्टि प्राप्त आलोचक ही कर सकता है। पूर्वनिश्चित मापदण्डों को किसी भी रचना पर लागू करने वाले दिग्गज आचार्य सच्ची आलोचना करने में सदैव असमर्थ रहते हैं।

निष्कर्ष -- उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अरविंद "स्वयं प्रकाश्यज्ञानवादी" हैं। क्रोचे का अभिव्यक्तिवाद भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है। स्वयं अरविन्द की रचनाओं से स्पष्ट है कि वह केवल एक विशेष प्रकार की रचना के प्रेमी थे, किन्तु उनकी अध्यात्मवादी रचनाएं अत्यधिक दुरुह व रहस्याक्रान्त होने से वस्तुत: केवल अन्तर्दृष्टाओं के काम की हैं। उनका 'साधारणीकरण' असम्भव है। भविष्य-युग में 'अरविन्द काव्य' को समझने के लिये 'योग साधना' करनी होगी और सामान्य जनता का एक विशेष वर्ग ही इनसे लाभ उठा सकेगा अत: अरविन्द का दृष्टिकोण भी एकांगी है।

स्वयं प्रकाश्यज्ञान ही अरविन्द दर्शन का आधार है। किसी क्षेत्र-विशेष में कार्य करते-करते जो अनुभव की एक विशेष गहराई आ जाती है उससे भिन्न 'स्वयं-प्रकाश्यज्ञान' की सत्ता नहीं है, अन्यथा योग द्वारा प्राप्त स्वयंप्रकाश्यज्ञान से ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी प्रकार के आविष्कार सम्भव हो जाते; परन्तु "स्पूतनिक" आविष्कारकों को जो अन्तदृष्टि प्राप्त हुई है, वह क्षेत्र विशेष में कार्य करते-करते प्राप्त हुई है, योग द्वारा नहीं अत: 'स्वयंप्रकाश्यज्ञान' कोई निरपेक्ष, शाश्वत अनुभव नहीं है। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार के विशेष अनुभव का आदर बढ़ाने के लिए इसका सम्बन्ध हम "ब्रह्म" के साथ जोड़ दें।

अरविन्द कहते हैं कि मन, बुद्धि आदि सभी चेतना स्तर आत्मा के ही रूप हैं। यदि इन सभी में आत्मा अनुस्यूत है, तो यह मानना होगा कि बुद्धिवादी विवेचक में भाव, कल्पना व अन्तर्दृष्टि सभी तत्त्व रह सकते हैं। ये परस्पर विरोधी स्थितियाँ नहीं हैं। विवेचन करते समय विचारक अपने "अनुभव" को (जो सभी मानसिक स्थितियों की सहायता से प्राप्त हुआ है) अन्य जनों की बुद्धि के अनुकूल बनाने के लिए विभाजित करके समझाता है अतएव अरविन्द की बुद्धि विरोधी धारणाएं भ्रान्त हैं। उनके द्वारा कला के सभी रूपों व सभी अनुभूतियों की न्यायपूर्ण व्याख्या नहीं होती। कल्पना की सहायता से जब भाव की व्यंजना होती है, तब न तो अनुभव अतीन्द्रिय होता है और न वह प्रवृत्तियों से प्रेरित होता है। अत: भाव-व्यंजना स्वत: प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण में समर्थ है। रंजन व उदात्तीकरण के लिए भावव्यंजना, वस्तुव्यंजना व अलङ्कार व्यंजना समर्थ है और इनसे प्राप्त आनन्द चाहे 'ब्रह्मानन्द' न हो पर "ब्रह्मानन्दसहोदर" अवश्य होता है, और इसे ही हमारे आचार्य, जो कोरे बुद्धिवारी कभी नहीं थे, स्वीकार करते हैं और यही संतुलितमत ग्राह्य होना चाहिये।

अरविन्द जिस विभाजन की निन्दा करते हैं, स्वयं उसी से आक्रान्त हैं। भाव व विचार के बाह्य व आन्तरिक अंशों के विभाजन केवल पूर्व निश्चित आध्यात्मिक सत्यों की प्रतिष्ठा के लिए ही किए गए हैं अत: अमान्य हैं। दूसरे सत्यों, भावों व विचारों को मान कर ही सर्वदा अध्यात्मवादी 'ब्रह्म' का आरोप करते हैं।

सौन्दर्य की सृष्टि में 'वस्तु' का बाह्य सौन्दर्य सामञ्जस्य, संतुलन, अन्विति आदि पर आधारित है

और आन्तरिक सौन्दर्य उस वस्तु पर होने वाली हमारे मन की प्रतिक्रिया पर आधारित है। ये ही दो स्थितियाँ स्वीकार्य हो सकती हैं। अरविन्द इस द्वितीय स्थिति को आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि (Yision) के सम्मुख महत्व हीन सिद्ध करने पर तुल जाते हैं। क्रौंच पक्षी को देखकर ऋषि वाल्मीकि का "भाव" ही प्रथम "श्लोक" को जन्म दे सका था, ज्ञाता-ज्ञेय से रहित निरपेक्ष प्रातिभ ज्ञान नहीं। यथार्थवादी काव्य चित्रकला आदि के मूल में वही मानवीय सहानुभूति व करुणा है। मनुष्य द्वारा मनुष्य पर प्रहार होता हुआ देखकर जब गोर्की व प्रेमचन्द की लेखनी, मनुष्य की उस 'कराह' या 'क्रोध' को व्यंजित करती है, तब क्या उसके पीछे "लोक-मंगल" की वही भावना नहीं होती जो 'आदि कवि' के मुख से सहसा फूट पड़ी थी? अरविन्द के काव्य से मानवीय हृदय की यह भूख नहीं मिटती। कलाकार मनुष्य की प्रवृत्तियों, ऐन्द्रिक संवेदनों तथा कल्पनाओं को अपनी रचना द्वारा मानवीय और व्यापक बनाता है। योग द्वारा प्राप्त अनुभवों में इतनी सार्वजनीनता इसीलिए नहीं मिलती अतएव अरविन्द के दृष्टिकोण से अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा आज के यथार्थवादी विचारकों का दृष्टिकोण अधिक मानवीय और व्यापक है। प्राचीन साहित्याचार्य बुद्धि व अन्तर्दृष्टि दोनों के धनी होने के कारण अरविन्द से कहीं अधिक सर्वदर्शी व सत्यदर्शी थे। उन्होंने ब्रह्मवादी होने पर भी मनुष्य के "भाव" का अरविन्द की तरह कभी अपमान नहीं किया था। और भाव ही "सौन्दर्य सृष्टि का मूलाधार है, यह आज भी हमें मान्य है।[1]

---

१ अरविन्दवादी सौन्दर्य-शास्त्र के प्रभाव से सुमित्रानन्दन पन्त के नवीनकाव्य स्वर्णकिरण-स्वर्णधूलि, उत्तरा-अतिमा आदि में, 'कला' का अपेक्षाकृत 'ह्रास' दिखाई पड़ता है। हिन्दी-काव्य का यह दुर्भाग्य है कि वीणा, पल्लव, जैसे काव्यों का लेखक अरविन्दीय प्रभाव से बुद्धिवाद का विरोधी होकर भी केवल "बुद्धिवादी" काव्य की ही सृष्टि कर सका।

(पृष्ठ ५० का शेषांश)

किया है उनमें से यूरोप के सुसरो और अमेरिका के एडवर्ड सेपीर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। फर्दीनन्द द सुसरो को तो इसका जन्मदाता कहा जा सकता है।

संक्षेप में यहाँ भाषा-विज्ञान के वास्तविक रूप भाषा तत्त्व 'Linguistics' का स्वरूप स्थिर करने की तथा उससे संबंधित विभिन्न स्कूलों, विचारधाराओं को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। आज भारत के सामने यह समस्या है कि वह किस प्रकार अपने देश में फैली हुई बोली जाने वाली असंख्य भाषाओं का विश्लेषण करे? उसके द्वारा अतीत में दिये गये दो आदर्श—संस्कृत में पाणिनि की अष्टाध्यायी और तमिल में तोलगाप्पियर का 'तोलगाप्पियम' आज भी विश्व को चकित किये हुये हैं, फिर भी आज हम विदेशों का अनुकरण कर रहे हैं। आज हमको फिर से अपने अथक परिश्रम और मेधावी शक्ति से प्रमाणित कर देना है कि भारत जैसे राजनीतिक क्षेत्र में संसार की किसी शक्ति और उसकी विचारधारा का गुलाम नहीं है, वैसे ही विचार-क्षेत्र में भी नहीं है।

स्वर्गीय श्री चन्द्रबली पाण्डेय

श्री उदयशङ्कर शास्त्री

आजमगढ़ के एक छोटे से गाँव में ब्राह्मण वंश में जन्म लेकर आरम्भिक पढ़ाई पूरी करके काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए आने वाले एक छात्र के बारे में किसे अनुमान हो सकता था कि यह साधारण सा छात्र एक दिन शाह साहब नासिरुद्दीन पुरी के रूप में चमकेगा, साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व करेगा। १९३१ में ससम्मान एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद विशेष अध्ययन (तब डी० लिट्) के निबन्ध प्रस्तुत करने का उपक्रम आरम्भ ही हुआ था कि उसमें व्याघात उपस्थित हो गया। उसने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि उससे पाँडेय जी की जीवन धारा ही पलट गई और डाक्टर बनते-बनते ऐसे मरीज बन गए कि उस मर्ज की अब तक कोई दवा ही ईजाद नहीं हुई है।

अपनी छात्रावस्था में पाँडेय जी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निकट सम्पर्क में आए। शुक्ल जी उस समय जायसी की कृतियों का सम्पादन कर रहे थे। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा उनका सम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका ने जायसी को नए रूप में साहित्य संसार के सामने उपस्थित किया और तब से जायसी पर विचार होने का तांता लग गया, और जिसके हाथ जितना लगा, लेभागा। जायसी के संपादन के समय शुक्लजी और पाँडेय जी से जो विचार विमर्श होता रहा, उसका पूरा परिपाक पाँडेय जी के तसव्वुफ और सूफी मत में दिखाई पड़ता है। पांडेय जी के पूर्व किसी ने इतने विस्तार से और मौलिक स्रोतों के आधार पर सूफी आस्थाओं पर विचार नहीं किया था। इसी समय ग्रियर्सन के बोये विष वृक्ष में फल लग आए। ग्रियर्सन बेचारा तो निमित्त मात्र ही है, चाल तो उन फिरंगियों की थी जो भाषा के आधार पर हिन्दू मुसलमानों में तफरका उत्पन्न करना चाहते थे। नागरी प्रचारिणी सभा बरसों से इस प्रयत्न में थी कि कचहरियों की भाषा हिन्दी और लिखत-पढ़त के लिए नागरी अक्षरों को सरकार स्वीकार कर ले। सरकारी मुख्तारों ने अपनी सफाई में मुसलमानी हुकूमत में प्रचलित भाषा की पद्धति पर अदालतों की भाषा स्थिर की जाने की बात कही, तब पाँडेय जी ने मुगल बादशाहों की हिन्दी नामक पुस्तक लिखी, जिसमें मुगल बादशाहों की सनदों, हुक्मनामों, तथा पुराने आलिमों के फैसलों के उद्धरण दे देकर सिद्ध किया कि वे लोग भी जनता के लिए उसी की भाषा का प्रयोग करने के पक्षपाती थे। वैसे उनके इर्द-गिर्द ईरानी तूरानी फिजाँ जरूर थी। संविधान बनते समय, भाषा और लिपि का विचार होते समय जब रोमन अङ्कों को भारत में सरकारी तौर पर प्रयोग किये जाने की चर्चा चली तो पाँडेय जी ने डटकर सफाई दी। हैदराबाद के अपने भाषण में उन्होंने नागरी अङ्कों की ऐसी वकालत की जो कभी भुलाई नहीं जा सकती।

पांडेय जी का खास गुण यह था कि किसी भी समस्या के उपस्थित होने पर उसका समाधान शीघ्रता से ग्रहण नहीं करते थे, वरन् काफी सोच-बिचार के बाद अपना मत स्थिर करते थे और एक बार निश्चय कर लेने पर फिर उन्हें उससे टस से मस होते कभी नहीं देखा गया। राष्ट्र भाषा के सम्बन्ध में किए गए उनके प्रयास भी इसी प्रकार हैं। स्व० श्री मौलवी महेश प्रसाद के सहयोग से पहले तो उन्होंने भाषा की दृष्टि से अरबी-फारसी का अध्ययन किया, फिर उसकी प्रचारात्मक भावना को देखा, परखा, फिर लिखना आरम्भ किया और तब तक लिखते रहे कि जब तक उक्त समस्याओं का पूरा-पूरा समाधान नहीं हो गया।

उनके लिखने की भी अपनी अद्भुत शैली थी,

उसमें एक खास दृष्टिकोण से ऐसी करारी चोट होती थी जिसकी कहीं काट नहीं थी। बिना पर्याप्त सामग्री के जुटाए वे किसी भी विषय पर कभी कलम नहीं चलाते थे। नागरी प्रचारिणी सभा अपने हिन्दी शब्द सागर का दूसरा संस्करण तैयार करा रही है। पाँडेय जी भी उसके सम्पादक मण्डल के सदस्यों में थे। सभा ने व्युत्पत्ति-लेखन के लिए डा० हेमचन्द्र जोशी को नियुक्त किया है। उन्होंने आकर नमूने के तौर पर कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तैयार कीं जिनमें भारोपीय अर्थविज्ञान के सहारे पहले व्युत्पत्तियाँ और फिर अर्थ का क्रम था। उसमें एक 'उत्तर' शब्द भी था। जोशी जी का मत है कि आर्य जब मध्य एशिया से पूर्व की ओर आ रहे थे तो उन्होंने हिमालय की चोटियों को देखकर उद-तर कहा होगा, जिससे उत्तर शब्द व्युत्पन्न हुआ। मॉनियर विलियम ने भी कई प्रकार की व्युत्पत्तियाँ दी हैं। कई अर्थ भी दिए हैं। वे नमूने के शब्द विचारार्थ सम्पादक मण्डल के सदस्यों के पास भेजे गए। पाँडेय जी ने उन्हें देखकर एक पूरा चार्ट बनाकर बताया कि नमूने का सम्पादन इस प्रकार होना चाहिए और विचार के लिए इतनी सूचनाएं संलग्न रहनीं चाहिए। उधर नागरी प्रचारिणी सभा का कोश और व्याकरण बन रहा था, इधर पाँडेय जी धीरे-धीरे क्रूर काल के फन्दे में कसते जा रहे थे। मौलवी महेश प्रसाद की मृत्यु के बाद पाँडेय जी विश्वविद्यालय के पीछे मङ्गलकरन (नरिया) में रहा करते थे, पर जब गठिया ने बहुत कष्ट देना आरम्भ किया तो सुश्री पद्मामिश्र एवं श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी के क्वार्टर में चले आए थे। मैं भी कभी कभी अवकाश निकाल कर उनसे मिलने जाता, हाल-चाल एवं आवश्यकता की बात पूछ कर चला आता था। एक दिन सरस्वती प्रेस के व्यवस्थापक श्री जगत नारायण शंखधर का फोन आया कि पाँडेयजी रामकृष्ण मिशन के अस्पताल में हैं और तुम्हें बुलाया है। कार्यालय समाप्त होने पर घर आया और फिर कोई सात बजे के आस पास कौड़िया अस्पताल (रामकृष्ण मिशन हॉस्पिटल का स्थानीय नाम) गया। वहाँ थोड़ी सी खोजबीन के बाद वह कोठरी मिली, जिसमें पाँडेय जी पड़े थे। उनकी बीमारी के उपयुक्त न तो वहाँ व्यवस्था थी और न कोई पर्याप्त ध्यान ही देने वाला था। पर उन्होंने कहा कि पद्माजी ने यहाँ आने की व्यवस्था की है। खर्च-वर्च के बारे में मैंने जब उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि पद्माजी ने यहाँ खर्च के लिये पैसा जमा कर दिया है; और कोई चिन्ता की बात नहीं है। परन्तु वहाँ कुछ दिन रहने पर जब स्वास्थ्य में कुछ सुधार नहीं हुआ और उसकी सूचना पत्रों में छपी तो साहित्य प्रेमियों ने पाँडेय जी की ओर ध्यान दिया, और ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ चंदा करने का उपक्रम किया जा रहा है। पाँडेयजी की बीमारी में भी कुछ अखबार उनके पास आया करते थे। उन्होंने उक्त खबर जिस दिन पढ़ी, उस दिन वे बड़े क्लेश में रहे, उनके मन को बड़ा धक्का लगा। जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने यह वक्तव्य लिखवाया और उस कागज पर स्वयं अपने हस्ताक्षर किए फिर मुझसे उसे प्रकाशनार्थ पत्रों को दे देने के लिए कहा। वह वक्तव्य यह है :—

रोग को प्रबल पड़ते देख अपनी रुचि के अनुसार मैं स्थानीय रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम (कौड़िया अस्पताल) में आ गया हूँ। इस सूचना को पाकर चारों ओर मेरी आर्थिक सहायता की चिन्ता हुई और जहाँ तहाँ व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में इसके लिए कुछ प्रयत्न भी होने लगे। शासन का ध्यान भी आकृष्ट किया गया।

ऐसी बातों से मुझे क्लेष पहुँचता है। मैं अपने सभी हितैषियों, शासन, समाज और साहित्य प्रेमियों से अनुरोध करता हूँ कि मेरे लिये कहीं कोई किसी प्रकार की ऐसी चेष्टा न करे कि जिससे मेरी आर्थिक सहायता की ध्वनि निकलती हो। कारण यह कि अब भी मेरी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि जिसके लिये किसी प्रकार की बाहरी सहायता की आवश्यकता हो।

मेरी चिकित्सा संतोषप्रद रूप से चल रही है और आशा है कि वसन्त ऋतु में स्वस्थ हो कर मैं अपने स्थान पर पहुँच जाऊंगा। और पूर्ववत् अपने कार्य में

संलग्न होकर लोगों को इस चिन्ता से मुक्त कर सकूंगा।

चन्द्रवली पाँडेय
२२–१–५६

इसी बीच उत्तर प्रदेशीय सरकार की ओर से भी ६००) का एक चेक आया परन्तु वह भी तुरन्त ही लौटा दिया गया। कुछ दिनों के बाद अस्पताल के बड़े स्वामी जी ग्रीष्म कालीन प्रवास में चले गए। उनके चले जाने से अस्पताल की सभी प्रकार की व्यवस्था में ऐसी ढिलाई आ गई कि क्या कहा जाय। मई जून की गर्मी, पाँडेय जी का अत्यन्त रोग जर्जर शरीर, उन्हें बड़ा ही कष्ट था। एक दिन उन्हें बड़ा कष्ट था, यहाँ तक कि पानी भी उनके गले से नहीं उतर रहा था, तो उन्होंने मुझसे कहा कि जाकर दूसरे स्वामी जी (डॉक्टर) को बुला लाओ। बड़ी देर तक ढूंढ़ने पर जब वे मिले और मैंने उनसे पांडेय जी के कष्ट की बात कही, और इस प्रतीक्षा में खड़ा रहा कि शायद वे कुछ उपाय बतावें या मेरे साथ चल कर देख लें, पर वे ज्यों के त्यों अपनी गुफ्तगू में मशगूल रहे जो रोग और रोगी से कतई ताल्लुक नहीं रखती थी। जब मैं खड़े खड़े ऊब गया तो अपनी बात फिर दुहराई, तब जैसे उन्हें होश आया। चौंकते से बोले—"हाँ हाँ, चलो हम आते हैं।" मैं मन मारकर चला आया। वे पांडेय जी को देखने कोई दो घण्टे के बाद आए। हम लोग इस अव्यवस्था से असन्तुष्ट थे और चाहते थे कि स्थानीय एवं राजधानी के पत्रों में इस कुप्रबन्ध की चर्चा हो। पर पाँडेय जी ने कभी एक शब्द भी न लिखने दिया। अव्यवस्था के कारण उन्हें शारीरिक कष्ट होता, उसे चुपचाप सह लेते और हम लोगों से कहते, "जाये दऽई लोग तऽ बाबा जी हउवैं नऽका करबऽ इनके खिलाफ लिखि पढ़िकै; और फिर अपनी असहाय अवस्था में भी उन्होंने अस्पताल छोड़ दिया। पास में इतना पैसा नहीं कि बड़े से बड़े डाक्टरों को घर पर बुलाकर इलाज कराया जा सके। कुल कुटुम्ब में कोई ऐसा नहीं जो उनकी देखभाल कर सके। नौकर के बूते कहाँ तक चल सकता था। उनके निकट के सभी लोग चिंतित थे; और जिससे जो बन पड़ता था, उनके लिये करने में कोर कसर नहीं रखता था। पाँडेय जी हिन्दू विश्वविद्यालय कोर्ट के सदस्य थे। सो जब उन्होंने कौड़िया अस्पताल छोड़ा, तब यह सोचा गया कि किसी अन्य स्थान पर रहने की अपेक्षा विश्वविद्यालय के अस्पताल में रहें तो अच्छा होगा। और उन्हें सर सुन्दरलाल हॉस्पिटल के एक स्पेशल वार्ड में भरती करा दिया गया। वहाँ अन्य लोग तो उनसे मिलने जुलने जाते ही थे कभी कभी कुलपति महोदय भी आ जाते थे। अस्पताली मशीनरी पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता था। और सुश्रूषा तनिक ठिकाने से होती थी। स्वास्थ्य कुछ सुधर चला था। तभी मैं आगरे चला आया।

अपनी बीमारी के जोर पकड़ने से पहिले उन्होंने कालिदास और तुलसी की जीवन भूमि नामक दो पुस्तकें लिखकर समाप्त कीं, जो यथा समय प्रकाशित हुईं। जब वे अस्पताल गये उसके कुछ पहिले उन्होंने राधा पर एक पुस्तक लिखना आरम्भ किया था। कई अध्याय लिखे जा चुके थे कि तभी शरीर लाचार हो गया। पर उनका ग्रन्थावलोकन चलता रहा। राधा विषयक ग्रन्थ पढ़ते रहे। कई पुराणों को अपनी बीमारी के समय भी खरीदवाया, और पुस्तक की सामग्री जुटा ली। कुछ दिनों पहिले वे अस्पताल से श्री पद्मा जी के क्वार्टर में आ गए थे और उस पुस्तक की प्रेस कापी तैयार करा रहे थे। तभी दशहरे की छुट्टी में मैं काशी पहुँचा और पाँडेयजी से मिलने भी गया। बड़ी देर तक यहाँ के हाल-चाल पूछते रहे। दक्षिण-और हिन्दी की भी चर्चा हुई। तभी उन्होंने 'राधा' के भी ५ अध्याय दिखाये और बोले, "तोहरे चल जाये से हमार पोथी पतरा कऽ काम गड़वड़ होय गयलऽ" मैं भी तो अन्नोदक प्रबलता के कारण ही यहाँ आया हूं, अन्यथा कहां काशी और कहाँ यह अकबर की लुटी पिटी राजधानी। पर अब की जाने पर जो क्षीणता उनमें दिखाई पड़ी उसने मुझे बहुत ही डरा दिया था।

पांडेय जी को साहित्य सेवा से मिले पत्रपुष्प के

अतिरिक्त और किसी प्रकार की आय का कोई साधन नहीं था। वैसे भी उनका कुटुम्ब साधारण खाता-पीता परिवार मात्र है, सो वहां से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता का कोई प्रश्न ही नहीं था। तो भी उन्हें प्रकाशकों से सदा कष्ट ही मिला। काशी के एक अच्छे प्रकाशक ने एक पुस्तक मद्धे केवल ४।।) रुपये जब उनके पास भिजवाए तो उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि, उस प्रेस से पता लगाओ कि अमुक पुस्तक कितनी छपी है। मैंने जब पता लगाया तो उस प्रेस के खाते में उस पुस्तक के २,००० छपने की बात दर्ज पाई। इस जानकारी के बाद उन्होंने उसे कुछ नहीं कहा और न जीवन भर उससे हिसाब-किताब की ही चर्चा की। उसका प्रसंग चलने पर एक दिन मुझसे बोले। "मैं चाहता हूं कि इस पुस्तक का स्वत्वाधिकार ही उसे दान कर दूं जिससे फिर उसे झूंठ तो न बोलना पड़े।" इन्हीं दिनों पांडेय जी की 'तुलसी की जन्म भूमि' नाम से एक पुस्तक छपी। सभा में जिस समय उसे प्रकाशित करने की बात चल रही थी तो मैंने प्रस्ताव किया कि पांडेय को इस पर एक मुश्त रुपया दे दिया जाय पर इसे पांडेय जी ने स्वीकार नहीं किया और पुस्तक रायल्टी पर ही सभा के पास रही। यही हालत उनके केशवदास और कालिदास की हुई। केशवदास के प्रकाशक ने कई वर्ष बेचने खाने के बाद ६४७ प्रतियाँ पांडेय जी को देकर कहा कि इसके अतिरिक्त अब हमारे पास और देने को कुछ नहीं है। पांडेय जी ने उसे भी स्वीकार कर लिया और वे प्रतियाँ सरस्वती प्रेस को कमीशन पर बेचने के लिए दे दी गईं। श्री जगत बाबू की कृपा से उसका हिसाब समय से पाँडेय जी को प्राप्त होता रहा है। कालिदास और शूद्रक नाम की दो पुस्तकें एक प्रकाशक ने छाप दीं और एक साल बेचने के बाद कई तगादों के बाद जब चैक भेजा तो १५ प्रतिशत रायल्टी का हिसाब था। बातचीत २० प्रतिशत की हुई थी। पांडेय जी ने मेरे द्वारा चेक वापस भिजवा दिया। प्रकाशक ने साम-दाम-भेद की माया फैलाई और अपने को उनसे भी अकिंचन बताया, तो पांडेय जी ने कहा कोई बात नहीं, इसके खाते में तो २० प्रतिशत का ही हिसाब रहना चाहिए। मुझे १५ प्रतिशत देकर शेष ५ प्रतिशत मेरी ओर से संस्कृत विद्यार्थियों को दान कर दे। मुझे ठीक स्मरण नहीं है, कालिदास पर या शूद्रक पर पांडेयजी को उ० प्र० सरकार से ८०० का द्वितीय पुरुस्कार मिला। उसी वर्ष डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की पुस्तक पर उत्तर प्रदेश से १२०० का पुरस्कार दिया गया। पुस्तक अङ्गरेजी से अनूदित होकर हिन्दी में छपी थी और पुरस्कारार्थ उपस्थित की गई थी। पांडेय जी को जब सारी हकीकत मालूम हुई तो उन्होंने सरकार को एक पत्र लिखा कि "प्रतीत होता है सरकार पुरस्कार देने में किसी सिद्धान्त का पालन नहीं करती है। मौलिक और अनूदित पुस्तकों में भी कोई भेद नहीं करती है इसीलिए मैं आपका यह पुरुस्कार सधन्यवाद वापस करता हूं।" ये हैं पाँडेय जी के जीवन के चित्र, जिनसे पाँडेय जी का स्वरूप और स्वभाव दोनों साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं। जैसे उनके लिखने में कहीं कोई बनाव छिपाव नहीं है वैसे ही उनके स्वभाव में भी कहीं कोई दुराव छिपाव नहीं था। उनकी यह झाँकी अब हमें उनके द्वारा लिखित साहित्य में ही मिलेगी जिसके लिए अब जरामरन का कोई भय नहीं है।

पाँडेय जी द्वारा लिखित और सम्पादित पुस्तकें

तसव्वुफ और सूफी मत	बिहार में हिन्दुस्तानी
शूद्रक	कालिदास
अनुराग बाँसुरी	भाषा का प्रश्न
हिन्दी कवि चर्चा	मुगल बादशाहों की हिन्दी
राष्ट्रभाषा पर विचार	कचहरी की भाषा और लिपि
विचार विमर्श	उर्दू का रहस्य
साहित्य संदीपनी	हिन्दुस्तानी का भवजाल
नेशनल लैंग्वेज ऑव इण्डिया	तुलसी की जीवन भूमि

मुल्क की जवान और फाजिल मुसलमान

"हिन्दी" नामक मासिक पत्रिका का संपादन

यदि मैं समालोचक होता

सम्पादक जी,

होली बीती। नया वर्ष आरम्भ हुआ मगर जान पड़ता है सम्पादक होकर आपकी आयु के वर्ष आगे बढ़ने के बजाय पीछे मुड़कर दौड़ने लगे हैं।

आप शायद स्वयं भी इस बात की गवाही देंगे कि नौजवानी में हमारी मित्र मण्डली में आप ही ऐसे व्यक्ति थे जो जनेऊ के समय रटाई गई प्रतिज्ञाओं का पालन करते थे। उस समय जब हम नायिकाओं का वर्णन करते थे तब आप बैठे-बैठे झेंपा करते थे और अब ऐसे होगये हैं कि अपनी साहित्यिक पण्डिताई की आड़ में हमें बार-बार नायिका भेद करने के लिये ही उकसावा देते हैं। यह सब देखकर मसल याद आती है कि आप तो डूबेंगे ही साथ में यार को भी ले डूबेंगे। ऐसी हरकतों से आप मेरे पचासे और साठे को पद्म श्री भूषित न होने देंगे।

खैर, आप डाल डाल तो हम पात पात। हम आपकी कही भी करेंगे और अपनी आबरू भी निवाहेंगे। आबरू निबाहना बड़ा आवश्यक है सम्पादक जी। आप तो खैर निभाये बैठे हैं। यों समालोचक की हैसियत से बहुत बार गालियाँ खाकर भी दुनियादारी की दृष्टि से आप खासे आबरूदार हैं। अरे भई, डॉक्टर हैं और वह भी रंगे सियार के काले-चश्मे से देखी गई निगोड़ी कल-मुंही हिन्दी के नहीं बल्कि गोरी चिट्टी बड़े नाजोपली अंग्रेजी के डॉक्टर; तिस पर कुरसीपति प्रोफेसर भी हैं। आपकी आबरू तो इन्श्योर्ड है; मगर हम अच्छे खासे भलेमानुस होकर भी, रूखे और बड़े-बड़े बाल न रखते हुये भी, सब कुछ बोलचाल कर आखिर हैं तो कला-कार। यह शब्द ही बेआबरूई का साइनबोर्ड है। इस-लिये हम जो तनिक चूके तो ज़माना नाक सिकोड़-सिकोड़ कर कहेगा : "अजी, यह तो पहले ही से मालूम था। आखिर है तो कलाकार ही न! देखिये, नागर नायिका भेदी होगया। अब इसको घरों में न घुसने दिया जाय।" सम्पादकजी आपकी सलाह पर यदि मैं चला तो मेरा जो कुछ अध्यात्मवादी नुकसान होगा सो होगा ही, ऊपर से यथार्थवादी हानि का पलेथन लग जायगा। जान-पहचान का दायरा लम्बा चौड़ा रहने के कारण यदि योजना बनाकर एक-एक दिन सबके यहाँ चाय या भोजन के अवसर पर पहुँचता रहूँ तो अपना एक समय का राशन यावत् चन्द्र दिवाकरौ बड़े मजे में बचा सकता हूँ। और चूंकि यों भी एक ही समय भोजन करता हूँ इसलिये घर से मेरे राशन की समस्या ही कट जायगी। आज के समय में घर के एक प्राणी का राशन कम होना, खर्च की कुछ बचत होना कुछ अर्थ रखता है।

आपने कला के माध्यम पर तो बड़ा खयाल बाँध दिया, क्या कहने! लेकिन कलाकारों के माध्यम पर यदि बड़ा नहीं तो छोटा खयाल ही कभी सुना दीजियेगा सम्पादक जी? द्रुत नहीं तो विलम्बित ही सही। हेगेल, गेटे और भरत के उद्धरण देने की आवश्यकता न पड़ेगी। कलाकारों के माध्यम पर कोटेशन दिये बगैर भी काम चल सकता है। आपने स्वयं कभी गौर किया होगा कि कलाकार जब 'कोट' करता है तो अपने ही वाक्यों को। मैंने इन कोटेशनों को अक्सर बड़े ध्यान से सुना है सम्पादक जी, नमूने के तौर पर दो-चार आप भी सुन लीजिये :—

कोटेशन नं० १—"अजी जो मैंने लिख दिया उसे समझने में अभी सौ साल लगेंगे।"

को. न. २—"अजी वो (कोइ भी) साला क्या लिखेगा मेरे आगे। अभी दस बरस सिखा सकता हूँ।"

को. न. ३—"साधना कीजिये साधना। कला कलेजे के खून को सुखा कर ही निखरती है।" (अर्थात्,

कलेजे के खून को सुखा कर पाउडर कर लीजिये, फिर जहाँ कहीं रसीली आँखें मिलें, अपनी कला-कलेजी के सफ़ूफ़ को उसमें घोल कर काफ़ी-हाउसिया-बातों की नौरतन चटनी चट-से तैयार कर लीजिये।)

इस प्रकार के कलाबाजी वाले कोटेशन इतने मिल सकते हैं कि आपको बटोरते हुए भी अनानाहक बोझ लगेगा। यानी हम भी कभी-कभी (और कभी अक्सर भी) कुछ कोटेशननुमा कलाबाजी दिखला ही जाते हैं। बाद में जब हमारा प्रच्छन्न कलाबाज रूप झखमार कर सो जाता है और मनुष्योचित्त विवेक जागता है तब···· तब की न पूछिये सम्पादक जी, हँसी तो आती ही है साथ ही हमारे स्वभाव का भोलापन झेंप जाता है।

कुछ कलाकारों ने अपने निकम्मेपन को ढंकने के लिये शेखीखोरी को अपना माध्यम बना रक्खा है। दस पन्द्रह वर्ष से लिखना-पढ़ना छोड़ बैठे हैं, अपनी पुरानी रचनाओं को ही नये नये नामों से छपवा कर कौड़े सीधे करते हैं, सरकारी, गैर सरकारी डेलिगेशनों में जाने के लिये नीति-अनीति सब कुछ बरत लेते हैं— तिकड़म खुशामद सब कुछ। फिर भी वे अपने को महानतम् से कम नहीं समझते और जब कोई भोलेभाले पाठक-प्रशंसक उनके यहाँ पहुँच जाते हैं तो अपने मान-गुमान और डींग हाँकनी से बेचारे के प्राण सुखा देते हैं। ऐसे कलाकार नायिका भेदी दृष्टि से अधमा-नायिका कहलायेंगे।

"पिय सों हित हू के किये करे मान जो बाल।
तासौं अधमा कहत हैं कवि 'मतिराम रसाल।।"

कुछ नये कलाकार दो चार कवितायें, कहानियाँ और उपन्यास लिखने के बाद ही इस बात के लिये अधीर हो उठते हैं कि उनके रचे साहित्य पर 'अभी तक' न तो बड़े-बड़े पोथे लिखे गये और न छोटे-छोटे लेख ही। वे चिढ़कर चिल्लाते हैं: "जमाने साले को मेरा आर्ट समझने की तमीज ही नहीं।" इन ऐसों को आप मध्या अधीरा मानिये—

"मध्या कही अधीर तिय बोलै बोल कठोर।
पियहिं जनावत कोप सों········" इत्यादि।

अच्छा ये तो बेचारी नायिकायें हैं, अच्छी बुरी कैसी भी हों, अबला हैं; परन्तु कुछ कलाकार ऐसे हैं जो शिकायत नहीं करते, करतब करते हैं। करतब पौरुष का चिह्न है इसलिये उनको नायिका के बजाय हम नायक मानते हैं। इनमें शठ, धृष्ट, उपपति, वैशिक, वचनचतुर, क्रिया चतुर सभी कोटियों के नायक हैं। इनकी करतबगारी के माध्यम भी अलग अलग हैं।

शठ नायक आपको फ़िल्मी कलाकारों-कलाकारिनों में बहुतायत से मिलेंगे। इन्हें पहचानने के लिये दोहा सुनिये:

"प्रिय बोलै अप्रिय करै निपट कपट जुत होय।
सठ नायक तासों कहत कबि कोबिद सब कोय।।"

फ़िल्मी कलाकार देश, समाज, मानवता, कला, दर्शन आदि के सम्बन्ध में बड़ी मीठी, भाव-भरी तर्क-सजी बातें बोलता है और काम करता है ब्लैक धंधे का। 'स्मगलिंग' की शराब पार्टियों में उड़ाना, आपस में भी एक्टिङ्ग करते रहना, अख़बार वालों को खिला पिलाकर अपना ढोंग-धतूरा फैलाना, पुल्लिंगी शठ नायक होने पर औरतबाजी तथा स्त्रीलिंगी शठ नायक होने पर मर्दमार बनना, पीकर सड़कों पर अपनी मोटरों का चालान करवाना, इनकमटैक्स विभाग को ठीक पूंजीपतियों के से लटके-चटकों से चकराना रिझाना आदि-इत्यादि इनके करतब होते हैं।

मगर सम्पादकजी, इनकी बड़ी कीमत है। शठ नायक आज के युग में पुजता है। अजी उसका ऐसा सम्मान है कि चोटी के नेताओं के साथ फोटो खिंचवाता है, उनके साथ क्रिकेट खेलता है, राज-दरबारों में दावतें उड़ाता है; आलम उसके पीछे दीवाना है। यह पुल्लिंगी-स्त्रीलिंगी शठ नायक हमारा भाई-बिरादर फ़िल्मी कलाकार अपने सुख चैन के लिये राष्ट्र से एक विशेष टैक्स उगाहता है। उसका नाम है "मास्टर वेशन टैक्स"। सम्पादकजी, जहाँ तक अदालत शास्त्र और मेडिकल शास्त्र आवश्यकता पड़ने पर तथाकथित अश्लील शब्दों का उपयोग कर लेते हैं वहाँ तक मुझे भी निष्काम रूपेण अश्लील हो जाने की आज्ञा प्रदान कीजिये।

अच्छा सम्पादकजी, कभी सोचा है कि ये लाख-दो लाख-तीन लाख का 'काला रुपया' आखिर हमारे इन फ़िल्मी बन्धुओं को क्यों कर मिल जाता है? हमारे निराला पन्त क्या ऊँचे कलाकार नहीं? इन्हें क्यों नहीं मिलता? बहुत विचार किया तब यह समझ में आया कि हमारे निराला पन्त, उनके गुरू रवीन्द्रनाथ, उनके गुरू कालिदास, फिर उनके गुरू वेद व्यास यहाँ तक कि सबके दादा गुरू आदि कवि वाल्मीकि तक उस कृष्ण-लक्ष्मी को रिझा पाने के नितान्त अयोग्य थे और हैं। मस्ती के दौर में अदब को जरा देर के लिये बाअदब बालाए ताक कर 'बाँकेमली' लहजे में कहने को जी चाहता है कि भैयो हमन-तुमन मिलके जिसे जो चाहो कह लो और पूज लो। पर पबलक तो इन्हें खुस्कैट समझे है। तरकैटियाँ तो भैयो बाइस्कोप सनीमा में रहवे हैं—रस तो बिसी बरसाने में बरसे है।

अच्छा, हमारे ये फ़िल्मी बन्धु तो फिर भी समय के थपेड़े खा कर सम्हल जायेंगे। इनसे आशा की जा सकती है क्योंकि सारी शठता के बावजूद ये अधिकतर नौजवान हैं, हरे बेंत हैं, अभी इनका भोलापन स्वार्थ से सूख कर पूरी तरह काठ नहीं हुआ। अभी 'ब्लैक' पर मरते हैं; अभिनय, चरित्रचित्रण करना बहुत से बड़े-बड़े नाम चीन्ह स्टारों को भी नहीं आता; लेकिन यदि उचित रूप से इनका काला स्वार्थ बंधन में जकड़ा गया तो कल ये उज्ज्वल समाज की रूप रेखा प्रस्तुत करने में इतने ही जोश से सहायक भी हो जायेंगे।

परन्तु सम्पादक जी, धृष्ट नायकों का क्या किया जाय। ये पेश-ए-कलाकारी से जीवन आरंभ कर नाम और धन कमाते हैं; फिर समाजवादी सरकार में ऊँचे-ऊँचे राजमुकुट पहनते हैं; जब मुकुट उतर जाता है तब वेद उपनिषद महाभारत और गीता का प्रवचन जाल फैला कर सत्ता की नई और कीमती चिड़िया फंसाने के फेर में रहते हैं और यदि संयोगवश वह नहीं फंसती तो संस्कृति भेद भाषा भेद, आदि के बेद-लबेद छाँटते हैं। इन बुजुर्ग कलाकारों को कितना ही समझाओ, बरजो, मगर ये स्वार्थी अपनी धृष्टता से बाज नहीं आते। महाकवि मतिरामजी ने ऐसे कलाकारों का हुलिया इस प्रकार बयान किया है:—

"करै दोस निरसंक जो डरै न तिय के मान।
लाज धरै मन में नहीं नायक धृष्ट निदान॥"

तो सम्पादकजी, यही सब कलाकारों के माध्यम हैं। कोरे लिखने, चित्र, मूर्ति आदि बनाने से जब पेट नहीं भरता तो कलाकार कला के माध्यमों का तरह-तरह से उपयोग करता है। हम भी पेट के लिये कभी फिल्म-लेखन रूपी गणिका के फेर में पड़ कर वैशिक नायक बने हैं और रेडियो-डाक्यूमेंटरी आदि के लिये लिख कर उपपति भी बनते हैं। हमारी उलझन समझिये, हम कहानी कला को एक पत्नीव्रती होकर अपनाना चाहते हैं परन्तु ये कला नायिका रोटी बड़ी कच्ची सेंकती है, गृहस्थी चलाने में अब तक फूहड़ साबित हुई है। इसीलिए परकीयाओं और गणिकाओं का पल्ला पकड़ना पड़ता है। हम बहुत रुपया पैदा करने के फेर में न रहें तब भी शहरी जीवन की आवश्यकताओं और मान्यताओं को बिलकुल अमान्य कर नहीं चल सकते। हम कला नायिका से बार-बार क्षमा माँगकर कहते हैं कि सती, तुम्हें मैं छोड़ नहीं सकता पर क्या करूँ तुम बाँझ हो।

सम्पादकजी, गाली देने से न चलेगा, कलाकारों के माध्यम पर भी उचित और अनिवार्य सहानुभूति से विचार करना ही होगा वरना एक ओर अफलातूनी साधनावाद का आदर्श और दूसरी ओर पेटवाद का घोर यथार्थ आपसी रस्साकशी कर कला की जान निकाल लेगा। कलाकार लोग इसी रस्साकशी में होते-होते अधम नायिका और धृष्टनायक हो जाते हैं। जो लोग यहाँ तक पहुँचने से अपने को बचा लेते हैं, वे बस बचा ही लेते हैं, लेकिन दम इतना फूल जाता है कि अपनी कला-स्वकीया को रिझाने का पूरा-पूरा हौसला नहीं रह जाता।

सम्पादक जी, यहीं पर आकर नायिका भेद बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। खैर कठिन ही सही मगर बकौल एक गदर कालीन गीत के—

"जीवैं लोग सिपाही लड़ब हम दीन की ताईं।'

चौक, आपका
लखनऊ। **नागर नायिका भेदी**

(पृष्ठ ४ का शेषांश)

श्यकताओं में कुछ अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं ने इजाफा किया है। राष्ट्रीय आत्मसम्मान का निर्वाह शायद देश में इतना आवश्यक नहीं होता जितना विदेश में। अखबारों के अनुसार स्वाधीन भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने जनवरी में प्राग्ज्योतिषपुर में कहा था: "मैं अंग्रेज़ी का पक्षपाती हूँ। मैं चाहता हूँ कि न केवल भारत में अंग्रेज़ी पढ़ी जाय वरन् उसकी शिक्षा का और भी प्रसार हो। लेकिन मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता कि कोई अंग्रेज़ी को भारत की राष्ट्रभाषा कहे। मैं चाहता हूँ कि लोग इस बात पर ध्यान दें। यह कहना कि अंग्रेज़ी एक राष्ट्रीय भाषा है, सत्य के विरुद्ध है। यह झूठ है। मैं नहीं समझता कि यह दलील कैसे दी जा सकती है। यह बात विचारणीय है कि हम कब तक अंग्रेज़ी का व्यवहार करते हैं या व्यावहारिक कारणों से अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों को काम में लाते हैं।"

इसके बाद अखबारी विवरण के अनुसार "श्री नेहरू ने कहा कि विदेश मन्त्री की हैसियत से अन्य देशों को कागज-पत्र भेजते हुए वे बड़े असमंजस में पड़े कि जिन देशों में अंग्रेज़ी नहीं बोली जाती, उन्हें अंग्रेज़ी में लिखे हुए कागज पत्र कैसे भेजे जायं। दुनियाँ अंग्रेज़ी बोलने वाले देशों से बड़ी है। बड़े असमंजस की बात थी। उन्होंने अंग्रेज़ी में कागज भेजना बन्द कर दिया। अब वे सदा उन्हें हिन्दी में भेजते थे; उनकी सुविधा के लिये अंग्रेज़ी में अनुवाद साथ रहता था लेकिन मूल हिन्दी में होता था। जब उन्हें रूस या चीन से कोई खरीता मिलता था, तो वह हमेशा रूसी या चीनी में होता था। हो सकता है, साथ में अंग्रेज़ी अनुवाद भी रहता हो। कुछ भी हो, वे कह यह रहे थे कि दुनियाँ के सामने भारत में यह घोषित करना बड़ी अजीब बात थी कि भारत की राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी है। इस 'कल्पना से ही मेरा सिर चकरा उठता है।'"

अंग्रेज़ी-प्रेमियों के दुर्भाग्य से दुनिया अंग्रेज़ी-भाषी देशों से बहुत बड़ी है। इस अंग्रेज़ी-विहीन दुनिया में साठ करोड़ आबादी का महादेश चीन है। इसमें संसार के छठे भाग में फैला हुआ समाजवादी सोवियत देश है। अंग्रेज़ी-प्रेमियों के दुर्भाग्य से ये दोनों देश भारत के पड़ोसी भी हैं; उनके राजनीतिज्ञ अपने राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के साथ भारतीय राष्ट्रीयता का भी आदर करते हैं। जिस उत्साह से किसी समय श्री राजगोपालाचारी ने मद्रास में हिन्दी प्रचार किया था, उसी उत्साह से ये राजनीतिज्ञ सोवियत संघ और चीन में हिन्दी सीखने पर जोर दे रहे हैं। सोवियत संघ, चीन और भारत में जो भाषा न चले, उसे विश्वभाषा नहीं कहा जा सकता। इन तीन देशों से एशिया और यूरोप का अधिकांश भाग घिरा हुआ है। इनके साथ अफ्रीका और दक्षिण अमरीका को मिला लीजिये, यूरोप से जर्मनी, इटली, फ्रांस, स्पेन और पूर्वी यूरोप के देशों को भी गिन लीजिये, तो पता चल जायगा कि अंग्रेज़ी का विश्वभाषा होना कितना सार्थक है।

अस्तु। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही तरह के कारणों से अंग्रेज़ी को राजभाषा का पद छोड़ना होगा। जो लोग भारतीय जीवन के कल्पित या वास्तविक अन्तर्विरोधों के कारण अंग्रेज़ी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रखना चाहते हैं, वे लिबरलों, अंग्रेज़-भक्तों, अल्पसंख्यकों के उन तथाकथित प्रतिनिधियों का अनुसरण करते हैं जो अंग्रेज़ी राज को आवश्यक बताकर, अंग्रेज़ों को न्यायकर्ता बनाकर पराधीनता के बन्धनों को दृढ़ करते रहे थे। भारतीय जनता की राष्ट्रीय भावना इन भारतवासियों के अंग्रेज़ी-प्रेम पर अवश्य विजय पायेगी।

—रामविलास शर्मा

पुस्तक-समीक्षा

१—पानी की दीवार
२—मोम के मोती
३—प्यासे बादल
४—काली लड़की

लेखिका
रजनी पनिकर

श्रीमती रजनी पनिकर के उपर्युक्त चार उपन्यास सामने हैं। इनका प्रकाशन उपर्युक्त क्रम के अनुसार विभिन्न प्रकाशकों द्वारा किया गया है। रजनी जी हिंदी की नवोदित लेखिका हैं। उनका पहला उपन्यास 'ठोकर' के नाम से प्रकाशित हुआ था परन्तु मुझे प्राप्त न हो सका। स्वयं रजनी जी भी उसे अपनी सफल कृति नहीं मानतीं। सबसे पहले मेरा ध्यान रजनी जी की ओर उस समय आकर्षित हुआ था जब उनका पाँचवाँ उपन्यास 'काली लड़की' साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था। इस उपन्यास में एक अनोखा आकर्षण था जो साप्ताहिक हिन्दुस्तान की प्रति सप्ताह उत्कटतापूर्वक प्रतीक्षा करवाता था। उसे पढ़ने के उपरान्त जिज्ञासा बढ़ी और उनके अन्य उपन्यास भी पढ़े और पढ़कर मन को सन्तोष हुआ कि हिन्दी में एक नई प्रतिभा उदय हो रही है जिससे भविष्य में अनेक आशायें की जा सकती हैं।

रजनी जी के सम्पूर्ण उपन्यासों का एक ही क्षेत्र है शिक्षित मध्यवर्ग। सारे उपन्यास दिल्ली अथवा शिमला में रहने वाले इस वर्ग के लोगों की समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डालते हैं। कथा का क्षेत्र प्रायः दिल्ली तक ही सीमित रहता है। पात्र कभी-कभी ही कथा को बम्बई आदि तक खींच ले जाते हैं, फिर भी प्रमुखता दिल्ली की ही रहती है। केवल 'पानी की दीवार' शिमला की कहानी है। एक ही स्थान की कथा से सम्बन्धित होने के आधार पर हम इन्हें आँचलिक उपन्यास तो नहीं मान सकते क्योंकि इनमें आँचलिकता नहीं है। कथा लगभग सभी उपन्यासों में मध्यवर्ग एवं निम्न मध्यवर्ग की परिधियों में चक्कर काटती हुई आधुनिक शिक्षिता नारी की समस्याओं एवं स्थितियों पर ही अधिक प्रकाश डालती है। चारों उपन्यासों— पानी की दीवार, मोम के मोती, प्यासे बादल, काली लड़की—की प्रधान नायिकाएं ऐसी पढ़ी लिखी लड़कियाँ हैं जिन्हें अपनी किसी न किसी समस्या के कारण नौकरी करनी पड़ती है जैसे 'मोम के मोती' की माया, 'पानी की दीवार' की नीना, 'काली लड़की' की रानी, तथा 'प्यासे बादल की रोजशीला। इन सब की समस्यायें भिन्न-भिन्न हैं फिर भी कथा के विस्तार एवं क्षेत्र की दृष्टि से उनमें एकरूपता सी दिखाई पड़ती है। इससे ऐसा लगता है मानो उपन्यास-लेखिका समाज के केवल एक ही अंग पर अपने सम्पूर्ण उपन्यासों में बल देती है। होना तो यह चाहिए था कि रजनी जी अपने क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर इस वर्ग की अन्य समस्याओं पर भी प्रकाश डालतीं। यह केवल सुझाव है।

कथावस्तु को, 'पानी की दीवार' में छोड़कर, शेष सभी उपन्यासों में एक सी ही गति और रूप दिया गया है। उसमें विविधता नहीं है। दूसरे उसमें नाटकीयता का भी यथेष्ठ अभाव है। अन्त लगभग सभी कथाओं का एकसा ही है—सुखान्त, जो कहीं-कहीं बलात् लाया गया सा प्रतीत होता है। केवल 'पानी की दीवार' का ही अन्त नाटकीय और कलापूर्ण है।

पात्रों की दृष्टि से सभी उपन्यासों में किसी एक नारी पात्र को ही प्रमुखता दी गई है। सारे नारी पात्र शिक्षित हैं। माया, रानी, रोजशीला, नीना पढ़ी लिखी लड़कियाँ हैं। केवल रोजशीला ही एक ऐसी नायिका है जो साधारण पढ़ी-लिखी होने पर भी आगे चलकर अपने जीवन को ऊपर उठा ले जाती है। उसके जीवन की विषमता का प्रारम्भिक रूप आकर्षक परन्तु तनिक अतिशयोक्ति पूर्ण है। बाद में जाकर तो वह आदर्शवाद की आकर्षक पुतली बन जाती है।

माया, रानी, नीना, रोजशीला आदि की अपनी-

अपनी समस्यायें हैं। माया पारिवारिक आर्थिक दीनता से पीड़ित होकर नौकरी करने दिल्ली आती है; रानी अपने काले रंग के कारण उपेक्षिता है इसलिए उसे नौकरी करनी पड़ती है; नीना अपने प्रेमी राज की प्रतीक्षा में समय काटने के लिए नौकरी करती है तथा रोजशीला भिखारिन का जीवन व्यतीत करती हुई एका-एक एक समृद्ध व्यक्ति का आश्रय पा जाती है। इन चारों की समस्यायें भिन्न हैं परन्तु उनका समाधान लगभग एक ही प्रकार से होता है। पुरुष पात्रों में कोई भी पात्र अधिक उभर कर नहीं आता। कहने का अभिप्राय यही है कि रजनी जी की सम्पूर्ण सहानुभूति की अधि-कारिणीं स्त्रियाँ और वह भी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ ही हैं; पुरुष पात्र सहानुभूति पाते तो हैं परन्तु अपेक्षाकृत कम। ऊपर से दिखाई पड़ने वाले इस पक्षपात में वह तीखापन एवं अति नहीं है जो महादेवी वर्मा में हमें मिलती है। इस दृष्टि से रजनी जी का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित है।

मनोविज्ञान रजनीजी के सारे उपन्यासों का प्राण है। चित्रण का आधार अधिकाँशत: मनोविज्ञान ही रहा है इसलिए सामाजिक जीवन पर यथार्थवादी दृष्टिकोण से पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ पाया है। यथार्थवादी चित्रण हैं अवश्य परन्तु ऐसा लगता है मानो उन्हें जानबूझ कर रखा गया हो। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि लेखिका का दृष्टिकोण आदर्शवादी है परन्तु युग की माँग को पूरा करने के लालच में वह यथार्थ पर भी उतर आती है। फिर भी हम इसे प्रेमचन्द के आदर्शो-न्मूख यथार्थवाद की कोटि में नहीं रख सकते क्योंकि प्रेमचन्द का प्राण यथार्थ है, आदर्श तो वहाँ बलात् ले आया जाता है। रजनी जी का दृष्टिकोण इससे नितांत भिन्न है। वे मूलत: आदर्शवादी लेखिका हैं इसलिए यथार्थ उनके चित्रण में खप नहीं पाता।

भाषा की दृष्टि से हम रजनी जी को पूर्ण सफल कलाकार नहीं मान सकते। उनके चित्रणों में विविधता न होकर एकरूपता सी है। फिर भी भाषा अपना काम किसी हद तक सफलतापूर्वक निबाह ले जाती है, इसमें सन्देह नहीं।

रजनी जी की जो विशेषता हमें विशेष आकर्षित करती है वह है नारी भावों का अत्यन्त मार्मिक एवं सफल चित्रण। उनके हृदय में नारी के भावों को सम-झने एवं उसे चित्रित करने की अपूर्व शक्ति है।

रजनी जी के उपन्यासों में भारतीय नारी की सम-स्याओं का चित्रण तथा बदलते हुए समाज के पार्श्वों में प्रतिमानों का पुनर्मूल्याँकन किया गया है। इस चित्रण की एक विशेषता मह भी है कि इसमें कुण्ठावाद से प्रभा-वित नग्न यौन चित्रण की गन्दगी कहीं भी नहीं आने पाई है जैसा कि तथाकथित मनोवैज्ञानिक और प्रयोग-वादी उपन्यासों में दिखाई पड़ती है। प्रेम का ऐसा स्वस्थ एवं सुन्दर रूप अभिनन्दनीय है।

समष्टि रूप से रजनी जी के उपन्यासों को पढ़कर यही प्रभाव पड़ता है कि रजनी जी ने जीवन के जिस क्षेत्र को उठाया है वह हमारे साहित्यिकों के लिए एक आदर्श उपस्थित करता है। इनकी नारियाँ कर्मठ हैं, शक्तिशालिनी हैं और उनमें जीवन की विषमताओं से संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त करने की अदम्य लालसा है। यह हमारे नारी समाज का एक नवीन रूप है जिसकी तरफ हिन्दी के लेखकों का ध्यान जाना चाहिए। रजनीजी की यह उपलब्धि हिन्दी कथा-साहित्य में अपना एक विशिष्ठ महत्व रखती है।

अन्त में एक सुझाव और है। यदि रजनी जी छोटे छोटे उपन्यास लिखने के स्थान पर आधुनिक मध्यवर्गीय नारी जीवन का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत कर सकें तो यह हिन्दी कथा साहित्य के लिए उनकी अनुपम देन होगी। अन्त में मैं हिन्दी की इस नवोदित लेखिका का हृदय से अभिनन्दन करता हुआ इतनी सुन्दर कृतियों के लिए उन्हें बधाई देता हूँ।

मौजी जीवन—उपन्यास

मूल लेखक—नोसेव

अनुवादक—यादवचन्द्र जैन

प्रकाशक—प्रभात प्रकाशन, मथुरा

मूल्य —५ रुपया पृष्ठ संख्या ३५२

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध रूसी लेखक नोसोव के उपन्यास का अनुवाद है। एक दृष्टि से इसे हम बालकों के लिए एक आदर्श पुस्तक मान सकते हैं। मिश्का और कोल्या नायक दो बच्चे इसके प्रधान पात्र हैं। दोनों ही बहुत शैतान और ऊधमी हैं। परन्तु उनकी शैतानी हमारे यहाँ के बच्चों की तरह केवल शैतानी ही नहीं है। उन बच्चों में हर काम के प्रति एक तीव्र लगन एवं जिज्ञासा है। उनकी उन शैतानियों में सदैव एक उपयोगिता छिपी रहती है। वे हर काम को पूरा करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। यहाँ तक कि रात का सोना, खाना आदि भी भूल जाते हैं। और ऐसे दो ही बच्चे नहीं हैं। उनके साथ उनके स्कूल के अनेक बच्चे भी उनके कार्यों में सदैव सहयोग देते हैं।

इस पुस्तक में बच्चों की विभिन्न शैतानियों की अनेक कहानियाँ हैं और प्रत्येक कहानी एक निश्चित उद्देश्य को लेकर सामने आती है। इन सम्पूर्ण कथाओं से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रूस के बच्चे बड़े जिज्ञासु होते हैं और जब तक उनकी जिज्ञासा शांत नहीं हो जाती तब तक वे स्वयं चैन से नहीं बैठते। दूसरी बात यह कि उनके माता-पिता उनके इन कार्यों में बाधक न बनकर सदैव उन्हें प्रोत्साहित करते रहते हैं। छुट्टियों में रूसी बच्चे टोलियाँ बनाकर देहातों में इधर-उधर निकल जाते हैं और जीवन के व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के साथ-साथ जनोपयोगी कार्यों में हाथ बटाते हैं। विभिन्न दलों में प्रतियोगिता रहती है। इस तरह उनकी छुट्टियाँ हमारे यहाँ के बच्चों की तरह व्यर्थ ही बर्बाद नहीं होतीं अपितु ज्ञानवर्द्धन का साधन होती हैं।

बच्चे शैतान हैं—सभी बच्चे होते हैं। परन्तु ये बच्चे खेल ही खेल में मुर्गी के अण्डों को सेने वाली मशीन बनाकर मुर्गी के बच्चे पैदा करते हैं। अण्डे फोड़ कर निकलते बच्चों को देखने की इन बालकों की जिज्ञासा अत्यन्त अद्भुत और मोहक है। कभी वे शहद की मक्खियाँ पालते हैं और बहुत परेशान होते हैं। अन्य प्रकार की भी शैतानियाँ हैं जो इन बच्चों की निष्ठा एवं कर्त्तव्य वृद्धि पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। पुस्तक को पढ़ने के उपरान्त मन में एक कचोट उठती है कि काश हमारे यहाँ के बच्चे भी ऐसे ही बन सकते और उनके अभिभावक एवं शिक्षकगण भी उन्हें इसी प्रकार से प्रोत्साहित कर सकते जैसा कि रूस में किया जाता है।

अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है। भाषा बच्चों के अनुरूप सरल और सहज है। मूलग्रन्थ के पढ़ने का सा आनन्द आता है। ऐसे सुन्दर अनुवाद के लिए अनुवादक धन्यवाद के पात्र हैं। इस पुस्तक के प्रकाशक प्रभात प्रकाशन के संचालक रूसी-साहित्य के अनुवादों के लिए प्रसिद्ध हैं। यदि वे इस पुस्तक की कहानियों को अलग-अलग बाल-साहित्य के रूप में—छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में—प्रकाशित कर सकें तो भारतीय बालकों का अधिक कल्याण होगा क्योंकि बच्चे ५) की पुस्तक एक साथ खरीदने में असमर्थ रहते हैं।

गेटअप और छपाई की दृष्टि से पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। बीच-बीच में स्कैच भी दे दिए गए हैं। प्रकाशक महोदय यदि विदेशी-साहित्य में से चुन-चुन कर बालोपयोगी ऐसे ग्रन्थ रत्न हिन्दी को दे सकें तो वे मातृ-भाषा की बहुत बड़ी सेवा करेंगे। आज हमारे बच्चों को ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है जो उनमें प्रेरणा भर सके, उनके जीवन को उन्नत बना सके।

—राजनाथ

हिन्दी का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

लखनऊ विश्वविद्यालय की पी० एचडी० की थीसिस

सूर की भाषा

ले०—डा० प्रेमनारायण टंडन

('ब्रजभाषा सूर कोश' के सम्पादक)

हिन्दी-साहित्य में यह पहला प्रकाशन है जिसमें एक कवि-विशेष की भाषा का इतना विशद अध्ययन किया गया है। पृष्ठ ६२५ रायल अठपेजी। मूल्य २०)

आपके पुस्तकालय में इस ग्रंथ की एक प्रति अवश्य रहनी चाहिए।

[नोट—मनीआर्डर से पूरा मूल्य भेजने पर डाक व्यय फ्री।]

चिर-प्रतीक्षित पुस्तक का नया संस्करण छप गया !

शिक्षण-विधियों की रूपरेखा

ले०—श्री रामखेलावन चौधरी, एम० ए० एम० एड०

इसमें प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षण विधियों की विस्तृत विवेचना की गई है। पुस्तक का पहला संस्करण तीन महीने में ही बिक गया था। दूसरा संशोधित संस्करण इसी महीने में छपा है। पृष्ठ—६२५ मूल्य ८॥)

अपने पुस्तकालय में इसे अवश्य रखिए।

[नोट—मूल्य मनीआर्डर से भेज देने पर डाक व्यय फ्री।]

पता—हिंदी साहित्य भण्डार,

गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ।

हिन्दी का सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला कहानी-मासिक

तुंग शृंग

(चोटी के कथाकारों की उत्कृष्टतम कहानियाँ)

एक प्रति : ५० नये पैसे

वार्षिक : ५. ५० नये पैसे

वार्षिक विज्ञापनदाताओं को भारी छूट तथा पत्र एजेन्टों को २५ प्रतिशत कमीशन और २५ प्रतिशत अनबिकी प्रतियाँ वापस लौटा लेने की सुविधा।

पत्र लिखकर आज ही ग्राहक बनिए।

किताब महल

जीरो रोड, इलाहाबाद—३

कला पूर्ण एवं आकर्षक

छपाई के लिए

कैलाश प्रिंटिंग प्रेस

बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा

को

याद रखिये

खड़ीबोली हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य

कामायनी

को समझने-समझाने के लिए उसकी सर्वाङ्गीण समालोचना को प्रस्तुत करने वाली एकमात्र आलोचनात्मक पुस्तक—

"कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन"

[आगरा यूनीवर्सिटी द्वारा पी० एच०, डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत थीसिस]

लेखक—

डा० द्वारिकाप्रसाद, एम० ए० (हिन्दी संस्कृत), पी-एच०, डी०

बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा।

इस पुस्तक में कामायनी की कथावस्तु के विभिन्न स्रोतों का खोज पूर्ण अध्ययन उपस्थित करते हुए कामायनी के काव्य से सम्बन्धित सभी समस्याओं पर सांगोपांग विवेचन किया गया है। साथ ही कामायनी में अंकित भारतीय संस्कृति का निरूपण करते हुए कामायनी के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को भी स्पष्ट किया गया है। इतना ही नहीं शैवदर्शन—विशेषकर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की मूल विचारधारा को पृष्ठभूमि के रूप में अंकित करके कामायनी के दार्शनिक दृष्टिकोण को भी भलीप्रकार समझाया गया है।

पृष्ठ संख्या—४६८] डिमाई साइज $\frac{१८×२२}{८}$, ग्लेज़ पेपर [मूल्य केवल १०) रुपये

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

(धन-दौलत के दहेज के साथ-साथ विद्या का दहेज दो)

कन्याओं के दहेज के लिये सर्वोत्तम भेंट

६ अमूल्य पुस्तकों का सैट

कन्याओं को दहेज आदि उत्सवों पर देने के लिए अनुपम भेंट।

(१) शाक रत्नाकर (लेखिका—सुशीला)

इस पुस्तक में प्रत्येक घर में बनने वाली शाक सब्जियों को बनाने के तरीके व उनमें पड़ने वाले मसाले आदि का वर्णन बड़ी सरल भाषा में सविस्तार किया गया है। इसकी सहायता से वह स्वादिष्ट शाक-सब्जियाँ बना सकती हैं। शाक-शब्जियों के विषय में पूर्ण जानकारी कराने वाली एक अनोखी व अमूल्य पुस्तक है। मूल्य २।) दो रुपया चार आने। डाक व्यय ।।।=)

नये-नये बेल-बूटे, डिजाइन, सीनरियाँ काढ़ने के लिए इस पुस्तक को मंगाइये।

(२) आदर्श काशीदाकारी

जिसमें नये-नये डिजाइन और बूटियाँ, बेलें, क्राम स्टिच, कटवर्क, मोतियों का काम, सीनरियाँ, मोनोग्राम, तकिये पर दोहे, पेटीकोट के बोर्डर, कमीजों के गले, स्मोकिंग लेडीडेजी तथा आधुनिक ढंग की चीजें हैं। छोटे-बड़े दोनों प्रकार के बूटे तथा महीन और मोटा दोनों काम दिये गये हैं। मूल्य ३)। डाक व्यय १) अलग।

(३) ऊषा दसूती कढ़ाई शिक्षा

आजकल घरों में दसूती की कढ़ाई बहुत बढ़ गई है। कन्या पाठशालाओं तथा स्कूलों और सरकारी सेन्टरों में छोटी लड़कियों को यह काम सिखलाया जाता है। इस दसूती की पुस्तक में बेलें, पशु-पक्षी, चौपायों के चित्र तथा गुलदस्ते बनाकर दिखाये गये हैं। मूल्य ३) डाक खर्च ।।।=) प्रथक।

नारी जगत को हमारी अभूतपूर्व भेंट

(४) पाक भारती (लेखक—अमोलकचन्द्र शुक्ल)

पाकशाला की व्यवस्था, कच्ची रसोई, पक्की रसोई, दूध की चीजें, मुरब्बा, अचार, चटनी आदि देशी एवं बंगाली मिठाई, पाकरोटी, नान, बिस्कुट आदि और मांस, मछली, अण्डा तथा प्रत्येक प्रकार की आधुनिक एवं प्राचीन खाद्य सामग्रियों के तैयार करने का विधियों सहित वर्णन है। ६०० पृष्ठों की सचित्र सजिल्द रंगीन आवरण की पुस्तक का मूल्य ६) रुपये छः मात्र। डाक खर्च १।।)

इस पुस्तक को पढ़कर प्रत्येक नारी एक आदर्श पाक ज्ञाता बन सकती है।

विवाहित जीवन को सुखी और सफल बनाने वाली जीवन साथी

(५) महिला मंजरी

(लेखक—सत्यकाम सिद्धान्त शास्त्री)

गृहस्थ धर्म को सुखी बनाने में स्त्री का स्थान सबसे ऊँचा है। महिला मंजरी पुस्तक में स्त्री जीवन सम्बन्धी समस्त आवश्यक बातें लिखी गई हैं। शादी से पहले की शिक्षा तथा विवाहित जीवन के बाद में किन-किन बातों से बचना चाहिये, पाक विज्ञान स्वास्थ्य विज्ञान तथा नारी का बनाव सिंगार आदि हर विषय पर पूरा प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ ३८४ पर मूल्य केवल ६) डाक व्यय १।)

नव विवाहित पति-पत्नी की पथ-प्रदर्शिका

(६) स्त्री-शिक्षा या चतुरगृहिणी

(लेखिका—श्रीमती साधना सैन)

यह पुस्तक प्रत्येक नारी के बाल्यकाल से मरण-पर्यन्त साथ रखने योग्य है, क्योंकि यह उसकी सच्ची जीवन सहचरी तथा गृहस्थी को सुखमय बनाने वाली है। इसमें बाल्यकाल और आरम्भकाल की शिक्षा अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाने की विधि शिल्प-विद्या, सीना-पिरोना, गर्भरक्षा, धात्री-शिक्षा, स्त्री-रोगों की चिकित्सा, बालकों का पालन-पोषण और धर्मोपदेश एवं अनेक प्रकार की रीति और व्रत त्यौहारों का वर्णन है। इसमें लड़की को अमूल्य शिक्षायें दी गई हैं। मूल्य २।।) डाक व्यय अलग।

प्रथक-प्रथक पुस्तकें मंगाने पर डाक व्यय ग्राहक को देना होगा।

उपरोक्त छः पुस्तकों की छपी कीमत २२।।।) होती है पूरा सैट मंगाने वाले सज्जनों को केवल २०) की वी० पी० की जायेगी।

केवल चार आने (२५ नए पैसे) के टिकट पोस्टेज वास्ते भेजकर हजारों पुस्तकों का बड़ा सूचीपत्र अमूल्य मंगावें।

केवल बारह आने (७५ नए पैसे) के टिकट लिफाफे में भेजकर नये वर्ष १९५८ की श्री बापू राष्ट्रीय मशहूर जंत्री मंगायें।

हिन्दी परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये—

हिन्दी काव्य ग्रंथों की प्रामाणिक टीकाएँ

निम्न सभी पुस्तकों की टीकाएँ तथा आलोचनात्मक विवेचन विद्वान और अनुभवी लेखकों द्वारा सुबोध और सरल भाषा में प्रणीत हैं। इन पुस्तकों में विद्यार्थियों के लिये परीक्षोपयोगी सभी सामग्री एक ही स्थान पर सुलभ है।

१. **कामायनी की टीका**
श्री तारकनाथ बाली एम० ए० ५)

२. **प्रियप्रवास की टीका** ,, ५)

३. **साकेत की टीका**—श्री फूलचन्द जैन एम० ए० ५)

४. **भ्रमर गीत सार टीका** [व्याख्या और विवेचन]
—डा० नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री
—डा० राजेन्द्र शर्मा ५)

५. **उद्धव शतक** [व्याख्या एवं आलोचनात्मक अध्ययन]
—प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए० २॥)

६. **आधुनिक कवि पंत**
[व्याख्या एवं आलोचनात्मक अध्ययन]
—श्री तारकनाथ बाली एम० ए० २॥)

७. **आधुनिक कवि महादेवी की टीका**
—श्री तारकनाथ बाली एम० ए० २॥)

८. **कुरुक्षेत्र** [व्याख्या एवं विवेचन]
—श्री तारकनाथ बाली एम० ए० २)

९. **कबीर-साखियाँ** [मूल, व्याख्या एवं विवेचन]
श्री तारकनाथ बाली एम० ए०
श्री रामवाशिष्ठ एम० ए० ३॥)

१०. **पृथ्वीराज रासो** (पद्मावती समय)
[मूल, व्याख्या एवं आलोचना]
—डा० हरिहरनाथ टंडन १॥)

११. **सुदामाचरित** (नरोत्तमदास कृत)
—श्री फूलचन्द जैन एम० ए० ॥)

१२. **रासपंचाध्यायी तथा भँवरगीत** (नन्ददास कृत)
[मूल, टीका एवं आलोचना]
—डा० सुधीन्द्र २)

१३. **कवितावली** (तुलसीदास) [मूल, टीका एवं आलोचना] (उत्तरकाण्ड छोड़कर)
—श्री फूलचन्द्र जैन एम० ए० १)

१४. **पाली-कथा-प्रकाश**
[पाली जातकावली पुस्तक का हिन्दी, संस्कृत तथा अँग्रेजी में अनुवाद एवं आलोचना]
—डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री
—डा० हरिदत्त शास्त्री ३)

१५. **'विद्यापति का अमर काव्य' की व्याख्या**
—श्री मुरारीलाल उप्रैतिः एम० ए० १॥)

१६. **सूर संग्रह की टीका**
—विनोद कुमार अग्रवाल एम० ए० १॥)

सभी पुस्तकें सफेद प्रिंटिंग कागज पर प्रकाशित की गई हैं। सुन्दर छपाई, कलात्मक आवरण पृष्ठ एक विशेषता होगी।

अपने नगर के किसी भी पुस्तक विक्रेता से उपरोक्त पुस्तक प्राप्त करें; न मिलने पर हमको लिखें।

हमारी प्रकाशित अन्य साहित्यिक पुस्तकों का भी सूचीपत्र मँगाइए।

आप किसी भी विश्वविद्यालय से हिन्दी में बी० ए०, एम० ए० अथवा कहीं से कोई भी हिन्दी परीक्षा दे रहे हों, हमारी प्रकाशित आलोचनात्मक सहायक पुस्तकें आपको पूरा पूरा लाभ देंगी।

हिन्दी व संस्कृत पुस्तकों के विक्रेता :—

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा।